॥ श्रीः ॥

विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१०



महाकविश्रीभवभूतिप्रणीतं

महावीरचरितम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीटीकोपेतम्

तच्च

समालोचना-कथासार-नोट्स-नाटकीयविषयादि-

विविधविषयैर्विभूषितम्।

टीकाकारः—

व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्यः

आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्रः

रांचीस्थराजकीय-संस्कृतकालेजाध्यापकः।



चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

सं० २०१२] [ई० १९५५

प्रकाशकः—
चौखम्बा विद्या भवन,
चौक, बनारस

Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Banaras-1
1955

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस

विषयसूची



अवतारणा

अथेदमुपक्रम्यते प्रकाशयितुं 'प्रकाश'समन्वितं महावीरचरितं नाम नाटकम्। अस्य रचयितुः परिचयादिकं साहित्यिकं गौरवं चाग्रे राष्ट्रभाषायां लिखितमस्तीति तत एवावगन्तव्यम्।

अस्य महावीरचरितस्य पुस्तकद्वयं मयाऽऽधारीकृतम्, एकं निर्णयसागरमुद्रितं वीरराघवकृतटीकायुतम्, अपरं कलकत्तामुद्रितं जीवानन्दविद्यासागरकृतटीकोपेतम्। निर्णयसागरमुद्रितपुस्तके पञ्चमाङ्के ४६श्लोकात्परतः पाठद्वयम्। वीरराघवो यावन्तमंशं व्याख्याय भवभूतेरियं कृतिरेतावत्पर्यन्तमेव लभ्येति प्रत्यैषीत्, परतश्चांशं केनचिदन्येन सुब्रह्मण्यकविना पूरितं प्रमाय व्याख्यासीत्। तदित्थं तन्मते तावानेवायं ग्रन्थः। सर्वतः प्रसिद्धं पाठमवसाने निवेशितं दृष्ट्वा तदनुरोधिनीं व्याख्यां च जीवानन्दीयां विलोक्य सर्वैः समर्थ्यमानोऽन्यः पाठः। तदनयोः पाठयोः कतर उपादेय इति विषये विचार्यमाणे भूयसामनुग्रहो न्याय्य इति न्यायेनाहं सर्वतः प्रचलितं पाठमेवात्राद्दतवान्। अयं हि पाठः शब्दसौष्ठवेऽर्थगुम्फने वर्णनगाम्भीर्येऽपि च भवभूतिशैलीं न जहातीति सन्देहस्य स्थानमपि न्यूनीकृतमवैमि।

इतिहासादौ यद्यप्यस्य नाटकस्य पञ्चाधिकाष्टीकाः प्रथन्ते, परं मया द्वे एव टीके द्रष्टुमुपलब्धे। एका वीरराघवीया, अपरा च जीवानन्दीया। तदेवं टीकाद्वयं विलोक्य मया व्याख्यानमिदं प्रस्तुतीकृतम्, अत्र व्याख्याने मया प्रयस्य सारल्यमानीतम्, गद्यभागोऽपि सर्वत्र व्याख्यातः। आवश्यकतया प्रतीयमानो छन्दोऽलङ्कारादिनिवेशोऽपि नोज्झितः। परिशिष्टे च ज्ञातव्याः सर्वेऽपि विषयाः समावेशिताः। आशासेऽनया टीकया छात्रा अध्यापकाश्च यथायोग्यमुपकृता भविष्यन्ति।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य विकसतां सतां नित्यक्षमामयतया दोषैकदृशामसतां तु पुरः क्षमाप्रार्थनाव्यापारस्यापि स्वप्रवञ्चनामात्रसारतया क्षमाप्रार्थनामन्तरैव समापयामि स्वामिमामवतारणाम्। इति।

रांची
रामनवमी २०१२

विनयावनतः
श्री रामचन्द्रमिश्रः

समालोचना

भारतीय नाटकसाहित्य विचारधारा तथा विकासक्रममें मूलतः स्वतन्त्र है इस बातको अब सभी आलोचक मानने लग गये हैं।

वैदिक साहित्यकी समीक्षासे पता चलता है कि वैदिककालमें नाटकके सभी अङ्गों–संवाद, सङ्गीत, नृत्य एवं अभिनय–का किसी न किसी रूपमें अस्तित्व था। ऋग्वेदके यमयमी, उर्वशीपुरूरवा, सरमापणिके संवादात्मक सूक्तोंमें नाटकीय संवादका तत्त्व विद्यमान है। सामवेद तो सङ्गीतप्राण ही है। आलोचकोंका अनुमान है कि ऐसे संवाद ही कालान्तरमें परिमार्जित होकर नाटकोंके रूपमें परिणत हुए होंगे। रामायण–महाभारतकालमें नाटकका कुछ और स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। विराट्पर्वमें रङ्गशालाका नाम आया है। नटशब्दका भी वहां प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ श्रीधरस्वामीके अनुसार 'नवरसाभिनयचतुर' है। हरिवंशमें रामायणकी कथापर आश्रित एक नाटकके खेले जानेका वर्णन आया है। रामायणमें भी 'नट' 'नर्त्तक' 'नाटक' 'रङ्गमञ्च' आदिका वर्णन स्थान–स्थानपर मिलता है तथा 'कुशीलव' शब्दका प्रयोग भी नट या अभिनेताके अर्थमें हुआ है। महामुनि पाणिनिने **'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः'** इस सूत्रमें नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्रका स्मरण किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समयमें या उनसे पूर्व ही अनेक नाटक रचे जा चुके होंगे, जिनके आधारपर इन नटसूत्रोंकी रचना हुई होगी, क्योंकि लक्ष्यग्रन्थोंको देखकर ही लक्षणग्रन्थोंका निर्माण किया गया है। इधर द्वितीय ईस्वीसदी पूर्वकी एक प्राचीन नाट्यशाला भी छोटा नागपुरकी पहाड़ियोंमें पाई गई है, जो नाट्यशास्त्रमें वर्णित प्रेक्षागृहोंसे मिलती जुलती है। इस तरह संस्कृतनाटकोंकी अपनी प्राचीन परम्परा सिद्ध होती है।

संस्कृतनाटकोंमें रङ्गमञ्चके पर्दोंके लिये कहीं कहीं 'यवनिका' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसीसे कुछ पाश्चात्त्य विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि संस्कृतनाटकोंकी उत्पत्ति 'यवन' अर्थात् 'ग्रीक' नाटकोंके प्रभावसे हुई है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। 'यवनिका' शब्दके प्रयोगका रहस्य तो इतना ही भर है कि वह पर्दे 'यवन' देशसे आये हुए वस्त्रोंसे बनाये जाते थे।

प्राचीनपद्धतिक्रमसे विचार करनेपर भी नाटकसाहित्यकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें लिखा है:—

'महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः। क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्॥
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु। तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥
एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च। सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित्॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यञ्च सोपदेशं ससंग्रहम्। भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शकम्। नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्॥

एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् । नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतिमेव च । यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना । एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम् ॥
आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् । पुत्रानध्यापयन् योग्यान् प्रयोगं चास्य तत्त्वतः॥
एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने । अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गताः ॥
देवतानामृषीणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् । कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते' ॥

शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें लिखा है :—

'कल्पस्यान्ते कदाचित्तु दग्ध्वा लोकान्महेश्वरः। स्वे महिम्नि स्थितः स्वैरं नृत्यन्नानन्दनिर्भरम्॥
मनसैवासृजद्विष्णुं ब्रह्माणं च महेश्वरः । नियोगाद्देवदेवस्य ब्रह्मा लोकानथासृजत् ॥
सृष्ट्वा स देवदेवस्य पुरावृत्तमथास्मरत् । दिव्यं चरित्रमैशं मे कथमध्यक्षतामियात् ॥
इति चिन्तापरे तस्मिन्नभ्यगान्नन्दिकेश्वरः । सनाट्यवेदमध्याप्य सप्रयोगं चतुर्मुखम् ॥
उवाच वाक्यं भगवान् नन्दी तच्चिन्तितार्थवित् । नाट्यवेदोपदिष्टानि रूपकाणि च यानि तु॥
विधाय तेषामेकं तु रूपकं लक्षणान्वितम् । भरतेषु प्रयोज्यं तत्त्वया सम्यग् विजानता॥
तस्मिन् प्रयुक्ते भरतैर्भावाभिनयकोविदैः । प्राक्तनानि च कर्माणि प्रत्यक्षाणि भवन्ति ते॥
एवं ब्रुवन्नन्तरधान्नन्दी स भगवान् प्रभुः । श्रुत्वैतद्वचनं प्रीतो ब्रह्मा देवैः समन्वितः ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्यं रूपकं सम्यगभ्यधात् । अध्याप्य भरतानेतत्प्रयुङ्ध्वमिति चाब्रवीत्॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्ये कदाचित् ब्रह्मसंसदि । प्रयुज्यमाने भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ॥
तदेतत्प्रेक्षमाणस्य मुखेभ्यो ब्रह्मणः क्रमात् । वृत्तिभिः सह चत्वारः शृङ्गाराद्या विनिर्गता'॥

उपर्युक्त समीक्षा तथा उद्धरणोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि संस्कृतनाटक-साहित्यने अपने क्रमबद्धविकासमें वैदिकवाङ्मय, इतिहास तथा पुराणसे प्रचुर प्रेरणा पाई है । इस प्रकार भारतीय नाटकोंके विकासमें बहुत समय लगा होगा ।

भवभूतिका काल

अन्यान्य कवियोंके समान भवभूतिका समय निश्चित करना भी कुछ सहज नहीं है । राजतरङ्गिणीके चतुर्थ तरङ्गमें लिखा है :—

'कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः । जितो ययौ यशोवर्मा तत्पदस्तुतिवन्दिताम्' ॥

यशोवर्मा 'रामाभ्युदय' नामक काव्यके रचयिता हैं, यशोवर्मा नामक राजा ६९३ से ७२० ईस्वी तक कन्नौजके राजासनपर आसीन थे । इनको काश्मीरके राजा ललितादित्यने परास्त किया और वह भवभूतिको अपने साथ काश्मीर ले गया । अतएव भवभूतिका समय अष्टम शताब्दीका प्रारम्भ प्रमाणित होता है ।

भवभूतिके प्रियमित्र वाक्पतिराजने 'गौड़वहो' नामक प्राकृतकाव्य लिखा है । 'गौड़वहो' में यशोवर्माकी बड़ी प्रशंसा की गई है । उसी ग्रन्थमें अपनी रचनाके विषयमें वाक्पतिराजने लिखा है :—

'भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव जयन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु काव्यप्रबन्धेषु' ॥

'भवभूतिरूपी जलनिधिसे निकले हुए काव्यरूपी अमृतके कणोंके समान जिसके निबन्धोंमें अनेक विशेषगुण आज भी चमक रहे हैं'।

इससे वाक्पतिराजके साथ भवभूतिका यशोवर्माके यहाँ अष्टम शताब्दीके आदिमें होना सूचित होता है।

'गौड़वहो' की भूमिकामें लिखा है कि इन्दौरमें मालतीमाधवकी एक हस्तलिखित पुस्तक मिली है उसके अन्तमें 'कुमारिलभट्टशिष्यकृते' ऐसा लिखा हुआ है। कुमारिलभट्ट सप्तम शताब्दीके अन्तमें हुए थे, इसके द्वारा भी उक्त समय ही प्रतीत होता है। शङ्कर दिग्विजयमें लिखा है कि शङ्कराचार्य 'विद्धशालभञ्जिका' 'बालरामायण' आदिके कर्त्ता राजशेखरके यहाँ गये थे और उन्होंने राजशेखरके लिखे ग्रन्थ भी देखे थे। इस आधारपर राजशेखर और शङ्करकी समकालता प्रतीत होती है। राजशेखरने अपने बालरामायणमें लिखा है:—

'बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया विराजते सम्प्रति राजशेखरः' ॥

शङ्करका समय अष्टम शताब्दीका अन्त निश्चित हुआ है, अतः सुतरां राजशेखरका भी वही समय मानना होगा। भवभूतिको राजशेखरसे पहलेका होना चाहिये, अतः ऊपर जो भवभूतिका समय अष्टम शताब्दीका परार्ध लिखा गया है वह इससे भी सिद्ध होता है।

इन उपर्युक्त विषयोंपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि भवभूति अष्टम शताब्दीमें थे, अष्टम शताब्दीका आदि, मध्य या अन्त इस तरहका निश्चय नहीं हो सकता है।

व्याप्तिलक्षणखण्डनपरक चित्सुखी ग्रन्थकी टीकामें प्रत्यक्स्वरूपने 'उम्बेक' शब्दका अर्थ भवभूति माना है। वहांके ग्रन्थसे यह भी पता चलता है कि भवभूतिने कुमारिलप्रणीत श्लोकवार्त्तिककी टीका लिखी थी। इससे भी भवभूतिका पूर्वोक्त समयवर्त्तित्व समर्थित होता है।

वामनने अपने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति नामक ग्रन्थमें भवभूतिके कई पद्योंको उद्धृत किया है। अतः वामनसे भवभूति प्राचीन सिद्ध होते हैं। वामनका समय आठवीं तथा नवीं सदीका सन्धिस्थलवर्त्ती माना गया है, इससे भी भवभूतिके आठवीं सदीके पूर्वार्द्धमें होनेके विषयमें कुछ सन्देह नहीं रह जाता है।

इस विषयमें विशेष जिज्ञासुओंको निम्नलिखित पुस्तकें देखनी चाहिये—

१. संस्कृतकविचर्या, २. संस्कृतसाहित्यका इतिहास, ३. संस्कृतसाहित्यकी रूपरेखा, ४. भवभूति और कालिदास, ५. History of Sanskrit classics.

भवभूतिका स्थान आदि

अपने स्थान आदि परिचायक चिह्नोंके विषयमें भवभूतिने स्वयं कहा है:—

'अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित्तैत्तिरीयाः काश्यपाश्चरणगुरवः

पङ्क्तिपावनाः पञ्चाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिन उदुम्बरा ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति। तदामुष्यायणस्य तत्र भवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पञ्चमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्त्तेर्नीलकण्ठस्यात्मसम्भवः श्रीकण्ठपदलाञ्छनो भवभूति-र्नाम जतुकर्णीपुत्रः।

'श्रेष्ठः परमहंसानां महर्षीणामिवाङ्गिराः। यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः' ॥

दक्षिणापथमें पद्मपुर नामक नगर है, जहाँ यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाके अध्ययन करनेवाले व्रतधारी सोमयज्ञकारी पङ्क्तिपावन पञ्चाग्निक ब्रह्मवादी काश्यपगोत्रीय उदुम्बर ब्राह्मण रहते हैं। उनके वंशमें वाजपेय यज्ञ करनेवाले पुण्यशील भट्टगोपालनामक महाकविका प्रादुर्भाव हुए। भट्टगोपालके पौत्र और पवित्रकीर्त्ति पिता नीलकण्ठ तथा माता जतुकर्णीके पुत्र श्रीकण्ठपदभूषित भवभूति उत्पन्न हुए। ज्ञाननिधि उनके गुरु थे।

इस उद्धरणसे जो स्थानादि निर्देश है वह स्पष्ट नहीं है, पद्मपुर कौन स्थान है? उदुम्बर ब्राह्मण किस उपभेदके होते थे? दक्षिणापथसे क्या समझा जाय? इत्यादि प्रश्न बने ही रह जाते हैं तथापि इतना भी तो पता चल जाता है कि भवभूति महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। सनातन धर्मानुसार यज्ञादिकी प्रवृत्ति भी उनमें थी।

भवभूतिका असली नाम श्रीकण्ठ था। उनकी रचना—**'साम्बा पुनातु भवभूति-पवित्रमूर्त्तिः,** और :—

'तपस्वीकां गतोऽवस्थामिति स्मेराननाविव। गिरजायाः स्तनौ वन्दे भवभूतिसिताननौ'॥

इसमें भवभूति शब्दका सफल प्रयोग देखकर किसी गुणग्राही महाराजने उनका भवभूति नाम ही रख दिया।

भवभूतिके ग्रन्थ

भवभूतिकृत ग्रन्थोंमें तीन ही रूपक पाये जाते हैं—महावीरचरित, मालतीमाधव, उत्तररामचरित। इनमें क्रमशः वीर, शृङ्गार तथा करुण रसकी प्रधानता है। इन तीन नाटकोंके अतिरिक्त भी भवभूतिका बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य होगा, क्योंकि शार्ङ्गधरपद्धति आदि संग्रहग्रन्थोंमें कई श्लोक भवभूतिके नामसे उद्धृत हैं। परन्तु वे श्लोक इन तीनों रूपकोंमें नहीं पाये जाते हैं, यथाः—

'निरवद्यानि पद्यानि यदि नाट्यस्य का क्षतिः। भिक्षुकक्षाविनिक्षिप्तः किमिक्षुर्नीरसो भवेत्'॥

यह श्लोक उक्त नाटकोंमें नहीं पाया जाता है और शार्ङ्गधरपद्धतिमें भवभूतिके नामसे उद्धृत है।

रसपुष्टि तथा वर्णन चातुर्यके तारतम्यसे विद्वानोंका अनुमान है कि महावीरचरित भवभूतिकी प्रथम कृति है। तदनन्तर मालतीमाधव, फिर उत्तररामचरित लिखा गया है। यह बात निःसन्देह मानने योग्य तथा युक्तियुक्त है। यथार्थमें इन रूपकोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बढ़ती गई है, इनमें अभ्यासदार्ढ्य देखा जाता है। मालतीमाधवका श्मशानवर्णन

तथा कपालकुण्डलाके द्वारा मालती का हरण आदि बातें ऐसी हैं जो नाटक की दृष्टिसे आंखोंमें खटकती हैं। परन्तु वर्णन तथा विप्रलम्भ रसका पाक इतना उत्कृष्ट हो गया है कि उनसे हृदयमें आनन्दकी धारा प्रवाहित हो उठती है।

भवभूतिने तीन तीन रूपक क्यों बनाये? इस प्रश्नका उत्तर न तो भवभूतिने ही अपने ग्रन्थोंमें कहीं दिया है, न कुछ उसका अनुसन्धान ही कहीं से पाया जाता है। एक बात अवश्य है कि उस समय की स्थिति पर ध्यान देनेसे इस प्रश्नका उत्तर मिल जाता है। जिस समय इन रूपकों की रचना हुई होगी उस समय लोगोंका मन बौद्धधर्म की ओरसे हट रहा था, लोगोंमें धार्मिक पिपासा जागृत हो रही थी, वैदिक विद्वान् बौद्धधर्मको निर्मूल करने का प्रयत्न कर रहे थे, भवभूतिने भी इन रूपकों द्वारा उन्हीं वैदिक विद्वान्के कार्योंमें सहायता पहुँचानेमें सफल प्रयास किया। उन्होंने बौद्धधर्मका प्रत्यक्ष खण्डन तो नहीं किया है किन्तु उदाहरणों द्वारा वैदिकधर्म की श्रेष्ठता और बौद्धधर्म की असारता दिखलाते हुए दोनों धर्मों की रेखा चित्रित कर दी है जिससे वैदिक धर्मपर श्रद्धा और बौद्धधर्मपर घृणा आप ही आप उदित हो उठती है।

कामन्दकी मालतीमाधव की एक पात्री है, वह बौद्ध संन्यासिनी थी। उसने अपने आश्रमधर्मका कुछ भी विचार नहीं करके मालती और माधवको विवाह सूत्रमें बांधनेके लिये वैध अवैध सभी प्रकारके उपाय किये। उसकी शिष्या सौदामिनी अघोरघण्ट तथा कपालकुण्डलाके तन्त्रजालमें फंसी थी। ये तान्त्रिक, बड़े दुराचारी तथा नृशंस थे। नरबलि देना इनके लिये सामान्य-सी बात थी। यही मालतीमाधवमें बौद्धधर्मके अधःपातका चित्र है। महावीरचरित और उत्तरचरितमें वैदिक धर्मकी श्रेष्ठताके चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। श्रीरामचन्द्रके आदर्श चरित्र, लक्ष्मणका भ्रातृप्रेम और सीताका सतीत्व आदि एकसे एक बढ़कर अतुलनीय तथा स्पृहणीय आदर्श हैं।

भवभूतिका कवित्व

कवित्वकी समीक्षा दो दृष्टिकोणोंसे की जाती है—एक वर्णन पक्ष, दूसरा हृदय पक्ष। वर्णन पक्षमें प्रौढि अभ्यास तथा पाण्डित्यसे पाई जाती है, हृदयपक्षकी प्रौढ़ि केवल अभ्यास से नहीं होती है उसमें अन्तस्तत्त्व परखनेकी सूक्ष्मतम अनुभूतियाँ अपेक्षित होती हैं। इसीलिये वर्णनपक्षकी प्रौढ़िवाले कवियोंसे हृदयपक्षवाले कवियों की संख्या स्वल्प हुआ करती है। माघका काव्य पूरी वर्णनावलीकी दृष्टिसे शब्दसज्जाके विचारसे जहाँ उत्कृष्ट कोटिका माना जाता है वहाँ हृदय टटोलनेवाले समालोचकोंकी दृष्टिमें वह शब्द अर्थके स्तूपके अतिरिक्त कुछ नहीं है। कालिदास अश्वघोष कुमारदास आदिके काव्योंमें वर्णनकी उतनी विशाल श्रृङ्खला नहीं है परन्तु हृदयगत भावोंकी चित्रावली समधिक स्पष्ट बन सकी है। भवभूति की कवितामें दोनों तरहके चित्र वर्त्तमान हैं। उन्होंने जहाँ:—

'गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघूत्कारवत्कीचक-
क्रन्दत्फेरवचण्डधात्कृतिभृतप्राग्भारभीमैस्तटैः'

अथवा

'लोकालोकालबालस्खलनपरिपतत्सप्तमाम्भोधिपूरं
विश्लिष्यत्पर्वकल्पत्रिभुवनमखिलोत्खातपातालमूलम् ।
पर्यस्तादित्यचन्द्रस्तवकमवपतद्भूरिताराप्रसूनं
ब्रह्मस्तम्बं धुनीयामिह तु मम विधावस्ति तीव्रो विषादः ॥'

इस प्रकारका वर्णननैपुण्य प्रकट किया है वहाँ :—

'अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः । पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः' ॥

और

'अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया । स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्मर्माणि सीव्यति॥'

इस तरहके हृदयस्पर्शी पद्य भी लिखे हैं ।

वर्णनपक्षकी माधुरीमें लिपटे हृदयपक्षके उज्ज्वल चित्र भवभूतिने जितने प्रकारसे चित्रित किये हैं वे अन्यत्र मिलना कठिन है। अन्य ग्रन्थों की बात अलग रहे, केवल महावीर चरितमें ही आदिसे अन्त तक हृदयकी सूक्ष्मतम भावनायें बड़ी मार्मिकतासे प्रस्तुत की गई हैं :—

सीता परशुरामके आह्वान पर गमनोद्यत रामके पीछे पीछे चल रही हैं, उन्हें जानेसे रोकना चाह रही हैं । उनके हृदयमें जिन भावोंकी आंधी चल रही है उन्हें कितने कम शब्दमें खूबीके साथ व्यक्त किया है:—

'आतङ्कश्रमसाध्वसव्यतिकरोत्कम्पः कथं सह्यता-
मङ्गैर्मुग्धमधूकपुष्परुचिभिर्लावण्यसारैरयम्' ।

कितनी स्पष्ट तथा सरस व्यञ्जना है ? इसी प्रसङ्गमें रामकी मनोदशाका भी कितना सुन्दर चित्रण किया गया है, परशुरामसे मिलने तथा सीतासे लिपटे रहनेका अन्तर्द्वन्द्व कितने मार्मिक प्रकारसे चित्रित किया गया है ?

'उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरस्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोन्मादश्च मां कर्षतः ।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलयन्
नानन्दीहरिचन्दनेन्दुशिशिरस्निग्धो रुणद्धयन्यतः' ॥

इस अन्तर्द्वन्द्वकी स्थितिका क्या इससे भी बढ़िया वर्णन कहीं हो सका है ?

राम पिताके आदेशानुसार वन जारहे हैं । भरतसे विना मिले मन मानता नहीं है और रामवियोगसे खिन्न भरतको वह देखना भी नहीं चाहरहे हैं। इस द्वन्द्वका चित्रण कितना सरल तथा कितना मार्मिक बन पड़ा है ? देखिये :—

'अपरिष्वज्य भरतं नास्ति मे गच्छतो धृतिः । अस्मत्प्रवासदुःखार्त्तं न त्वेनं द्रष्टुमुत्सहे' ॥

भवभूतिकी कवितामें हृदयके सूक्ष्मतम भावों एवं व्यापारोंका जो वर्णन, नामकरण तथा प्रकाशनप्रकार पाये जाते हैं वे इतने प्रौढ़ हैं कि सहृदयोंके हृदय आकृष्ट हुए विना रह नहीं सकते हैं।

'अलसवलितमुग्धस्निग्धनिस्पन्दमन्दैः'

नेत्रव्यापारकी इतनी सूक्ष्मविवेचना अन्यत्र दुर्लभ है।

एक ही दृष्टिपातको अमृत तथा विषसे दिग्ध बताकर भवभूतिने मनोभावज्ञान की पराकाष्ठा प्रकट कर दी है:—

'दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या, गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ।'

मानवहृदय ज्ञानकी ही नहीं, पशुपक्षियोंके हृदयकी बात भी कवियोंके लिये उपादेय होती है, कालिदासने:—

'ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
अर्धोपभुक्तेन विसेन जायां सम्भावयामास रथाङ्गनामा' ॥

भवभूतिने भी इस ओर ध्यान दिया है—

'जग्धार्धैर्नवसल्लकीकिसलयैस्तस्याः स्थितिं कल्पय·
न्नन्यो वन्यमतङ्गजः परिचयप्रागल्भ्यमभ्यस्यति' ।

कितना स्वाभाविक मनोभाव वर्णन है !

कथासार

प्रथम अङ्क

महर्षि विश्वामित्रके आश्रममें यज्ञ होनेवाला है। उन्होंने यज्ञकी रखवारीके लिये रामलक्ष्मणको लाकर रख लिया है। कुशध्वज भी निमन्त्रणमें सीता तथा ऊर्मिलाके साथ वहाँ पधारते हैं। कुशल प्रश्नके बाद कुशध्वज रामलक्ष्मणका परिचय प्राप्त करके हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते हैं। इसी बीच राम अहल्योद्धार करते हैं। कुशध्वजको रामकी महिमा देखकर पछतावा होता है कि यदि धनुर्भङ्गकी प्रतिज्ञा नहीं लगाई गई होती तो सीताका विवाह रामके साथ होकर ही रहता। इसी समय रावणने सीताकी मँगनीके लिये दूत भेजा। उसके प्रस्तावपर टालमटोल होने लगा। इधर रामने ताटकाको तलवारकी धारसे समाप्त किया। राक्षसको इससे बड़ा खेद हुआ। उसने फिर प्रस्तार किया। राजा तथा विश्वामित्रने फिर टाल दिया। विश्वामित्रने रामलक्ष्मणको दिव्यास्त्र दिये। राजाकी उत्कण्ठा बढ़ी देखकर विश्वामित्रने हरचाप मँगवाया और रामसे उसका भङ्ग करवाया। इस प्रकार चारो भाइयोंकी शादियाँ जनक तथा कुशध्वजकी पुत्रियोंसे स्थिर हुईं। रामने सुबाहु तथा मारीचका भी वध किया।

द्वितीय अङ्क

मिथिलासे लौटकर राक्षसने सारा वृत्तान्त लङ्काधिपके मन्त्रीसे कहा, उसकी चिन्ता बढ़ गई। उसने शूर्पणखासे राय ली, इसी समय परशुरामका पत्र मिला कि दण्डकावासी निशाचर वहाँके ऋषियोंको सताते हैं उन्हें रोकिये। इसी प्रसङ्गमें निश्चय हुआ कि परशुरामको उकसाया जाय कि वह हरचापभञ्जक रामका दमन करें। इधर राम कन्यान्तःपुरमें थे, दशरथ आदि उनके अभिभावक मिथिलाधीशके यहाँ आतिथ्यसत्कार प्राप्त कर रहे थे। इसी समय परशुराम आये और अपने गुरुके चापके भञ्जन करनेवाले रामको देखनेकी इच्छा प्रकट की।

राम आये, परशुरामको रामके दर्शनसे बड़ी प्रीति हुई, परन्तु वह अपनी प्रतिज्ञासे लाचार थे, क्षत्रिय कुलनाशकी प्रतिज्ञाको दुहराते हुए परशुरामने रामको भी वध्यकोटिमें गिना। इस अमङ्गल वृत्तसे जनक शतानन्द सबको बड़ी तकलीफ हुई, सबने अपने-अपने ढङ्गसे परशुरामको समझाया, फिर भी उनका क्रोध कम नहीं हुआ। जनक अस्त्र ग्रहण करनेपर तथा शतानन्द शाप देनेपर भी उतारू हो गये, फिर भी परशुराम दृढ़ रहे। इसी बीच रामको अन्तःपुरमें बुला लिया और लोग दशरथ विश्वामित्रके पास गये।

तृतीय अङ्क

परशुरामके कोपको शान्त करनेके लिये वसिष्ठ-विश्वामित्रने उन्हें बहुत समझाया। उनकी विद्या, तपस्या, कुलपरम्पराकी अत्यन्त प्रशंसा की। परशुरामने स्वीकार किया कि हमारे लिये आपके उपदेश मान्य हैं, आप हमारे श्रेष्ठ हैं, फिर भी मैं इस क्षत्रिय कुमारका वध किये बिना नहीं रुक सकता हूँ क्योंकि इसने हमारे गुरुका अपमान किया है। हाँ, इसके बाद मैं शान्त हो जाऊँगा। परशुरामका कोप उग्र होते देख दशरथको भी क्रोध उत्पन्न हुआ, उन्होंने भी अस्त्रका अवलम्बन करना चाहा। इसी समय राम आये और उन्होंने परशुरामके दमनकी प्रतिज्ञा सुनाई।

चतुर्थ अङ्क

पराजित परशुराम तप करने चले गये, उन्हें ज्ञान हो गया। परशुरामके पराजयसे राक्षसराजके मन्त्री माल्यवान्‌को बड़ी चिन्ता हुई, उसने उपाय सोचना प्रारम्भ किया जिससे रामको दबाया जा सके। रामके अभ्युदयसे उसे भय होता था। परामर्शानुसार शूर्पणखाको मन्थराका रूप धारण करके मिथिला भेजा गया, वह कैकेयीकी दासी मन्थराके रूपमें मिथिला आई और कैकेयीको राजाके द्वारा दिये गये वरदानकी बात चलाने लगी। एक वरसे भरतको राज्य तथा दूसरे वरसे रामको चौदह वर्षोंके लिये वनवास दिलवाया। सीता तथा लक्ष्मणके साथ राम वन गये, साथ होनेवाले पुरजनोंको आग्रह-पूर्वक लौटा दिया। भरतके बहुत आग्रह करनेपर रामने अपनी स्वर्णमय पादुका उन्हें दे दी जिसे नन्दिग्राममें अभिषिक्त करके भरतने राज्यकार्यका सञ्चालन करना प्रारम्भ किया। राम दण्डकाकी ओर बढ़े। वहाँ खर आदिको मारा।

पञ्चम अङ्क

रावणने सीताका हरण किया। उसकी खोजमें राम-लक्ष्मण वन-वन भटकते थे, उसी प्रसङ्गमें जटायुसे भेंट हुई जिसे सीतापहर्त्ता रावणने मृत्युप्रतीक्ष बनाकर छोड़ा था। जटायुसे सारी स्थितिका ज्ञान प्राप्त करके रामलक्ष्मण किष्किन्धाकी ओर बढ़े, रास्तेमें विराधका वध किया। सुग्रीवसे मैत्री हुई। रावण प्रेरित वालीका वध करके रामने सीताकी खोजमें वानरोंको भेजा। मरनेके समय वालीने भी राम और सुग्रीवकी मैत्रीमें दृढ़ताका बन्धन डाला।

षष्ठ अङ्क

वालीके मरनेपर माल्यवान्‌को बड़ी चिन्ता हुई उसे अपने पक्षका दुर्बलत्व प्रकट प्रतीत होने लगा। उसने प्रयत्न किये कि रावण कुछ उपयुक्त उपाय काममें लावे किन्तु अतिदृप्त रावणने अपने पराक्रमको आजेय तथा सागरको दुस्तर कहकर चिन्ताको हृदयमें स्थान नहीं दिया। रामने लङ्कापर चढ़ाई की। रामरावणसैन्यमें घोर युद्ध हुआ, एक-एक कर

वीरगण कटने मरने लगे। घमासान युद्धके बाद मेघनादलक्ष्मणयुद्धमें मेघनाद प्रयुक्त शक्तिसे आहत लक्ष्मण मूर्च्छित होकर गिर पड़े। रामपक्षमें विषादकी घटा घिर आई, सबकी रायसे हनूमान् सञ्जीवनी लाने गये, खास जड़ीके नहीं पहचाने जानेपर वे पर्वत ही उठा लाये। पर्वतवर्त्ती औषधोंकी हवाके लगनेसे लक्ष्मणको चैतन्य हो आया। रामपक्षमें खुशियाँ मनाई जाने लगीं। तदनन्तर जो निर्णायक युद्ध हुआ उसमें मेघनाद रावण सभी मारे गये, सीताका उद्धार हुआ।

सप्तम अङ्क

रावणके मारे जानेपर रामने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार विभीषणको लङ्काका अधिपति बना दिया। विभीषणने राज्याधिकारके मिलते ही देववन्दियोंको मुक्त कर दिया। लङ्का-काण्ड समाप्त करके अग्निशुद्ध सीताको साथ ले, राम लङ्कासे अयोध्याको चले। विमान परसे सीताको रामने मार्गवर्त्ती समुद्र और अन्यान्य स्थानोंके परिचय दिये। मार्गमें विश्वामित्रका आश्रम मिला परन्तु उनका आदेश हुआ कि शीघ्र अयोध्या जांय, मार्गमें रुके नहीं। अयोध्या आनेपर भरतादि बन्धुओंसे मिलनेके बाद वसिष्ठ आदि पूज्य ऋषियोंने रामका राज्याभिषेक किया। इस प्रकार रामका वीरचरित पूर्ण हुआ।

कथाका आधार

महावीरचरितकी कथा रामायणकी प्रसिद्ध कथापर आधारित है। जो परिवर्त्तन और परिवर्द्धन कुछ किया गया है वह नाटकी दृष्टिसे ही। इसमें रामवनगमनका प्रसङ्ग मिथिलामें ही उठा दिया गया है, रामायणमें कुछ कालके बाद अयोध्यामें। रावणने वालीको रामको मारनेके लिये भेजा था यह बात भी इसमें नई है। माल्यवान्की पूरी मन्त्रणा भवभूतिकी सृष्टि है जो इस नाटककी जान कही जा सकती है। परशुरामकी विस्तृत-वर्णना इसमें काव्य चमत्कार उत्पन्न करनेके लिये ही की गई प्रतीत होती है। और भी कुछ भेद हैं जो अतिस्थूल तथा नाटकत्व सम्पादन प्रयोजनमात्र हैं।



पात्रालोचन

१ राम

रामका चित्रण इस नाटकमें आदर्शवादकी तरह किया गया है। राक्षस सीताकी मंगनी करता है, लक्ष्मणको यह बात बुरी लगती है परन्तु रामको इसमें कुछ अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। वे कहते हैं:—

'साधारण्यान्निरातङ्कः कन्यामन्योऽपि याचते। किं पुनर्जगतां जेता प्रपौत्रः परमेष्ठिनः'॥

कितनी गम्भीरता तथा आदरभरी उक्ति है।

ताटकाको मारनेका आदेश होता है, वह वध्य है इसमें सन्देह नहीं रह गया है फिर भी रामका वीर हृदय कह उठता है **'भगवन्! स्त्री खल्वियम्'।**

परशुरामसे बातें हो रही हैं, अस्त्रप्रयोगका प्रारम्भ अब होना ही चाहता है, रामकी वीरताका महत्त्व है कि वे वहीं रहकर अपनी बहादुरी दिखावे, परन्तु वीरतासे ओतप्रोत नम्रताका मूल्य वीरतासे कम नहीं होता है, रामको गुरुजनका आदेश होता है कि श्वश्रूजनकी बुलाहट है, राम कह उठते हैं—**'एवमादिशन्ति गुरवः'** हमारी इच्छा तो आपके साथ यथायोग्य कार्य करनेकी ही है किन्तु गुरुजनका ऐसा आदेश है। इस उक्तिमें कितना सारल्य तथा सौशील्यका समावेश है।

दशरथ, जनक, शतानन्द, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र सभी गुरुवर्ग परशुरामको मनाते रहे परन्तु उनका पारा नहीं उतरा, वह ज्योंके त्यों हैं, रामकी वीरता सौजन्यसे इस प्रकार आवृत है कि वे बीचमें कुछ नहीं बोलते, परन्तु जब उनकी समझमें यह बात आ जाती है कि अब अस्त्र उठ जायेंगे, तब वे सुजनताको कायरपनके नामसे कलङ्कित नहीं होने देते हैं, वे ललकारकर कह उठते हैं—

'पौलस्त्यविजयोद्दामकार्त्तवीर्यार्जुनद्विषम्। जेतारं क्षत्रवीर्यस्य विजयेय नमोऽस्तु वः'॥

वीरताका यह स्वरूप है। दमनके अनन्तर जब परशुराम कहते हैं कि:—

'अनतिक्रमणीयो रामनिदेशः'।

तब रामका उदारहृदय कितनी धीरतासे कहता है:—

'एष वो रामशिरसा प्रणामपर्यायः'।

राम केवल आदर्श वीर ही नहीं, एक आदर्श पुत्र भी थे। उनकी पितृभक्ति तो आदर्श ही थी, मातृभक्तिकी भी उनके हृदयमें काफी निष्ठा थी। दूती अयोध्यासे मिथिला आती है, संवाद लाती है, राम उससे मिलनेको उत्कण्ठित हो उठते हैं:—

'यदीदमस्यां प्रवृत्त्यां शिशुप्रवासदौर्मनस्यं विच्छिद्येत'।

रामके हृदयमें माताओंके विषयमें आदरभरा स्नेह बालूके भीतर पानीकी तरह छिपा है, उनका अनुमान है कि हमारे प्रवाससे मातायें खिन्न होंगी।

इन स्नेह भावनाओंके पीछे कर्त्तव्यभावना भी रामके हृदयमें वर्त्तमान है, वे राक्षस-वधकी चिन्ता भूलते नहीं, लोग सीताको वीरगृहिणी होनेकी आशीष देते हैं, रामको अपना कर्त्तव्य स्मरण हो जाता है—

'अचिरात्समूलकाषं कषितेषु राक्षसेष्वेवं स्यात्।

इन सभी प्रकरणोंमें रामकी चारित्रिक विशेषताएँ प्रकट होती हैं। यहीं तकका उत्कर्ष इसमें है। रामके उत्तरचरितकी चर्चा तो इस रूपकमें है ही नहीं।

२ लक्ष्मण

लक्ष्मणके चरितमें वीरभाव तथा भ्रातृप्रेमकी गङ्गायमुनी आदिसे अन्ततक वर्त्तमान है। लक्ष्मणकी भ्रातृभक्तिमें ईर्ष्याकी गन्ध भी नहीं पाई जाती है, राम धनुषभङ्ग करेंगे तब लक्ष्मणकी प्रसन्नता असीम हो उठेगी, वे कह उठेंगे—**'दिष्ट्या देवदुन्दुभिध्वनिः पुष्पवृष्टिश्च'।** लक्ष्मणके चरित्रका जो अशोभन भाव रामायणादिमें पाया जाता है भवभूतिने उस अंशपर पर्दा डाल दिया है, परशुरामके साथ कड़वी बातें इसमें नहीं करवाई गई हैं, भरतके लिये कटुवाक्य प्रयोग करवाकर वीरताकी मात्रामें तुच्छ भावका सम्मिश्रण नहीं करवाया गया है। इतना होनेपर भी जहाँ तक बहादुरीका प्रश्न है उसमें न्यूनता नहीं आने पाई है। श्रमणा तापसीके करुण आक्रन्दनपर द्रुत होकर जिस समय राम जानेकी आज्ञा देते हैं तब लक्ष्मण यह नहीं विचारते हैं कि किससे सामना करना पड़ेगा, कौन प्रतिपक्षमें है? वे कह उठते हैं—**'एष गतोऽस्मि'** कितनी वीर आत्मवृत्ति है। इस प्रकार लक्ष्मणका संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट चरित इस रूपकमें वीरताका स्रोत बहानेमें समर्थ हो सका है।

३ सीता

सीताका चरित कोमलभावनाओंकी प्रतिच्छवि है। रामके प्रथम दर्शनमें ही उसके मुँहसे निकलता है कि—**'सौम्यदर्शनोऽयम्'** यही कोमलभाव स्नेहका रूप पा लेता है जब वह देखती है रामको विश्वामित्र ताटकावधकी आज्ञा देते हैं तब वह कह उठती है **'हा धिक्, एष एवात्र नियुक्तः'।** वही स्नेह सीताका जब रामसे विवाह हो गया तब उद्दीप्त प्रणयका रूप ग्रहण कर लेता है। सीता रामको किसी भी खतरेमें जाते देख घबड़ा उठती है। परशुरामकी क्रूर प्रकृतिसे परिचित सीता रामको उनसे मिलने देना नहीं चाहती है, वह यथाशक्ति स्वयं रोकती है, सखियोंके समक्ष सङ्कोचको तिलाञ्जलि देकर रामको पकड़ लेती है।

४ रावण

इस नाटकमें रावण प्रतिनायक है। प्रतिनायकका उत्कर्ष वर्णन फलतः नायकोत्कर्ष-वर्णनपर्यवसायी होता है, इस दृष्टिसे रावणका चित्रण साधारण हुआ है। रावण वीर अवश्य है किन्तु उसे सर्वदा परावलम्बी तथा अलसरूपमें वर्णित किया गया है। रावणका प्रवेश सीताहरणकालमें होता है, वहाँ उसकी कोई खास छाप नहीं है, जटायुके साथ युद्ध भी विष्कम्भकमें ही कह दिया गया है। उसकी विशेषता प्रकट होती है रामद्वारा लङ्काके घेरे जानेपर, वहाँ भी वह मन्दोदरीके साथ विनोदपरायण ही पाया जाता है। मन्त्रीके द्वारा परिस्थितिकी सूचना मिलनेपर भी वह बिलकुल अजानकी तरह बातें करता है। मन्त्रीद्वारा निवेदित वृत्तपर मन्दोदरी कहती है कि खतरा है तब वह ठीक पियक्कड़ोंकी सी बातें करता है—**'देवि कीदृशः?'** समुद्रमें सेतुके बननेकी बातको वह कोरी कल्पना कहकर टाल देता है। अङ्गदके साथ बातें करनेमें भी रावण किसी खास पहलूको नहीं अपनाता है, वह केवल अपनी वीरतापर अडिग विश्वास लिये हुए है। युद्धक्षेत्र की बहादुरी तो चरित्र नहीं कीर्त्ति है। इस प्रकार रावणकी चारित्रिक विशेषताके विषयमें कोई खास बात नहीं है।

५ माल्यवान्

यह रावणका मातामहभ्राता तथा मन्त्री है, इसकी योग्यता प्रशंसनीय है। इसके चार-गण सर्वत्र सतर्क तथा बुद्धिमान् हैं। माल्यवान् भविष्यकी चिन्ता इतनी सावधानीसे करता है कि उसको इसके लिये धन्यवाद दिया जाय। रामरावणयुद्ध अभी बहुत दूर है परन्तु उसे उस समयकी परिस्थितिका चित्र अङ्कित करके अपने सहकर्मियोंको समझाना तथा तदनुसार आचरण करना है। बाली और परशुराम उसके मित्रपक्ष हैं, विभीषण खर-दूषण आदि उसके अपने हैं, परन्तु इनके लिये भी उसकी सतर्कता बुद्धिका प्रबल प्रकर्ष माना जायगा। उसके द्वारा की गई स्वपक्ष-परपक्ष विवेचना तथा राजनीतिकव तप्रतिघात की समीक्षा अत्यन्त गम्भीर तथा विवेचनीय हुई है। प्रत्यासन्न शत्रु की परिभाषामें उसने अपनी चतुरता का विकास प्रमाणित किया है।

इस तरह उसकी विशिष्ट बुद्धिमत्ता सिद्ध होती है। बुद्धिमान् होनेके साथ उसका आत्माभिमान भी सुरक्षित है, वह रावणकी सेवा तो बड़ी लगनसे करता है, परन्तु रावणके आलस्य, औद्धृत्य, अविचार आदि उसे अच्छे नहीं लगते हैं, वह उसके लिये खेद ही प्रकट करता है:—

'सचिव्यं नाम महते सन्तापाय।

यत्किञ्चिद्दुर्मदाः स्वैरमाद्रियन्ते निरर्गलम्। तत्र तत्र प्रतीकारश्चिन्त्यो वक्रे विधावपि'

रावणकी बहादुरीपर उसकी उतनी श्रद्धा नहीं है जितनी उसे अपनी बुद्धिपर विश्वास है। उसकी विद्याबुद्धि किसी भी मन्त्रीके लिये अनुकरणकी चीज है।

६ परशुराम

इस नाटकके पात्रोंमें परशुरामकी पात्रता सर्वाधिक प्रशंनीय है। स्वाभाविक वीरता, तपस्या तथा गुरुभक्तिसे प्रेरित होकर वे रङ्गमञ्चपर आते हैं। उनका क्षत्रविरोध तथा वीरभाव इतना प्रकट है कि वे रामके सामने सत्य परिचय प्रदान करनेपर निर्मम भावनाको दबाकर रामकी प्रशंसा करने लगते हैं—**'सत्यमैक्ष्वाकः खल्वसि'**। एक वीर ही तो किसी गुणविशेषका समुचित समादर कर सकता है। यह केवल आदर मात्र है, इससे उनके सङ्कल्प पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है वह ज्यों का त्यों है, वे कहते हैं— **'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्'** इस कालिक व्यञ्जनामें कितनी दृढ़ता है। इस वीरताके अन्दर गुरुभक्ति की भावना अव्यक्तरूपमें छिपी हुई है जो कभी कभी प्रकट हो उठती है। जब महर्षि वसिष्ठ अपने सात्त्विक उपदेशोंसे इस नृशंस वीरतासे निवृत्त होनेको प्रेरित करते हैं और परशुरामके पास उन यौगिक तर्कों का कोई उत्तर नहीं रह जाता है, तब वे यही कहते हैं—

'शत्रुमूलमनुत्खाय न पुनर्द्रष्टुमुत्सहे। त्र्यम्बकं देवमाचार्यमाचार्यानीं च पार्वतीम्' ॥

इस उक्तिसे स्पष्ट होता है कि गुरुभक्ति किस कोटि को पहुँच गयी है।

परशुरामको ब्राह्मणत्व तथा क्षात्र दोनों प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त हैं, वे अभिमान रखते हैं कि **'धर्मे ब्रह्मणि कार्मुके च भगवानीशो हि मे शासिता'**। उन्हें विश्वामित्र की तपस्या तथा पराक्रम दोनों का सामना करना सरल प्रतीत होता है। वसिष्ठ की सगोत्रता, तपोज्येष्ठता, वृद्धता आदि गुणों की कदर उनके मनमें है, परन्तु उनका दृढ़ हृदय उन्हें सात्त्विकता की ओर जानेसे रोकता है। शतानन्द की बातसे उन्हें चिढ़ होती है, वे सब तरह की धमकियाँ देते हैं, जनक का आस्फालन तो उनकी दृष्टिमें और ओछीसी बात लगती है।

परशुराम का दमन हो गया फिर भी उनकी वीरता पर आंच नहीं आई, वे उसी दृढ़ताके साथ अपनी करनीका प्रायश्चित्त भी करने को तैयार दीखते हैं। वे कहते हैं— **'वृद्धातिक्रमसम्भृतस्य महतो निर्णिक्तये पाप्मनः'**। वे कबूल करते हैं कि मुझसे गलती हुई। वीरका आत्मसमर्पण भी वीरोचित ही हुआ है। वे रामकी प्रशंसा दिल खोलकर करते हैं।

इस प्रकार परशुरामका चित्रण बड़ा उत्कृष्ट बन पाया है। रामको महावीर सिद्ध करनेमें परशुरामका चित्रण जितनी दूर तक उपयुक्त हो सका है उतनी दूर तक रावणका चित्रण नहीं हुआ है। मेरी धारणा है कि परशुरामका चित्रण यदि इस कोटिका नहीं हुआ होता तो इस नाटकको यह गौरव भी नहीं मिल पाता, जो इसे प्राप्त है।

७ विश्वामित्र

विश्वामित्र का चरित्र इस नाटकमें मूलस्रोत का काम देता है, वे रामको उसी प्रकार संवारते आये हैं जैसे मुद्राराक्षसका चाणक्य चन्द्रगुप्तको। धनुष उठाने की आज्ञा देते हैं

तब धनुष उठता है, ताड़कावध की प्रेरणा होती है तब ताटका मारी जाती है। कब विद्योपदेश होगा, कब विवाह होगा, कब शेष विधियाँ होंगी, सबकी चिन्ता विश्वामित्र को ही है। विश्वामित्र का व्यवहार इस नाटकमें प्रकर्ष तो लाता ही है साथ ही वसिष्ठ आदि पूज्यजनोंके गौरव की प्रतिष्ठा भी बढ़ाती है। उनके द्वारा की गई स्तुतियाँ यथार्थवादकी सीमामें रहकर भी बड़ी उत्कृष्ट बन गई हैं जिनसे वसिष्ठ का वृद्धोचित गौरव और समृद्ध हो जाता है। जब उनके मुँहसे—

'सनत्कुमाराङ्गिरसोर्गुरुर्विधातपोमयः।
स्तौषि चेत्स्तुत्य एवास्मि सत्यशुद्धा हि ते गिरः'।

निकलता है तब उनके गौरवके साथ ही वसिष्ठ की भी गौरव प्रकट हो जाता है।

८ वसिष्ठ, शतानन्द, जनक

वसिष्ठ, शतानन्द तथा जनक की चरित्र रेखायें पृष्ठभूमिमें ही काम आई हैं, उनका कुछ प्रत्यक्ष चित्रण न हुआ है न अभिप्रेत ही रहा है। वसिष्ठके द्वारा दिये गये उपदेश शास्त्रज्ञानका परिचय देते हैं और शतानन्द द्वारा किया गया कोप जनककुलपर उनकी ममताका द्योतन करता है।

शेष पात्र साधारण कर्त्तव्यका निर्वाह भर करते हैं, उनका कुछ खास महत्त्व नहीं है।



पात्र-परिचय

पुरुषपात्र

राम—नाटकके नायक, मर्यादापुरुषोत्तम

लक्ष्मण—उनके अनुज

भरत—उनके अनुज

वसिष्ठ—प्रसिद्ध ऋषि, रघुकुलपुरोहित

विश्वामित्र—प्रसिद्ध मुनि

परशुराम—जमदग्निके पुत्र, प्रसिद्ध वीर

रावण—राक्षसराज, स्वनामख्यात

राजा जनक-सीरध्वज—विदेहाधिपति

राजा कुशध्वज—विदेहाधिपानुज

राक्षस—रावणदूत

माल्यवान्—रावणका मन्त्री

सुमन्त्र—दशरथके मन्त्री

दशरथ—रामके पिता, अयोध्याधीश

शतानन्द—गौतमपुत्र तथा जनकपुरोहित

युधाजित्—भरतके मामा

सम्पाति—गृध्रराज

जटायु—गृध्रराजके छोटे भाई

बाली—वानरराज, किष्किन्धाधीश

सुग्रीव—वानरराजानुज

विभीषण—रावणानुज

अङ्गद—वालिपुत्र

वासव, चित्ररथ, तापस आदि

स्त्रीपात्र

सीता—रामपत्नी

मन्दोदरी—राक्षसाधिपपत्नी

शूर्पणखा—रावणभगिनी

त्रिजटा—रावणदासी

अरुन्धती—वसिष्ठपत्नी

सखी आदि



॥ श्रीः ॥

महावीरचरितम्

'प्रकाश' संस्कृत–हिन्दीटीकोपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

अथ स्वस्थाय देवाय नित्याय हतपाप्मने ।
त्यक्तक्रमविभागाय चैतन्यज्योतिषे नमः ॥ १ ॥

शङ्करदयिते जयि ते करयुगलं शस्त्रशालि भजे । भुवेऽभयं वितरीतुं धृतदर्भमिव स्वभावेन ॥
श्रद्धानतेन शिरसा पितरं 'मधुसूदनम्' । प्रसूं 'जयमणिं' चाहं प्रणमामि पुनः पुनः ॥ २ ॥
भवभूतिवचोभङ्गीभङ्गायोद्यच्छतो मम । प्रयासो विबुधैर्दृश्यो नान्वेष्यो दोषसञ्चयः ॥ ३ ॥

अथ तत्र भवान् भवभूतिः साधुशब्दप्रयोगे 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः' इत्यादिश्रुत्या धर्मं सम्भावयन् शब्दप्रयोगे कर्त्तव्यत्वेनावधारिते च 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' इति प्रामाणिकोक्त्या काव्यनिर्माणं प्रचुरकल्याणकारणतयाऽवधारयन् श्रव्यप्रबन्धापेक्षया दृश्यप्रबन्धस्य गौरवं चापामरप्रसिद्धं परिचिन्वन् श्रीमतो मर्यादापुरुषोत्तमस्य रामस्य पूर्वचरितं महावीरचरितनाम्ना निबिभन्त्सुः प्रस्तावनाङ्गभूतां नान्दीं निबध्नाति—अथेति० आदावथशब्दप्रयोगो मङ्गलार्थः, तथा चोक्तम्—'ओङ्कारश्चाथशब्दश्च सर्गादौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ' ॥ स्वस्थाय स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः स्वमहिमप्रतिष्ठितः तस्मै । 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' इति श्रुत्यनुध्यानेनेदम् । अथवा स्वस्थाय अन्याधारनिरपेक्षाय । नित्याय त्रिकालाबाध्याय उत्पत्तिविनाशरहितायेत्यर्थः । हतपाप्मने जरामरणदुःखादिपापसंसर्गशून्याय, स्वमहिम्ना स्वाश्रितजनपापविनाशकाय च । त्यक्तक्रमविभागाय त्यक्तः क्रमस्य उत्पत्तिस्थितिभङ्गात्मकस्य विभागो येन तथाभूताय उत्पत्त्यादिक्रम-

---

स्वाधारमें अवस्थित सनातन पापविनाशक उत्पत्त्यादि क्रमशून्य ज्ञानस्वरूप तेज परब्रह्मको नमस्कार है ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—भगवतः कालप्रियनाथस्य यात्रायामार्यमिश्राः समादिशन्ति—

विरहितायेत्यर्थः। चैतन्यज्योतिषे चैतन्यात्मकाय प्रकाशात्मकाय च। अथवा–चैतन्यम् समाधिकाललभ्यमभेदज्ञानम् तत् ज्योतिः प्रकाशकं यस्य तस्मै इत्यर्थः। एवं भूताय देवाय क्रीडाप्रवृत्ताय (लीलयैव भुवनानि निर्मिमाणस्य तस्य क्रीडा प्रवृत्तता नासत्या) नमः। 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि'त्युक्तथा मङ्गलमिदं नमस्कारात्मकम्। इयमष्टपदानान्दी—तदुक्तम्—'आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात् प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता' इति। अत्र 'देवाये'त्यनेन 'रामदेवं निनाय' इत्यादिना वक्ष्यमाणो रामदेवो वर्ण्य इति सूचितम्। 'हतपाप्मने' इत्यनेन वालिरावणादिवधोऽत्र वर्ण्य इति सूचितम्, ततश्चात्र वीरः प्रधानो रस इति प्रतिपादितम्, तथा चोक्तम्—'वीरश्रृङ्गारयोरेकः प्रधानं यत्र वर्ण्यते। प्रख्यातनायको पेतं नाटकं तदुदाहृतम्' इति। 'देवाय' इति स्वप्रकृतिभूतदिवुधातोः क्रीडार्थकतया रामचन्द्रस्य जानक्या सह क्रीडादि व्यञ्जयितुम्। एवमत्रार्थतः शब्दतश्च काव्यार्थसूचनं कृतम्, तदुक्तम्—'अर्थतः शब्दतो वापि मनाक्काव्यार्थसूचनम्'। अनुष्टुब्वृत्तम्, स्पष्टमन्यत्॥ १॥

नान्द्यन्ते = 'नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः' इत्याद्यभियुक्तोक्त्या वेदितस्वरूपा नान्दी, यद्वा नन्दिन इयं नान्दी 'नान्दी नन्दीश्वरप्रिया' इति स्मरणात्। अथवा नन्दयतीति नान्दी, देवद्विजनृपादीनामानन्दाय तत्प्रयोगात्। तथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता'। तस्याः नान्द्याः अवसान इत्यर्थः। नान्दी चात्र शब्दप्रयोगः तस्याश्चान्तश्चरमवर्णध्वंसरूपो बोध्यः।

सूत्रधारः = भरताचार्यः, तल्लक्षणं यथा—'वर्णनीयतया सूत्रं प्रथमं येन धार्यते। रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते' इति। नान्द्यन्ते सूत्रधार इत्यस्याहेति शेषः। तदुक्तिमुपन्यस्यत्यग्रे।

भगवतः = ऐश्वर्ययुक्तस्य, भगोऽस्यास्तीति भगवान्, तस्य। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा' इति। कालप्रियनाथस्य = तदाख्यस्य देवविशेषस्य। कालप्रियाऽम्बिका तस्या नाथस्य शिवस्येति व्याख्याय केचित् कालप्रियानाथस्येति पठन्ति तन्न युक्तं तथा पाठे कालप्रियाया नाथ

(नान्दीके अन्तमें)

सूत्रधार—कालप्रियाधीश्वरकी यात्राके प्रसङ्गमें आर्यमिश्रोंने आदेश दिया **है**—

'महापुरुषसंरम्भो यत्र गम्भीरभीषणः ।
प्रसन्नकर्कशा यत्र विपुलार्था च भारती ॥ २ ॥
किञ्च—अप्राकृतेषु पात्रेषु यत्र वीरः स्थितो रसः ।
भेदैः सूक्ष्मैरभिव्यक्तैः प्रत्याधारं विभज्यते ॥ ३ ॥

इत्यभिधानस्य भवानीपतिशब्दवत् पत्यन्तरप्रतीतिकारितया विरुद्धमतिकारिताख्यदोषापत्तेः। यात्रायाम् = दर्शनार्थमभियाने, प्राचीनसमये यात्रिकाः संभूय कञ्चन देवं द्रष्टुं प्रतिष्ठन्ते, मार्गस्यैकाकिसञ्चरणायायोग्यत्वात्। तत्र चाभियाने नानाविधाः प्रमोदावहा अभिनयादयो भवन्ति स्मेति प्रसिद्धिमनुरुध्य सर्वत्र रूपकेषु सदृशं कथनम्। आर्यमिश्राः = साधुषु पूज्यतमाः। समादिशन्ति = आज्ञापयन्ति।

महापुरुषेति० यत्र सन्दर्भे ग्रन्थे गम्भीरः अक्षोभ्यः भीषणः भयावहः महापुरुषस्य भगवतो रामस्य धीरोदात्तनायकस्य संरम्भः स्थेयान्प्रयासः (प्रतिपाद्यत इति शेषः) (किञ्च यत्र सन्दर्भे) प्रसन्ना प्रसादगुणशालिनी कर्कशा ओजोगुणयुक्ता चेति प्रसन्नकर्कशा, विपुलार्था वाच्यव्यङ्ग्यादिप्रभेदेन प्रतिपाद्यमानस्यार्थस्याधिक्येन प्रचुरार्थयुक्ता च भारती वर्त्तत इति शेषः। अयमाशयः—यस्मिन् ग्रन्थे साधारणजनदुःखगमः प्रयत्नशतेनापि प्रतिबन्धुमशक्यश्च महापुरुषप्रयासो वर्णनीयतयोपादीयते किञ्च प्रसादेनौजसा च गुणेन वाणी यथोचितरसाभिव्यक्तिसमर्था प्रयुज्यते इति। ससन्दर्भोऽभिनेतव्य इत्यग्रिमेणान्वयः। 'प्रसिद्धार्थपदत्वं यत्स प्रसादो निगद्यते' इति प्रसादपरिभाषा। प्रसन्नकर्कशेत्यस्येषन्मृद्वर्थसन्दर्भा इत्यर्थ इति केचित्। तत्र चार्थे भारतीवृत्तिं प्रतीङ्गितं कृतं भवतीति बोध्यम्, तथा च स्मरामः—'ईषन्मृद्वर्थसंदर्भा भारती वृत्तिरिष्यते' इति। युग्मकमिदम्। द्वितीयश्लोकेन सहैवास्य वाक्यपूर्त्तिरिति बोध्यम् ॥ २ ॥

अप्राकृतेष्विति० (किञ्च यत्र सन्दर्भे) अप्राकृतेषु असाधारणेषु लोकविलक्षणेषु पात्रेषु रामजामदग्न्यादिषु स्थितः वर्णनीयतया स्वीक्रियमाणः रसः वीररसस्तत्स्थायुत्साहो वा सूक्ष्मैः शान्तस्वभावेषु पात्रेषु सत्त्वेऽपि प्रज्ज्वलनाभावादनुद्वेलैः अभिव्यक्तैः अतादृशपात्रेषु स्फुटमवगम्यमानैः भेदैः अवस्थाविशेषापादितैः प्रकारैः प्रत्याधारम् आधारे आधारे विभज्यते पृथक् क्रियते। एकस्यैव वीरस्य रसस्य पात्रविशेषमहिम्ना स्वरूपं पृथक् पृथगिव प्रतीयत इत्यतिविचित्रास्य सन्दर्भस्य शैलीति तात्पर्यम् ॥ ३ ॥

जिसमें महापुरुषकी वीरता, जो गम्भीर तथा भयावह हो (रहे), प्रसादगुणसे युक्त कठिन बन्धवाली, तथा बहुत अर्थयुक्त भाषा हो ॥ २ ॥

अप्राकृत पात्रोंमें वीररसका समावेश हुआ हो, जो वीर रस अपने अवान्तर सूक्ष्म भेदोंमें व्यक्त हो रहा हो ॥ ३ ॥

स संदर्भोऽभिनेतव्यः' इति । (सहर्षम्) महावीरचरितं प्रयोक्तव्यमित्यादिष्टमर्थतोऽत्रभवद्भिः।

वश्यवाचः कवेर्वाक्यं सा च रामाश्रया कथा ।
लब्धश्च वाक्यनिष्यन्दनिष्पेषनिकषो जनः ॥ ४ ॥

सोऽहमेतद्विज्ञापयामि—अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्।

सहर्षम् = हर्षश्चात्र ससन्दर्भोऽभिनेतव्यो यत्र ते ते गुणा इति प्रतिपादिते कोऽसौ सन्दर्भ इति शङ्कायाः सदुत्तरस्फुरणात् , तथोक्तगुणकसन्दर्भस्य स्वसहकारिकुशीलवैरभिनेतुमभ्यस्तत्वात् , तदभिनये च सामाजिकजनमनस्तोषणौपयिकयशोलाभस्यावश्यंभावित्वे विश्वासाच्च । अर्थतः = शब्दतस्तथानुक्त्वापि फलतस्तथोक्तमित्यर्थः, यथा क्व व्रजसीति प्रश्ने 'यत्र देवो महेश्वरः, पुण्यप्रवाहा भागीरथी च तत्र गच्छामीत्युक्तेऽर्थतः काशीं व्रजामीत्युक्तं भवति तथैवात्र तेषां गुणानां संहत्य महावीरचरित एवोलभ्यतया तदेवार्थतः कथितमिति भावः ।

वश्यवाच इति० वश्याः स्वच्छन्दनर्त्तनीयाः वाचः वाक्यसन्दर्भाः यस्य तस्य वश्यवाचः स्वाधीनवाक्प्रवृत्तेः कवेः कवयितुः वाक्यम् पदकदम्बकम् , सा स्वतः प्रसिद्धा रामाश्रया रामायणी कथा चरितप्रसङ्गः, वाक्यनिष्पन्दनिष्पेषनिकषः वाक्यानाम् श्रव्यतयाऽऽस्वादनीयानां वाक्यकदम्बकानाम् निष्यन्दस्य प्रवाहस्य निष्पेषे सारभागग्रहणेनोपयुक्ते समास्वादे समीक्षणे वा निकषः शाणभूतः जनः सामाजिकवर्गश्च लब्धः प्राप्तः, अस्माभिरिति शेषः, यस्य वाचः स्थिता वशे तादृशस्य महाकवेर्वाक्यं प्रयोक्तव्यमित्येकः प्रधानसुयोगस्तावतापि साफल्यस्य संभवित्वात्तत्रापि कथायाश्चारिमा चमत्कारातिशयमाधत्ते सोऽपि रामाश्रयत्वेन प्रतिपन्न इति परमं सौभाग्यं नः, नैतावदेव, सत्यपि वाक्यसौष्ठवे कथाचारुत्वेऽपि चारसिकसमुदयहृदयावर्जनं न सुकरमिति जातु जायेत शङ्का तदपि नास्ति सामाजिकजनस्य वाक्यजन्यप्रतीतिसमुत्पाद्यरसास्वादविचक्षणत्वादिति महानयं सुयोग इति भावः ॥४॥

सोऽहम् = सामाजिकेनादिष्टोऽहम् । विज्ञापयामि = बोधयामि ।

दक्षिणापथे=दक्षिणदिग्वर्त्तिनि स्थानभेदे । 'शरावत्या दक्षिणे भागे' इति केचित् ।

ऐसे ग्रन्थका अभिनय होना चाहिये । (हर्षसे) अर्थतः यही आदेश रहा कि 'महावीर चरित' का अभिनय हो ।

वह वश्यवाक् कविका वाक्यसमूह है, उसकी कथा रामाश्रय है, और वाक्यप्रवाहके पेषणमें निकषभूत सामाजिक भी मिल गये हैं ॥ ४ ॥

इसलिये मैं सूचित करता हूँ कि—दक्षिणापथमें पद्मपुर नामक नगर है, वहाँ कुछ तैत्तिरीय शाखावाले, काश्यपगोत्री, अपनी शाखामें श्रेष्ठ, पङ्क्तिपावन, पञ्चाग्निके उपासक,

तत्र केचित्तैत्तिरीयाः काश्यपाश्चरणगुरवः पङ्क्तिपावनाः पञ्चाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिन उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति। तदामुष्यायणस्य तत्रभवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पञ्चमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकण्ठस्यात्मसंभवः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्य-

---

तैत्तिरीयाः = वेदेषु यजुषो द्वे शाखे, कृष्णा शुक्ला च, तत्र कृष्णा तित्तिरिरित्याख्यायते तं वेदभागं विदन्ति अधीयते वा ये ते तैत्तिरीयाः। पुरा याज्ञवल्क्यो वैशम्पायनाद् यजुर्वेदमध्यैष्ट, कदाचित् कुतश्चित्तदपराधात् कुपितो वैशम्पायनो मदधीतं वेदभागं प्रत्यर्पयेति याज्ञवल्क्यमाजिज्ञपत्। स च तथेति तस्मै तदुपदेशेन गृहीतं यजुर्भागमुज्जगार। उद्गीर्णं च तं वेदभागं तत्र चरन्तस्तित्तिरिनामकाः पक्षिणोऽभक्षयन्, अतएव च शाखा सा तित्तिरिशाखेति व्यपदिश्यत इति भागवते द्वादशस्कन्धे षष्ठेऽध्याये। काश्यपाः = काश्यपान्वयसंभूताः। चरणगुरवः = शाखासु श्रेष्ठाः, यस्य ब्राह्मणशाखायास्तेऽवयवास्तत्र प्रधानतां गता इत्यर्थः। पङ्क्तिपावनाः = आहारार्थं श्रेणीभावेनोपवेशनं पङ्क्तिपदार्थः, तां पावयन्ति पवित्रीकुर्वन्ति ये ते तथा। उक्तं च मनुना—'अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च। श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः'। पञ्चाग्नयः = गार्हपत्याहवनीयदक्षिणसभ्यावसथ्यनामकाग्निपञ्चकसाध्यवैदिककर्मपरायणाः। धृतव्रताः = चान्द्रायणादिव्रतानुष्ठायिनः। सोमपीथिनः = सोमयागे सोमाख्यलतारसपायिनः। उदुम्बरनामानः = अभिजनबोधकतयाभिधानमिदं प्रयुञ्जानाः। ब्रह्मवादिनः = वेदान्तप्रतिपाद्यब्रह्मोपदेशकुशलाः। प्रतिवसन्ति=सन्ति। आमुष्यायणस्य = अमुष्य पुत्रस्य आमुष्यायणस्य। 'आमुष्यायणामुष्य पुत्रिकामुष्यकुलिकेति च' इति निपातनादस्य पदस्य साधुत्वम्। सोमपीथित्वादिगुणयुक्ता ये ब्राह्मणास्तेषु कस्यचित्पुत्र इत्यर्थः। वाजपेययाजिनः = वाजपेयनामकयज्ञं कृतवतः। सुगृहीतनाम्नः = कीर्त्तनीयनामधेयस्य। 'स सुगृहीतनामा स्याद्यः सदा सुखदः स्मृतः' इति हि स्मरन्ति। पवित्रकीर्त्तेः = पावनयशसः। आत्मसंभवः = आत्मजः पुत्र इत्यर्थः। श्रीकण्ठपदलाञ्छनः = श्रीकण्ठनामा। भवभूतिर्हि पितृभ्यां श्रीकण्ठसंज्ञयैवाभिहितः, भवभूतिरिति संज्ञा तु पश्चात्तेन 'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्त्तिः' इति पद्यतुष्टेन केनचिद्भूपालेन दत्ता स्वीकृत्य व्यवहृता च। पदवाक्यप्रमाणज्ञः =

नियमपालक, सोमयज्ञ करनेवाले, उदुम्बरोपाधिक, ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण रहते हैं। उसी वंशमें उत्पन्न पूजनीय वाजपेयानुष्ठायी, स्वनामधन्य भट्टगोपाल कविके पौत्र तथा पवित्रकीर्त्ति नीलकण्ठके पुत्र श्रीकण्ठनामधारी व्याकरण-मीमांसा-न्यायके विद्वान् भवभूति नामसे प्रख्यात जतुकर्णी नामक माताके गर्भसे उत्पन्न कवि हमारे मित्र हैं यह आप जानें।

प्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः कविर्मित्रधेयमस्माकमिति भवन्तो विदांकुर्वन्तु ।

श्रेष्ठः परमहंसानां महर्षीणां यथाङ्गिराः ।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः ॥ ५ ॥

तेनेदमुद्धृतजगत्त्रयमन्युमूलमस्तोकवीरगुरुसाहसमद्भुतं च ।
वीराद्भुतप्रियतया रघुनन्दनस्य धर्मद्रुहो दमयितुश्चरितं निबद्धम् ॥६॥

पदं व्याकरणशास्त्रम्, वाक्यं मीमांसा, प्रमाणं तर्कशास्त्रं तेषां ज्ञाता । जतुकर्णी= भवभूतिमाता । मित्रधेयम्=सुहृत् । मित्रशब्दात्स्वार्थे धेयप्रत्ययः, 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति प्रकरणे 'मित्राच्च' इति वार्त्तिकात् ।

श्रेष्ठ इति० महर्षीणाम् महामुनीनाम् । अङ्गिरा इव परमहंसानाम् योगेश्रेष्ठानाम् श्रेष्ठः मुख्यतमः यथार्थनामा अन्वर्थसंज्ञः भगवान् पूज्यः ज्ञाननिधिः ज्ञाननिधिसंज्ञः यस्य भवभूतेः गुरुः आचार्यः । एतेन कवेः संप्रदायासादितविद्यत्वप्रतिपादनेन तन्निर्मितप्रबन्धस्य संप्रदायशुद्धिरुक्ता । स्पष्टमन्यत् ॥ ५ ॥

तेनेदमिति० तेन भवभूतिनामकेन कविना वीराद्भुतप्रियतया वीरेऽद्भुते च रसे प्रेमशालितया (हेतुभूतया) उद्धृतजगत्त्रयमन्युमूलम् । उद्धृतम् उत्पाटितम् जगत्त्रयस्य लोकत्रितयस्य मन्युमूलम् शोककारणम् यत्र तादृशं विनाशितजगदुपद्रवकारणमित्यर्थः । अस्तोकवीरगुरुसाहसम् अस्तोकम् अनल्पम् वीरे तदाख्ये रसे गुरु महत् साहसम् विक्रमः यस्मिंस्तत्तथा । अतएव च अद्भुतम् आश्चर्यजनकम् । धर्मद्रुहः सन्मार्गद्वेषिणः रावणादीन् दमयितुः निग्रहीतुः रघुनन्दनस्य रामस्य चरितम् निबद्धम् ग्रन्थरूपीकृतम् । तेनेति प्रसिद्धिं व्यञ्जयति। उद्धृतजगत्त्रयमन्युमूलमित्यनेन रावणवधादिवर्णनेन विनेयोन्मुखीकरणमाशंसितम् । अस्तोकवीरगुरुसाहसमित्यनेन वर्ण्यवस्तुनो रसवत्ताप्रतिपादनेन ग्रन्थस्य सरसत्वं तेन च सामाजिकप्ररोचना व्यक्तीकृता । वीराद्भुतप्रियतयेति हेतूपन्यासेन मनसः प्रवणीभूततया कृतौ साफल्यं प्रतीक्षितं कृतम् । रघुनन्दनस्येति नायकनामनिर्देशेन ग्रन्थगौरवं व्यञ्जितम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ६ ॥

महर्षियोंमें अङ्गिराकी तरह परमहंसोंमें प्रधान यथार्थनामा ज्ञाननिधि जिस कविके गुरु थे ॥

उन्होंने वीर तथा अद्भुत रस प्रिय होनेके कारण धर्मद्वेषियोंके शत्रु रघुनन्दनका यह चरित्र लिखा है जिसमें जगत्त्रयके दुःखका उद्धार वर्णित है और जो वीरता, साहस आदिके वर्णनोंसे पूर्ण तथा अद्भुत है ॥ ६ ॥

तदिदं भवन्तः परिपुनन्तु । उक्तं च तेन श्रोत्रियपुत्रेण—

प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनां यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम् ।
भक्तस्य तत्र समरंसत मेऽपि वाचस्तत्सुप्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम् ॥

(प्रविश्य)

नटः—कृतप्रसादाः पारिषदाः । किन्त्वपूर्वत्वात्प्रबन्धस्य कथाप्रवेशं समारम्भे श्रोतुमिच्छन्ति ।

इदम् = मदीयं निर्माणम् । परिपुनन्तु = परिशुद्धं कुर्वन्तु, सकृतवधानदानेन सफलयन्त्वित्यर्थः । श्रोत्रियपुत्रेण = समग्रवेदाध्यायितनयेन ।

प्राचेतस इति० मुनिवृषा मुनिश्रेष्ठः कवीनाम् काव्यप्रणयनपरायणानां प्रथमः आद्यः प्राचेतसः वाल्मीकिः रघुपतेः रामचन्द्रस्य यत्पावनम् पापध्वंसकरम् वृत्तम् प्रणिनाय चरितमुपनिबबन्ध । भक्तस्य रघुपुङ्गवे श्रद्धायुक्तस्य मे मम अपि वाचः वचनानि तत्र वाल्मीकिप्रणीतरघुपतिवृत्ते समरंसत समनुषक्ताः सस्नेहं प्रवृत्ता इत्यर्थः । कृतिनः पण्डिताः (सारासारविवेकक्षमाः भवन्तः सामाजिकाः) सुप्रसन्नमनसः सन्तः हृष्टहृदयाः भूत्वा तत् आदिकविकवितोञ्छलब्धरामचरिताधारकमन्निर्मितकाव्यम् भजन्ताम् सेवन्ताम् । पर्यालोचनं हि काव्यसेवा, पर्यालोचयन्त्वित्यर्थः । क्वचित्पुस्तके 'समरन्त ममापि वाचः' इति पाठः । तत्र संपूर्वकादृच्छतेः 'समोगम्यृच्छिभ्याम्' इति तङि 'सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्च' इति च्लेरङि 'अरन्त' इति सिद्धावपि आडागमाभावो दुरुपपादः स्यात् । अर्थोऽपि न तथा हृद्यः, मदादृतपाठस्तु सर्वथा निरवद्य इति । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ ७ ॥

कृतप्रसादाः = कृतानुग्रहाः । अपूर्वत्वात् = नूतनत्वात् । कथाप्रदेशम् = इतिवृत्तस्यांशम् । समारम्भे = प्रबन्धस्यारम्भे । अपूर्वां हि कथां निर्दिशतोऽस्य प्रबन्धस्यारम्भे संक्षिप्तमितिवृत्तं श्रोतुमिच्छन्ति पारिषदा येन प्रबन्धावलोकनक्षणे रसास्वादः सौकर्यं परमप्रकर्षं चेयादिति भावः ।

इसे आप पवित्र करें । वहाँ श्रोत्रियपुत्र कह गये हैं—

आदिकवि मुनिवर वाल्मीकिने रघुपतिका जो पावन चरित वर्णन किया है, भक्त होनेके कारण हमारी वाणी भी उसपर अनुरक्त हो गई, विद्वान् लोग प्रसन्न हृदयसे उसका आस्वाद करें ॥ ७ ॥

(प्रवेश करके)

नट—सभासद स्वीकृति दे रहे हैं, किन्तु कथाप्रबन्ध नया है अतः कथाप्रवेश पहले जानना चाहता हूँ ।

सूत्रधारः—स तु भगवान् दीक्षिष्यमाणः कौशिको विश्वामित्र ऐक्ष्वाकस्य वसिष्ठपुरोधसो दशरथस्य गृहानुपेत्य स्वमेव तपोवनं प्रत्यागतः। स च

विजयिसहजमस्त्रैर्वीर्यमुच्छ्राययिष्यञ्जगदुपकृतिबीजं मैथलीं प्रापयिष्यन्।
दशमुखकुलघातश्लाघ्यकल्याणपात्रं धनुरनुजसहायं रामदेवं निनाय॥

निमन्त्रितस्तेन विदेहनाथः स प्राहिणोद्भ्रातरमात्तदीक्षः।
कुशध्वजो नाम स एष राजा सीतोर्मिलाभ्यां सहितोऽभ्युपैति॥९॥

दीक्षिष्यमाणः = दीक्षां ग्रहीष्यन्, प्रवर्त्तिष्यमाण इत्यर्थः। कौशिकः = कुशिकवंशजः। ऐक्ष्वाकस्य = इक्ष्वाकुवंशजस्य। वसिष्ठपुरोधसः = वसिष्ठः पुरोधाः पुरोहितो यस्य तस्य 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः।

विजयीति० विजयि जयशीलम् सहजम् स्वाभाविकम् जगदुपकृतिबीजम् संसारोपकारकारणभूतम् (रामस्य) वीर्यम् बलम् अस्त्रैः जृम्भकाद्यैः उच्छ्राययिष्यन् वर्द्धयिष्यन् उत्कर्षं लम्भयिष्यन्नित्यर्थः। (किञ्च) मैथिलीम् सीताम् प्राययिष्यन् रामेण सह सङ्घटयिष्यन् (विश्वामित्रः) अनुजसहायम् लक्ष्मणसहितम् दशमुखकुलघातश्लाघ्यकल्याणपात्रम् दशमुखस्य रावणस्य यत्कुलं वंशस्तस्य घातो वधस्तेन श्लाघ्यस्य प्रशंसनीयस्य कल्याणस्य मङ्गलस्य पात्रम् आश्रयभूतम्-रावणवंशविनाशेन प्रशस्य कल्याणभाजनमित्यर्थः, रामदेवं रामचन्द्रम् धनुः ऐश्वरं कार्मुकम् (तदधिष्ठितदेशोऽत्र धनुषोपलक्ष्यः) निनाय प्रापयत्। केचित्तु 'धनुरनुजसहायम्' इत्येकं पदं कृत्वा धनुः अनुजश्च सहायौ यस्य तं रामदेवं विश्वामित्रः स्वतपोवनं निनायेत्यर्थं वर्णयन्ति। मालिनीवृत्तम्, 'ननमयययुतेयं मालिनीभोगिलोकैः' इति च तल्लक्षणम्॥ ८॥

निमन्त्रित इति० तेन विश्वामित्रेण विदेहनाथः जनकः निमन्त्रितः यज्ञोत्सवे सङ्गन्तुमाकारितः, स विदेहनाथः आत्तदीक्षः यज्ञार्थं गृहीतव्रतः (अतः स्वयमुपस्थातुमसमर्थतया) भ्रातरम् कुशध्वजम् प्राहिणोत् प्रेषयामास, विश्वामित्रयज्ञे समुप-

---

सूत्रधार—विश्वामित्र यज्ञ करेंगे, वह इक्ष्वाकुवंशी तथा वसिष्ठके यजमान दशरथके घर गये और अपने तपोवनको लौट आये। वह भी

स्वभावतः विजयी रामके पराक्रमको अस्त्रोंसे बढ़ाने और संसारकी भलाईका निदान सीताको मिलानेके लिये रावणवंश विनाशके उपयुक्त पात्र रामको धनुष और अनुजके साथ अपने यहाँ ले आये॥ ८॥

उन्होंने अपने यज्ञमें जनकको निमन्त्रित किया, वह स्वयं यज्ञ कर रहे थे अतः प्रति-

(इति निष्क्रान्तौ)

प्रस्तावना ।

(ततः प्रविशति रथस्थो राजा सूतः कन्ये च)

राजा—आयुष्मत्यौ सीतोर्मिले ! अद्य भगवान् विश्वामित्रः कौशिकः श्रद्दधानेन चेतसा वत्साभ्यां प्रणन्तव्यः ।

स्थातुमादिशत् । स एष पुरोदृश्यमानः कुशध्वजो नाम सीतोर्मिलाभ्यां तन्नामख्याताभ्याम् दुहितृभ्याम् सहितः युक्तः अभ्युपैति अभिमुखमागच्छति । रङ्गस्थलं प्रविशतीति भावः ॥ उपजातिवृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति ॥ ९ ॥

प्रस्तावना—प्रस्ताव्यते यया सा प्रस्तावना सन्दर्भसूचकवाक्यावली । प्रस्तावनालक्षणं यथा—

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा । सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा' ॥

तस्याश्चायं प्रयोगातिशयनामा भेदः, तथा चाहुः—'एषोऽयमित्युपक्षेपात्प्रयोगातिशयो मतः' इति । अत्र प्रस्तावनायां प्ररोचना प्रयुक्ता, तल्लक्षणं यथा—'निवेदनं प्रयोज्यस्य निर्देशो देशकालयोः । कविकाव्यनटादीनां प्रशंसा च प्ररोचना' ॥ तत्र—कालप्रियानाथस्येत्यनेन देशनिर्देशः । कालनिर्देशश्च 'यात्रायामि'ति । 'महापुरुषसंरम्भः' इत्यादिना प्रयोज्य निवेदनं कृतम् । अस्ति खल्वित्यादिना कवेरुपनिबन्धः । तेनेदमित्यादिना काव्यस्य च प्रशंसा कृता वेद्या ।

ततः= सूत्रधारादिनिष्क्रमणानन्तरम् । प्रविशतीत्यस्य राजेत्यनेनान्वयः, तस्यैव च वचनविपरिणामेन 'प्रविशतः' इत्यस्य 'कन्ये' इत्यनेनान्वयः ।

आयुष्मत्यौ=चिरजीविन्यौ । 'सीतोर्मिले' इदं सम्बोधनद्विवचनान्तम् । भगवान्=समार्थ्ययुतः, एतेन प्रणामहेतुरुपन्यस्तो वेदितव्यः । कौशिकः= कुशिकनन्दनः ।

निधिरूपमें उनके भाई कुशध्वज उनसे भेजे गये, वही सीता और ऊर्मिलाके साथ आरहे हैं ॥ ९ ॥

(दोनों का प्रस्थान)

प्रस्तावना

(रथस्थ राजा सूत तथा दोनों कन्याओंका प्रवेश)

राजा—आयुष्मती सीता और ऊर्मिला! आज तुम लोग महाराज विश्वामित्रको श्रद्धायुक्त हृदयसे प्रणाम करना ।

कन्ये—यथा कनिष्ठतात आज्ञापयति। (जह कणिट्ठतादो आणवेदि)

राजा—

तुरीयो ह्येष मेध्याग्निराम्नायः पञ्चमोऽपि वा।
अथवा जङ्गमं तीर्थं धर्मो वा मूर्तिसंचरः॥ १०॥

सूतः—सांकाश्यनाथ! एवमेतत्। न खलु विश्वामित्राद्दषेर्महत्त्वेन कश्चिदपरः प्रकृष्यते। यस्य भगवतस्त्रैशङ्कवं शौनःशेपं रम्भास्तम्भनं चेत्यपरिमेयमाश्चर्यजातमाख्यानविद आचक्षते।

श्रद्दधानेन = फलावश्यंभावनिश्चयरूपश्रद्धायुतेन। चेतसा = हृदयेन। प्रणन्तव्यः = अभिवादनीयः।

कनिष्ठतातः = पितुरनुजः। आज्ञापयति = आदिशति। भवदुक्तमाचरिष्याव इति भावः। अत्र श्रद्दधानेनेत्यनेन विश्वामित्रकर्तृकसीतारामविवाहप्रयत्नरूपबीजोपन्यासादुपक्षेपो नामसन्ध्यङ्गमुक्तम्, तथा च तल्लक्षणम्,—'बीजन्यास उपक्षेपः' इति।

तुरीय इति० एषः विश्वामित्रः तुरीयः चतुर्थः गार्हपत्यदक्षिणाहवनीयरूपाग्नित्रयविलक्षणः मेध्यः पवित्रः अग्निः। अथवा पञ्चमः ऋग्यजुःसामाथर्वभ्यो भिन्नः आम्नायः वेदः। अथवा जङ्गमम् सर्वत्र सञ्चरिष्णु तीर्थम् पुण्यक्षेत्रम्। वा अथवा मूर्त्तिसञ्चरः रूपीसञ्चारशीलश्च धर्मः सुकृतम्। मूर्त्या सञ्चरत इति विग्रहे सम्पूर्वकाच्चरतेरच्। अत्र विश्वामित्रस्याग्नित्वेन रूपणं निखिलाभ्युदयसाधनत्वानभिभवनीयतेजस्कत्वादि, तथाम्नायत्वेन रूपणं भ्रमप्रमादादिराहित्यनित्यहितानुशासनादि, जङ्गमतीर्थत्वेन रूपणं स्वयमागत्योपकरणम्, धर्मत्वेन रूपणञ्च फलाव्यवहितसाधनतां द्योतयितुम्। रूपकमलङ्कारः। स्पष्टमन्यत्॥ १०॥

साङ्काश्यनाथ = सङ्काश्यो नाम जनपदविशेषस्तस्य नाथ स्वामिन्। इदं कुशध्वजसम्बोधनम्। साङ्काशेन निर्वृत्तं साङ्काश्यम्, 'साङ्काशादिभ्यो ण्यः' इति ण्यप्रत्ययः। महत्त्वेन = तपसस्तेजसश्च महिम्ना। प्रकृष्यते = अधिको भवति। विश्वामित्रात्कश्चिन्महत्त्वेन नाधिको भवतीत्युक्तं तदेव साधयितुं–तन्माहात्म्यमभिधत्ते— यस्येति०। त्रैशङ्कवम् = त्रिशङ्कोरिदम् त्रैशङ्कवम्, वसिष्ठशापाच्चाण्डालभावंगतस्य

कन्यायें—छोटे बाबूजीकी जो आज्ञा।

राजा—ये विश्वामित्र चतुर्थ अग्नि पञ्चमवेद अथवा जङ्गमतीर्थ या मूर्त्ति धारण करके सञ्चरण करनेवाले धर्म की तरह (प्रतीत होते) हैं॥ १०॥

सूत—साङ्काश्यनाथ, आपका कहना सही है, महत्त्वमें विश्वामित्र ऋषिसे बढ़कर कोई नहीं है। इनकी त्रिशङ्कुसम्बन्धी, शुनःशेपवाली और रम्भावली आश्चर्यजनक घटनाओं के आख्यानके ज्ञाता कहा करते हैं।

तदस्मिन् ब्रह्माद्यैस्त्रिदशगुरुभिर्नाथितशमे
तपस्तेजोधाम्नि स्वयमुपनतब्रह्मणि गुरौ ।
निवासे विद्यानामुपहितकुटुम्बव्यवहृति-
र्भवानेव श्लाघ्यो जगति गृहमेधी गृहवताम् ॥ ११ ॥

तस्य सशरीरस्वर्गारोहणरूपम् । शुनः शेप इव शेपो यस्य सः शुनःशेपः, 'शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः' इति षष्ठ्या अलुक् । शुनःशेपो नाम कश्चिद्दषिपुत्रस्तस्येदं शौनःशेपम् । मातापितृभ्यामुपेक्षितस्य शुनःशेपस्य शरणागतस्य मन्त्रविशेषोपदेशेन प्राणपरित्राणरूपम् । रम्भास्तम्भनम् = रम्भायास्तपोभङ्गार्थमागतायाः स्तम्भनं शापाश्मिश्चलीकरणम् । अपरिमेयम्=परिच्छेत्तुमशक्यम् । आश्चर्यजातम् = विस्मयोत्पादकचरितनिवहम् । आख्यानविदः = पुरावृत्तप्रतिपादकग्रन्थज्ञातारः । आचक्षते = कथयन्ति ।

तदस्मिन्निति० तत् तस्मात् ब्रह्माद्यैः विरञ्चिप्रभृतिभिः त्रिदशमुनिभिः देवर्षिभिः नाथितः प्रार्थितः शमः शान्तिस्तपसो निवृत्तिर्यस्य तथाभूते, (उग्रं तपश्चरतोऽस्य तपसो निवृत्तिं ब्रह्माद्याः प्रार्थयामासुरिति वृत्तमन्तर्निधायेत्थमुक्तम्) तपस्तपश्चरणं ततो यत्तेजः प्रभावातिशयस्तस्य धाम्नि आश्रयभूते, स्वयमुपनतब्रह्मणि आत्मनैव प्रतिभासमानवेदे अथवा स्वयंप्रतिभातब्रह्मण्ये, गुरौ सर्वादरपात्रे विद्यानाम् आन्वीक्षिक्यादीनामध्यात्मविद्यानां वा निवासे गृहभूते अस्मिन् विश्वामित्रे उपहितकुटुम्बव्यवहृतिः स्थापितस्वजनव्यवहारः भवान् एव जगति भुवि गृहमेधी गृहस्थः गृहिणां गृहवताम् मध्ये श्लाघ्यः प्रशंसनीयः । अयमाशयः—यस्य तपस्यतो विश्वामित्रस्य तपसा क्षुब्धा देवास्तपोनिवृत्तिमर्थितवन्तः, यश्च तपसा ब्रह्म, वेदान्, ब्रह्मण्यं वा प्राप, तस्मिन् विश्ववन्द्ये विश्वामित्रे तवात्मीयभाव इतित्वमवश्यं भुवि प्रशस्यो गृहमेधिनामिति । गृहैर्दारैः मेधते सङ्गच्छते इति गृहमेधी । 'मेधृ' संगमे इत्यस्मात् 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिः । 'गृहं गृहाश्च भूम्नि स्याद्द्वाविमौ गृहभार्ययोः' इति रत्नमाला । अत्र ऋषिप्रयत्नरूपबीजस्य बहूपकरणात् परिकरो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् । तदुक्तम्—'बीजस्य बहूपकरणं परिकरः' इति । शिखरिणीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति ॥ ११ ॥

देवोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मा आदि जिनकी शान्तिके लिये प्रार्थना कर चुके हैं, जो तपस्याजन्य तेजके निधान तथा स्वयं प्रतिभात ब्रह्म हैं, जिनके पास विद्या रहा करती है उस विश्वामित्र मुनिके साथ आपने भाई चाराका सम्बन्ध स्थापित कर लिया है अतः आप गृहस्थोंमें श्लाघ्य गृहमेधी हैं ॥ ११ ॥

राजा—साधु, सूत ! साधु । सूनृतं भाषसे । प्रकृष्टकल्याणोदर्कसंगमा ह्येते भवन्ति भगवन्तः सत्यसन्धाः साक्षात्कृतब्रह्माणो महर्षयः ।

तमांसि ध्वंसन्ते परिणमति भूयानुपशमः
सकृत्संवादेऽपि प्रथत इह चामुत्र च शुभम् ।
अथ प्रत्यासङ्गः कमपि महिमानं वितरति
प्रसन्नानां वाचः फलमपरिमेयं प्रसुवते ॥ १२ ॥

सूनृतम् = सत्यम्, प्रियञ्च । भाषसे = वदसि । प्रकृष्टकल्याणोदर्कसङ्गमाः = प्रकृष्टम् अतिशयितम्, कल्याणम्, मङ्गलम्, उदर्कः भाविफलम्, येन तादृशः सङ्गमः सम्बन्धः येषान्ते तथा । यत्सम्बन्धेन भाविकल्याणमतिशयशालि जायते तादृशा इत्यर्थः । 'एष्यतोः कालफलयोरुदर्कः स्यात्' इति रत्नमाला । भगवन्तः = सामर्थ्य-युक्ताः । साक्षात्कृतब्रह्माणः = प्रत्यक्षीकृतब्रह्मतत्त्वाः । महर्षयः=मुनिश्रेष्ठाः । महान्तश्च ते ऋषयो महर्षयः, कर्मधारयः समासः । अत्र साधु सूतेत्यादिना ऋषिप्रयत्नात्मक-बीजाङ्गीकरणरूपसमाधानं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् ।

तमांसीति० सकृत् एकदा संवादेऽपि वचनव्यवहारेऽपि, एभिरिति शेषः, (जनस्य) तमांसि अज्ञानानि ध्वंसन्ते नश्यन्ति, भूयान् महान् उपशमः चित्तनि-वृत्तिः परिणमति जायते, किञ्च इह अत्र जन्मनि अमुत्र परलोके च शुभम् अगर्हि-तेष्टार्थसिद्धिः प्रथते सम्पद्यते । अथेति वाक्यान्तरारम्भद्योतकम् । एषाम् प्रत्यासङ्गः एकस्थानवासादिविधया विशिष्टः संसर्गः कमपि महिमानम् अनिर्वर्णनीयं प्रभावाति-शयम् वितरति ददाति । प्रसन्नानाम् अकस्मात् कारणविशेषतो वा प्रसादं गतानाम् (एतेषाम्) वाचः वचनानि (प्रसादपात्रीकृतस्य जनस्य) अपरिमेयम् अपरि-च्छेद्यम् फलम् अभ्युदयादिरूपम् प्रसुवते जनयन्ति । एतादृशानां महात्मनां प्रभा-तिशयोऽयं यदेभिः सह संवादेऽज्ञानं विनश्यति, चित्ते शान्तिः पदं कुरुते, ऐहलौ-किकं पारलौकिकं च सुखं समुत्पद्यतेऽथ दैववशादेकत्र वासस्य सौभाग्ये समासादिते कोऽपि प्रभावातिशयो लभ्यते, प्रसादपात्रतोपलब्धौ तु परिच्छेदपथातीतसुखसमृद्धिः समवाप्यत इति धन्या एतादृशो महात्मान इति भावः । अत्र बीजगुणवर्णनाद्वि-लोभनं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् । शिखरिणीवृत्तम्, लक्ष्मणमनुपदमेवोक्तम् ॥ १२ ॥

राजा—साधु, सूत ! तुम ठीक कह रहे हो । इन सत्यप्रतिज्ञ तथा ब्रह्मज्ञानी साधुओंके संसर्ग से उत्कृष्ट कल्याणका संभव रहता है ।

ऐसे साधुओंके संसर्गसे अज्ञान दूर होता है, शाश्वत शान्ति मिलती है, एक बार बात भी कर लेने से इहलोक तथा परलोकमें कल्याण होता है, साहचर्य होनेसे तो बड़ा महत्त्व प्राप्त होता है, ये महात्मा यदि प्रसन्न होकर कुछ कह दें तो वह अनन्त फलद होता है ॥

सूतः—दृश्यते हरितपरिसरारण्यरमणीयं कौशिकीपरिक्षिप्तमायतनमृषेस्तस्य सिद्धाश्रमपदं नाम। किं बहुना। स एवायमात्मना तृतीयः कुशिकनन्दनो नूनं भवन्तमेवाभ्युपैति।

राजा—यद्येवमवतरामो रथात्। (कन्याभ्यां सहावतीर्य) सूत! न केनचिदाश्रमाभ्यर्णभूमयोऽतिक्रमयितव्या इति।

सूतः—यदाज्ञापयति। (इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति विश्वामित्रो रामलक्ष्मणौ च)

विश्वामित्रः—(स्वगतम्)

रक्षोघ्नानि च मङ्गलानि सुदिने कल्प्यानि दारक्रिया

हरितपरिसरारण्यरमणीयम् = हरितः वृक्षादिना श्यामोऽत एव लोभनीयः परिसरः अभ्यर्णदेशो यस्य तत् तथाभूतम् यत् अरण्यम् वनम् तेन रमणीयम् मनोहरम्। कौशिकीपरिक्षिप्तम् = कौशिकीनामकनद्या परिवृतम्। आयतनम् = आवासभूमिः। सिद्धाश्रमपदम् = तन्नाम्ना प्रथमानमाश्रमस्थानम्। अयम् = विश्वामित्रः। आत्मना तृतीयः = द्वाभ्यामन्याभ्यामुपेतस्यात्मनां तृतीयत्वं भवति, अत्र रामलक्ष्मणौ स्वयं चेति त्रयाणां सम्पत्त्या विश्वामित्रस्य तथात्वम्। 'आत्मनश्च पूरणे' इति तृतीयाया अलुक्। दृश्यते चेदृशः प्रयोगो मुरारेरनर्घराघवेऽपि—'तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनाऽसौ तृतीयः' इत्यत्र। कुशिकनन्दनः = विश्वामित्रः। अभ्युद्यातः = अभिनन्दनार्थमागतः।

यद्येवम् = विश्वामित्रश्चेदत्रायातस्तदा। अवतरामः = अवरोहामः। आश्रमाभ्यर्णभूमयः = आश्रमसमीपप्रदेशाः। नातिक्रमयितव्याः = न प्रवेष्टव्याः। आश्रमे जनान्तरप्रवेशवारणाज्ञाप्रदानेन मुनिसत्कारावहितत्वं व्यञ्जितम्।

रक्षोघ्नानीति० सुदिने शुभे दिवसे रक्षोघ्नानि राक्षसोपलक्षितानि प्रत्यूहादीन्यत्र

सूत—हरे भरे वातावरणसे रमणीय कौशिकीसे वेष्टित यह सिद्धाश्रमनामक विश्वामित्रका आश्रम स्थान दीख रहा है। बहुत क्या कहूँ, यही तो दो आदमियों के साथ विश्वामित्र स्वयं आपकी ओर आरहे हैं।

राजा—ऐसी स्थितिमें रथसे उतर जांय। (कन्याओंके साथ उतरकर) सूत! आश्रमसमीप भूमिका कोई अतिक्रमण न करे।

सूत—जो आज्ञा। (जाता है)

(रामलक्ष्मणके साथ विश्वामित्रका प्रवेश)

विश्वामित्र—(स्वगत) सुदिनमें रामके लिये रक्षोघ्न मङ्गल करना है, सीताके साथ

वैदेह्याश्च रघूद्वहस्य च कुले दीक्षाप्रवेशश्च नः।
आस्थेयानि च तानि तानि जगतां क्षेमाय रामात्मनो
दैत्यारेश्चरिताद्भुतान्यथ खलु व्यग्राः प्रमोदामहे ॥ १३ ॥

(प्रकाशम्) संदिष्टं च मैथिलस्य राजर्षेरस्माभिः—'आचार इति यजमा-

रक्षांसि तानि घ्नन्ति विनाशयन्ति यानि तथोक्तानि मङ्गलानि हितेष्टार्थसिद्धिदानि कर्माणि कल्प्यानि कर्त्तव्यानि। 'अमनुष्यकर्त्तृके च' इति हन्तेष्टकि रक्षोघ्नपदम्। किञ्च वैदेह्याः विदेहराजदुहितुः सीतायाः रघूद्वहस्य रघुवंशतिलकस्य रामस्य च दारक्रिया विवाहविधिः (कल्प्या निष्पाद्या) अत्र कल्प्यानीत्यत्र सर्वलिङ्गविभक्त्य-कल्प्यपदानां समास एकशेषो नपुंसकता च 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामित्यनुशासनबलात्तेन यथायोगमूहं कृत्वा वाक्यं पूरणीयम्। किञ्च नः अस्माकम् कुले गृहे दीक्षाप्रवेशः यागकर्त्तव्यतासङ्कल्पः (कल्प्यः सम्पाद्यः) किञ्च तानि तानि स्वयं प्रसेत्स्यन्ति नानाविधानि बहुप्रकारकाणि रामात्मनः रामरूपस्य दैत्यारेः भगवतो विष्णोः चरिताद्भुतानि ताटकाताटकेयनिरसादिरूपाणि आश्चर्याधायक-कर्माणि जगताम् त्रयाणाम् भुवनानाम् क्षेमाय मङ्गलाय आस्थेयानि आवश्यकतया प्रतिज्ञातव्यानि अथ खलु अथातिव्यग्राः व्यापृताः सन्तोऽपि वयम् प्रमोदामहे प्रकृष्टहर्षयुक्ता भवामः। सम्प्रति यद्यप्यस्माकं पुरतः कर्त्तव्यभरो राशीभूतः स्थितो यथा रक्षोघ्नकर्माणि कार्याणि रामेण सह सीताया विवाहः सम्पादयितव्यः, यागोऽपि प्रवर्त्तनीयः, रामस्य विष्णुत्वसूचकानि तत्तद्राक्षसनिधनादीनि चरितान्यपि प्रकटनीयानि, तदियति कर्त्तव्यचये व्यग्रस्यापि ममान्तःकरणं प्रमोदनिर्भरमिति भावीष्टसम्पत्प्रकर्ष आवेद्यत इति भावः। 'व्यग्रो व्यापृत आकुले'इति रत्नमाला। अत्र बीजानुगुणप्रयोजनविभावनारूपा युक्तिर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १३ ॥

मैथिलस्य राजर्षेः = जनकस्य। सन्दिष्टम् = वाचिकं प्रेषितम्। राजा जनको मया सूचित इत्याशयः। किं सूचित इत्यपेक्षायामाह—आचार इति० यजमानः = प्रारब्धापरिसमाप्तयागोऽपि। तादृशस्य सतः स्थानान्तरगमनाशक्ततया दीयमानमपि निमन्त्रणं केवलं व्यवहारं रक्षति न तु तदुपस्थितिरूपं फलमाधत्त इति भावः।

रामका विवाह सम्पन्न कराना है, अपने यज्ञका सङ्कल्प करना है, संसारकी भलाई के लिये दैत्यारि रामचन्द्रके वह आश्चर्यजनक कार्य कर्त्तव्य ही है, इस व्यग्रतामें भी आनन्द मालूम पड़ता है ॥ १३ ॥

(प्रकाश) मैंने राजर्षि जनक से कहला भेजा है, 'आप स्वयं यज्ञ में प्रवृत्त है फिर भी

नोऽपि यज्ञे निमन्त्रितोऽसि। कुशध्वजस्तु सीतोर्मिलासहितः प्रेषितव्यः' इति। कृतं च तत्प्रियसुहृदा।

कुमारौ—भगवन्! कः पुनरयं महात्मा यत्र भवन्तोऽप्येवमभ्युपगताः।

विश्वामित्रः—श्रूयन्त एव निमिजनकसंभवा राजर्षयो विदेहेषु।

तेषामिदानीं दायदो वृद्धः सीरध्वजो नृपः।
याज्ञवल्क्यो मुनिर्यस्मै ब्रह्मपारायणं जगौ॥ १४॥

कुमारौ—यस्य तद्गृहेषु माहेश्वरं धनुः पूज्यते।

नन्वेवमौदासीन्यभ्रमो भवेल्लोकानान्तद्वारणायाह—कुशध्वज इति कुशध्वजो नाम जनकावरजः। स्वयमुपस्थातुमशक्नुवन्गृहमुख्यः प्रतिनिधिभावेन यत्र स्वावरजं स्वात्मजं वा प्रहिणोति तत्र नौदासीन्यभ्रमसंभव इति बोध्यम्। तत्=मत्सन्दिष्टार्थानुध्यानरूपम्—स्वयमुपस्थातुमशक्तत्वे सीतोर्मिलानुगतकुशध्वजप्रेषणम्। प्रियसुहृदा=प्रियमित्रेण जनकेन। एवमभ्युगताः=एवम् प्रियसुहृद्भावेन अभ्युपगताः अभ्युपगमम् अङ्गीकारम् प्राप्ताः। एतादृशं सख्यं हि स्वानुगुण एव महात्मनि संभवति भवादृशस्य तदयं महात्मा ज्ञातव्य इति भावः।

श्रूयन्त एव=प्रसिद्ध्यन्ति। निमिजनकेतिपूर्वपुरुषव्याहारः कुलगौरवद्योतनाय। विदेहेषु=नदाख्यदेशेषु।

तेषामिति० इदानीं साम्प्रतं तेषां निमिजनकवंशप्रभवाणां राजर्षीणां दायादः अंशभाक् उत्तराधिकारीत्यर्थः सीरध्वजो नाम वृद्धो नृपः अस्तीति शेषः। यस्मै सीरध्वजाय याज्ञवल्क्यः नाम मुनिः ब्रह्मपारायणम् वेदस्योपदेशम् जगौ गीतवान्। यस्य ब्रह्मविद्या याज्ञवल्क्योपज्ञतयाऽतितेजस्विनी स एवासौ वंशगौरवशाली सीरध्वजो नाम राजर्षिर्विदेहेषु वर्त्तत इति भावः। यस्मै इति चतुर्थी—'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन' इति सूत्रेण। अत्र ब्रह्मपदम् शुक्लयजुर्वेदपरम्। स्पष्टमन्यत्॥ १४॥

तत्=प्रसिद्धम्। माहेश्वरम्=शिवसम्बन्धि। यस्य गृहेषु पूज्यत इत्यन्वयः।

आचारानुरोधसे मैंने आपको निमन्त्रित कर दिया है'। हाँ, सीता और ऊर्मिलाके साथ कुशध्वजको भेज दीजियेगा। प्रियमित्र जनकने वैसा ही किया है।

दोनों कुमार—भगवन्, यह महात्मा कौन हैं जिनपर आपकी भी ऐसी आस्था है।

विश्वामित्र—निमिके वंशज राजर्षि प्रसिद्ध ही हैं, उन्हींके उत्तराधिकारी बूढ़े सीरध्वज राजा हैं, जिन्हें याज्ञवल्क्यमुनिने वेदोपदेश या वेदान्तका उपदेश किया है॥ १४॥

दोनों कुमार—जिनके घरोंमें उस माहेश्वर धनुषकी पूजा होती है।

विश्वामित्रः—अथकिम् ।

कुमारौ—श्रूयते किलान्यदपि तत्राश्चर्यं यदयोनिजा कन्येति ।

विश्वामित्रः—(विहस्य) तदप्यस्ति ।

अयं तु यजमानेन यक्ष्यमाणस्य मे गृहम् ।
प्रेषितस्तेन वात्सल्यादनुजन्मा कुशध्वजः ॥ १५ ॥

तदस्मिन् राजन्यश्रोत्रिये वत्साभ्यां प्रश्रयेण वर्तितव्यम् ।

कुमारौ—एवम् ।

अथकिम्—इत्यङ्गीकारार्थकम् । 'अङ्गीकृतौ स्यादथकिम्' इत्यमरः ।

तत्र = जनकगृहे । अयोनिजा = गर्भवासमननुभूयैवोत्पन्ना । सीताया उत्पत्तिं मनसिकृत्येत्थमुक्तिः । विहस्य = स्मित्वा, स्मितेन रामस्याधुनातनीमुक्तिं विमृशतो भविष्यन्तं सम्बन्धञ्च भावयतो मुनेः प्रमोदमानमानसत्वमावेद्यते ।

अयमिति० यजमानेन यागप्रवृत्तेन तेन सीरध्वजेन अनुजन्माऽनुजोऽयं कुशध्वजः वात्सल्यात् मयि स्नेहात् यक्ष्यमाणस्य यागं करिष्यतः मे मम गृहम् आश्रमपदम् प्रेषितः प्रहितः । 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लचि वत्सलशब्दः ततो ब्राह्मणादित्वात् ष्यञि वात्सल्यपदं ततो हेतौ पञ्चमी । अत्र प्रेषयतेर्द्विकर्मकतया गृहस्यापि कर्मत्वम् प्रत्ययस्तु कुशध्वजरूपे मुख्ये कर्मण्येव ॥ १५ ॥

अस्मिन् = सन्निहिते राजन्यश्रोत्रिये = क्षत्रियवेदविदि । 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' इति श्रोत्रियशब्दो निपातितः । वत्साभ्याम् = युवाभ्याम् । प्रश्रयेण वर्त्तितव्यम् = विनयेन व्यवहर्त्तव्यम् ।

एवम् = अङ्गीकारद्योतकमिदम् ।

निर्वर्ण्य=निध्याय, दृष्ट्वेत्यर्थः । 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः ।

विश्वामित्र—और क्या ?

दोनों कुमार—वहाँके बारेमें एक यह भी अचरज सुना जाता है कि वहाँ अयोनिजा कन्या है ।

विश्वामित्र—(हंसकर) हाँ, वह भी है ।

मैं यज्ञकरने वाला हूँ इसलिये स्नेहसे उन्होंने अपने अनुज कुशध्वजको यहाँ भेजा है स्वयं इसलिये नहीं आये हैं कि वह यज्ञकर रहे हैं ॥ १५ ॥

उस श्रोत्रियक्षत्रियके साथ तुमलोग नम्र व्यवहार करना ।

दोनों कुमार—ठीक है ।

राजा—(निर्वर्ण्य)

प्रकृत्या पुण्यलक्ष्मीकौ कावेतौ ज्ञायते त्विदम् ।
राजन्यदारकौ नूनं कृतोपनयनाविति ॥ १६ ॥
द्वितीयस्य च वर्णस्य प्रथमस्याश्रमस्य च ।
अहो रम्यानयोर्मूर्तिर्वयसो नूतनस्य च ॥ १७ ॥

तथा हि—

चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम् ।

प्रकृत्येति० प्रकृत्या स्वभावेन पुण्यलक्ष्मीकौ वन्दनीयशोभाशालिनौ एतौ पुरोवर्त्तमानौ कौ इति (एतावत्पर्यन्तं स्वगतजिज्ञासावर्णनम्) (अतः परं ज्ञापकलिङ्गमहिम्ना तर्कितविशेषमुपन्यस्यति) ज्ञायते बुध्यते तु इदम् (यत्) कृतोपनयनौ निर्वृत्तयज्ञोपवीतसंस्कारौ राजन्यदारकौ क्षत्रियकुमारौ नूनम् निश्चयेन (एतौ भवतः इति) अनयोः पवित्रशोभयोर्बालकयोर्दर्शनेन काविमाविति दृशजिज्ञासायां संजातायां वेशविशेषावेक्षणेन कृतोपनयनौ राजकुमारावेताविति जातेऽपि सामान्यपरिचये वंशजननीजनकादिविषयकविशेषपरिचयो नैव प्राप्यत इति भावः । प्रकृत्या पुण्यलक्ष्मीकावित्यत्र 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति तृतीया ॥ १६ ॥

द्वितीयस्येति० अनयोः प्रत्यक्षदृश्ययोः कुमारयोः बालयोः मूर्त्तिः काययष्टिः द्वितीयस्य वर्णस्य क्षत्रियजातेः प्रथमस्याश्रमस्य ब्रह्मचर्याश्रमस्य नूतनस्य वयसश्च बाल्यस्य च रम्या । क्षत्रियवर्णब्रह्मचर्याश्रमबाल्यावस्थारूपत्रितयवस्तुसमर्पितसौभगत्वादिशालिनी मूर्त्तिरनयोरित्यर्थः । अहो इत्यव्ययं विस्मयार्थम् ॥ १७ ॥

तथा हि = क्षत्रियब्रह्मचारित्वसाधकप्रमाणोपन्यासायाहेत्यर्थः, बाणरौरवत्वचौ तथा भावं समर्थयत इत्याशयः ।

चूडाचुम्बितेति० चूडया शिरोवस्थितकेशराशिना चुम्बितानि संयुज्यमानाग्राणि कङ्कपत्राणि बाणपक्षाः यस्मिंस्तादृशं तूणीद्वयम् निषङ्गयुगलम् पृष्ठतः पृष्ठस्य द्वयोरपि भागयोः, ('धत्ते' इति वक्ष्यमाणक्रियया योगः) (यद्वा वर्त्तते इति क्रिययैवाध्याहृतयाऽऽकाङ्क्षानिवृत्तिः) भस्म विभूतिः स्तोकम् स्वल्पं पवित्रं पावनं लाञ्छनं यत्र तादृशम् उरो वक्षोदेशः रौरवीम् रुरुर्बिन्दुमान्मृगस्तत्सम्बन्धिनीम् त्वचम् धत्ते

राजा—(देखकर) स्वभावतः पवित्र शोभाधारी यह दोनों कौन हैं ? मालूम तो होता है कि क्षत्रियकुमार हों और उपनीत हो चुके हों ॥ १६ ॥

क्षत्रिय जाति तथा ब्रह्मचर्य आश्रम और बाल्यावस्था की कैसी अच्छी रमणीय मूर्त्ति है ॥

क्योंकि— जिस तरकसमें रखे बाण शिखाको छू रहे हैं ऐसी तरकसें पीठपर लटक रही

मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठकं
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः ॥ १८ ॥

कन्ये—सौम्यदर्शनौ खल्वेतौ। (सोम्मदंसणा क्खु एदे)

राजा—(उपसृत्य) भगवन्! अभिवादये।

विश्वामित्रः—दिष्ट्या गर्भरूपं त्वां कुशलिनं राजर्षिं गृहानागतं पश्यामि। तत्परिष्वजस्व। (आलिङ्ग्य)

अपि प्रवृत्तयज्ञोऽसौ विदेहाधिपतिः सुखी।

धारयति। अधः कटिदेशे मौर्व्या मेखलया मौर्व्यात्मकरशनया नियन्त्रितम् संयमितम् वासः वसनञ्च माञ्जिष्ठकम् मञ्जिष्ठया रक्तम्। पाणौ कार्मुकम् धनुः, अक्षसूत्रवलयम् जपमालिका, अपरः अन्यः पैप्पलः पिप्पलनिर्मितः दण्डः अत्र सर्वत्राध्याहृतास्तिक्रियया वाक्यपूर्त्तिः। 'अपरे पैप्पलः' इति पाठे अपरे पाणौ इत्यन्वयः कल्प्यः, अत्र 'मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला। क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या' इति मनुवचनम्। 'ज्या राजन्यस्य, माञ्जिष्ठं राजन्यस्य, रौरवी राजन्यस्य' इत्यापस्तम्बवचनम्, 'आश्वत्थपैप्पलौ' इति गौतमवचनञ्चानुध्यातव्यम्। तूणीरयुगलम्, रौरवी त्वक्, पैप्पलो दण्डश्चेति सामग्री क्षत्रियराजकुमारताप्रमाणानि निबद्धानि। स्पष्टमन्यत्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्, लक्षणं प्रागुक्तम् ॥१८॥

सौम्यदर्शनौ = सुन्दराकृती। एतौ = रामलक्ष्मणौ।

दिष्ट्या = आनन्दद्योतकमिदम्, 'दिष्ट्या समुपजोषं चेत्यानन्दे' इत्यमरः। गर्भरूपम् = गर्भवद्भरणीयम् एतेन स्नेहपात्रतोक्ता। गर्भरूपमिति पुत्रसमत्वार्थम्, तत्त्वञ्चानुजकल्पे कुशध्वजे युक्तमिति परे। भाग्येन भवान् मदीयमाश्रमं प्राप्तस्तदहमानन्दमनुविन्दामीति पिण्डार्थः। परिष्वजस्व = आलिङ्ग। एतेन स्नेहपूर्णा स्वागतप्रक्रिया प्रकटिता।

अपीति० प्रवृत्तयज्ञः प्रारब्धापरिसमाप्तयागः असौ नातिदूरगः विदेहाधिपतिः

हैं, छातापर भस्मका रखायें है, रुरुमृगका चर्म लिये हैं, मूंजकी बनी मेखलासे बंधा मजीठरंग के वस्त्र पहने हैं, और हाथोंमें अक्षसूत्र और पिप्पल दण्ड है ॥ १८ ॥

दोनों कन्यायें—ये देखनेमें बड़े भले हैं।

राजा—(समीप जाकर) महाराज! प्रणाम।

विश्वामित्र—सौभाग्यसे अतिप्रिय तुझको घर पर आया देख रहा हूँ, आओ गले लग जाओ। (गलेसे लगाकर)।

प्रवृत्तयज्ञ विदेहाधिपति तो कुशल हैं और गौतमपुत्र शतानन्द जो जनकोंके पुरोहित हैं वे भी प्रसन्न हैं न? ॥ १९ ॥

गौतमश्च शतानन्दो जनकानां पुरोहितः ॥ १९ ॥

राजा—स एवार्यः सुखी सह पुरोधसा गौतमेन, यस्यैवं भवन्तः कुटुम्बवृत्तिमनुपतिताः ।

कन्ये—प्रणमावः । (पणमामो)

राजा—लाङ्गलोल्लिख्यमानाया यज्ञभूमेः समुद्गता ।
सीतेयमूर्मिला चेयं द्वितीया जनकात्मजा ॥ २० ॥

विश्वामित्रः—भद्रमस्तु ।

लक्ष्मणः—(जनान्तिकम्) आश्चर्यमियदद्भुतसूतिरार्य !

सीरध्वजः अपिः सुखी प्रसन्नः किमिति प्रश्नः काकुध्यङ्ग्यः । जनकानां विदेहाधिपतीनां पुरोहितः गोतमः गोतमात्मजः शतानन्दश्च सुखी किमिति वाक्यार्थः । गोतमस्यापत्यं गौतमः 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इत्यण्प्रत्ययः ॥ १९ ॥

आर्यः = पूजनीयः, (मम ज्येष्ठभ्राता) पुरोधसा=पुरोहितेन सह । स आर्य एव पुरोधसा सह सुखीत्यन्वयः । सुखित्वहेतुमाह-यस्येति० यस्य=सीरध्वजस्य । एवम्=पूर्वोक्तप्रकारेण । कुटुम्बवृत्तिम्=गृहवर्तिजनभावम् । अनुपतिताः=अनुप्राप्ताः । भवादृशे महर्षौ एवं कुटुम्बभावमापन्ने सत्यं सीरध्वजस्य सुखित्वमित्याशयः । सुखम् अस्यातीति सुखी, अत्र मत्वर्थीयेन प्रत्ययेन सुखगतं प्राशस्त्यमावेद्यते, तथा चाहुः- 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः' ॥ इति । सुखीत्यस्य प्रशस्यसुखोऽतिशयितसुख इति वार्थः ।

लाङ्गलेति० लाङ्गलेन सीराग्रेण उल्लिख्यमानायाः कृष्यमाणायाः यज्ञभूमेः समुद्गता उद्भूता सा इयम् सीता, द्वितीया च इयम् जनकात्मजा विदेहदुहिता ऊर्मिला अस्तीति क्रियाध्याहारः । एतच्च परिचयप्रदं राजवचनम् ॥ २० ॥

भद्रम् = कल्याणम् । एतच्च ऋष्यनुग्रहरूपं बीजयुक्तम् ।

जनान्तिकम् = 'अर्थस्त्वेकेन विज्ञेयः पश्चाज्ज्ञाप्यः प्रसङ्गतः । तज्जनान्तिकमित्युक्त्वा काव्यबन्धे निवेशयेत्' इत्युक्त्वा प्रकटितरूपं जनान्तिकपदम् ।

राजा—पुरोहितसे युक्त वे आर्य ही सुखी हैं जिनके आप इस तरह कुटुम्बसा हो रहे हैं ।

कन्यायें—प्रणाम करती हूँ ।

राजा—हलसे जुती यज्ञभूमिसे उत्पन्न यह सीता है और दूसरी यह है जनकतनया ऊर्मिला ॥ २० ॥

विश्वामित्र—कल्याण हो ।

लक्ष्मण—(छिपाकर) आर्य ! इस प्रकारकी उत्पत्ति अचरज है ।

रामः—उत्पत्तिर्देवयजनाद् ब्रह्मवादी नृपः पिता ।
सुप्रसन्नोज्ज्वला मूर्तिरस्यां स्नेहं करोति मे ॥ २१ ॥

राजा—भगवन् !
कौ त्वामनुगतावेतौ क्षत्रियब्रह्मचारिणौ ।
प्रतापविक्रमौ धर्मं पुरस्कृत्योद्गताविव ॥ २२ ॥

विश्वामित्रः—रामलक्ष्मणौ दाशरथी ।

आश्चर्यम् = विस्मयकरम् । इयत् = एतावत् । अद्भुतसूतिः=विस्मयनीयजन्मा । एतदाश्चर्यकरं यदस्या अद्भुतं जन्म, न हि कोऽपि जनो लाङ्गलोल्लिख्यमानाया भुवः प्रभवतीति भावः ।

उत्पत्तिरिति० देवाः इज्यन्ते पूज्यन्ते यत्र तद् देवयजनम् पुण्यक्षेत्रम् यज्ञभूमिरित्यर्थः, तस्मात् उत्पत्तिः आविर्भावः । ब्रह्मवादी तत्त्वज्ञानी नृपः राजा जनकः पिता जनयिता । सुप्रसन्नोज्ज्वला प्रसादातिशययुता निर्मला च मूर्त्तिः शरीरम् , अस्यां सीतायाम् मे मम स्नेहम् अनुरागम् करोति प्रादुर्भावयति । अयमाशयः— अस्या देवयजनसम्भूति जनकतनयात्वं निर्मलरूपत्वं च मम मनो बलवदाकर्षतीति । अत्र प्रथमवाक्यं क्षेत्रशुद्धिं द्वितीयं बीजशुद्धिं साजात्यं च, तृतीयं चाकर्षणयोग्यतां व्यञ्जयत्स्नेहोत्पत्ति युक्तत्वेन प्रत्याययति । गुम्भनामात्र नाट्यालङ्कारः, 'गुम्भः कारणमाला स्यात्' इति च तल्लक्षणम् । अत्र स्नेहं करोतीत्यनेन औत्सुक्यात्मकारम्भ उक्तः, तदुक्तम्— 'औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे' इति । एवञ्च 'भद्रमस्तु' 'स्नेहं करोति' इत्याभ्यां बीजारम्भसमन्वयान्मुखसन्धिरुक्तः ॥ २१ ॥

कौ त्वामिति० धर्मम् वेदबोधितेष्टसाधनताककर्मजन्यफलविशेषम् पुरस्कृत्य निमित्तत्वेनोपादाय उद्गतौ समुद्भूतौ प्रतापविक्रमाविव स्थितौ अनुगतौ त्वदनुवर्त्तिनौ त्वां पुरस्कृत्य अग्रे कृत्वा उद्गतौ लब्धोदयौ क्षत्रियब्रह्मचारिणौ इमौ कौ कस्य पुत्रौ किन्नामधेयौ वा ? काविमौ क्षत्रियदारकौ यौ त्वामनुवर्त्तेते यथा धर्मं प्रतापविक्रमौ तथेति प्रश्नः । स्वस्थानास्थितस्यैव शत्रुतापनशक्तिः प्रतापः, विक्रमस्तु शत्रुमभिगम्य तत्पीडनक्षमत्वम् । स्पष्टमन्यत् ॥ २२ ॥

'रामलक्ष्मणौ' इति नामनिवेदनम् , 'दाशरथी' दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः,

---

राम—सुन्दर मूर्त्ति, ब्रह्मज्ञानी राजा पिता, यज्ञभूमिसे उत्पत्ति, यह सब मुझे इसपर स्नेह करनेको प्रेरित कर रहा है ॥ २१ ॥

राजा—भगवन् ! तुम्हारे पीछे ये दोनों क्षत्रियब्रह्मचारी कौन हैं, जो धर्मके अनुगामी प्रताप और पराक्रमसे मालूम पड़रहे हैं ॥ २२ ॥

विश्वामित्र—दशरथके पुत्र राम और लक्ष्मण ।

तौ—(सविनयमुपसृत्य) गुरो ! अभिवादयावहे ।

राजा—दिष्टया महाराजदशरथप्रसूतिर्दृश्यते । (परिष्वज्य)

नान्यत्र राघवाद्वंशात्प्रसूतिरनयोः समा ।
दुग्धार्णवादृते जन्म चन्द्रकौस्तुभयोः कुतः ॥ २३ ॥

श्रुतपूर्वं ह्येतदस्माभिः कर्णामृतम् ।

प्राप्ताः कृच्छ्रादृष्यशृङ्गोपचारैः पुण्यश्रीकाः कोसलेन्द्रेण पुत्राः ।
ये दासस्य श्रेयसः पारकामाश्चत्वारोऽपि ब्रह्मचर्यं चरन्ति ॥ २४ ॥

तद्विवचने दाशरथी इदञ्च वंशनिवेदनम् । काविति पूर्वतने प्रश्ने सामान्येनोभयोरेव पृष्टत्वादुत्तरे तयोरुभयोरुक्तिः । 'गुरो' इदं सम्बोधनं पितृसखत्वाभिप्रायेण । यच्च केचित् पश्चाद्भाविविवाहकृतं पत्नीतातत्वमूलकं पितृत्वं तादृशसम्बोधनमूलतयाऽभिप्रयन्ति तन्मन्दम्, निष्कपटनिर्मलहृदययो रामलक्ष्मणयोस्तादृशाभिप्रायवत्त्वेनोहस्यायुक्तत्वात्, सत्यपि तादृशाभिप्रायत्वे तद्व्यञ्जकशब्दप्रयोगस्यानुचितत्वात् । दशरथप्रसूतिः = दशरथतनयः, 'प्रसूतिर्जन्मतनयौ' इति रत्नमाला । अत्र वचनमविवक्षितम् । परिष्वज्य = आलिङ्ग्य । तथाकरणञ्च गाढं प्रेम प्रकाशयति ।

नान्यत्रेति० अनयोः पुरोवर्त्तमानयोः रामलक्ष्मणयोः प्रसूतिः जन्म राघवात् रघुसम्बन्धिनः वंशात् कुलात् अन्यत्र परत्र न समा नानुरूपा । दुग्धार्णवात् क्षीरसागरात् ऋते विना चन्द्रकौस्तुभयोः जन्म कुतः न कुतोऽपीत्यर्थः । यथा चन्द्रकौस्तुभौ क्षीरसागरमतिरिच्य नान्यतः सागरादुत्पत्तुमर्हतस्तथैवेमौ रामलक्ष्मणावपि रघुवंश एव संभाव्यजन्मानावित्याशयः । दृष्टान्तोऽलङ्कारः, 'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्' इति हि तल्लक्षणम् ॥ २३ ॥

श्रुतपूर्वम्=पूर्वमेव श्रुतम् । कर्णामृतम्=दशरथस्य पुत्रो जात इति वृत्तरूपं श्रवणतर्पणं वस्तु । समधिकानन्ददानक्षमतया वृत्तेऽमृतत्वोपचारः ।

प्राप्ता इति० कोसलेन्द्रेण कोशलदेशाधीश्वरेण दशरथेन कृच्छ्रात् कृच्छ्रम् अनुभूयेति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अनपत्यताप्रयुक्तं चिरकालिकं खेदमनुभूयेत्यर्थः । ऋष्यशृङ्गस्य तदाख्यस्य मुनेः उपचारैः पुत्रीयेष्टिरूपैः प्रयत्नैः पुण्यश्रीकाः पवित्रशोभा-

वे दोनों—गुरुजन ! प्रणाम करते हैं ।

राजा—सौभाग्य से दशरथकी सन्ततिको देख रहा हूँ । (गले लगाकर) रघुवंशके ऐसे लड़के कहाँ होंगे, क्षीरसमुद्रको छोड़कर चन्द्रमा और कौस्तुभ कहाँ होते हैं ? ॥ २३ ॥

यह अनन्दमय हमें पहले ही सुननेमें आया ।

ऋष्यशृङ्ग कृत उपचारोंसे दशरथ ने किसी तरह चार पुत्र प्राप्त किये हैं जो प्रकाशमान ब्रह्मचर्य द्वारा श्रेयः सिद्धिमें लगे हुए हैं ॥ २४ ॥

तदत्रभवतोररिष्टतातिमाशास्महे। सिद्ध एव रघूणां प्रसूतेरुत्कर्षातिशयः।

यान्मैत्रावरुणिः प्रशास्ति भगवानाम्नायपूते विधौ
शश्वद्येषु विशामनन्यविषयो रक्षाधिकारः स्थितः।
सावित्रस्य मनोर्महीयसि कुले तेषामवाप्तात्मनां
राज्ञां वो महिमा न जातु वचनप्रज्ञानयोर्गोचरः॥ २५॥

शालिनः पुत्राः प्राप्ताः लब्धाः। ये चत्वारोऽपि दीप्तस्य स्वभावादेव तेजस्विनः श्रेयसः श्रेयस्साधनस्य वेदस्येत्यर्थः, पारकामाः पारं गन्तुमिच्छवः ब्रह्मचर्यम् वेदाध्ययनार्थं क्रियमाणं व्रतम् चरन्ति अनुतिष्ठन्ति। एतन्मया श्रुतपूर्वमिति पूर्वेणान्वयः॥२४॥

अत्रभवतोः = पूज्ययोः (तथात्वं च प्रशस्यवंशोद्भूतत्वेन बोध्यम्) अरिष्टतातिम् = क्षेमहेतुम्। आशास्महे = इच्छामः। 'आङःशासु इच्छायाम्' इत्यात्मनेपदम्। 'क्षेमंकरोऽरिष्टतातिः शिवतातिः शिवङ्करः' इत्यमरः। 'रिष्टं स्यादशुभक्षेमनाशनिस्त्रिंशपाप्मसु' इत्यपि कोशः। रिष्टमशुभम्, तद्विपरीतम् अरिष्टम्, तस्य हेतुः अरिष्टतातिः। तातिप्रत्ययान्तस्य यद्यपि वेदे प्रचुरस्तथापि लोकेऽपि प्रयुज्यते, यथा—'शिवतातिरेधि' इति कालिदासः। रघूणाम् = रघुवंश्यानाम्। प्रसूतेः = तनयस्य। उत्कर्षातिशयः=प्रचुरोऽभ्युदयः। अतो नाशास्यमन्यदस्तीत्याशयः। अत्र सिद्ध एवेति वाक्यतः पूर्वम् 'अथवा' इति कल्पनीयम्, ग्रन्थस्वरसात्।

यान्मैत्रावरुणिरिति० मित्रश्च वरुणश्चेति मित्रावरुणौ 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्। मित्रावरुणयोरपत्यम् मैत्रावरुणिः वसिष्ठः, बाह्वादित्वादिञ्। आम्नायपूते वेदशुद्धे वेदबोधितत्वमूलकस्वाभाविकशुद्धिमतीत्यर्थः, विधौ अनुष्ठेयकर्मणि यान् युष्मान् प्रशास्ति हितमहितं चोपदिशति। वसिष्ठेन पौरोहित्यमनुष्ठाय नित्यानुगृहीत इत्याशयः। अन्यो युष्मदतिरिक्तः विषयः आश्रयः यस्य स तथोक्तः अन्यविषयः स न भवतीत्यनन्यविषयः राजान्तरानाश्रित इति तात्पर्यम्। विशाम् मनुष्याणाम् पालने अधिकारः येषु युष्मासु शश्वत् स्थितः नित्यम् वर्त्तत इत्यर्थः। महीयसि पूज्यतमे सावित्रस्य सवितुरपत्यस्य मनोः कुले अवाप्तात्मनाम् लब्धशरीराणाम् आसादितजनुषाम् इत्यर्थः। तेषां राज्ञाम् वः युष्माकम् महिमा गुणोत्कर्षः वचनप्रज्ञानयोः

आप जिनके लिये आशीर्वाद करते हैं उनके कल्याण होंगे ही, रघुवंशियोंके उत्कर्ष तो सिद्ध ही हैं।

भगवान् वसिष्ठ जिन्हें वेदोक्त विधिकी शिक्षा देते हैं, जिनका अनन्य साधारण अधिकार त्रैवर्णिक रक्षा पर स्थिर है, सावित्र मनुके वंशमें जिनका जन्म है, उनका महत्त्व ज्ञान और वचनके अगोचर है॥ २५॥

विश्वामित्रः—एवम् ।

अश्रान्तपुण्यकर्माणः पावनप्रायकीर्तयः ।
महाभाग्यविदस्तेषां यूयमेव स्तवक्षमाः ॥ २६ ॥

(सर्वे विश्रम्य कौशिकाश्रमसंस्त्यायमनुप्रविशन्ति)

विश्वामित्रः—तदस्मिन् वैकङ्कतच्छाये मुहूर्तमास्महे ।

(इति परिक्रम्योपविशन्ति)

वाङ्मनसयोः जातु कदाचिदपि न गोचरः न विषयः । येषां युष्माकं वसिष्ठ उपदेष्टा हिताहितं ज्ञपयति, ये यूयम् आजानसिद्धभावेन मनुजमात्रस्य रक्षाधिकारं प्राप्तवन्तः, ये च मनुकुले जन्म लब्धवन्तः, तेषां भवतां महिमा न मनसि समायाति न वा वाचा वर्णयितुं शक्यत इत्यर्थः । अत्र प्रथमपादेन विद्यागौरवं द्वितीयेन चारित्र्यप्रकर्षस्तृतीयेन चाभिजनशुद्धिरिति समेत्य वागगोचरतां मनोऽयोगं च गमयति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २५ ॥

अश्रान्तेति० अश्रान्तानि अविरतानि पुण्यानि कर्माणि येषां तादृशाः । पावनप्रायाः प्रायेण पावित्र्यकराः कीर्त्तयः यशांसि येषां,ते च तथोक्ताः यूयमेव तेषाम् मनुवंश्यानां राज्ञां महाभाग्यविदः महिमातिशयज्ञातारः (अत एव च) स्तवक्षमाः स्तुतिं कर्त्तुं समर्थाः । एतेन पूर्वं यदुक्तं मनुवंश्यानां महाभाग्यस्य वागगोचरत्वम् , तत्र वसिष्ठस्य निषेधं करोतीति पर्यवस्यति ॥ २६ ॥

कौशिकाश्रमसंस्त्यायम् = कौशिकस्य विश्वामित्रस्य आश्रमः तपःस्थली तस्य संस्त्यायम् सन्निवेशम् अनुप्रविशन्ति विशन्ति । 'मुनिस्थाने मठे ब्रह्मचर्यादावाश्रमोऽस्त्रियाम्' इति 'सङ्घाते सन्निवेशे च संस्त्यायः' इति चात्र कोषद्वयम् ।

वैकङ्कतच्छाये = विकङ्कतः स्रुवावृक्षः, तस्येयं वैकङ्कती सा छाया यत्रेति बहुव्रीहिसमासेन प्रदेशविशेषणमेतत् । यद्वा 'छाया बाहुल्ये' इति क्लीबता, तत्र वकङ्क्त्यश्छाया इति विग्रहः कार्यः । मुहूर्त्तम् = क्षणम् , कियन्तं कालमित्याशयः ।

विश्वामित्र—ठीक है,

अविरत पुण्यकार्यपरायण, पवित्रकीर्त्ति महाभाग्य रघुवंशियों की स्तुति करने योग्य आप ही हैं ॥ २६ ॥

(सभी विश्राम करके विश्वामित्रके आश्रममें पैठते हैं)

विश्वामित्र—इस स्रुवावृक्ष की छायामें थोड़ी देर ठहरें ।

(सब बैठते हैं)

(नेपथ्ये)

जय जय जगत्पते रामचन्द्र !

(सर्वे साद्भुतमवलोकयन्ति)

राजा—भगवन् ! का पुनरियं देवता ?

विश्वामित्रः—अहल्या नाम गौतमस्य महर्षेरौचथ्यस्य धर्मपत्नी, यस्याः शतानन्द आङ्गिरसोऽजायत। तामिन्द्रश्चकमे। तस्माद्गौतमदारावस्कन्दिनमहल्याजार इतीन्द्रं जानन्ति। अथ भगवान्मन्युमवाप। तस्याः

आस्महे=उपविशामः। नेपथ्ये=कुशीलववर्गस्थाने। 'कुशीलवकुटुम्बस्य स्थली नेपथ्यमिष्यते' इति स्मर्यते। साद्भुतम्=साश्चर्यरसम्, आश्चर्योदयश्च तदीयप्रभाववत्तारूपातिशययोर्विलोकनेन। का पुनरियं देवता=कतमोऽयं देवविशेषः? । तेजोऽतिशयो हि देवभावं निश्चययति, विशेषमात्रं तु जिज्ञासाविषय इति बोध्यम्।

औचथ्यस्य=उचथ्यस्यापत्यमौचथ्यस्तस्य। 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्चे'त्यण्। धर्मपत्नी=धर्माय पत्नी धर्मपत्नी, 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति पतिशब्दस्य नान्तत्वे 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप्। यस्याः=गौतमस्य पत्न्या अहल्यायाः। पञ्चम्यन्तमिदम्, सेयं च पञ्चमी 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इति सूत्रसमर्थ्या। ताम्=अहल्याम्। चकमे=उपभोक्तुं प्रववृते। तस्मात्=ततः कारणात्। गौतमदारावस्कन्दिनम्=गौतमस्य दाराः अहल्या तस्या अवस्कन्दिनम् अनुचितरतिकर्मीकरणेन दूषकम्। भगवान्=तपःसामर्थ्यशाली गौतमः। मन्युम्=कोपम्। तस्याः=अहल्याः। पाप्मना=पापेन परपुरुषसंसर्गकृतेन दुरितेन। 'तस्याः शरीरम्' इत्यन्वयः। अन्धतामिस्रम्=अन्धतामिस्रनामकनरकविशेषानुभवनीयकाष्ठपाषाणभावम्। अभ्ययात्=प्रापत्। तदुक्तं भागवते-'एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा पुरुषं दारादीनुपभुङ्क्ते यत्र शरीरी निपात्यमानो यातनास्थो वेदनया नष्टमतिर्नष्टदृष्टिश्च भवति यथा वनस्पतिर्वृश्च्यमानमूलस्तदन्धतामिस्रं तमुपदिशन्ति' इति। सेयम्=अहल्या।

(नेपथ्यमें)

जय हो, जगत्पति रामचन्द्र की जय हो।

(सब आश्चर्यसे देखते हैं)

राजा—भगवन् ! ये कौन देवता हैं ?

विश्वामित्र—महर्षि गौतम की धर्मपत्नी अहल्या थी, जिससे आङ्गिरस शतानन्द का जन्म हुआ। अहल्या पर इन्द्र आसक्त हुए, इसीलिये गौतमदारा पर आसक्तिके कारण इन्द्रको

पाप्मना शरीरमन्धतामिस्रमभ्ययात्। सेयमद्य रामभद्रतेजसा तस्मादेनसो निरमुच्यत।

राजा—कथमप्रमेयानुभावसामर्थ्य एष वैकर्तनकुलकुमारः।

सीता—(सविस्मयानुरागं निर्वर्ण्य। अपवार्य च) शरीरनिर्माणसदृशोऽस्यानुभावः। (सरीरनिम्माणसरिसो से अणुभावो)

राजा—

रामाय पुण्यमहसे सदृशाय सीता दत्तैव दाशरथिचन्द्रमसेऽभविष्यत्।

तस्मात् = पूर्वकृतपापजनकपरपुरुषसंसर्गोत्थात्। एनसः = पापात्। निरमुच्यत = निर्मुक्ता जाता। मुचेः कर्मकर्त्तरि यकि लङ्, कर्मण्येव वा लङ्।

अप्रमेयानुभावसामर्थ्यः = अप्रमेये=इयत्तया परिच्छेत्तुमशक्ये अनुभावसामर्थ्ये प्रभावबले यस्य तादृशः। यदीयं प्रभावं बलं च परिमातुं न कोपि शक्तस्तादृश इत्यर्थः। वैकर्त्तनकुलकुमारः = सूर्यवंशबालकः। विकर्त्तनस्य इदम् वैकर्त्तनम् कुलं तस्य कुमार इति समासः। 'विकर्त्तनो विवस्वांश्च मिहिरारुणपूषणः' इत्यमरः।

सविस्मयानुरागम् = विस्मयः सद्योऽहल्याशापविमोचनात्, अनुरागश्च सौन्दर्यातिशयाद्बोध्यः, ताभ्यां सहेति क्रियाविशेषणमेतत्। निवर्ण्य = निपुणं निरीक्ष्य, तथा च स्मर्यते-'सुचिरं निवर्ण्य पत्युर्मुखम्' इति। अपवार्य = विश्वामित्रादयो गुरुजनामाज्ञासिषुरिदं रहस्यमिति गोपायित्वा।

शरीरनिर्माणसदृशः = यादृशमस्य निर्दोषं शरीरनिर्माणं तादृशः—अतिप्रशस्य इत्यर्थः। अनुभावः=प्रभावः।

रामायेति० आर्यः जनकः अप्रतिकार्यम् परावर्त्तयितुमशक्यम् त्र्यम्बकस्य शिवस्य इदं त्रैयम्बकम् तस्य शैवस्य धनुषः चापस्य आरोपणेन सज्योकरणेन पणम् पूर्वसम्पाद्यं प्रतिज्ञारूपं प्रतिबन्धम् यदि नाकरिष्यत् न कृतवान् अभविष्यत् (तदा) पुण्यमहसे पावनतेजस्काय दाशरथिचन्द्रमसे चन्द्रसदृशाय दशरथपुत्राय सदृशाय

अहल्याजार कहते हैं। इस पर गौतम को क्रोध हुआ। इस पापसे अहल्या प्रस्तर की हो गई, वही आज रामचन्द्रके प्रतापसे उस पापसे मुक्त हुई॥

राजा—यह सूर्यकुल कुमार कितना अप्रमेय सामर्थ्यशाली है?

सीता—(विस्मय और स्नेहके साथ)

इसके शरीरनिर्माण की तरह ही इसका प्रभाव है।

राजा—दशरथपुत्र पुण्यश्लोक रामके साथ सीता की शादी तो हो गई होती, यदि शिव धनुष चढ़ाने की अकार्य्य प्रतिज्ञा आर्यने न की होती॥ २७॥

आरोपणेन पणमप्रतिकार्यमार्यस्त्रैयम्बकस्य धनुषो यदि नाकरिष्यत् ॥

(प्रविश्य)

तापसः—रावणपुरोहितः सर्वमायो नाम वृद्धराक्षसः संप्राप्तः । स किल राजकार्याद्वः पश्यति ।

कन्ये—हुं, राक्षसः । (हुं, रक्खसो)

कुमारौ—महत्कौतुकस्थानम् ।

राजविश्वामित्रौ—आगच्छतु ।

(तापसो निष्क्रान्तः)

कन्याया अनुरूपाय वराय रामाय सीता दत्ता सम्प्रदानकर्मीकृता एवाभविष्यत् । अयमर्थः-यदि जनकः सीतास्वयंवरार्थं हरचापारोपणरूपं पणं नाघोषयिष्यत्तदा सीता गुणसम्पत्तुलितगुणविभवायास्मै रामाय सीता दत्ताऽभविष्यदेव । एतेनानयोर्विवाहस्याभिलषितत्वं व्यञ्जितम् । 'दाशरथिचन्द्रमसे' इत्यत्र चन्द्रमा इव दाशरथिर्दाशरथिचन्द्रमाः' इत्युपमितसमासः । आह्लादकत्वरूपं सामान्यं चानुपात्तम् । 'त्रैयम्बकस्य' इत्यत्र 'तस्येदम्' इत्यणि 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' इत्यैजागमः । 'अभविष्यत्' 'अकरिष्यत्' इत्यनयोः 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति लृङ् । स्पष्टमन्यत् ॥ २७ ॥

तापसः = तपःशीलः, शीलमित्यधिकारे 'छत्रादिभ्यो णः' इति णप्रत्ययः । सर्वमायः = सर्वा माया यस्येति बहुव्रीहिः, सर्वविधमायाप्रकटनपटुरित्यर्थः । राजकार्यात्=राज्ञो रावणस्य कार्यमुद्दिश्येति यावत् । वः=युष्मान् । पश्यति=द्रष्टुमिच्छति, अत्र पश्यति पदं दर्शनेच्छापर्यन्तं कुक्षीकरोति, अन्यथा प्रसङ्गभङ्गापत्तिरिति बोध्यम् ।

हुमिति वितर्के, किमर्थमत्र राक्षसागमनमिति वितर्कपदम् ।

कौतुकस्थानम्=कुतूहलपदम् , राक्षसदर्शनमतिकुतूहलाधायकमधुना भावीति बालस्वभावोक्तिरियम् ।

(प्रवेश करके)

तापस—रावण का पुरोहित सर्वमाय नामक राक्षस आया है, वह राजकार्यसे आपको देखना चाहता है ।

दोनों कन्यायें—हुं, राक्षस है ।

दोनों कुमार—बड़ी अद्भुत बात है ।

राजा और विश्वामित्र—आवे ।

(तापस जाता है)

(प्रविश्य)

राक्षसः—

मातामहेन प्रतिषिध्यमानः स्वयंग्रहान्माल्यवता दशास्यः ।
अयोनिजां राजसुतां वरीतुं मां प्राहिणोन्मैथिलराजधानीम् ॥२८॥

दृष्टश्च तत्र यजमानः स राजा । तद्वचनात्कौशिककुशध्वजावनुगतोऽस्मि । (इति परिक्रामति)

रामलक्ष्मणौ—(सीतोर्मिले प्रति यथासंख्यमात्मगतम्) तत्किमियममृतवर्तिरिव मे चक्षुराप्याययति ।

मातामहेनेति० मातामहेन मातुः पित्रा माल्यवता तन्नामकेन स्वयंग्रहात् बलेनाहरणात् प्रतिषिध्यमानः निवार्यमाणः दशास्यः रावणः अयोनिजाम् पृथिवीमुद्भिद्य जाताम् राजसुताम् राजपुत्रीम् सीताम् वरीतुम् याचितुम् माम् मैथिलराजधानीम् मिथिलाम् प्राहिणोत् प्रेषितवान् । रावणः सीतां बलादाहृत्य परिणेतुं यतमानस्तथाविधचेष्टाया मातामहेन वार्यमाणो मामत्र कन्यायाचनकर्मणि व्यापारयदित्यर्थः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ २८ ॥

तत्र = मिथिलायाम् , यजमानः = प्रारब्धयागः । तद्वचनात् = राज्ञः कथनात् । कौशिककुशध्वजौ = कौशिकः विश्वामित्रः, कुशध्वजो जनकानुजः, तौ । अनुगतः = अनुप्राप्तः ।

यथासङ्ख्यम् = क्रमशः, रामः सीतां प्रति लक्ष्मणश्चोर्मिलां प्रतीति विवेकः । अमृतवर्त्तिः = अमृतनिर्मिताञ्जनरेखा, वर्त्तिपदं नयनाञ्जनशलाकापरं प्रसिद्धम् , चन्द्रोदयावर्त्तिरित्यादौ यथा प्रयोगोऽपि—'कर्पूरवर्त्तिरिव लोचनतापहन्त्री' इति । आप्याययति = शिशिरयति । तथैव = यथासङ्ख्यमेव, विवेकश्च पूर्ववत् क्रमकृतो वेदितव्यः ।

(प्रवेश करके)

राक्षस—मातामह माल्यवान्ने स्वयंग्रहणसे रावणको रोका इसीलिये अयोनिजा सीता का वरण करनेके लिये रावणने मुझे मिथिला राजधानी भेजा है ॥ २८ ॥

मैंने यज्ञप्रवृत्त राजासे भेंट की, उनके आदेशानुसार विश्वामित्रकुशध्वजके पास आया हूँ।

(आता है)

राम और लक्ष्मण—(सीता और ऊर्मिलासे क्रमशः)
ये कौन हैं जो अमृतवर्त्ति की तरह हमारी आंखों को आनन्दित करती हैं ।

सीतोर्मिले—(तथैव तौ प्रति) किमिति सज्जतेऽस्मिंल्लोचनानन्दे मे दृष्टिः । (किंति सज्जइ इमस्सिं लोअणाणन्दे मे दिट्ठी)

राक्षसः—(उपेत्य) इयं साद्भुताकृतिः सीता । स्थाने देवस्य यत्नः । ऋषे ! नमस्ते । अप्यनामयं राज्ञः ।

तौ—स्वागतम् । इहास्यताम् ।

अपि प्रभोर्वः कुशलं तस्य यस्यार्चयत्यसौ ।
मूर्ध्ना स्खलत्किरीटेन शासनं पाकशासनः ॥ २९ ॥

राक्षसः—(उपविश्य) कुशलं स्वामिनः । संदिष्टं च वो महाराजेन—

लोचनानन्दे = नयनानन्दजनके । इयं च चक्षुःप्रीतिर्नाम प्रथमा शृङ्गारावस्था । तल्लक्षणं यथा—'आदराद्वीक्षणं यत्तु चक्षुःप्रीतिर्भवेत्तु सा' । इति ।

साऽद्भुता = सा बहुशोऽस्माभिः श्रुतपूर्वा, अप्लुताकृतिः = विस्मयाधायकरूपसम्पत्तियुक्ता सीता । स्थाने = युक्तः, देवस्य=राज्ञो रावणस्य । यत्नः=प्रयासः, सीतायाचनरूपः । ईदृशीं रूपसम्पदं दधत्या अस्याः सीतायाः प्रार्थनां कुर्वन् देवो रावणो नास्थानाभिनिवेशतया निन्दयितुं शक्य इति भावः । अनामयम्=आरोग्यम् , राजविषयेऽनामयप्रश्नोऽयं शास्त्रसमर्थितो बोध्यस्तथा चेयं स्मृतिः—'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्' इति । स्वागतम्=सुखमागमनम् , त्वदागमनेन प्रीतिरेव वर्धते ममेति स्वागतकर्त्तुर्हृदयं प्रतीयते । तच्चेदमत्रौपचारिकमेव बोध्यम् । इह = अत्र । आस्यताम्=उपविश्यताम् ।

अपीति० असौ पाकशासनः इन्द्रः स्खलत्किरीटेन पतन्मुकुटेन मूर्ध्ना शिरसा यस्य रावणस्य शासनम् आज्ञाम् अर्चयति पालयति तस्य वः युष्माकम् राक्षसानाम् प्रभोः रावणस्य अपि कुशलम् कुशलमस्ति किम् इति प्रश्नः । अपिरत्र प्रश्नार्थः । पाको नाम राक्षसस्तस्य शासन इति पाकशासन इन्द्रः । स्खलत्किरीटेनेति रावणान्तिके शक्रस्य भीतवदस्थानं व्यञ्जयति ॥ २९ ॥

स्वामिनः = निग्रहानुग्रहसमर्थस्य रावणस्य । वः सन्दिष्टम्=युष्मानुद्दिश्यसन्देशः प्रहितः, महाराजेन=रावणेन । सन्देशमग्रेऽभिधास्यति—

सीता और ऊर्मिला—(उसी प्रकार दोनों के प्रति) इन नेत्रहर्षजनकों की ओर मेरी दृष्टि क्यों लग रही है ?

राक्षस—(समीप आकर) यही वह अतिसुन्दरी सीता है। महाराज का प्रयत्न उचित ही है। ऋषिवर ! नमस्कार । राजा तो सकुशल हैं न ?

मुनि और राजा—स्वागत । यहाँ बैठिये ।

आपके महाराज तो सकुशल हैं जिनका शासन नतमस्तक होकर इन्द्र मानते हैं ॥२९॥

राक्षस—(बैठ कर) महाराज सकुशल हैं और उन्होंने आपको सन्देश कहा है—

'कन्यारत्नमयोनिजन्म भवतामास्ते वयं चार्थिनो
रत्नं चेत्क्वचिदस्ति तत्परिणमत्यस्मासु शक्रादपि ।
कन्यायाश्च परार्थतैव हि मता तस्याः प्रदानादहं
बन्धुर्वो भविता पुलस्त्यपुलहप्रष्ठाश्च संबन्धिनः ॥ ३० ॥'

सीता—हा धिक् हा धिक् । राक्षसो मामभ्यर्थयते । (हद्धी हद्धी । रक्खसो मं अब्भत्थअदि)

कन्यारत्नम् इति० योनेर्जन्म यस्य तद्योनिजन्म तादृशं न भवतीत्ययोनिजन्म अक्षेत्रजं स्वयमुत्पन्नम् लाङ्गलोल्लिख्यमानाया भूमेः प्रादुर्भूतमित्यर्थः कन्यारत्नम् उत्कृष्टा कन्या 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमिह कथ्यते' इति स्मरणादित्थमुक्तम् , भवताम् आस्ते भवदधिकारे विद्यत इत्यर्थः । वयम् अर्थिनः प्रार्थयितारः । ननु भवतु कन्यारत्नम् , भवन्तु च भवन्तोऽर्थिनस्तथापि पात्रत्वाभावाददेया भवते सेत्यपेक्षायामाह—रत्नं चेदिति० क्वचित् रत्नम् उत्कृष्टगुणम् वस्तु अस्ति चेत् तद् रत्नं शक्रादपि शक्रमपि विहाय अस्मासु परिणमति उपतिष्ठते । अतश्चेन्द्रातिशायिनी रत्नप्राप्तिपात्रता ममेति तादृशाशङ्का कलङ्कानवकाश इति भावः । कन्यायाश्च परार्थता परप्रदानावश्यंभावो मता सर्वसम्मता । तस्याः कन्यायाः प्रदानात् मत्सम्प्रदानीकरणात् अहम् रावणः वः युष्माकं बन्धुः प्रीतिपात्रं सम्बन्धी भविता भावी । पुलस्त्यपुलहप्रष्ठाः पुलस्त्यपुलहनामकराक्षसवंशोद्भवाग्रगण्याः च सम्बन्धिनः भवितार इति योजना । तदस्यां स्थितौ मदीयानुरोधरक्षा तव हितायैव जायेतेति तात्पर्यम् । अत्र कन्यारत्नमित्यस्यायोनिजन्मेति विशेषणम् उत्पत्तियोनिसंसर्गकृतदोषाभावं ध्वनयति । रत्नसामान्यस्य शक्रातिक्रमपूर्वकस्वपरिणामोक्तिश्चान्यसम्प्रदत्तस्यापि तस्य तथाभावे विरोधमात्रस्य फलत्वं प्रकटयति । कन्यायाः परार्थताप्रतिपादनं दातव्यतानिश्चयमुखेन विशेषविचारस्यानौचित्यं, स्वस्य बन्धुभावित्वोक्तिश्च प्रयत्नविशेषाभावेनैव दुर्लभवस्तुलाभसंभावनां गमयति । 'पुलस्त्यपुलहप्रष्ठाश्च' इत्येतद्घटकप्रष्ठपदे प्रपूर्वकात्तिष्ठतेः कः, 'प्रष्ठोऽग्रगामिनि' इति निपातनात्षत्वम् । 'शक्रादपि' इत्यत्र शक्रं विहायेत्यर्थे 'ल्यब्लोपे पञ्चमी' । कन्यायाः परार्थत्वे कालिदासोक्तिरपि—'अर्थो हि कन्या परकीय एव' । शार्दूलविक्रिडितं वृत्तम् , लक्षणं प्रागुक्तम् ॥३०॥

हा धिक्=इदं दुःखनिर्वेदयोर्व्यञ्जकम् ।

आपकी अयोनिजात रत्नरूप कन्या है, मैं प्रार्थी हूँ, जहाँ कहीं भी रत्न हो वह इन्द्र को भी छोड़कर मुझे मिलता है । कन्या तो परार्थ ही होती भी है, वह दे देनेसे मैं आपका बन्धु हो जाता हूँ और पुलस्त्य पुलह वगैरह भी आपके अपने सम्बन्धी हो जाते हैं ॥३०॥

सीता—हाय, राक्षस हमारी मंगनी करता है ।

ऊर्मिला—हा, कथमेतत्। (हा, कहं एदम्)

(राजविश्वामित्रौ चिन्तयतः)

लक्ष्मणः—आर्य ! निशाचरपतिर्देवीमिमां प्रार्थयते।

रामः—वत्स !

साधारण्यान्निरातङ्कः कन्यामन्योऽपि याचते।
किं पुनर्जगतां जेता प्रपौत्रः परमेष्ठिनः ॥ ३१ ॥

लक्ष्मणः—अति हि सौजन्यमार्यस्य तस्मिन्नपि निसर्गवैरिणि निशाचरे बहुमानः।

चिन्तयतः=किमस्मै प्रतिवक्तव्यमिति विचारयतः, चिन्ताबीजं तु रावणस्य महाप्रभावतया तत्प्रार्थनाऽस्वीकारे भाव्यनर्थोपनिपातसम्भावनवेति बोध्यम्, निशाचरपतिः = रावणः। देवीम् = सीताम्। प्रार्थयते = पत्नीभावेन वरीतुं कामयते इत्यर्थः। राक्षसकर्तृकं देवीयाचनं नितान्तमनुचितमिति लक्ष्मणस्याशयः।

साधारण्यादिति० अन्योऽपि इतरः साधारणजनोऽपि साधारण्यात् कन्याया याचने सर्वेषामप्यधिकारात् निरातङ्कः निर्भयः सन् कन्यां याचते प्रार्थयते। जगताम् त्रयाणामपि लोकानां जेता जेतृशीलः परमेष्ठिनः ब्रह्मणः प्रपौत्रः रावणः किं पुनः रावणो याचते इति किं वक्तव्यमित्यर्थः। कन्याया याचने यत्र सर्वसाधारणस्याधिकारस्तत्र रावणस्याधिकारविषये कथं चिन्तयसीति तात्पर्यम्। साधारण्यादित्यत्र ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। अर्थापत्तिरलङ्कारः, तथा च तल्लक्षणम्—'दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते' इति ॥ ३१ ॥

अतिसौजन्यात्=कोमलस्वभावत्वात्, परगुणाविष्कारमात्रप्रवणहृदयत्वादित्यर्थः। आर्यस्य=रामस्य। निसर्गवैरिणि=स्वभावशत्रौ। बहुमानः=आदरातिशयः।

ऊर्मिला—हा ! यह क्या हुआ ?

(राजा, विश्वामित्र चिन्ता करते हैं)

लक्ष्मण—आर्य ! राक्षसराज इस देवी की मंगनी कर रहा है।

राम—वत्स ! साधारणताके कारण कन्याकी मंगनी अन्य कोई भी कर सकता है, फिर ब्रह्माके प्रपौत्र जगत् विजयी रावण की क्या बात है ? ॥ ३१ ॥

लक्ष्मण—यह तो आर्य का उत्कृष्ट सौजन्य है कि आप उस स्वभाववैरी का भी आदर करते हैं।

यो नस्त्रयीपरिध्वंसात्क्षात्रं तेजोऽपकर्षति ।
अस्माकं यश्च राजानमनरण्यं किलावधीत् ॥ ३२ ॥

रामः—कामं शत्रुरिति वध्यः स्यात् । न पुनरतिवीर्यमप्रमेयतपसमप्राकृतं प्राकृतवदर्हसि व्यपदेष्टुम् ।

लक्ष्मणः—निरस्तवीरपुरुषाचारस्य का वीरता ।

रामः—वत्स ! मा मैवम् ।

यो न इति० यः त्रयीपरिध्वंसात् त्रय्या ऋग्यजुःसामरूपवेदत्रयस्य परिध्वंसः प्रणाशनम् (तदुदिताचारप्रणाशोऽत्र तत्प्रणाशतयाऽभिप्रेयते) तस्मात् नः अस्माकम् क्षत्रियाणाम् क्षात्रम् क्षत्रियसम्बन्धि तेजः प्रतापम् (श्रुत्युक्ताचारप्रतिपालकतया प्रथितं क्षत्रियप्रतापम्) अपकर्षति हीनयति । यश्च रावणः ऐक्ष्वाकम् ईक्ष्वाकुकुलजम् राजर्षिम् अनरण्यम् तन्नामानम् अवधीत् अमारयत् किल । अत्राद्यपादद्वयेन वेदमार्गदूषकस्य रावणस्य क्षत्रियसामान्यशत्रुतोक्ता,'अन्त्यपादद्वयेन'च स्वपूर्वपुरुषघातकतानिवेदनेनेक्ष्वाकुवंश्यानां विशिष्य प्रातिस्विकी शत्रुता कथिता, तदुभयथा शत्रावपि तत्र रावणे बहुमानं बिभ्रतो रामचन्द्रस्य सौजन्यातिशयः प्रागभिहितः प्रमाणप्रदर्शनेन दृढीकृत इति भावः । पुरा दिग्विजयाय निर्गतो रावणोऽयोध्यामागत्य वृद्धमनरण्यं नामैक्ष्वाकं राजानमन्याययुद्धेन हतवानिति रामायणे उत्तरकाण्डे १९ सर्गे । स्पष्टमन्यत् ॥ ३२ ॥

कामम् = यथेच्छम् । शत्रुरिति=शत्रुत्वेन हेतुना । वध्यः = हन्तव्यः । अप्रमेयतपसम् = अपरिच्छेद्यतपस्यम् , अनन्तं तपःसमाचरितवन्तमित्यर्थः । अतिवीरम् = अत्यन्तशूरम् । अप्राकृतम्=प्राकृतः साधारणो जनः स न भवतीत्यप्राकृतः असाधारणः, विशिष्टस्तम् । प्राकृतवत् = साधारणजनवत् । व्यपदेष्टम् = व्यवहर्त्तुम् । यथा साधारणजनस्यालोचना न तथाऽस्यातितपस्विनो रावणस्यालोचनाकर्त्तुमुचितेत्यर्थः ।

निरस्तवीरपुरुषाचारस्य=त्यक्तशूरोचितमर्यादस्य । रावणो हि वीरः सन्नपि परोत्पीडनेन वीरमर्यादां नापालयदिति लक्ष्मणस्याशयः ।

जिसने वेदों का नाशकर हमारे क्षात्र तेजको ध्वस्त किया और हमारे पूर्वज अनरण्य नामक राजाका वध किया ॥ ३२ ॥

राजा—शत्रु होनेसे वह वध्य भले ही हो परन्तु अप्रमेयवीर्य तथा तपस्यासे युक्त होने के कारण वह असाधारण प्राणी तो अवश्य है ।

लक्ष्मण—जिसने वीरोचित आचार का त्याग कर दिया उसकी वीरता क्या ?

राम—भाई ! नहीं, ऐसा मत मानना ।

यद्विद्वानपि तादृशेऽप्यभिजने धर्म्यात्पथोऽपि च्युतः
किं ब्रूमोऽत्र तदन्यदेव न वसन्त्येकत्र सर्वे गुणाः ।
लीलानिर्जितषण्मुखाद्भगवतः श्रीजामदग्न्यादृते
निर्विघ्नप्रतिपन्नविश्वविजयो वीरस्तु कस्तादृशः ॥ ३३ ॥

राक्षसः—ननु भोः ! किमत्र चिन्त्यते ।

द्राङ्निष्पेषविशीर्णवज्रशकलप्रत्युप्तरूढव्रण-

यद्विद्वानपीति० विद्वानपि अधीतविद्योऽपि तादृशे ब्रह्मसम्बन्धादतिमहति अपि अभिजने वंशे (जातोऽपीति योजनीयम्) धर्म्यात् धर्मादनपेतात् पथः सदाचारवर्त्मनः विच्युतः प्रभ्रष्टः (अधीतविद्यस्यातिसंभ्रान्तकुलावाप्तजन्मनोऽपि रावणस्य या निरस्तवीरपुरुषाचारता) अत्र किं ब्रूमः एतद्विषये किमवधारयामः, किं कारणकमेतद्वैगुण्यं तस्येति कथं निश्चिनुम इत्यर्थः । तत् तदीयं धर्ममार्गपराङ्मुखत्वम् अन्यदेव अन्यकारणकम् अन्यादृशमेव वेत्यर्थः । तथाविधविद्यावत्त्वे तादृशवंशप्रसूतत्वेऽपि यदनुचिताचारित्वं तत्र किञ्चिदन्यदेव पूर्वदुरितादिकमदृष्टं कारणं भवितुमर्हतीति समर्थयति—न वसन्तीति० एकत्र एकं पुरुषमाधारीकृत्य सर्वे गुणाः सद्वंशप्रसूतत्वासादितविद्यत्वसन्मार्गप्रवृत्तत्वादयः न वसन्ति न तिष्ठन्ति । सर्वगुणानामेकत्रावस्थानस्यासम्भवित्वे रावणस्य धर्म्यपथच्युतिर्नातिगर्हणीयेति भावः । गुणातिरेकं निर्दिशति—लीलेति० लीलया अवहेलया (न तु सर्वात्मना समवधाय) निर्जितः शरक्षेपपरीक्षायां पराजितः षण्मुखः कार्त्तिकेयः येन तथाभूतात् भगवतो जामदग्न्यात् ऋते विना निर्विघ्नम् विनैव प्रतिबन्धम् प्रतिपन्नः प्राप्तः विश्वविजयः संसारजयः येन तादृशः वीरः तु कः ? न कोऽपीत्यर्थः । यथा कार्त्तिकेयं जितवता भगवता परशुरामेणाप्रतिबन्धं विश्वजयः कृतस्तथैव रावणेनापि, तत्परशुराममतिरिच्य कस्तादृशो वीर इति धन्यमेतद्वीरत्वमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् , लक्षणं तस्यान्यत्रोक्तम् ॥ ३३ ॥

द्रागिति० भूमेः सुता जानकी द्राक् झटिति निष्पेषेण सङ्घट्टेन विशीर्णस्य शतखण्डताङ्गतस्य वज्रस्य शकलैः खण्डैः प्रत्युप्तैः खचितैः रूढानाम् उत्पादितानाम् व्रणानाम्

विद्वान् होकर और तादृश वंशमें जन्म लेकर भी रावण धर्ममार्गसे विमुख है इस पर क्या कहें, सभीमें सभी गुण नहीं होते हैं । स्कन्दविजयी परशुराम को छोड़कर निर्विघ्न भावसे विश्वविजय करने वाला बहादुर वैसा दूसरा कौन है ? ॥ ३३ ॥

राक्षस—अजी ! आप इसमें सोच क्या रहे हैं ?

जगद्विजयी रावण की छाती पर पृथिवी की पुत्री सीता स्थान प्राप्त करे जिस पर वज्रके

ग्रन्थ्युद्भासिनि भग्नमोघमघवन्मातङ्गदन्तोद्यमे ।
भर्तुर्नन्दनदेवताविरचितस्रग्धाम्नि भूमेः सुता
वीरश्रीरिव तस्य वक्षसि जगद्वीरस्य विश्राम्यतु ॥ ३४ ॥

(नेपथ्ये कलकलः)

राजा—भगवन् ! यत एते यज्ञोपनिमन्त्रिताः पुत्रदारैः सह दिगन्तरेभ्यो महर्षयः संपतन्ति, तत एवमाक्रन्दकलिलः कलकलः ।

(सर्वे उत्तिष्ठन्ति)

लक्ष्मणः—भगवन् ! का पुनरियम् ?

ग्रन्थिभिः किणैः उद्भासिनि शोभमाने (रावणस्य वक्षसि) रावणमुद्दिश्येन्द्रेण वज्रप्रहारे कृते तद्वक्षःकाठिन्यातिशयवशाच्छतधा विशीर्णे च वज्रे तत्खण्डानि वज्रप्रहारकिणेष्ववलम्बितानि विशिष्य शोभन्ते तादृशे तद्वक्षसीति भावः । वक्षोविशेषणान्तरमाह—भग्नेति० भग्नः प्रारब्धमात्र एव नष्टः, मोघः प्रवृत्तोऽपि विफलः मघवन्मातङ्गदन्तानाम् मघवतो वज्रिणः मातङ्ग ऐरावतस्तस्य दन्तानामुद्यमः प्रहारो यत्र तादृशे । नन्दनदेवताविरचितस्रग्धाम्नि नन्दनवनाधिष्ठातृदेवतारचितमालाऽऽश्रयस्थानभूते जगद्वीरस्य संसारप्रसिद्धशूरस्य तस्य भर्त्तुः रावणस्य वक्षसि वीरश्रीरिव वीरलक्ष्मीरिव विश्राम्यतु विश्रमं प्राप्नोतु । यथा रावणोरसि वीरलक्ष्मीर्निभृतं वसति तथैव शक्रवज्रखण्डशोभिनि ऐरावतदन्तोद्यमवैयर्थ्यकरे नन्दनवनविकासिकुसुममालालङ्कृते तत्र सीतापि शोभतामिति तात्पर्यम् । वीरश्रीरिवेत्युपमालङ्कारः । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ ३४ ॥

यज्ञोपनिमन्त्रिताः = यज्ञार्थमाहूताः । सम्पतन्ति = समागच्छन्ति । आक्रन्दकलिलः=आक्रन्देन उच्चैर्नादेन कलिलः कलुषः युक्त इत्यर्थः । कलकलः=कोलाहलः ।

लगनेसे वज्र ही टूट जाता है, उस पर केवल चिह्न रह जाते हैं, ऐरावत का दन्तप्रहार भी जिसपर व्यर्थ होता है और नन्दनवन की देवता जिस पर माला समर्पित करती है ॥ ३४ ॥

(नेपथ्यमें कलकल)

राजा—भगवन्! यज्ञमें निमन्त्रित ऋषिगण अपने परिवारके साथ आरहे हैं उन्हींके आनेसे यह चिल्लपों मच रही है ।

(सभी उठते हैं)

लक्ष्मण—भगवन्! यह कौन है ?

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लल-
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥ ३५ ॥

विश्वामित्रः—

सेयं सुकेतोर्दुहिता भार्या सुन्दासुरस्य च ।
मारीचजननी घोरा ताटका नाम राक्षसी ॥ ३६ ॥

अन्त्रप्रोतेति० अन्त्रेषु पुरीतत्सु नाडीषु प्रोतानि गुम्फितानि बृहन्ति नलकानि इव कपालाः कपालनलकानि अथवा कपालाश्च नलकानि चेति द्वन्द्वः। क्रूरम् अतिकटु यथा भवति तथा क्वणन्ति शब्दायमानानि कङ्कणानि करभूषणानि तानि प्रायः बहूनि येषु तानि तथोक्तानि। तेषां प्रेङ्खितानां चलितानां भूरिणाम् बहूनाम् भूषणानाम् अलङ्काराणाम् रवैः शब्दैः अम्बरम् आकाशम् आघोषयन्ती शब्दैरापूरयन्ती, पीतस्य उच्छर्दितस्य मात्राऽऽधिक्यदोषात् वान्तस्य रक्तकर्दमस्य शोणितरूपकर्दमस्य घनेन सान्द्रेण प्राग्भारेण समूहेन घोरौ भयानकौ उल्ललन्तौ उत्पतन्तौ व्यालोलौ चलन्तौ यौ स्तनौ कुचौ तयोर्भारेण भैरवम् अतिभयानकम् वपुः यस्याः सा (इयं का) दर्पोद्धतम् उदग्रम् धावति त्वरितं गच्छति। केयं गच्छति यस्या भूषणस्थानेऽन्त्र-प्रोताः कपालाः शङ्खास्थीनि च सन्ति यत्संसर्गेण कङ्कणशब्दः कटुभावं भजते, एभिश्च सङ्गतो भूषणरव आकाशं मुखरीकरोति, किञ्च यस्या अस्या वपुरतिभयानकं यत्र वपुषि गुरू स्तनौ व्यालोलौ स्तः, स्तनयोश्च पीतवान्तरक्तकर्दमसम्पर्ककृतो भया-नकभावः स्फुट इति तात्पर्यम्। 'शङ्खास्थि नलकम्' इति हलायुधः। 'प्राग्भार' शब्दो बहुत्वे प्रयुज्यते, यथाऽस्यैव कवेरन्यत्र 'प्राग्भारभीमैस्तटैः' इति। 'प्रायो वयोमृत्युतुल्यबाहुल्यानशनेषु ना'। प्रायोऽव्ययं च बाहुल्ये' इति रत्नमाला। वृत्तमनु-पदमुक्तम् ॥ ३५ ॥

सेयमिति० सा इयम् पुरोदृश्या सुकेतोः सुकेतुनामकस्य यक्षस्य दुहिता सुता, सुन्दासुरस्य सुन्दनामकस्य राक्षसस्य भार्या पत्नी, मारीचो नाम राक्षसस्तस्य जननी ताटका नाम राक्षसी विद्यत इति शेषः ॥ ३६ ॥

अतंड़ियोंमें पिरोई कपालमाला, हड्डियों का कङ्कण, आदि गहनों के शब्दसे आकाशको शब्दायमान करनेवाली, पीत तथा वान्त रक्तकर्दमसे भयानक लम्बे स्तनोंसे भीषणकाय, यह दर्पसे घूमनेवाली (कौन है)॥ ३५ ॥

विश्वामित्र—यह सुकेतु की बेटी सुन्दकी स्त्री तथा मारीच की माता ताटका नामकी राक्षसी है ॥ ३६ ॥

कन्ये—तात ! भीषणा हताशा । (ताद ! भीसणा हदासा)

राजा—मा भैष्टमायुष्मत्यौ ।

विश्वामित्रः—(रामं चिबुकप्रदेशे स्पृशन्) वत्स ! हन्यतामियम् ।

सीता—हा धिक् हा धिक् । एष एवात्र नियुक्तः । (हद्धी हद्धी । एसो एव्व एत्थ णिउत्तो)

रामः—भगवन् ! स्त्री खल्वियम् ।

ऊर्मिला—श्रुतमार्यया । (सुदं अज्जाए)

सीता—(सविस्मयानुरागम्) अन्यतोमुख एवास्य चित्तभेदः । (अण्णदोमुहो एव्व से चित्तभेदो)

राजा—साधु । सत्यमैक्ष्वाको रामभद्रः ।

भीषणा = भयदायिनी । हताशा = इदं निन्दायां प्रयुज्यते ।

भैष्टम् = भीतियुक्ते भवेताम्, इमां निरीक्ष्य युवाभ्यां भयं न कर्त्तव्यमिति भावः, भैष्टमिति बिभेतेर्लुङ्मध्यमपुरुषद्विवचनम् । माङ्योगादडभावः ।

चिबुके = अधराधोदेशे । 'अधस्ताच्चिबुकम्' इत्यमरः ।

अत्र = एतादृशभीषणराक्षसीवधकर्मणि । शिरीषकोमलतनोरस्यैतादृशे कर्मणि नियुक्तिर्न युक्तेति सीताया आशयः ।

स्त्री खल्वियम् = स्त्रीजातिरियमवध्याऽत इयमाज्ञा कथमुचितेति न वेद्मि तदपनुदन्तु मम शङ्कां भवन्त इति रामस्य हृदयम् ।

अन्यतोमुखः = अन्यविधः । चित्तभेदः = हृदयाभिप्रायः । रामस्ताटकां न जिघांसति यत्तदनुचितमिति सीतायास्तात्पर्यम् । स्त्रीत्वादवध्यत्वज्ञानमस्य गौरवं गमयतीति वा तत्तात्पर्यं वर्णनीयम् ।

ऐक्ष्वाकः = इक्ष्वाकुवंशोद्भवः । इक्ष्वाकुवंश्यानां शिष्टाचारानुवर्त्तित्वात्तत्र च स्त्रीवधस्य विगर्हितम् स्त्रियो वधे हठादप्रवर्त्तमानस्यास्य रामस्येक्ष्वाकुवंश्यत्वमप्रमाणान्तरापेक्षीति भावः ।

कन्यायें—बापरे ! जलमुँही बड़ी भीषण है ।

राजा—तुम लोग डरो मत ।

विश्वामित्र—(रामकी दाढ़ी छूकर) वत्स ! मारो इसको ।

सीता—इनको ही इस कार्य में नियुक्त किया ।

राम—गुरुदेव ! यह स्त्री है ।

ऊर्मिला—सुना तुमने ?

सीता—(आश्चर्य और स्नेहसे) इनका हृदय दूसरी ही ओर है ।

राजा—साधु । रामभद्र यथार्थमें इक्ष्वाकुवंशी हैं ।

राक्षसः—(स्वगतम्) अयं स रामो दाशरथिः, य एषः

उत्तालताटकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ॥ ३७ ॥

विश्वामित्रः—त्वरस्व वत्स ! किं न पश्यसि ब्राह्मणजनस्य संघातमृत्युमग्रतः।

रामः—एवं भगवन्तो जानन्ति।

सर्वदोषानभिष्वङ्गादाम्नायसमतां गताः।
युष्माकमभ्युपगमाः प्रमाणं पुण्यपापयोः ॥ ३८ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

उत्तालेति० उत्ताला तालवृक्षमुद्गता तालवृक्षादप्युन्नता या ताटका नाम राक्षसी सैव उत्पातः अनर्थसूचकपदार्थस्तस्य दर्शने साक्षात्कारे अपि अप्रकम्पितः अविचलितः (स एषः रामः) तत्प्रमाथाय तस्याः मरणाय नियुक्तः विश्वमित्रेण प्रेरितः स्त्रैणेन वध्यजनस्य स्त्रीभावेन विचिकित्सति हन्यतामियं नवेति सन्देहदोलामधिरोहतीति भावः ॥ ३७ ॥

त्वरस्व = शीघ्रतां कुरु। हननेऽस्यास्ताटकाया इति शेषः। महतः = विपुलस्य। सङ्घातमृत्युम् = एककाले बहूनां मरणम्। सकृदेव बहुब्राह्मणजनमियं ताटका विनिपातयेद्यदि त्वमस्या वधेऽवधेयस्मृतिवचनतया विलम्बसे तदलं विलम्बेनेति भावः।

सर्वेति० सर्वदोषानभिष्वङ्गात् सर्वेषां भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादीनां वक्तृदोषाणाम् अनभिष्वङ्गात् असंपर्कात् आम्नायसमतां गताः वेदेन तुलिताः युष्माकम् भवताम् अभ्युपगमाः इदं कर्त्तव्यमिदमकर्त्तव्यमित्यादिस्वीकारोक्तयः पुण्यपापयोः प्रमाणम् व्यवस्थापकत्वेन स्थिताः। अयमाशयः–यथा नित्यत्वेनाकर्तृतया पुंदोषरहिता वेदाः कार्याकार्ययोर्व्यवस्थापकास्तथैव निर्दूषणतया भवदुक्तयोऽपीति, भवतश्चाज्ञा मम प्रवृत्तवालम्बनमत्र कर्मणि, तन्नाहं दूष्य इति ॥ ३८ ॥

राक्षस—(स्वगत) ये ही वे दशरथके पुत्र राम हैं, जो—

तालवृक्षके समान ऊंची ताटका को देखकर कांपता नहीं है, और उसे मारनेमें नियुक्त होने पर स्त्री जानकर हिचकिचा रहा है ॥ ३७ ॥

विश्वामित्र—वत्स ! शीघ्रता करो, आगे ब्राह्मणों का झुण्ड मौतके मुहमें है यह नहीं देखते हो।

राम—आप यही कहते हैं—

सभी प्रकारके दोषोंसे अलिप्त होनेके कारण आपकी स्वीकृतियाँ वेदके समान तथा पापपुण्य की व्यवस्थापिकायें हैं ॥ ३८ ॥

(जाता है)

सीता—अहो ! परागत एव । हा धिक् हा धिक् । उत्पातपातावलिरिव सा हताशा महानुभावमभिद्रवति । (अम्महे ! परागदो एव्व । हद्धी हद्धी । उप्पादवादावली विअ सा हदासा महाणुभावं अहिद्दवदि)

राजा—(धनुरास्फाल्य) आः पापे ! तिष्ठ तिष्ठ ।

ऊर्मिला—अये ! स्वयमेव तातः प्रस्थितः । (अए ! सअं एव्व तादो पत्थिदो)

लक्ष्मणः—(विहस्य) पश्यन्तु भवन्तस्ताटकाम् ।

हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्रसंवेगतत्क्षणकृतस्फुटदङ्गभङ्गा ।
नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यदुद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥३९॥

कन्ये—आश्चर्यमाश्चर्यम् । प्रियं नः प्रियं नः । (अच्चरिअं अच्चरिअम् । पिअं णो पिअं णो)

उत्पातवातावली = अनर्थसूचिका चक्रवात्या । हताशा=दुष्टा ।

धनुरास्फाल्य = सज्यं धनुः करेणामृश्य ।

हृन्मर्मेति० हृदः हृदयप्रदेशस्य यन्मर्म मध्यस्थानम् तत् भिन्दन्ति विदारयन्ति ये ते हृन्मर्मभेदिनः तथाविधैः पतद्भिः लक्ष्यस्थलं गच्छद्भिः उत्कटैः तीव्राग्रभागैः कङ्कपत्रैः बाणैः संवेगेन संभ्रमेण तत्क्षणे पतनक्षणे कृतो विहितः स्फुटताम् विशीर्यताम् अङ्गानां भङ्गः नाशः यस्याः सा तथोक्ता । हृदयदारकबाणपातक्षणभज्यमानाङ्गेति यावत् । इदं च म्रियमाणताटकाविशेषणम् । नासा नासिका एव कुटीरः लघुकुटी तस्य कुहरयोः विवरयोः द्वयात् युगलात् तुल्यम् युगपत् निर्यन् निर्गच्छन् उद्बुद्बुदः बुद्बुदशब्दयुक्तः ध्वनन् शब्दायमानश्च असृक्प्रसरः शोणितप्रवाहः यस्या सा तथोक्ता–नासादेशनिःसरच्छोणिता–ताटका मृता एव ॥ ३९ ॥

सीता—अहा ! चले ही गये । हाय हाय, उत्पातवातकी भांति यह जलमुंही महानुभावकी ओर चली आरही है ।

राजा—(धनुष चढ़ाकर) अरी पापे ! ठहर ठहर ।

ऊर्मिला—अरे ! खुद बाबूजी चल पड़े ।

लक्ष्मण—(हंसकर) आपलोग तारका को देखें ।

हृदयमर्म का भेदन करनेवाले घोर बाणोंके बेगसे तत्काल अङ्ग कट रहे हैं और दोनों नाककी राह एक साथ बुलबुलेके रूपमें खून गिर रहा है, यह मरी वह ॥ ३९ ॥

कन्यायें—आश्चर्य है, आश्चर्य । बड़ी खुशी ।

राजा—अहो दृढप्रहारिता राजपुत्रस्य।

राक्षसः—भो आर्ये ताटके! किं हि नामैतत्। अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते।

नन्वद्य राक्षसपतेः स्खलितः प्रतापः
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवोऽद्य मनुष्यपोतात्।
दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमारो
दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि॥ ४०॥

दृढप्रहारिता = सफललक्ष्यभेदकता। राजपुत्रस्य = रामस्य।

एतत् = मानुषशिशुप्रहारात्स्वन्मरणम्। अम्बुनि = जले। अलाबूनि = अलाबूः तुम्बी तस्याः फलानि। 'फले लुक्' इति विकारप्रत्ययलोपः, अत एव च क्लीबता। 'तुम्ब्यलाबूरुभे समे' इत्यमरः। शुष्काणि हि तुम्बीफलानि लाघवातिशयाज्जले प्रक्षिप्यमाणानि प्लवनस्वभावानि भवन्ति, ग्रावाणः प्रस्तराश्च गौरवाज्जले मज्जन्ति। तेषामुभयेषामपि प्रतिनियतस्वभावविपर्यासो यथाऽत्यन्तासम्भाव्यः, तथैवात्यन्तासंभाव्योऽप्ययं राक्षसस्य मानुषशिशुकर्तृकः पराजयो जातस्तदिदं जलेऽलाबूमज्जनं ग्रावप्लवनं च बुद्धिपथातिथीकरोतीति भावः। उपमानञ्चेहासम्भाव्यमित्यसम्भावितोपमाऽत्र व्यज्यते, 'चन्द्रबिम्बादिव विषं चन्दनादिव चानलः। परुषा वागतो वक्त्रादित्यसम्भावितोपमा' इत्युक्तेः।

नन्वद्येति० राक्षसपतेः निशाचरप्रभोः प्रतापः शत्रुपराभवसमर्थता अद्य अस्मिन्नहनि स्खलितः। ननु भ्रष्ट एव, ननु शब्दोऽत्र निश्चयार्थः, 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरात्, (यतः) अद्य मनुष्यपोतात् नरशिशोः अद्भुतः विस्मयजनकः परिभवः तारकावधरूपः प्राप्तः आसादितः मया च स्थितेन स्वजनवधरूपघटनास्थाने वर्त्तमानेन स्वजनप्रमारः स्वीयजनभूततारकाहननम् दृष्टः अवेक्षितः। ननु राक्षसपतेः प्रतापोऽस्तंगच्छतु, त्वं तु तत्र वर्त्तमानः किमिति प्रतिकर्त्तुं नाचेष्टथा इत्यपेक्षायामाह—दैन्यम् इति० दैन्यम् याच्ञा प्रवृत्तत्वेन सत्त्वक्षयः जरावार्द्धक्यं च निरुणद्धि प्रतिकारविधेर्निवर्त्तयति, कथं करोमि किङ्करोमि समयानुकूलं कर्त्तव्यमवधारयितुं न क्षम इति भावः। राक्षसपतेः प्रतापो यद्यस्खलितोऽस्थास्यत्तदा मानुषशिशोः का कथा, नेन्द्रोऽपि तदीये जने विप्रतीपमाचरितुमपारयिष्यत्, तदेतदनुमेयस्तत्प्रतापोपशम इति तात्पर्यम्॥ वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ४०॥

राजा—राजपुत्र की दृढ प्रहारिता आश्चर्यजनक है।

राक्षस—आर्ये ताटके! यह क्या? तुमड़ी पानीमें डूब रहा है, पत्थल तैरते हैं। रावण का प्रताप आज समाप्त हो गया, मनुष्य के शिशुसे यह पराभव प्राप्त हुआ। मैं यहां खड़ा-खड़ा स्वजनकी मृत्यु देख रहा हूँ, बुढ़ापा और दैन्य रोक रहा है, क्या करूं॥४०॥

विश्वामित्रः—(स्वगतम्) एष तावदोंकारः सकलराक्षससंहारनिगमाध्ययनस्य ।

राक्षसः—अयि भोः ! किमस्मासु वः प्रतिवचनम् ।

विश्वामित्रः—

अत्र सीरध्वजो वेत्ता कनिष्ठो हि कुशध्वजः ।
अस्याः पिता स कन्यायाः कुलज्येष्ठः प्रभुश्च सः ॥ ४१ ॥

एषः = ताटकावधः । ओंकारः = प्रणवः आदिविधेयतयाऽस्य प्रणवत्वोक्तिः सकलराक्षससंहारनिगमाध्ययनस्य = समस्तराक्षसवधरूपवेदाध्ययनस्य । 'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा । स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यति' इति मनूक्तदिशा प्रणवो यथा वेदाध्ययनप्रारम्भसूचकस्तत्प्रतिष्ठापकश्च भवति तद्वदेव ताटकावधोऽपि भाविराक्षसनिवहवधप्रारम्भसूचकस्तत्प्रतिष्ठापकश्च भवतीति तथोक्तिः । अस्मासु = अस्मद्विषये, प्रतिवचनम् = उत्तरम् । मयाऽऽनीतस्य राक्षसराजसन्देशस्य किमुत्तरं युष्माकमिति भावः ।

अत्रेति० अत्र कन्यारत्नमित्यादित्वदुक्तरावणसन्देशविषये सीरध्वजः जनकः वेत्ता ज्ञास्यति प्रतिवचनमिति शेषः । रावणसन्देशः प्रागुक्तरूपः कथमुत्तरणीय इति जनक एव ज्ञास्यतीत्यर्थः । ननु कुशध्वजोऽत्र स्थित इति स एव किमिति किमपि नोत्तरयतीत्यत्राह—कनिष्ठ इति । कुशध्वजो हि कनिष्ठः अवरजः । अतस्तस्य तादृशप्रश्नोत्तरणे न सामर्थ्यमित्याशयः । ननु सीरध्वजकुशध्वजयोरेकाश्रमस्थत्वादन्योन्यस्नेहवत्त्वाच्चायमपि शक्नोति प्रतिवक्तुमित्यत्राह—अस्या इति० अस्याः राक्षसपतिना प्रार्थ्यमानायाः सीतारूपायाः कन्यायाः सः सीरध्वजः पिता जनकः (अतश्च स एवोत्तरं दाता, कन्यादाने हि पितुरेवाधिकारो न पितृव्यादेरिति सिद्धान्तमनुध्यायेत्थमुक्तम्) नन्वियं कन्या नौरसी किन्तु क्षेत्रलब्धा, क्षेत्रं च द्वयोर्भ्रात्रोरविभक्तमतोऽस्यां द्वयोरपि तुल्यं पितृत्वं तथा च कुशध्वजोऽपि क्षम एतत्प्रदानविषये चिन्तयितुं प्रतिवक्तुं चेत्यत्राह—कुलज्येष्ठ इति । सः सीरध्वजः हि कुलज्येष्ठः वंशे कालतो गुणतश्चाधिकः, स एव प्रभुः स्वामी च । क्षत्रियेषु ज्येष्ठभ्रातुरेव भूम्यधिकारित्वेन क्षेत्रलब्धाया अप्यस्याः प्रतिपादने तस्यैवाधिकृतत्वात्कुशध्वजः कथमपि न प्रतिवचने समर्थ इति भावः ॥ ४१ ॥

विश्वामित्र—(स्वगत) यह समस्त राक्षस संहाररूप वेदका ओंकार है ।

राक्षस—अजी ! आपलोग हमको क्या उत्तर देते हैं ?

विश्वामित्र—इस विषयमें राजा कुशध्वज ही जानते हैं क्योंकि वह कन्याके पिता तथा कुलश्रेष्ठ प्रभु हैं ॥ ४१ ॥

राक्षसः—सोऽप्याह कुशध्वजो जानाति कौशिकश्चेति ।

विश्वामित्रः—(स्वगतम्) अस्यायमवसरो दिव्यास्त्रमङ्गलानां दानस्य वर्तते मङ्गल्यो मुहूर्तः । (प्रकाशम्) सखे कुशध्वज ! यानि हि भगवतः कृशाश्वाद् गुरुचर्याव्रतैरधीतस्य सरहस्यजृम्भकप्रयोगसंहारस्य दिव्यास्त्रमन्त्रपारायणस्य विद्यातत्त्वबीजानि, तानि मत्प्रसादादर्थतः शब्दात्मना च रामभद्रस्य संप्रति प्रकाशन्ताम् ।

सोऽपि = सीरध्वजोऽपि अतश्च तदनुज्ञया कुशध्वजः शक्नोति प्रतिवक्तुमिति राक्षसस्याशयः ।

अस्य = रामस्य । दिव्यास्त्रमङ्गलानाम् = दिव्यास्त्राणि जृम्भकादीनि तान्येव मङ्गलानि कल्याणानि । मङ्गलजनकेषु मङ्गलत्वोपचारोऽनन्यसाधारणत्वेनाव्यभिचारेण च मङ्गलजनकतां गमयितुमायुर्घृतमित्यादिवत् । अवसरः = कालः, मङ्गले साधु मङ्गल्यः = कल्याणकरः । मुहूर्त्तः = समयः । भगवतः = ज्ञानपूर्णात् । कृशाश्वात् = कृशाश्वनाममुनेः । 'आख्यातोपयोगे' इति पञ्चमी । गुरुचर्याव्रतैः = गुरुचर्याः समिदुदकाहरणादयः ताः एव व्रतानि अवश्यानुष्ठेयनियमाः तैः साधनैः अधीतस्य अधिगतस्य । सरहस्यजृम्भकप्रयोगसंहारस्य = रहस्यम्—उपदेशैकगम्यं कवचपञ्जरादिकम् । प्रयोगः = प्रेषणम् , प्रहाररूपम् । संहारः = प्रत्यावर्त्तनम् । रहस्यञ्च जृम्भकप्रयोगसंहारौ चेति रहस्यजृम्भकप्रयोगसंहारास्तैः सहितस्य सरहस्यजृम्भकप्रयोगसंहारस्य । इदं पारायणस्याग्रे वक्ष्यमाणस्य विशेषणम् । दिव्यास्त्रमन्त्रपारायणस्य = दिव्यास्त्रप्रकाशकोपनिषद्भागविशेषाणां समग्रप्रतिपादनस्य । विद्यातत्त्वबीजानि विद्यावस्तुनः प्रधानकारणानि । मत्प्रसादात् = मदनुग्रहात् । अर्थतः = वाच्यभूततत्तद्देवतारूपेण । शब्दात्मना = वाचकशब्दस्वरूपेण । प्रकाशन्ताम् = प्रतिभान्तु प्रत्यक्षीभवन्त्विति यावत् । अहमस्मै रामाय कृशाश्वमुनेस्सकाशादधिगतानि जृम्भकास्त्राणां प्रयोगसंहारसहितरहस्यानि सद्यः प्रदातुमिच्छामि, तानि मदनुग्रहादस्य प्रतिभान्त्विति प्रघट्टकार्थः ।

राक्षस—वे कहते हैं कि कुशध्वज और कौशिक जानते हैं ।

विश्वामित्र—(स्वगत) दिव्यास्त्रप्रदान का इसके लिये यही मङ्गलमय मुहूर्त्त है, (प्रकाश) सखे कुशध्वज ! भगवान् कृशाश्व की आराधना करके रहस्यसमेत जृम्भकास्त्रके प्रयोग उपसंहार आदि विद्यातत्त्व जो मुझे मिले हैं, हमारे अनुग्रहसे वे सभी शब्दतः तथा अर्थतः अब रामभद्रको प्रकाशित हों ।

ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा परःसहस्रं शरदस्तपांसि ।
एतान्यदर्शन् गुरवः पुराणाः स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥ ४२ ॥

राजा—अनुगृहीतं रघुकुलम् ।

लक्ष्मणः—दिष्ट्या देवदुन्दुभिध्वनिः पुष्पवृष्टिश्च ।

राक्षसः—(आत्मगतम्) दिवौकसोऽपि राजविरुद्धमनुतिष्ठन्ति ।

लक्ष्मणः—कथम् ।

झटित्येवोत्तप्तद्रुतकनकसिक्ता इव दिशः
पिशङ्गत्वात्संध्यान्तरित इव निर्भाति दिवसः ।

ब्रह्मादय इति० पुराणाः मुनयः प्राचीनाः वेदार्थतत्त्वज्ञाः ब्रह्मादयः ब्रह्महिताय वेदोपकाराय ब्राह्मणोपकाराय वा परस्सहस्रम् सहस्राधिकाः शरदः हायनानि तपांसि कायक्लेशकराणि यमनियमादीनि तप्त्वा आचर्य तपोमयानि तपस्याप्रसादलब्धानि स्वानि स्वकीयानि तेजांसि तेजोरूपाणि एतानि जृम्भकास्त्राणि अदर्शन् अपश्यन् । ब्रह्मादयः पुराणा मुनयः सुचिरं तपश्चरित्वा जृम्भकास्त्राणि प्रापुरिति भावः ॥ ४२ ॥

अनुगृहीतम् = कृतार्थीकृतम् ।

दिष्ट्या = आनन्दप्रकाशकमिदम् । 'देवदुन्दुभिध्वनिः' इह श्रूयते इत्यध्याहर्त्तव्यम्, 'पुष्पवृष्टिः' इह च पततीति ।

राजविरुद्धम् = रावणप्रतिकूलम् । अनुतिष्ठन्ति = कुर्वन्ति । दिवौकसः = देवाः, दिवौकसोऽपीत्युक्त्या तेषां रावणवशगत्वं गम्यते, तेन च तत्प्रतापातिशयो द्योत्यः ।

झटितीति० दिशः दिगवकाशाः उत्तप्तेन अत्यन्तानलसंयोगमहिम्ना, चलितेन अत एव च द्रुतेन द्रवीभावंगतेन कनकेन सुवर्णेन सिक्ताः इव दृश्यन्त इति शेषः । पिशङ्गत्वात् कपिलवर्णत्वात् दिवसः दिवासमयः सन्ध्यान्तरित इव सन्ध्यारागच्छुरित इव निर्भाति प्रकाशते । दिव्यास्त्रनिचितम् जृम्भकादिदिव्यास्त्राधिष्ठातृदेवता-

---

पुराने गुरु ब्रह्मा आदि ने हजारों वर्षों तक वेदहित की रक्षाके लिये तपस्या करके स्वतपोमय तेजोरूप इन अस्त्रोंको देखा ॥ ४२ ॥

राजा—यह आपका रघुकुल पर अनुग्रह है ।

लक्ष्मण—भाग्यवश देवगण दुन्दुभी बजाते तथा पुष्पवृष्टि करते हैं ।

राक्षस—देवगण भी हमारे राजाके विरुद्ध आचरण करते हैं ?

लक्ष्मण—यह क्या ? द्रुतसुवर्णसे सिक्त की तरह दिशायें पीतवर्ण हो रही हैं, सान्ध्यरागसे युक्तकी तरह दिन पीला पड़ गया है, केतुसमुदायसे पूर्ण की तरह दिव्यास्त्रव्याप्त

ज्वलत्केतुव्रातस्थगितमिव दिव्यास्त्रनिचितं
नभो नैरन्तर्यप्रचलिततडित्पिञ्जरमिव ॥ ४३ ॥

अपि च।

तेजोभिर्दिशि दिशि विश्वतः प्रदीप्तैरादित्यद्युतिमपविध्य विस्फुरद्भिः।
पर्यायत्वरितगृहीतविप्रमुक्तः सामर्थ्यं रहयति नायनो मयूखः ॥ ४४ ॥

कन्ये—समन्ततः प्रज्वलितविद्युत्पुञ्जपिञ्जरेणोद्भ्रमत इव लोचने

भिर्व्याप्तम् नभः आकाशदेशः ज्वलत्केतुव्रातस्थगितमिव दीप्तध्वजसमूहाच्छन्नमिव किञ्च नैरन्तर्यप्रचलिततडित्पिञ्जरम् इव नैरन्तर्येण सर्वतः प्रचलिताभिः विद्युद्भिः पिङ्गलवर्णतां गमितमिव दृश्यत इति शेषः। विश्वामित्रेण यानि जृम्भकास्त्राणि रामाय प्रादायिषत तानि शब्दतोऽर्थतश्च रामस्य प्रत्यक्षीभवन्ति, ज्वलद्रूपाणां तेषां प्रकाशेन दिशो द्रुतकनकसिक्ता इव दिवसः सन्ध्यारागच्छुरित इव नभो ज्वलत्पताकाचयाचितमिव किञ्च प्रतिक्षणप्रतिस्थलप्रचलच्चपलापीतमिव विभातीति चतुर्धात्रोत्प्रेक्षेति सुधीभिर्बोध्यम्। 'कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ' इत्यमरः। 'पिञ्जरं कनके क्लीबं पीतं त्रिषु हये पुमान्' इति रत्नमाला। उत्प्रेक्षाऽत्रालङ्कारः। शिखरिणी-वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा 'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' ॥ ४३ ॥

तेजोभिरि०० दिशि दिशि सर्वासु दिशासु विश्वतः सर्वेषु भूभागेषु प्रदीप्तैः प्रकाशातिशयशालिभिः आदित्यद्युतिम् सूर्यप्रकाशम् अपविध्य प्रतिहत्य विस्फुरद्भिः प्रकाशातिशयं लभमानैः तेजोभिः दिव्यास्त्रद्युतिभिः पर्यायेण क्रमेण त्वरितं शीघ्रतया गृहीतः स्ववशीकृतः विप्रमुक्तः त्यक्तश्च नायनः नेत्रगतः मयूखः दर्शनक्षमरश्मिः सामर्थ्यं पदार्थदर्शनशक्तिं रहयति त्यजति। सर्वासु दिशासु सर्वेषु च भूभागेषु व्याप्त्या वर्त्तमानैर्दिव्यास्त्रतेजोभिः सूर्यभासमप्यधरयद्भिर्नेत्राणां द्युतिः क्रमशस्त्वरया च तथा गृह्यन्ते मुच्यन्ते च यथा नेत्राणि लोकानां पदार्थप्रकाशनविधौ न क्षमन्त इति। प्रकृष्टप्रभापराहतं हि नायनं तेजो न वस्तुप्रकाशे प्रभवतीति प्रायो ज्ञातमेव प्रेक्षावद्भिस्तदनुसारेणैवेयमुक्तिः। 'रह त्यागे' चौरादिको धातुः। नयनस्यायं नायनः, नयनशब्दाच्छैषिकोऽण्। प्रहर्षिणीवृत्तम्, 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति च तल्लक्षणम् ॥ ४४ ॥

समन्ततः = सर्वतः। प्रज्वलितविद्युत्पुञ्जपिञ्जरेण = प्रकाशातिशयशालिचपला-

---

आकाश निरन्तर चलित विद्युत्पूर्ण की तरह दीख रहा है ॥ ४३ ॥

और—सूर्य की प्रभा को छेदकर चमकनेवाले व्यापक तेजसे शीघ्रग्रहीत तथा युक्त नेत्रमयूख सामर्थ्य का त्याग कर रहा है ॥ ४४ ॥

कन्यार्ये—चारों ओर प्रज्वलित विद्युत्पुञ्ज की तरह पीतवर्ण प्रभाप्रवाह आँखों को चकाचौंधमें डाल रहा है।

प्रभापरिस्पन्देन । (समन्तदो पज्जलिदविज्जुप्पुञ्जपिञ्जरेण उब्भमन्ति विश्र लोश्रणाइं प्पहापरिप्पन्देण ।)

राक्षसः—अहो ! दुरासदं दिव्यास्त्रतेजः स्त्यायति । येन रावणपुरंदरद्वन्द्वसंरम्भं स्मारितोऽस्मि ।

सर्वप्राणप्रवणमघवन्मुक्तमाहत्य वक्ष-
स्तत्संघट्टाद्विघटितबृहत्खण्डमुच्चण्डरोचिः ।
एवं वेगात्कुलिशमकरोद्व्योम विद्युत्सहस्रै-
र्भर्तुर्वक्त्रज्वलनकपिशास्ते च रोषाट्टहासाः ॥ ४५ ॥

वलीपिङ्गलवर्णेन । प्रभापरिस्पन्देन = ज्योतिःप्रसरेण । उद्भ्रमतः = लक्ष्ये स्थिरताया अनवाप्त्या यत्र तत्र वृथा सञ्चरतः ।

दुरासदम् = दुर्धर्षम् । संस्त्यायता=उपचीयमानेन । रावणपुरन्दरद्वन्द्वसंरम्भम्= रावणेन्द्रयोर्द्वन्द्वयुद्धम् ।

सर्वप्राणेति॰ सर्वैः प्राणैः बलैः प्रवणेन युद्धोन्मुखेन मघवता इन्द्रेण मुक्तम् रावणमुद्दिश्य विसृष्टम् वक्षः रावणस्य उरोदेशम् आहत्य ताडयित्वा तत्सङ्घट्टात् रावणोरःस्थलसंघर्षात् विघटिताः पृथग्भूताः बृहत्खण्डाः स्थूलशकलानि यस्य तत्तथोक्तम्, किञ्च उच्चण्डरोचिः अतिप्रचण्डतेजस्कम् (इन्द्रस्य) कुलिशम् वज्रम् (कर्तृपदमिदम्) वेगात् शीघ्रम् विद्युत्सहस्रैः स्वशकलात्मकनानाविद्युद्भिः व्योम आकाशम् एवम् यथाऽधुना दिव्यास्त्रतेजोभिः पिञ्जरम् तथा अकरोत्, भर्तुः रावणस्य ते प्रसिद्धाः वक्त्रज्वलनकपिशाः मुखज्वालाकलापपिङ्गलाः रोषाट्टहासाः कोपप्रभवा अट्टहासाः च व्योम एवम् दिव्यास्त्रतेजः पिञ्जरितम् इवाकुर्वन्नित्यन्वयः । राक्षसोऽयमनुपदं दिव्यास्त्रतेजसा इन्द्ररावणद्वन्द्वयुद्धं स्मारितोऽस्मीत्युक्तवांस्तदुपपादनश्लोकस्यास्य शक्रः सर्वात्मनायुध्यमानो रावणजिघांसया वज्रं मुमोच शिलोपमे रावणोरसि लग्नं च तच्छतखण्डतां प्रतिपद्य विद्युत्प्रकाशैः स्वशकलैः समन्ततो दिशः पिञ्जरयामास, क्रोधज्वालाजटालाद्रावणमुखान्निर्गता अट्टहासाश्च तथैव दिशः प्राभासयन्निमानि दिव्यास्त्रतेजांसि वीक्षमाणस्य मम स्मृतिमारोहति तत्तयोर्द्वन्द्वयुद्धमिति भावार्थः । 'देहान्त-

राक्षस—दुर्धर्ष दिव्यास्त्रतेज फैल रहा है, जिसे देखकर रावण और इन्द्रयुद्ध की याद हो रही है।

इन्द्रद्वारा समूची शक्ति लगाकर प्रेरित वज्रने रावणकी छातीपर आघात करके टुकड़े में परिणत होकर आकाशको इसी तरह सहस्र विद्युत्प्रकाशसे आलोकित कर दिया था और रावणके रोषपूर्ण अट्टहासने भी इसी तरह आकाश को प्रकाशित किया था ॥ ४५ ॥

विश्वामित्रः—अभिवन्दस्व रामभद्र ! दिव्यास्त्राणि ।

ब्रह्मेन्द्रद्रविणेशरुद्रवरुणप्राचीनबर्हिर्मरु-
त्कालाग्निव्यतिरेकिणां भगवतामाम्नायमन्त्रात्मनाम् ।
एतेषां तपसामिवाप्रतिहतैस्तेजोभिरुत्कर्षिणा-
मेकैकस्य जगत्त्रयप्रमथनत्राणावधिर्योग्यता ॥ ४६ ॥

(नेपथ्ये)

एष प्रह्वोऽस्मि भगवन्नेषा विज्ञापना च नः ।

रनिले प्राणो जीवात्मपरमात्मनोः । आयुरिन्द्रियसत्त्वेषु' इति रत्नमाला । मन्दाक्रान्ता वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ गौ ययुग्मम्' इति ॥४५॥

अभिवन्दस्व = अभिवादय, 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' । दिव्यास्त्राणां देवतात्वात्तदादरस्यौचित्यादित्थमाज्ञा । दिव्यास्त्राणि प्रणमेत्यर्थः ।

ब्रह्मेन्द्रेति० ब्रह्मा विधाता, इन्द्रः शक्रः, द्रविणेशः कुबेरः, रुद्रः शिवः, वरुणः जलाधिपतिः, प्राचीनबर्हिः कश्चन पुराणः प्रजापतिः, मरुत् वायुः, कालः यमराजः, अग्निः पावकः, एतद्व्यतिरेकिणाम् एतदतिशायिसामर्थ्यवताम् भगवताम् सर्वसामर्थ्ययुक्तानाम् आम्नायमन्त्रात्मनाम् वेदमन्त्रस्वरूपाणाम् (एतेषां जृम्भकास्त्राणाम्) तपसाम् तपश्चर्याणाम् इव अप्रतिरथैः अप्रतिद्वन्द्विभिः तेजोभिः प्रभावैः उत्कर्षिणाम् समृद्धानाम् एतेषाम् दिव्यास्त्राणाम् (मध्ये) एकैकस्य प्रत्येकस्य जगत्त्रयप्रमथनत्राणावधिः जगत्त्रयस्य प्रमथनं विध्वंसः त्राणं रक्षणञ्चावधिः सीमा यस्यास्तादृशी योग्यता शक्तिरस्तीति योजना । ब्रह्मादिदेवगणसामर्थ्यातिशायिसामर्थ्यशालिनामेषां वैदिकमन्त्ररूपाणां दिव्यास्त्राणां तेजस्तपस्तेज इवानुपमं, यथा तपसा सर्वमपि साध्यं तथाऽमीभिरपि, ऐषु प्रत्येकस्येयती शक्तिर्यदेष्वेकमपि जगत्त्रयमेकपदे विनाशयितुं त्रातुञ्च क्षममित्यर्थः । 'प्राचीनबर्हिर्भगवान्महानासीत्प्रजापतिः' इति पुराणरत्नम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४६ ॥

एष इति० भगवान्, एषः अहम् प्रह्वः दिव्यास्त्राणि प्रति प्रणतः अस्मि, नः अस्मा-

विश्वामित्र—रामभद्र, दिव्यास्त्रों की वन्दना करो ।

ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, रुद्र, प्राचीनबर्हि, वायु, काल, अग्नि आदि देवोंसे अधिक प्रतापी वेदमन्त्रस्वरूप इन दिव्यास्त्रोंका तेज तपस्याके तेजकी तरह है, और इनमेंसे हरएककी ऐसी योग्यता है कि त्रिलोकका प्रलय करदे ॥ ४६ ॥

(नेपथ्यमें)

यह मैं प्रणाम करता हूँ, यही हमारी प्रार्थना है कि यह दिव्यास्त्रसंप्रदाय हमें लक्ष्मणके साथ प्राप्त होवे ॥ ४७ ॥

दिव्यास्त्रसंप्रदायोऽयं लक्ष्मणेन सहास्तु मे ॥ ४७ ॥

विश्वामित्रः—रामभद्र ! तथास्तु ।

लक्ष्मणः—अहो प्रसादः ।

झटित्युन्मीलितप्रज्ञमप्रतर्क्यं च शक्तिभिः ।
ज्योतिर्मयमिवात्मानं मन्ये विद्याप्रकाशनात् ॥ ४८ ॥

(नेपथ्ये)

राम राम ! महाबाहो ! वयं त्वय्यायतामहे ।
विश्वामित्राभ्यनुज्ञानात्सह भ्रात्रा प्रशाधि नः ॥ ४९ ॥

कम् च एषा अनुपदवक्ष्यमाणा विज्ञापना प्रार्थना चास्तीति शेषः । प्रार्थनामाह—दिव्यास्त्रेति० अयं दिव्यास्त्रसम्प्रदायः दिव्यास्त्रप्रापणात्मा गुरूपदेशः मे मम लक्ष्मणेन सह अस्तु, अहं लक्ष्मणश्च सहैवोपदिश्येवहि, ममेव लक्ष्मणस्यापि दिव्यास्त्राणि प्रकाशन्तामिति यावत् ॥ ४७ ॥

झटितीति० विद्याप्रकाशनात् रामप्रार्थनानुकूलविश्वामित्रकर्तृकानुग्रहवशजृम्भकादिदिव्यास्त्रमन्त्रप्रकाशीभावात् आत्मानम् स्वम् उन्मीलितप्रज्ञम् उद्भासितमेधम् शक्तिभिः दिव्यास्त्रोपदेशजनितसामर्थ्यैः अप्रतर्क्यम् दुरासदम् इतरविलक्षणमित्यर्थः। अत एव ज्योतिर्मयम् तेजोमयमिव मन्ये पश्यामि । दिव्यास्त्रप्राप्त्या मम शक्तिरतुलेव प्रतिभाति, बुद्धिः प्रखरायते, तेजःपुञ्ज इव चाहं प्रतीये इति तात्पर्यम् ॥ ४८ ॥

रामरामेति० हे राम राम ! महाबाहो महाभुज ! वयम् दिव्यास्त्राणि जृम्भकादीनि विश्वामित्राभ्यनुज्ञानात् विश्वामित्रादेशात् सहभ्रात्रा लक्ष्मणेन त्वयि लक्ष्मणसहिते त्वयि आयतामहे अधीनीभूय वर्त्तामहे । सहभ्रात्रा लक्ष्मणेन सह नः अस्मान् प्रशाधि करणीयमाज्ञापय । इह सहभ्रात्रेति द्विरन्वेति—त्वयि, प्रशाधि इत्यनयोः । स्पष्टमन्यत् । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः ॥ ४९ ॥

विश्वामित्र—रामभद्र ! ऐसा ही हो ।

लक्ष्मण—अहा, बड़ी कृपा ।

एकाएक प्रज्ञा उन्मीलित सी तथा शक्ति असीम हो रही है, इस विद्याके प्रकाशसे मैं अपनेको आलोकमय पा रहा हूँ ॥ ४८ ॥

(नेपथ्यमें)

महाबाहो ! राम ! विश्वामित्रके आदेशसे हम आपके वशवर्त्ती हैं, भाईके साथ आप हमें आदेश दें ॥ ४९ ॥

कन्ये—अहो ! देवता मन्त्रयन्ते । आश्चर्यमाश्चर्यम् । (अहो ! देवदाओ मन्तेन्ति । अच्चरिअं अच्चरिअम्)

(नेपथ्ये)

भगवन्तो दिव्यास्त्रनिकायाः !

विश्वामित्रात्प्राप्य विश्वस्य मित्रात्पुण्यैर्युष्मानद्य रामः कृतार्थः ।
ध्यातैर्ध्यातैः संनिधेयं भवद्भिः स्वं स्वं स्थानं यात यूयं नमो वः ॥५०॥

लक्ष्मणः—आर्यवचनादन्तरितान्यस्त्राणि ।

राजा—भगवन् महाद्भुतनिधे कुशिकनन्दन ! नमस्ते ।

ज्वलिततपसस्तेजोराशेर्जगत्यमितौजस-
स्तव निरवधौ माहाभाग्ये कृतस्तुतिसाहसः ।

मन्त्रयन्ते = भाषन्ते, देवानां भाषणमाश्चर्यकरं देवानां मन्त्रात्मकत्वादित्यर्थः । दिव्यास्त्रनिकायाः=दिव्यास्त्रसमुदायाः, सम्बोधनमिदम्, तदुद्देशेनैवाग्रे वक्ष्यमाणत्वात् ।

विश्वामित्रादिति० **अद्य रामः अहम् पुण्यैः सुकृतैः विश्वस्य जगतः मित्रात् हितचिन्तकात् विश्वामित्रात् वः युष्मान् प्राप्य अधिगत्य कृतार्थः सिद्धाभिलाषः जात इति शेषः । भवद्भिः युष्माभिः ध्यातैर्ध्यातैः समये समये स्मृतैः सन्निधेयम् मदन्तिके समुपस्थेयम् । यूयम् (सम्प्रति) स्वं स्वम् आत्मनः आवासम् निवासस्थानम् यात गच्छत । वः युष्मभ्यम् नमः प्रणतिरस्त्विति शेषः । विश्वामित्रपदे 'मित्रे चर्षौ' इति दीर्घः । शब्दस्वभावात्पुंस्त्वम् । 'आख्यातोपयोगे' इति विश्वामित्रादिति पञ्चमी ॥ ५० ॥**

आर्यवचनात् = रामादेशात् । अन्तरितानि = तिरोहितानि ।

महाद्भुतनिधे = आश्चर्यनिधान ।

ज्वलितेति० **ज्वलिततपसः उज्ज्वलतपस्यस्य तेजोराशेः प्रतापाश्रयस्य जगति धरणीमण्डले अमितौजसः अनन्तबलस्य अपरिमेयसामर्थ्यशालिनो वा तव निरवधौ**

कन्यायें—अहो ! देवतायें बोल रही हैं । आश्चर्य है ।

(नेपथ्यमें)

भगवन् दिव्यास्त्रनिकाय !

संसारके हितेच्छु विश्वामित्रकी कृपासे आपको प्राप्तकर हम कृतार्थ हैं, ध्यान करने पर आप उपस्थित हों, इस समय आप जांय, आपको प्रणाम ॥ ५० ॥

लक्ष्मण—आर्यके कहनेसे दिव्यास्त्र चले गये ।

राजा—आश्चर्योंके निधान कुशिकनन्दन ! नमस्कार ।

तीव्रतपोयुक्त, तेजोराशि, अमितपराक्रम आपकी महाभागताकी स्तुति करनेमें साहस

प्रमितिविषयां शक्तिं विन्दन्न वाचि न चेतसि
प्रतिहतपरिस्पन्दः स्तोता विपद्य घृणीयते ॥ ५१ ॥

तत्स्पृहयामि युष्मदनुगृहीतरामभद्रालंकृताय दशरथाय राज्ञे। वयं पुनरार्येण वञ्चिता यदीदृशेन जामात्रा न संयुज्यामहे।

विश्वामित्रः—किमद्याप्यसंभावनेयमस्मासु।

अनन्ते माहाभाग्ये महामहिमशालितायां विषये कृतस्तुतिसाहसः साहसं कृत्वा स्तुतये प्रवर्तमानः वाचि वचने चेतसि च प्रमितिविषयां यथार्थज्ञानविषयिकां शक्तिं न विन्दन् न लभमानः अत एव च प्रतिहतपरिस्पन्दः उपहतारम्भः स्तोता विपद्य असाफल्यरूपां विपत्तिं प्राप्य घृणीयते लज्जते। भवान् महोज्ज्वलतपाः, तेजसां राशिः, संसारेऽपरिमेयसामर्थ्यश्च, भवतोऽनन्तं महत्त्वं स्तोतुं यदि कोऽपि साहसं कृत्वा प्रवर्त्तेत तदा तस्य वाक् यथार्थज्ञानाभावात्स्तुत्यस्याशक्तेव जायेत, चेतोऽपि स्तोतव्यविषयकप्रमित्यात्मकज्ञानाभावेन निर्बलमिव प्रतिभायात्तदस्यां स्थितौ तस्य स्तोतुरारम्भप्रयासो वन्ध्य इति स्यात्कर्त्तव्यस्य वाधापराहतत्वेन च स्तोता विपत्तिमिवानुभूय लज्जेतेति सरलार्थः। 'घृणिङ्रोषणे लज्जायां च' इत्यतः कण्ड्वादिभ्यो यक्, दीर्घश्च। हरिणीवृत्तम्—'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति च तल्लक्षणम्॥

तत् = तस्मात्। युष्माभिरनुगृहीतेन = भवद्भिर्दिव्यास्त्रप्रदानादिस्वकृपापात्रीकृतेन, रामभद्रेण = रामचन्द्रेण, अलङ्कृताय शोभिताय, तेन पुत्रवत इति भावः। दशरथाय राज्ञे स्पृहयामि = सङ्गन्तुमिच्छामि तेनेत्यर्थः। 'स्पृहेरीप्सितः' इति चतुर्थी। आर्येण = जनकेन राज्ञा। वञ्चिताः = सौभाग्यमीदृशमवाप्तुं निरुद्धाः। अयमाशयः—धन्यो दशरथो यस्यैतादृशास्तनया येभ्यो भवन्त एवं कृपां कुर्वते, यदि कथञ्चित् तमीक्षेय, आर्यो जनकः शिवधनुरारोपणं प्रतिज्ञाय तेन सह सम्भविनः सम्बन्धस्य द्वारमेव न्यरौत्सीत्, यदि तेन तथा पणो न कृतोऽभविष्यत्तदा रामोऽस्माकं जामाता दशरथश्च संबन्धी जायेतेति प्रघट्टकार्थः।

असम्भावना किम् = रामो जामाता भविष्यतीति सम्भावना नास्ति किम्? ताटकां हतवता रामेण हरचापारोपणमपि सुकरमतो नास्ति तादृश्यसम्भावनेति भावः।

करनेवाला स्तोता अपनी वाणीमें शक्ति न पाकर प्रवृत्तिके विफल होनेसे विपन्न हो लज्जित होता है॥ ५१॥

आपसे अनुगृहीत रामभद्रसे युक्त दशरथके सौभाग्यकी तरस होती है। हम लोगोंको तो आर्यने वञ्चित कर दिया है कि ऐसे जामाताको नहीं प्राप्त कर रहा हूँ।

विश्वामित्र—क्या अब भी यह असंभावना है हमलोगोंमें।

राजा—नहि नहि ।

विश्वामित्रः—

शंभोर्वरादनुध्यानमात्रोपस्थानदायि वः ।
रामभद्रस्य पुरतः प्रादुर्भवतु तद्धनुः ॥ ५२ ॥

राजा—एवमस्तु । (ध्यात्वा प्रणमति)

राक्षसः—(स्वगतम्) एभिरन्यदेव किमपि प्रस्तुतम् । (प्रकाशम्) प्रभो कुशध्वज ! कियच्चिरमनादृतोऽस्मि ।

राजा—उक्तमेतत्सीरध्वजो जानातीति ।

(नेपथ्ये कलकलः)

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।

शम्भोरिति० शम्भोः रुद्रस्य वरात् प्रसादात् वः युष्माकम् अनुध्यानमात्रोपस्थानदायि स्मरणमात्रेणोपस्थातुं वाधितम् तत् शैवम् धनुः रामभद्रस्य पुरतः प्रादुर्भवतु सन्निधत्ताम् । महादेवेन प्रसद्य भवद्भयो वरोदत्तो यद्यदा स्मरिष्यते तदा सन्निधास्यति धनुरिदं तदुपतिष्ठतु तद्धनुरस्य रामस्य पुरतः सिद्धयतु च तव मनोरथ इति तात्पर्यम् ॥ ५२ ॥

एभिः = विश्वमित्रादिभिः । अन्यदेव = अस्मद्विरुद्धमेव । प्रस्तुतम् = कर्त्तुमारब्धम् । कियच्चिरम् = कियन्तं कालं यावत् । चिरमित्यर्थः । अनादृतः = प्रतिवचनाप्रदानेनासत्कृतः ।

स्फूर्जदिति० त्रिपुरान्तकृत् त्रिपुरासुरविनाशकम् दिविषदाम् देवानाम्ते जोभिः प्रभावैः इद्धम् दीप्तिशालि (अतश्च) स्फूर्जद्भिः प्रकाशमानैः वज्रसहस्रैः बहुभिः

राजा—नहीं, नहीं ।

विश्वामित्र—शिवके वरदानसे ध्यानमात्रद्वारा उपस्थित होनेवाला वह धनुष रामके सामने आवे ॥ ५२ ॥

राजा—एवमस्तु । (ध्यान करके प्रणाम करता है)

राक्षस—(स्वगत) इनलोगोंने तो कुछ दूसरा ही ठान लिया । (प्रकाश) प्रभो कुशध्वज ! कब तक अनादृत्य रहूंगा ?

राजा—कह तो दिया कि राजा सीरध्वज जानते हैं ।

(नेपथ्य में कलकल)

चमकदार हजार वज्रोंसे निर्मित तेजोयुक्त शिवधनुष रामके सामने प्रकट हो रहा है ।

सीता—(स्वगतम्) सांप्रतं संशयितास्मि । (संपदं संसइदह्मि)

राजा—

शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-

स्तस्मिन्नाहित एव—

ऊर्मिला—अपि नामैतद्भवेत् । (अवि णाम एदं भवे)

राजा—

—गर्जितगुणं कृष्टं च—

ऊर्मिला—(हृष्टां लज्जितां सीतामालिङ्ग्य) दिष्ट्या वर्धामहे । (दिट्ठिआ वड्ढामो ।

राजा—(साद्भुतम्)

—भग्नं च तत् ॥ ५३ ॥

राक्षसः—(स्वगतम्) अहो ! दुरात्मनो रामहतकस्य सर्वंकषः प्रभावः ।

कुलिशैः निर्मितम् घटितमिव (शैवमेतत्) धनुः चापम् रामस्य अग्रतः पुरोदेशे प्रादुर्भवति उपतिष्ठति ॥ ५३ ॥

संशयिता = सन्दिहानचित्ता । रामस्तदारोपयिष्यति नवेति सन्देहवतीत्यर्थः ।

शुण्डार इति० कलभेन करिशावकेन अचले पर्वते शुण्डारः लघुः शुण्डादण्डः यद्वत् (आधीयते स्थाप्यते तद्वत्) तस्मिन् धनुषि दोर्दण्डकः स्वीयो लघुहस्तः आहित एव स्थापित एव । शुण्डारशब्दे 'कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः' इति रः, स चाल्पार्थे। दोर्दण्डक इत्यत्राप्यल्पार्थे कन् ।

गर्जितगुणमिति० गर्जितः सशब्दः गुणः प्रत्यञ्चा यत्र तद् यथा तथा कृष्टम् आकृष्टम् आरोपितम् च धनुरिति शेषः ॥ ५३ ॥

सर्वङ्कषः = सर्वविजयी, 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' इति कषतेः खश् । प्रभावः = सामर्थ्यम् । ताटकावधहरधनुरारोपणाभ्यां रामप्रतापस्य सर्वतोमुखत्वं समर्थितं तदाधारेणेयमुक्तिः । रामहतकस्य = दुरात्मनो रामस्य ।

सीता—(स्वगत) अब संशयमें पड़ गई हूँ ।

राजा—जिस प्रकार हाथीका बच्चा पर्वतपर शुण्डादण्ड रखता है उसी तरह इन्होंने धनुषपर बाण चढ़ा दिया ।

ऊर्मिला—यदि ऐसा हो जाय ।

राजा—प्रत्यञ्चा खींचकर चढ़ा दिया ।

ऊर्मिला—(प्रसन्न सीतासे लिपटकर) बहुत प्रसन्न हैं ।

राजा—(सस्नेह चकित !) वह टूट भी गया ॥ ५३ ॥

राक्षस—(स्वगत) अहो ! दुष्ट रामभद्रका कितना सर्वातिशायी प्रभाव है ।

लक्ष्मणः—दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमितब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥

राजा—(सहर्षोन्माद इव)
एह्येहि वत्स रघुनन्दन रामभद्र !
चुम्बामि मूर्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् ।

दोर्दण्डेति० दोर्दण्डाभ्याम् बाहुदण्डाभ्याम् अञ्चितस्य आकृष्टस्य चन्द्रशेखरधनुर्दण्डस्य शिवशरासनस्य अवभङ्गेन द्विधा भङ्गेन उद्यतः उत्पन्नः, आर्यस्य रामचन्द्रस्य बालचरितानाम् बाल्यावस्थाविधेयतत्तदद्भुतकार्याणाम् प्रस्तावनायाम् उपक्रमे डिण्डिमः प्रारम्भसूचको मङ्गलवाद्यविशेषस्वरूपः टङ्कारध्वनिः धनुरारोपणजन्मा टङ्कारशब्दः द्राक् झटिति पर्यस्ताभ्याम् क्षिप्ताभ्याम् कपालसम्पुटाभ्याम् ऊर्ध्वकटाहाधःकटाहाभ्याम् मितम् परिमितप्रदेशम् ब्रह्माण्डभाण्डम् ब्रह्माण्डरूपं पात्रम् तस्य उदरे अन्तराले भ्राम्यत्पिण्डितः स्तूपकारेणैकत्रीभूतः चण्डिमा प्रखरता यस्य तादृशः सन् अहो कथम् अद्यापि अधुनाऽपि न विश्राम्यति शाम्यति। रामेण बाहुभ्यां धनुराकृष्टं, तेन तद्भग्नम्, ततः प्रभवन् शब्दस्तदनुष्ठेयतत्तदद्भुतकार्याणां प्रस्तावनेव प्रतीतः, स च शब्दो द्यावापृथिव्योरन्तरालं व्याप्य स्वचण्डिमानं विस्तारितवानथाद्यापि तदुपशमो न कथं भवतीति लक्ष्मणस्य विस्मयः। अत्र ब्रह्माण्डस्य भाण्डतया रूपणं द्विधा विभागं प्रतीङ्गितं करोति, तदुक्तं मनुना—'तस्मिन्नन्ते स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्। स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥ ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिञ्च निर्ममे। मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानञ्च शाश्वतम्' ॥ इति ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५४ ॥

सहर्षोन्मादः = हर्षातिरेकजनितश्चित्तविभ्रमः हर्षोन्मादः, तेन सहितः सहर्षोन्मादः। कदाचिदतिदुर्लभस्य वस्तुनोऽकस्माल्लाभे जाते लब्धुर्मनःस्थितिर्व्युत्क्रमं भजते तमेवात्रोन्मादमिच्छन्ति।

एह्येहीति० वत्स शिशो ! रघुनन्दन रघुकुलतिलक ! रामचन्द्र ! एहि एहि आगच्छ संभ्रमे द्विरुक्तिः। त्वाम् मूर्द्धनि शिरोदेशे चुम्बामि चिराय परिष्वजे आलिङ्गामि,

लक्ष्मण—बाहुदण्डसे आकृष्ट चन्द्रशेखरके धनुषदण्डसे प्रादुर्भूत यह टङ्कार शब्द रामके बालचरित की भूमिका के रूपमें वर्त्तमान है, समस्त ब्रह्माण्डको पूर्णकर उग्रता धारण करनेवाला यह टंकार शब्द क्यों अब भी नहीं शान्त हो रहा है ? ॥ ५४ ॥

राजा—(हर्षोन्मादके साथ) आओ, वत्स राम ! आओ, हे रघुनन्दन रामभद्र ! तुम्हें

आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥ ५५ ॥

(प्रविश्य)

रामः—कथमतिवात्सल्याद्तिक्रामति प्रसङ्गः ।

विश्वामित्रः—राजन् ! गुरुर्भवान् । गर्भरूपश्च ते वत्सो रामभद्रः ।

राजा—(प्रणम्य) भगवन् !

रामेण पत्या सीतायाः पूर्णा युष्माकमाशिषः ।
अस्मिन्नेवोत्सवे दत्ता लक्ष्मणाय मयोर्मिला ॥ ५६ ॥

सर्वमेतत् मूर्धचुम्बनचिरालिङ्गनादि प्रगाढप्रेमपरिचयप्रदम् । ते तव चरणपुष्करकद्वयम् चरणपङ्कजयुगलम् हृदि आरोप्य उरोदेशेऽवस्थाप्य दिवानिशम् सततम् उद्वहामि धारयामि, अथवा ते तव चरणपुष्करकद्वयम् वन्दे प्रणयामि । अत्र हर्षान्मूर्ध्नि चुम्बनादिकम्, उन्मादाच्च चरणोद्वहनम् उक्तम् । वसन्ततिलकं वृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ५५ ॥

अतिवात्सल्यात् = अतिस्नेहात् । अतिक्रामति = सीमानमतिवर्त्तते । वृद्धस्य कुशध्वजस्य मदीयचरणप्रणामेच्छाप्रकाशनं सीमातिक्रमः स्नेहबाहुल्यकृतः स नोचित इति भावः । प्रसङ्गः = प्रकृतो वचनव्यापारः ।

गुरुः = श्रेष्ठः वयसा गौरवेण च पितृतुल्य इत्यर्थः । गर्भरूपः = पुत्रतुल्यः । अतश्च तव तथोक्तिर्नौचित्यं प्रतिपद्यत इति भावः ।

रामेणेति० रामेण पत्या स्वामिना (जातेन) युष्माकम् भवादृशानां पूज्यानाम् आशिषः शुभाशंसाः पूर्णाः सफला जाताः । रामे सीतापतौ जाते भवतामाशिषश्चारितार्था जाता इति भावः । अस्मिन् रामसंप्रदानकसीताप्रदानरूपात्यभीष्टवस्तुलाभात्मनि उत्सवे प्रमोदे मया ऊर्मिला नाम स्वकन्या लक्ष्मणाय दत्ता वाग्दत्ता इत्यर्थः ॥

चूमूं और चिरकाल तक गले लगाऊं । अथवा छातीसे दिनरात लगाये रहूँ या तुम्हारे चरणकमलों की बन्दना करूं ॥ ५५ ॥

(प्रवेशकर)

राम—अतिस्नेहसे औचित्यका अतिक्रमण हो रहा है ।

विश्वामित्र—राजन् ! आप गुरुजन हैं, राम तो आपका पुत्रतुल्य है ।

राजा—(प्रणामकर) भगवन् !

रामके सीतापति हो जानेसे आपके आशीर्वाद सफल हुए, इसी उत्सवमें मैं लक्ष्मणको ऊर्मिला दे रहा हूँ ॥ ५६ ॥

कन्ये—(सास्रम्) अहो ! दत्ते स्वः । (अह्मो ! दिण्णं ह्म)

राक्षसः—दृष्टं चैतद्द्रष्टव्यम् ।

विश्वामित्रः—सुष्ठुतरं बहुमन्यामहे । वक्तव्यशेषस्त्वस्ति ।

राजा—नन्वाज्ञापय ।

विश्वामित्रः—दुहितरौ माण्डवी श्रुतकीर्तिश्च ते च भरतशत्रुघ्नाभ्यामभ्यर्थये ।

राक्षसः—(स्वगतम्) तपस्यतो वनेचरस्य सतः क्षत्रियकुटुम्बवैयात्यं ब्राह्मणस्य ।

राजा—किमत्र किंचिद्विचार्यमस्ति । किं त्वत्र वस्तुनि परवानस्मि ।

विश्वामित्रः—केन ।

एतत् = रामाय सीताप्रदानम् । द्रष्टव्यपदमत्र विपरीतलक्षणया नितान्तानभीष्टत्वमाह । सुष्टुतरम् = अतिसुन्दरम्, लक्ष्मणायोर्मिलाप्रदानं नितान्तोपयुक्तमित्याशयः । वक्तव्यशेषः = अवशिष्टं वक्तव्यम् ।

भरतशत्रुघ्नाभ्याम् = ताभ्यां प्रदातुमिति शेषः ।

तपस्यतः = तपोनिरतस्य । वनेचरस्य = संसारत्यागपूर्वकमरण्ये वसतः । क्षत्रियकुटुम्बवैयात्यम् = क्षत्रियाणां गृहकृत्ये धृष्टता । वनस्थस्तपस्वी च भूत्वा यदयं विश्वामित्रोऽमीषां जनकानां रघूणां च पुत्रीणां पुत्राणां च विवाहान् घटयितुं बद्धपरिकरस्तदस्य धृष्टत्वमतएव चात्यन्तनिन्द्यमित्याशयः ॥

किमत्र किञ्चिद्विचार्यमस्ति ? = माण्डवीश्रुतकीर्त्ती भरतशत्रुघ्नाभ्यां प्रदेये इत्यत्रार्थे चिन्तनीयं किमपि नास्ति, अर्थस्यास्य सम्यक्तया सर्वानुमोद्यत्वादिति भावः । अत्र वस्तुनि = इह विषये । परवान् = पराधीनः । 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः ।

कन्यायें—(रोकर) अहो ! हम दोनों दे दी गईं ।

राक्षस—यह दृश्य तो देख लिया ।

विश्वामित्र—ठीक है, मैं इसका समर्थन करता हूँ । कुछ और कहना है ।

राजा—आज्ञा दें ।

विश्वामित्र—आपकी कन्या माण्डवी को भरत के लिये तथा श्रुतकीर्त्ति शत्रुघ्नके लिये मांगता हूं ।

राक्षस—(स्वगत) ब्राह्मण वनवासी तपस्वीका क्षत्रियकुटुम्बके लिये इतनी धृष्टता !

राजा—क्या इसमें कुछ विचार करना है ? किन्तु मैं इस विषय में पराधीन हूँ ।

विश्वामित्र—किससे ?

राजा—एकेन तावद्भगवतैव ।

विश्वामित्रः—अथान्येन केन ।

राजा—आर्यसीरध्वजेन गौतमेन शतानन्देन च ।

विश्वामित्रः—सीरध्वजशतानन्दयोरहमावेदयिता ।

राजा—भवानिदानीं जानाति ।

जनकानां रघूणां च संबन्धः कस्य न प्रियः ।
यत्र दाता ग्रहीता च कल्याणप्रतिभूर्भवान् ॥ ५७ ॥

विश्वामित्रः—(आकाशे) वत्स शुनःशेप ! अयोध्यां गत्वा ब्रूहि भगवन्तमस्मद्वचनाद्वसिष्ठम् ।

अहमावेदयिता = प्रबोधकः । अत्रार्थे यदि सीरध्वजशतानन्दौ सहमतौ न भविष्यतस्तदाऽहं तौ प्रबोधयिष्यामि, येन त्वदङ्गीकृतं सम्बन्धं तावप्यनुमोदयिष्यतोऽतस्त्वमत्रानुमन्यस्वेत्यर्थः ।

जनकानामिति० जनकानाम् विदेहवंश्यानाम् रघूणाम् रघुकुलजातानाम् च संबन्धः विवाहादिरूपः कस्य न प्रियः अभिमतः ? तुल्यकुलत्वेन निर्दोषतया ख्यातत्वेन च को हि जनोऽनयोर्वंशयोः सम्बन्धं न प्रशंसेदित्यर्थः । प्रशंसायाः कारणान्तरमाह—यत्रेति० यत्र यस्मिन् सम्बन्धे कल्याणप्रतिभूः कल्याणस्य लोकमङ्गलस्य प्रतिभूः मध्यस्थः (यः कल्याणमुन्मुखयति) भवान् दाता ग्रहीता स्वीकर्त्ता च भवतीति शेषः । जनकरघुकुलयोर्द्वयोरपि शुभचिन्तकस्य भवतो मध्यस्थत्वे जायमानोऽनयोः सम्बन्धः सर्वजनप्रियः स्यादेवेति भावः । 'द्वयोर्विवादे मध्ये विश्वासार्थं यस्तिष्ठति स प्रतिभूः' इति शाब्दिकाः ॥ ५७ ॥

'आकाशे' = 'शुनःशेप' नामकस्य पात्रस्याप्रविष्टत्वादाकाश इत्युक्तम् , तदुक्तम्—'अप्रविष्टैः सहालापे भवेदाकाशभाषितम्' इति ।

अस्मद्वचनात् = विश्वामित्रोक्तिरियमिति प्रथमं कथयित्वा ।

राजा—एक तो आपसे ही ।

विश्वामित्र—और किससे ?

राजा—आर्य सीरध्वज तथा गौतम शतानन्दसे ।

विश्वामित्र—सीरध्वज और शतानन्दसे मैं कह दूंगा ।

राजा—अब आप जानें—

जनकों तथा रघुवंशियों का सम्बन्ध किसे नहीं अच्छा लगेगा, जिसमें कल्याण निधान आप ही दाता तथा ग्रहीता दोनों हों ॥ ५७ ॥

विश्वामित्र—(आकाशमें) वत्स शुनःशेप ! तुम अयोध्या जाकर हमारी ओर से भगवान् वसिष्ठसे कहना—

एताश्चतुर्भ्यो रघुनन्दनेभ्यो निमेर्गृहे राजसुताश्चतस्रः।
वसिष्ठवद्गौतमवच्च भूत्वा दत्ताः प्रतीष्टाश्च समं मयैव ॥ ५८ ॥

तदुपमन्त्र्य सर्वान्ब्रह्मर्षीन्महाराजदशरथानुयातो वैदेहनगरीमागच्छ। राज्ञो यज्ञपरिसमाप्तौ विततगोदानमङ्गलाः कुमाराः परिणेष्यन्तीति।

कुमारौ—प्रियात्प्रियतरं नः।

कन्ये—दिष्ट्या अविप्रवास इदानीं भगिनीनां भविष्यति। (दिट्ठिआ अविप्पवासो दाणिं भइणीआणं भविस्सदि)

राक्षसः—अद्यापि भोः! शृणुत धर्माक्षराणि। अनर्थ एष यत्कन्येयमन्यस्मै दीयत इति।

एता इति० निमेर्गृहे जनकभवने एताश्चतस्रो राजसुताः 'सीता ऊर्मिला माण्डवी श्रुतकीर्त्तिश्च'ति ख्याताः नृपकन्याः चतुर्भ्यः रघुनन्दनेभ्यः रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ननामकांश्चतुरो राजपुत्रानुद्दिश्य वसिष्ठवद्भूत्वा मया प्रतीष्टाः प्रतिगृहीताः समं तुल्यकालमेव गौतमवत् गौतमतनयशतानन्दवद्भूत्वा दत्ताश्च। अहं शतानन्दोभूत्वा रामाद्युद्देशेन कन्या इमा दत्तवान्, वसिष्ठश्च भूत्वा गृहीतवान् इति भावः ॥ ५८ ॥

उपमन्त्र्य=निमन्त्रणद्वाराऽऽकार्य। महाराजदशरथानुयातः=दशरथेन सह।

राज्ञः=सीरध्वजस्य। यज्ञपरिसमाप्तौ=प्रारब्धयज्ञावसाने। विततगोदानमङ्गलाः= विहितगोदानसंस्काराः, स चायं संकारो विवाहपूर्वसम्पाद्यः, तथा च कालिदासः— अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्त्तयद् गुरुः' इति।

प्रियात् प्रियतरं नः= पित्रादेरुपस्थितौ चतुर्णामपि भ्रातॄणां सहविवाह इति महत् प्रियमिति भावः।

अविप्रवासः=सहवासः, भिन्नदेशेषु विवाहे एकत्रावस्थानं न सम्भवेत्तद् भयमधुना दूरंगतमेकत्र विवाहस्य जायमानत्वादिति भावः।

धर्माक्षराणि = धर्मयुक्तानि वचनानि। अनर्थः=विपदुपनिपातः। अन्यस्मै=रावणं याचकं विहाय भिन्नाय।

ये चारों कन्यायें, जो जनक के गृहमें हैं, रघुनन्दन चतुष्टयके लिये हमने गौतम बन कर दी तथा वसिष्ठ बनकर ली है, ये दोनों काम हमने साथ ही किये हैं ॥ ५८ ॥

इसलिये सभी ब्रह्मर्षियोंको निमन्त्रितकर दशरथको साथ लेकर आप मिथिला पधारें, राजाके यज्ञके समाप्त हो जाने पर कुमारों का गोदान कर दिया जायगा और उनकी शादियाँ कर दी जायेंगी।

दोनों कुमारों—हमारा अत्यन्त प्रिय है।

कन्यायें—भाग्यवश हम लोगोंको अलग नहीं होना पड़ेगा।

राक्षस—आज भी इस धर्माक्षरको आपलोग सुन लें, यह अनर्थ हो रहा है कि यह कन्या दूसरे को दी जा रही है।

पौलस्त्यो विनयेन याचत इति श्लाघ्येऽपि योऽनादरः
संबन्धे सति यत्त्रिलोकपतिना सौख्यं न तत्र स्पृहा।
गन्तव्या पुनरन्यथैव नियतं लङ्का च यत्सीतया
तन्माभूदिह वः पुरन्दरपुरीबन्दिप्रसक्तो विधिः ॥ ५९ ॥

(नेपथ्ये कलकलः)

रामः—
तत्काववकालपर्जन्यभीमौ वृन्देन धावतः।

विश्वामित्रः—
एतौ सुबाहुमारीचौ पुत्रौ सुन्दोपसुन्दयोः ॥ ६० ॥

पौलस्त्य इति० पौलस्त्यः पुलस्त्यपौत्रो रावणः विनयेन नम्रभावेन याचते प्रार्थयते इति अत्रार्थे श्लाघ्ये प्रशंसनीये अपि यः अनादरः अग्राह्यताबुद्धिः, त्रिलोकपतिना लोकत्रीस्वामिना रावणेन सम्बन्धे जामातृश्वशुरभावे सति यत् सौख्यम् सुखं तत्र न स्पृहा अनिच्छा। पौलस्त्यपौत्र इति शुद्धवंशसम्भवः, विनयेन याचते इत्यनुद्धताचारतयाऽप्रतिषेध्यत्वम्, त्रिलोकपतिनेति कन्यासुखसम्भावना, एषु कारणेषु सत्स्वपि तत्र योऽनादरो या वाऽनिच्छा तत्र किं कारणमिति नावगम्यत इति पादद्वयार्थः। अथास्तां सर्वगुणसञ्चयो रावणे, मदाग्रह एव प्रतिषेधहेतुरिति चेत्तत्राह—सीतयाऽन्यथा रावणाय प्रदानाभावेऽपि लङ्का नियतम् निश्चयेन गन्तव्या उपसर्पणीया एव, तदेवं भवतामाग्रहो दुराग्रहमात्रपर्यवसायिताया भवतामेवानिष्टं जनयेदित्याह—तदिति० वः युष्माकम् पुरन्दरपुरीबन्दिप्रसक्तः देवनगरीबन्दिनां विषये लग्नः विधिः व्यवहारः माभूत् माजायताम्। भवतामेवंविधे दुराग्रहे सीताया अन्यस्मै दाने जातेऽपि बलाद्धरणात्सीता लङ्कालङ्कारतामुपैष्यत्येव, केवलमेतद्दुराग्रहजनितरावणक्रोधभाजनतया भवन्तो वन्दीभूय देवा इव स्वर्गवन्दिनः स्थास्यन्ति तन्मा भूत्, तदस्ति समयः, तन्मम धर्माक्षराणि शृणुतेति सारांशः। शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम्॥

तत्काविति० अकालपर्जन्यभीमौ असामयिकमेघभयङ्करौ कौ किन्नामकौ एतौ वृन्देन

रावण नम्रतापूर्वक याचना कर रहा है इस प्रशंसायोग्य कार्यके प्रति अनादर कर रहे हैं, सम्बन्ध हो जाने पर त्रिलोकपतिसे मैत्री हो जायगी, इसकी स्पृहा नहीं हो रही है। सीताको प्रकारान्तरसे भी लङ्का जाना ही होगा, यहाँ इन्द्रपुरी की बन्दियों के साथ होनेवाली घटना नहीं हो ॥ ५९ ॥

(नेपथ्यमें कलकल)

राम—अकालमेघकी तरह यह कौन दौड़ता आरहा है ?

विश्वामित्र—ये सुन्दोपसुन्दके पुत्र सुबाहु तथा मारीच हैं ॥ ६० ॥

तद्वत्सौ ! हन्यतामेष यज्ञप्रत्यूहः ।

कुमारौ—यदाज्ञापयति । (इति विकटं परिक्रामतः)

कन्ये—अत्रेदानीं कथम् । (एत्थ दाणिं कहम्)

राक्षसः—

हन्त साध्विव संपन्नं विपर्यस्तो विधिर्भवेत् ।
तद्वीक्ष्य कार्यपर्यन्तं माल्यवत्युपवेदये ॥ ६१ ॥

राजा—(धनुरास्फालयन्) वत्स रामभद्र ! वत्स लक्ष्मण ! अप्रमत्तः प्रमत्तं विजयस्व । अयमहं परागत एव ।

सैन्यसमूहेन (सह) धावतः त्वरितपदन्यासं प्रसर्पतः ? प्रश्नोऽयम् । तदुत्तरमग्रे वक्ष्यति विश्वामित्रः-एताविति० स्पष्टोऽर्थः ॥ ६० ॥

यज्ञप्रत्यूहः = यागविघ्नभूतः ।

विकटम् = उद्धतपदन्यासम् ।

अत्रेदानीं कथम् ? = ताटका हि स्त्रीत्वादप्रयासविशेषं हता, पुंसोरनयोर्विषये कथं भवतीति कन्ययोश्चिन्ताऽत्र व्यज्यते ।

हन्तेति० हन्तेति हर्षसूचकम्, साधु मदभीष्टम् सम्पन्नमिव जातमिव सुबाहुमारीचाभ्यां रामे निश्चयेन हन्यमाने सीतायाचनायाः फलवत्त्वावश्यंभवादभीष्टसिद्ध्याशा बोध्या, विधिः यज्ञानुष्ठानम् विपर्यस्तः विध्वस्तः भवेत्, सुबाहुमारीचाभ्यां रामस्य पराभवे पूर्वोक्तं सर्वमन्यथा स्यादिति भावः । तत् तस्मात् कार्यपर्यन्तम् सुबाहुमारीचकृताक्रमणसाध्यफलावधि वीक्ष्य माल्यवति तदाख्ये रावणकनिष्ठमातामहे उपवेदये निवेदये । अत्र माल्यवत्युपवेदये इत्यनेनोत्तराङ्कादौ प्रवेक्ष्यतो माल्यवत्पात्रस्य सूचितत्वादङ्कमुखं नामार्थोपक्षेपकमुक्तम् , यथोक्तम्—'अङ्कान्तपात्रेणार्थस्य उत्तराङ्कस्य सूचनात्' इति ॥ ६१ ॥

अप्रमत्तः = सावधानः, प्रमत्तम् = अनवहितम् । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । परागतः=सहानुयातः ॥

वत्स ! इन्हें मारो । ये यज्ञके प्रतिबन्धक हैं ।

दोनों कुमार—जो आज्ञा । (जोरोंसे दौड़ते हैं)

कन्यायें—यहाँ अब क्या होगा ?

राक्षस—ठीक हुआ, अब सब किया कराया चौपट हो जायगा । इसलिये इस कार्यका अन्ततक देखकर माल्यवान्‌से निवेदन करें ॥ ६१ ॥

राजा—(धनुष चढ़ाकर) वत्स राम ! वत्स लक्ष्मण ! सावधान होकर इन दुष्टोंको जीतना । मैं आ ही रहा हूँ ।

विश्वामित्रः—(विहस्य)

राजन्नितो ह्येहि सहानुजस्य रामस्य पश्याप्रतिमानमोजः ।
ब्रह्मद्विषो ह्येष निहन्ति सर्वानाथर्वणस्तीव्र इवाभिचारः ॥ ६२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचिते महावीरचरिते प्रथमोऽङ्कः ।

राजन्निति० हे राजन् कुशध्वज ! इतो हि एहि अत्रागच्छ । सहानुजस्य लक्ष्मण-सहितस्य रामस्य अप्रतिमानम् अतुलम् ओजः पराक्रमम् पश्य निरीक्षस्व । एष हि रामः सर्वान् ब्रह्मद्विषः वेदविरोधिनः ब्राह्मणशत्रूँश्च सुबाह्वादीन् राक्षसान् आथर्वणोक्तः अथर्ववेदोक्तः तीव्रः उग्रः अभिचारः हिंसाप्रयोग इव निहन्ति मारयति । यथाऽथर्ववेदोक्तस्तीव्रोऽभिचारविधिरवन्ध्यभावेन ब्रह्मद्विषो मारयति तद्वयं रामो ब्रह्मद्विषः सुबाह्वादीन्निहन्ति तत्पश्य, मा तत्र गमः, त्वत्प्रयासं विनापि तत्कार्यसिद्धे-रिति भावः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ६२ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते महावीरचरित-
'प्रकाशे' प्रथमाङ्क-'प्रकाशः' ।

विश्वामित्र—(हंसकर) महाराज ! आप इधर आइये, रामके अद्भुतपराक्रमको देखिये । आथर्वण अभिचार विधिकी तरह यह सभी ब्रह्मद्रोहियोंको मार रहा है ॥ ६२ ॥

(सबका प्रस्थान)

प्रथम अङ्क समाप्त



द्वितीयोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशत्युपविष्टः सचिन्तो माल्यवान्)

माल्यवान्—यतः प्रभृति सर्वमायात्सिद्धाश्रमवृत्तान्तमश्रौषम् तदारभ्य—

दूराद्दवीयो धरणीधराभं यस्ताटकेयं तृणवद्व्यधूनोत् ।
हन्ता सुबाहोरपि ताटकारिः स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ॥ १
तदनुप्लवानां भूयसां लक्ष्मणेनैकेन वध इति किमेतदाश्चर्यम् ।
वीर्योत्कर्षैर्यदमृतभुजां निर्ममे पद्मयोनि-
स्तस्य द्वैधं व्यधित धनुषः शांभवीयस्य रामः ।

सर्वमायात्=सर्वमायनामकाद्राक्षसात् । सिद्धाश्रमवृत्तान्तम्=ताटकवधादिरूपम्
दूरादिति० यः धरणीधराभं पर्वतोपमम् ताटकेयम् ताटकापुत्रम् मारीचम् तृण वत् दूराद्दवीयः दूरादपि दूरतरम् अतिदूरम् व्यधूनोत् प्रक्षिप्तवान्, सुबाहोः तदाख्यस्यासुरस्य हन्ता मारकः ताटकारिः ताटकायाः शत्रुः स राजपुत्रः रामः मां हृदि हृदये बाधते पीडयति । येन रामेण पर्वतविशालगात्रो मारीचोऽतिदूरं प्रक्षिप्तः, य सुबाहुं न्यहन्, यश्च ताटकां न्यपातयत्स हृदये स्मर्यमाणो मम व्यथां तनुत इत्यर्थः ताटकेयपदे ताटकाया अपत्यमिति विग्रहे 'स्त्रीभ्यो ढगि'ति ढक्, तस्यैयादेशः ॥ १

तदनुप्लवानाम्=तस्य मारीचस्य सहायानाम् । 'अनुप्लवः सहायश्च' इत्यमरः भूयसाम्=बहूनाम् । यदि रामेण मारीचो हतस्तदा लक्ष्मणोऽपि तदनुचरान् हतवानि नाश्चर्यजनकमिति भावः ।

वीर्योत्कर्षैरिति० पद्मयोनिः विधाता अमृतभुजाम् देवानाम् वीर्योत्कर्षैः वीर्य पराक्रमस्योत्कर्षैः सारांशभूतैः यत् (शाम्भवीयम्) धनुः चापम् निर्ममे निर्मितवान् देवानां बलस्य सारमाहृत्य ब्रह्मा यद्धरचापं निर्मितवान् इत्याद्यपादार्थः । रामः तस् शाम्भवीयस्य धनुषः हरशरासनस्य द्वैधम् द्विधाभावम् भङ्गम् व्यधित कृतवान् यत्र धनुषि देवानां न तु कस्याप्येकस्य देवस्य वीर्यसारस्योपयोगोऽजायत तद्धनुर्

(बैठे हुए सचिन्त माल्यवान्‌का प्रवेश)

माल्यवान्—जबसे सर्वमायके मुंहसे सिद्धाश्रमकी खबर मिली, तबसे—

दूरातिदूर पर्वतके सदृश मारीचको जिसने घास की तरह परास्त कर दिया, त ताटका और सुबाहुका भी संहार किया, वह राजपुत्र हमारे हृदयमें चुभ रहा है ॥ १ ॥

उनके बहुतसे अनुचरोंका एकाकी लक्ष्मणने संहार किया इसमें क्या आश्चर्य ?

देवोंके पराक्रमसारके द्वारा जिसको ब्रह्माने बनाया उस शैवधनुषका भङ्ग रामने किया

दिव्यामस्त्रोपनिषदमृषेर्यः कृशाश्वस्य शिष्या-
द्विश्वामित्राद्विजयजननीमप्रमेयः प्रपेदे ॥ २ ॥
प्रसह्य रावणद्विष्टमस्मद्दूतस्य पश्यतः।
अस्त्रदानाद्भुतं काले प्रौढेन मुनिना कृतम् ॥ ३ ॥
सीताबन्दीग्रहपरिभवस्तस्य राज्ञो निरस्तो
नीतं चास्मान्प्रति शिथिलतामैकमुख्यं सुराणाम् ।

रामेणानायासमभज्यतेत्याशयः। यश्च अप्रमेयः बोद्धुमशक्यः अचिन्त्यसामर्थ्य इति वा कृशाश्वस्य तदाख्यस्य ऋषेः मुनेः शिष्यात् विश्वामित्रात् विजयजननीम् विजयप्रदाम् दिव्याम् असाधारणसामर्थ्यवत्तया अलौकिकीम् अस्त्रोपनिषदम् जृम्भकाद्यस्त्रविद्याम् प्रपेदे अधिगतवान्। शाम्भवीयस्येत्यत्र 'वानामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या' इति वृद्धसंज्ञायां छप्रत्ययः॥ मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ २ ॥

प्रसह्येति० प्रौढेन प्रगल्भेन परानुरोधनिरपेक्षेण मुनीना विश्वामित्रेण पश्यतः वीक्षमाणस्य अस्मद्दूतस्य सर्वमायस्य 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी, पश्यन्तमस्मद्दूतमनाहृत्येत्यर्थः। प्रसह्य हठात् (निषेधाक्षराण्यनाकर्ण्य) रावणद्विष्टम् रावणेनानभिलषितम् काले ताटकावधोत्तरक्षणे अस्त्रदानाद्भुतम् अस्त्रप्रदानरूपमाश्चर्यजनकं कर्म कृतम् ॥ ३ ॥

सीतेति० तस्य राज्ञः जनकस्य सीतायाः बन्दिग्रहः बन्दिभावेन ग्रहणं कारावस्थापनम् ततः यः परिभवः अवमानः स निरस्तः निराकृतः, धनुर्भङ्गं विधाय सीतापरिग्रहे कृते सीताया मद्गृहे बन्दीभावेनावस्थित्या तत्पितुर्योऽवमानस्य सम्भावना साऽपाकृतेति भावः। सुराणाम् देवानाम् अस्मान् प्रति मद्विषये यत् ऐकमुख्यम्, एकतानभावेनाधीनत्वं तत् शिथिलताम् मन्दभावं नीतम् प्रापितम्। इतः पूर्वं देवाः सर्वात्मना मदायत्ता आसन्नधुना तत्प्रतापावलोकनेन तस्मिन्नपि स्नेहं बिभ्रतः सुरा अस्मासु शिथिलभक्तयो भवेयुरिति तात्पर्यम्। ननु देवानां तदुन्मुखत्वे ततश्चा-

कृशाश्वशिष्य विश्वामित्रसे विजयप्रद अस्त्रविद्याकी शिक्षा भी तो रामको मिल चुकी है ॥२॥

रावणद्वारा अनभिमत अस्त्रदानरूप अद्भुतकार्य भी हमारे दूतके सामने उस प्रौढ मुनिने जबर्दस्ती कर दिया ॥ ३ ॥

सीताको बलपूर्वक हर लिया जायगा इस भयसे जनकको मुक्त कर किया, हमारी ओर देवों की जो एकमुखता थी उसे शिथिल बना डाला, जिससे देवोंने अस्त्रदानके समय

नान्दीनादप्रभृति हि कृतं मङ्गलं तैस्तदानीं
सर्वं प्रायो भजति विकृतिं भिद्यमाने प्रतापे ॥ ४ ॥

कथं वत्सापि शूर्पणखा प्राप्ता ।

(प्रविश्य)

शूर्पणखा—जयतु कनिष्ठमातामहः । (जेदु कणिठ्ठमादामहो)

माल्यवान्—वत्से ! आस्यताम् । राजसंनिधौ का वार्ता ?

स्मासु शिथिलादरत्वे किं प्रमापकमुपलब्धं यत एवमाशङ्क्यत इति चेत्तत्राह—तैः सुरैः तदानीं धनुर्भङ्गदिव्यास्त्रग्रहणादिकाले नान्दीनादप्रभृति हर्षमङ्गलव्यञ्जकस्तवादिपाठो नान्दी तस्या नाद उच्चारणं तत्प्रभृति तदादिमङ्गलम् शुभकर्म कृतम् आचरितम् । यतस्तैस्तदभ्युदयसूचककृत्यं प्रशंसोच्चारपुष्पवृष्ट्यादिनाऽभिनन्दितमतस्तेषां तदुन्मुखत्वं प्रकटीभूतमित्याशयः । उक्तमर्थमर्थान्तरेण द्रढयति—सर्वमिति० प्रतापे तेजसि भिद्यमाने क्षीयमाणे सर्वं वस्तु प्रायः विकृतिम् वैरूप्यम् याति प्राप्नोति । अयं मत्प्रतापह्रासप्रकारो यदमीभिः सुरैरित्थमाचर्यते । अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि । कार्यञ्च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥ साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः' ॥ मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ४ ॥

वत्सा = स्नेहसूचकमिदं, शूर्पणखा हि माल्यवतो दौहित्री, तत एवमुक्तिः ।

शूर्पणखा = रावणस्य भगिनि कालकेन्द्रस्य विद्युज्जिह्वस्य पत्नी च । शूर्पवन्नखा यस्या इति विग्रहः । 'नखमुखात्संज्ञायाम्' इति स्वाङ्गत्वप्रयुक्तङीषो निषेधे टाप् । 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इति णत्वम् ।

राजसन्निधौ=जनकगृहे, तत्समीपपदमत्र गृहपरं प्रतिभाति, ज्ञातव्यवार्त्तायास्तत्रैव संभवित्वात् । का वार्त्ता ?=कः समाचारः ?

नान्दीपाठ आदि मङ्गलकार्य भी किये । प्रायः जब प्रताप ढलने लगता है तब सभी विमुख हो जाते हैं ॥ ४ ॥

क्यों, वत्सा शूर्पणखा भी आगई ?

(प्रवेश करके)

शूर्पणखा—कनिष्ठ मातामहकी जय हो ।

माल्यवान्—वत्से ! बैठो, राजाके यहाँ की क्या खबर है ?

शूर्पणखा— निर्वृत्तानि किल तत्र पाणिग्रहमङ्गलानि। अगस्त्यमहर्षिणा रामाय मङ्गलोपहारीकृतं माहेन्द्रं धनुर्वरमनुप्रेषितम्। (णिव्वुत्ताइं किल तहिं पाणिग्गहमङ्गलाइं। अगत्थिअमहेसिणा रामं मङ्गलोवहारीकिदं माहेन्दं धणुवरं अणुप्पेसिदम्।)

माल्यवान्—परार्ध्यान्यायुधानि तानि रामे ब्रह्मर्षिभ्यः परिणमन्ति।

(सचिन्तम्)

अमोघमस्त्रं क्षत्रस्य ब्राह्मणानामनुग्रहः।
दुरासदं च तत्तेजः क्षात्रं यद्ब्रह्मसंयुतम्॥ ५॥

शूर्पणखा—मानुषमात्र एतावती चिन्ता। (माणुसमेत्तए एत्तिआ चिन्ता)

माल्यवान्—वत्से! मा मैवम्।

उत्पत्त्यैव हि राघवः किमपि तद्भूतं जगत्यद्भुतं
मर्त्यत्वेन किमस्य यस्य चरितं देवासुरैर्गीयते।

पाणिग्रहमङ्गलानि = विवाहाङ्गभूतमङ्गलकृत्यानि। मङ्गलोपहारीकृतम् = शुभावसरे समर्पितम्।

परार्ध्यानि=श्रेष्ठानि। 'परार्ध्याग्रप्राग्रहर' इत्यमरः। परिणमन्ति=समागच्छन्ति।

अमोघमिति० क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः अस्त्रम् प्रहरणम् ब्राह्मणानाम् अनुग्रहः आशीर्वादश्च (इयमिदम्)) अमोघम् अव्यर्थम्, फलाव्यभिचारि भवतीति शेषः, यत् ब्रह्मसंयुतम् ब्राह्मणानुग्रहसमर्थितम् क्षात्रम् क्षत्रियसम्बन्धितेजः प्रतापः, तत् दुरासदम् दुर्धर्षम्। केवलं क्षात्रं तेजोऽव्यर्थम्, ब्राह्मणाशीश्च केवलाऽव्यर्था, पृथक्पृथगनयोरव्यर्थत्वे मिलितयोस्तयोः सामर्थ्यस्य किमु वक्तव्यमिति भावः॥ ५॥

मानुषमात्रे = साधारणमनुष्ये।

उत्पत्त्यैवेति० राघवः रघुकुलश्रेष्ठो रामः लोके उत्पत्त्यैव जन्ममात्रेणैव किमपि अन-

---

शूर्पणखा—वहाँ विवाहमङ्गल हो गया। अगस्ति महर्षिने रामके पास उपहाररूपमें माहेन्द्र धनुष भी भेज दिया।

माल्यवान्—उत्तम आयुध महर्षियोंसे रामको मिल रहे हैं।

(चिन्ताकर)

सबसे रामका अमोघ अस्त्र ब्राह्मणोंके आशीर्वाद हैं, क्षात्रतेजके साथ जब ब्राह्मतेज मिल जाता है तब बड़ा दुर्धर्ष हो जाता है॥ ५॥

शूर्पणखा—मानुषमात्रके लिये इतनी चिन्ता?

माल्यवान्—राम जन्मसे कुछ अद्भुत प्राणी है,

उसके मनुष्य होनेसे क्या होता है जिसका चरित देव तथा असुर गाते हैं। ऋषि तथा

वस्तुष्वादधते च शक्तिमृषयो देवाश्च तर्कोत्तरां
मर्त्यादेव वरप्रदानसमये ब्रह्माभयं नो जगौ ॥ ६ ॥
निसर्गेण स धर्मस्य गोप्ता धर्मद्रुहो वयम् ।
आर्थ्यो विरोधः शक्तेन जातो नः प्रतियोगिना ॥ ७ ॥

शूर्पणखा—कः संदेहः ? यथा दशमुखोऽपीषन्मुकुलैर्दृष्टिविशेषैरपह्नियमाणलोचनो नमद्वदनो वर्तते, तथा जानामि दारुणोऽस्य हृदयदुर्मान एवं न विरमतीति । (को संदेहो ? जह दसमुहो वि ईसिमुउलेहिं दिट्ठिविसेसेहिं ओअरिअमाणलोअणो णमन्तवअणो वट्टेदि, तह जाणामि दारुणो से हिअअदुम्माणो एव्वं ण विरमदि त्ति)

वचनीयम् अद्भुतम् आश्चर्यकरम् भूतम् । रामस्य जन्मैव जगत्यस्याश्चर्यकरं वस्तुजातमिति भावः । ननु मर्त्योऽयं किं करिष्यतीति चेत्तत्राह—अस्य रामस्य मर्त्यत्वेन किं मनुष्यभावेन न कापि त्रुटिः, यस्य चरितम् यशः प्रशस्तिः देवासुरैः देवैर्दानवैश्च गीयते उच्चार्यते । देवासुरगीतचरितस्य तस्य मर्त्यत्वेन नास्माभिर्निश्चिन्तैः स्थेयमिति भावः । देवाः ऋषयो मुनयश्च वस्तुषु साधारणेष्वपि पदार्थेषु तर्कोत्तराम् ऊहापोहात्मकज्ञानाविषयां शक्तिं सामर्थ्यम् आदधते जनयन्ति । साधारणपदार्थेष्वपि देवैर्ऋषिभिश्चाचिन्त्या शक्तिर्निधीयते तदत्र रामे मानुषेऽपि सम्भवति सामर्थ्यगरिमेति भावः । वरप्रदानसमये रावणादिभ्यस्तदभिमतार्थदानवेलायाम् ब्रह्मा मर्त्यात् एव भयं भीतिं जगौ उक्तम् । देवादिभ्योऽवध्यत्वरूपवरप्रदानेन मनुष्यभयस्यानिवारितत्वादस्त्येव मनुष्यादस्माकं भयमिति भावः । रघुवंशे कालीदासोऽप्याह—'दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

निसर्गेणेति० निसर्गेण स्वभावेन, अत्र प्रकृत्यादित्वेन तृतीया विभक्तिः, सः रामः, धर्मस्य श्रुतिप्रतिपादितश्रेयःसाधनीभूतस्य कार्यस्य, गोप्ता पालकः रक्षक इत्यर्थः, वयं रावणादयः, (स्वभावेन) धर्मद्रुहः धर्मद्वेषिणः, अतः शक्तेन पराक्रमशालिना, प्रतियोगिना प्रतिपक्षिणा रामेणेत्यर्थः, (सह) अत्र लुप्तसहयोगे तृतीया, आर्थ्यः प्रकृतिप्रयुक्तः, विरोधः वैरभावः, नः अस्माकं, जातः समुत्पन्नः । सम्प्रति अस्माकम् अस्य रामस्य च नाश्यनाशकभावसम्बन्धः समजनीति भावः ॥ ७ ॥

देवगण वस्तुओंमें तर्कातीत शक्ति उत्पन्न कर देते हैं और वरदानके समयमें ब्रह्माने भी मर्त्यसे ही हमारे भयकी बात कही थी ॥ ६ ॥

वह स्वभावतः धर्मका रक्षक है और हम धर्मद्रोही हैं, इस प्रकार प्रबल प्रतिपक्षीके साथ हमारा स्वाभाविक विरोध हो गया है ॥ ७ ॥

शूर्पणखा—इसमें क्या संदेह ? जब कि रावण भी जरा झिपीं आखों तथा नत मुखसे

माल्यवान्—अहो नु खलु भोः !

वन्द्या विश्वसृजो युगादिगुरवः स्वायंभुवाः सप्त ये
वैदेहस्य वयं च ते च किमहो संबन्धिनो न प्रियाः ।
तन्नामास्तु दुरासदेन तपसा दीप्तस्य दीप्तश्रियः
पौलस्त्यस्य जगत्पतेरपि कथं जाता हृदि न्यूनता ॥ ८ ॥

अथवा—

अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन्दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।

वन्द्या इति० वन्द्याः आदरणीयाः विश्वसृजः जगत्स्रष्टारः युगादिगुरवः सत्यादियुगानाम् आदौ प्रारम्भे गुरवः उपदेशप्रदाः वे सप्त तत्संख्याकाः स्वयंभुवाः ब्रह्मणो मानसाः पुत्राः ते च वयं च सम्बन्धिनः कन्याप्रदानविधया सम्बन्धसूत्रे समवपन्तो वैदेहस्य न प्रियाः नेष्टाः । इति सप्तस्वायम्भुवानामस्माकञ्च सम्बन्धिभावेन यदस्वीकरणं तत् अस्तु नाम भवतु नैतदत्याश्चर्यकरम् । वन्दनीया युगादौ लोकगुरुतया ख्याताः ब्रह्मणो मानसाः पुत्राः 'मरीच्यत्रिपुलस्त्याङ्गिरःपुलहक्रतुवसिष्ठनामकाः सप्त' ते वयं चानेन कन्याप्रदानेन जनकस्य सम्बन्धिनो भाविन आस्म परन्तु तत्तेन नाङ्गीकृतमिति भवतु नामेत्याशयः । (परन्तु) दुरासदेन दुष्करेण तपसा दीप्तस्य जाज्वल्यमानस्य कठिनं तपः कृतवत इत्यर्थः, दीप्तश्रियः समृद्धलक्ष्मीकस्य जगत्पतेः त्रिलोकीनाथस्य पौलस्त्यस्य रावणस्य अपि न्यूनता कन्याप्रदानापेक्षितकुलरूपैश्वर्यवरत्वाभावकृता अयोग्यता (वैदेहस्य) हृदि कथञ्जाता केन प्रकारेणोत्पन्ना ? सर्वमन्यद्विहाय केवलं रावण एव तथा गुरुर्यथाऽस्मै कन्याप्रदानमुचितमासीत्तत्तेन न कृतमिति महांस्तस्य धृष्टभाव इति भावः ॥ ८ ॥

अर्थित्व इति० प्रभोः समर्थस्य रावणस्य अर्थित्वे दूतद्वारा याचकत्वे प्रकटीकृतेऽपि प्रथमवारं प्रकाशितेऽपि फलप्राप्तिः सीतालाभो न । प्रभौ याचनापरायणे फलप्राप्तिरावश्यक्युचिता च सा न जातेति भावः । न केवलं फलाप्राप्तिरेव, किन्तु वैपरीत्यमपीत्याह—द्रुह्यन्निति० द्रुह्यन् ताटकावधादिना अपकारपरायणः विरुद्धचरितः रावणान-

युक्त हो रहा है तब मैं समझती हूं उसके हृदयका दारुण दुःख यों ही नहीं मिटेगा ।

माल्यवान्—ब्रह्माके आदरणीय युगादि गुरु सात स्वायम्भुव मरीचि आदि वैदेहके तथा हमारे भी संबन्धी होनेके कारण प्रिय हैं ही । ये रहें, किन्तु दुर्धर्ष तपसे दीप्त पौलस्त्यके हृदयमें किस प्रकारकी न्यूनता आ गई ? ॥ ८ ॥

अथवा—याचना करके भी कुछ फल नहीं हुआ, प्रत्युत शत्रु रामको वह कन्या

उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते ॥ ९ ॥

(नेपथ्यार्धप्रविष्टः)

प्रतीहारः—यः परशुरामस्य युष्माभिर्वार्ताहरः प्रेषितस्तेनैतत्तमालरसविन्यस्ताक्षरं तालीपत्रमुपनीतम् । (उपक्षिप्य निष्क्रान्तः)

माल्यवान्—(गृहीत्वा वाचयति) 'स्वस्ति । महेन्द्रद्वीपात्परशुरामो लङ्कायाममात्यं माल्यवन्तमभ्यर्हयति—'

भिप्रेतयज्ञाविसंरक्षको दाशरथिः दशरथपुत्रः तया रावणप्राथ्यमानया कन्यया सीतया युक्तः परिणयबन्धनेन संयुक्तः । दाशरथिरिति पितृसम्बन्धाभिधानात्स्वतोऽख्यातत्वेनापकर्षो व्यञ्जितः । स्वप्रार्थितं स्वयं न लब्धं किन्तु शत्रुणेति वैपरीत्यम् । (अस्यां स्थितौ) परस्य शत्रुभूतस्य रामस्य मानयशसोः प्रतिष्ठायाः कीर्त्तेश्च उत्कर्षम् उपचयम् , आत्मनः स्वस्य विस्रंसनम् अवमानञ्च, स्त्रीरत्नम् ललनामणिम् सीताम् च दृप्तः सर्वथा दर्पोद्धतः जगत्पतिः त्रिलोकीनाथः दशमुखः कथम् केन प्रकारेण मृष्यते सहते । अत्राद्यपादेनावमानरूपो विरोधहेतुरुक्तः, दुह्यत्रित्यनेन बन्धुविनाशरूपो विरोधहेतुरुक्तः । दृप्त इति दर्परूपो विरोधहेतुश्चोक्तः । शेषं स्पष्टम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९ ॥

वार्त्ताहरः=चरः, दूत इति वा । तमालरसविन्यस्ताक्षरम्=तमालरसस्य श्यामतया मसीभावेनोपयोगं कृत्वाऽक्षराङ्कनं कृतमिति बोध्यम् । धवले तालीदले श्यामेन तमालरसेनाक्षराणि लिखितानि स्युस्तदभिप्रायेणेयं कल्पना ।

महेन्द्रद्वीपात्=महेन्द्रपर्वतोपलक्षितो द्वीपः महेन्द्रद्वीपः तत्रावस्थाय । ल्यब्लोपे पञ्चमीयम् । अभ्यर्हयति=आदरेण सम्भावयति ।

दे दी गई । दूसरे का उत्कर्ष, अपने मान-यशका ह्रास और स्त्रीरत्नकी उपेक्षा रावण कैसे कर सकता है ? ॥ ९ ॥

(नेपथ्यमें अर्धप्रविष्ट होकर)

प्रतीहार—आपने परशुरामके पास जिस दूतको भेजा था उसने तमालरससे लिखित यह तालीपत्र लाकर दिया है । (देकर निकालता है)

माल्यवान्—(लेकर पढ़ता है) 'स्वस्ति ! महेन्द्र द्वीपसे परशुराम लङ्कास्थित मन्त्री माल्यवान्को आदृत करता है—'

शूर्पणखा—कथं प्रभुपदं दुःश्लिष्टक्रमं लिखितम्। (कहं पहुवदं दुस्सिलिट्ठक्कमं लिहिदम्)

माल्यवान्—अत्रैव परं माहेश्वरं लङ्केश्वरमभिनन्द्य ब्रवीति—'विदितमेतद्वो यदस्माभिर्दण्डकारण्यतीर्थोपासकेभ्यः प्रतिज्ञातमभयम्। तत्र विराधदनुकबन्धप्रभृतयः केऽप्यतिचरन्तीति श्रुतम्। तत्तान्प्रतिषिध्यास्माकं युष्मत्स्थितां च माहेश्वरप्रीतिमनुरुध्यन्तां भवन्तः।

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते॥ १०॥

दुःश्लिष्टक्रमम् = त्यक्तपरिपाटीक्रमम्। एकत्रैव पत्रे मन्त्रिणो राज्ञश्च सम्बोध्यत्वे प्रथमं राजसम्बोधनमुचितं तदत्र न कृतं, किन्तु प्रथमं माल्यवान्मन्त्री सम्बोधितः, तदन्तरं राजा रावणोऽपि सम्बोध्य किञ्चिदुक्तः, सा चेयं लिपिः परिपाटी प्रतिकूलेति भावः॥

माहेश्वरम् = शिवभक्तम्। दण्डकारण्यतीर्थोपासकेभ्यः=दण्डकनामनिवने स्थित्वा उपासनामाचरद्भ्यः, यद्वा दण्डकावने तीर्थे जलावतारादौ च उपासनां कुर्वद्भ्य इत्यर्थः। अभयम् = भयनिवर्त्तनम्। प्रतिज्ञातम् = कर्त्तव्यतयाङ्गीकृतम्।

अतिचरन्ति = अस्मत्प्रतिज्ञामुलङ्घ्य दण्डकारण्यतीर्थोपासकानुपद्रवन्तीति भावः। तान् = विराधादीन्। प्रतिषिध्य = तादृशाचरणान्निवार्य। माहेश्वरप्रीतिम् = शिवभक्ततया प्रेयाणम्। शिवभक्ते भवति शिवशिष्यतया ममास्ति प्रीतिस्तदनुरुध्य भवद्भिर्मदिष्टं सम्पादनीयमिति ग्रन्थहृदयम्॥

ब्राह्मणातिक्रमेति० ब्राह्मणातिक्रमत्यागः ब्राह्मणानामवमाननान्निवृत्तिः भवताम् रक्षसाम् एव भूतये कल्याणाय न तु ब्राह्मणानाम् (जामदग्न्येऽवस्थिते तेषामनिष्टस्यासम्भवात्) भवतामिति बहुवचनेन न केवलमेकस्य भवतः, किन्तु भवतो जातेरिति व्यज्यते। अन्यथा ब्राह्मणातिक्रमे भवद्भिराचर्यमाणे वः युष्माकम् मित्रम् सुहृद्भूतः जामदग्न्यः परशुरामः (साधुजनातिक्रमसहनाक्षमत्वद्योतनाय नामोपा-

शूर्पणखा—क्यों, प्रभुपदकी परिपाटी छोड़कर लिखा है?

माल्यवान्—इसीमें परम माहेश्वर रावणको अभिनन्दित करके कहता **है—**आपको मालूम होना चाहिये कि हमने दण्डकारण्य तीर्थोंमें उपासना करनेवालोंको अभयदान दिया है, वहाँ सुनने में आया है कि विराध दनुकबन्ध आदि अत्याचार करते हैं, इसलिये उन्हें वैसा न करनेकी आज्ञा देकर हमारे आपके बीचके माहेश्वर स्नेह की आप रक्षा करें।

ब्राह्मणोंके उपद्रवका त्याग आपकी ही भलाईके लिये होगा, अन्यथा करनेपर आपका मित्र परशुराम आपसे रूठ जायेगा॥ १०॥

इति ।'

शूर्पणखा—ईषन्मसृणावष्टम्भगम्भीरगुरुक उपन्यासः । (ईसिमसिणावट्ठम्भगम्भीरगुरुओ उवण्णासो)

माल्यवान्—अहो ! किमुच्यते । जामदग्न्यः खल्वयम् ।

अभिजनतपोविद्यावीर्यक्रियातिशयैर्निजै-
रुपचितमदः सर्वत्यागान्निरीहतया स्थितः ।
व्यपदिशति नः शैवप्रीत्या कथंचिदनास्थया
प्रभुरिव पुनः कार्ये कार्ये भवत्यतिकर्कशः ॥ ११ ॥

दानाम्) दुर्मनायते क्षुब्धहृदयो भवति । तथा च तत्क्षोभे सकलराक्षसकुलक्षयरूपोऽनर्थो दुरायासः स्यादिति द्योत्यते ॥ १० ॥

ईषन्मसृणावष्टम्भगम्भीरगुरुकः = ईषन्मसृणेन किञ्चिच्छ्लक्ष्णेन (उपरिभागे स्निग्धेन) अवष्टम्भेन कठोरभावेन गम्भीरः गहनः गुरुकः महांश्च । उपन्यासः = वाक्यसन्दर्भः । यदि भवान्मदनुरोधरक्षी तिष्ठति तदा भवतोऽहं मित्रमन्यथा शत्रुरिति तात्पर्यं आदौ मधुरता परतश्च कार्कश्यं प्रतीयते, तत एवेयमुक्तिः ।

अभिजनेति० निजैः स्वकीयैः अभिजनतपोविद्यावीर्यक्रियातिशयैः–अभिजनो वंशः, तपः कायक्लेशकरव्रतादि, विद्या वेदादिपठनम् , वीर्यम् पराक्रमः, क्रिया यागाद्यनुष्ठानरूपा, तासामतिशयैः उत्कर्षैः उपचितमदः प्ररूढगर्वः सर्वत्यागात् अरण्यवासितया कुलातिपरित्यागात् निरीहतया निश्चेष्टतया मानापमानयोर्विषये औदासीन्येन स्थितः परशुरामः नः अस्मान् शैवप्रीत्या शिवभक्ता वयमिति स्नेहेन अनास्थया हेलया प्रभुरिव कथञ्चित् केनापि प्रकारेण किञ्चित् व्यपदिशति व्याहरति, कार्ये कार्ये कुत्रचन कार्ये तु पुनः अतिकर्कशो भवति । अयं परशुरामो वंशादिगौरवमत्तः स्वयमक्रियश्च तिष्ठन् शैवप्रीत्या कदाचिदस्मभ्यं हितमुपदिशति, कुतश्चित् कारणादस्माभिस्तदनुष्ठाने कठोरतामपि प्रपद्यत इति भावः । हरिणीवृत्तम् , लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ११ ॥

शूर्पणखा—थोड़ा चिकनाहटके साथ बड़ा गम्भीर आशय है ।

माल्यवान्—क्या कहना है, जामदग्न्य ही तो है ।

अपने कुल, तपस्या, विद्या, पराक्रम तथा कर्त्तव्यके गर्वसे ये पूर्ण हैं, सभी चीजों का त्याग करके निरीह बने हुए हैं, हमलोगोंको शैव होनेके कारण प्रेम करते हैं, फिर भी लापरवाही से कुछ कह देते हैं, प्रभुकी तरह किसी किसी कार्यमें अतिकठोर भी हो जाते हैं ॥११॥

(इति चिन्तयति)

शूर्पणखा—किमिदानीं चिन्त्यते । (किं दाणिं चिन्तीअदि)

माल्यवान्—वत्से !

यदि प्रपद्येत धनुःप्रमाथी शिष्यस्य शंभोर्न तितिक्षते सः ।
आयोधने चेदुभयोर्निघातः संरम्भयोगादति हि प्रियं नः ॥ १२ ॥

अन्यतरविजयेऽपि क्षत्रियान्तकश्चेद्राजपुत्रं विजयेत । यतः, नैनमनभिहत्यास्य मन्युर्विरमेत् । एवं च सिद्धं नः समीहितं रामनिधनम् । ऐक्ष्वाकश्चेद्विजयमानो ब्रह्मण्यो ब्रह्मर्षिं नाभिहन्यात् । निःश्रेयसापन्नोऽयमपविद्धमपि शस्त्रं न प्रणिदध्यात् । ततश्च नोऽनिष्टं स्यात् ।

यदीति० **यदि धनुःप्रमाथी शिवधनुर्भङ्गकरः रामः शम्भोः शिष्यस्य परशुरामस्य प्रपद्येत दृष्टिविषयो ज्ञानविषयो वा जायेत तदा सः परशुरामस्तं न तितिक्षते सहते क्षमत इत्यर्थः ।** (**एवमपि परशुरामेण रामस्य वधेऽस्मद्धितमंशतः सम्पादितं स्यात्**) आयोधने युद्धे संरम्भयोगात् सक्रोधोद्योगसम्बन्धात् उभयो रामपरशुरामयोः निघातः सुन्दोपसुन्दवद्वधश्चेत् स्यात् (तत्) नः अस्माकम् अति हि प्रियम् अत्यतमभीष्टम् । उभयोर्द्वेष्ययोरात्मनैव विनाशादिति भावः ॥ १२ ॥

अन्यतरविजये–एकस्य जये (सुन्दोपसुन्दन्यायेनोभयोर्वधस्याभावे कस्यचिदेकस्य जये जाते इत्यर्थः) क्षत्रियान्तकः = परशुरामः । राजपुत्रम् = रामम् । अनभिहत्य = अहत्वा । मन्युः = कोपः । विरमेत् = शाम्येत् । समीहितम् = अभिलषितम् । रामनिधनम् = रामस्य मरणम् । ऐक्ष्वाकः = ईक्ष्वाकुवंश्यः । ब्रह्मण्यः = ब्राह्मणभक्तः । ब्रह्मर्षिम् = परशुरामम् । निःश्रेयसापन्नः = शस्त्रत्यागपूर्वकं तपसि निरतः । अपविद्धम् = कुण्ठितम् । प्रणिदध्यात् = चिन्तयेत् ।

(चिन्तत होता है)

शूर्पणखा—इस समय आप क्या सोचते हैं ?

माल्यवान्—वत्से ! यदि शिवके धनुषका तोड़नेवाला शिवशिष्य परशुरामको मिल जाय तो वे नहीं क्षमा करेंगे । युद्धमें वेगवश यदि दोनों मारे गये तब तो हमारे लिये अति उत्तम हो ॥ १२ ॥

अन्यतर की जीत होनेपर परशुराम रामचन्द्रको जीतें तो अच्छा हो, क्योंकि इसे बिना मारे तो इसका क्रोध उतरेगा ही नहीं, इस प्रकार हमारा समीहित सिद्ध हो जाय । परन्तु रामकी जीत होगी तब भी ब्राह्मणभक्त राम परशुरामका वध नहीं करेगा, इससे परशुराम अस्त्रको कलङ्कित समझकर निःश्रेयसकी ओर लग जायेंगे, अस्त्रकी चिन्ता ही छोड़ देंगे, इसमें हमारी हानि है ।

शूर्पणखा—को विशेषः। (को विसेसो)

माल्यवान्—जामदग्न्यस्तावदारण्यकव्रतः। स हत्वापि रामं पुनस्तादृश एव। स श्लाघ्यस्तु राजपुत्रः पुनरुत्थातुकामस्तं चेत्प्रकृष्टतममुत्साहशक्तिसम्पदा धर्मविजयिनं च विजयते सर्वे तं विजयिनं निर्जरा जानीयुः। तदैव रावणपराक्रान्तिनिभृततूर्या देवाः प्रसह्यैनमधिकुर्युः। नित्यानुषक्तो ह्यसुरविजयिनामवमानतः प्रकृतिकोपः।

पौलस्त्यापजयप्रचण्डचरिते यः कार्तवीर्ये मुनिः
सर्वक्षत्रकथासमापनविधेः प्राङ्मङ्गलं प्राकरोत्।

आरण्यकव्रतः = वनवासी। तादृशः = वनवासी। श्लाघ्यः=राजोचितैर्गुणैः श्रेष्ठः। पुनरुत्थातुकामः = भार्गववधानन्तरमपि समुत्थातुमिच्छुः। प्रकृष्टतमम् = श्रेष्ठतमम् (परशुरामम्) उत्साहशक्तिसम्पदा = आफलान्तस्थिरप्रयासेन। विजयिनम्=परशुरामविजेतृतया सर्वाधिकशक्तिसम्पन्नम्। निर्जराः = देवाः। रावणपराक्रान्तिनिभृततूर्याः = रावणपराक्रमेण मन्दीभूतयुद्धवाद्यशब्दाः। असुरविजयिनाम् = देवानाम्। अवमानतः = अस्मत्कृतात्तिरस्कारात्। प्रकृतिकोपः = राष्ट्रकोपः। नित्यानुषक्तः = सार्वदिकः। अयमाशयः = रामपरशुरामयोर्युद्धे रामं यदि परशुरामो जयति तदा सोऽधुनेव वनवासं कुर्वन् न चिन्तां जनयेत्, अथैतद्विपरीतमजनि तदा भयम्, रामो हि विजिगीषयोत्तिष्ठेत्, तथाविधं च देवा अपि सहायतया संभावयेयुः, प्रकृतिप्रकोपश्चास्माभिर्जनित एव, तदीदृशि स्थितौ तादृशो रिपुर्मर्म तुदेदित्यस्ति चिन्ताया अवसर इति।

पौलस्त्येति० यो मुनिः परशुरामः पौलस्त्यापजयप्रचण्डचरिते पौलस्त्यस्य रावणस्य अपजयेन पराजयेन प्रचण्डचरिते तीक्ष्णव्यवहारे समुद्धते इत्यर्थः, कार्त्तवीर्ये कृतवीर्यतनये सहस्रार्जुने सर्वक्षत्रकथासमापनविधेः क्षत्रियजातिविनाशरूपकर्मणः प्राङ्मङ्गलम् आदावनुष्ठेयम्मङ्गलाचरणं प्राकरोत् आरब्धवान्। रावणं विजित्य विकत्थमानस्य कार्त्तवीर्यस्य वधो हि परशुरामकर्त्तृकक्षत्रजातिवधस्यादौ मङ्गलाचरणरूप-

शूर्पणखा—क्या अन्तर हुआ ?

माल्यवान्—परशुराम वनवासी हैं, वे रामको मार कर भी वनमें चले जायेंगे, किन्तु राम तो राजाका लड़का है, वह अगर उत्थान कामनासे अपने पराक्रम द्वारा परशुरामको परास्त करेगा तो सभी देवगण उसे विजयी जानेंगे, और जिनको रावणके पराक्रमसे कष्ट है वह सभी रामसे आ मिलेंगे। देवोंमें राक्षसकृत अपमानजन्य कोप सदासे चला आरहा है।

पौलस्त्यको जीतकर प्रचण्ड चरित कार्त्तवीर्यमें क्षत्रिय संहार लीलाका श्रीगणेश जिस

तस्मिन्नप्युपनीतयुक्तदमनः स्यादुज्झितास्मद्भयः
सामर्थ्ये सति धर्मसौम्यचरितो विश्वस्य रामः पतिः ॥१३॥

शूर्पणखा—ततोऽत्र किं निश्चितम्। (तदो एत्थ किं णिच्चिदम्)

माल्यवान्—परशुरामोत्तेजनं कर्तव्यमिति।

शूर्पणखा—पक्षान्तरे महादोषः। (पक्खन्तरे महादोसो)

माल्यवान्—तत्रापि शक्तितः प्रतिविधास्यते। किन्तु—

तान्येव यदि भूतानि ता एव यदि शक्तयः।
ततः परशुरामस्य न प्रतीमः पराभवम् ॥ १४ ॥

तया स्थित इत्याद्यपादद्वयस्यार्थः। तस्मिन्नपि परशुराम उपनीतयुक्तदमनः समुचितं दण्डं पराजयनरूपं प्रयुञ्जानः उज्झितास्मद्भयः त्यक्तास्मद्भयः सामर्थ्ये सति बलसद्भावे धर्मसौम्यचरितः धर्मरम्यव्यवहारः, रामः विश्वस्य समस्तसंसारस्य पतिः स्वामी स्यादिति कार्त्तवीर्यमपि जितवन्तं भार्गवं पराजयमानो रामः स्वान्तेऽपि मद्भवमधारयन् बलसद्भावेऽप्यानृशंस्यादिकृतचरित्रमार्दवशाली निश्चयेन समग्राया भुवो भर्त्ता स्यादिति भावः। अत्र परशुरामस्य ब्राह्मणतया वधानर्हत्वात्तच्छक्तिहरणमेव तदुपयुक्तदमनमिति बोध्यम् ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १३ ॥

अत्र=अस्मिन् संदेहे। परशुरामो जेष्यति रामो वेति द्वैधे इत्यर्थः। किं निश्चितम्=कर्त्तव्यत्वेन स्थिरीकृतम्। परशुरामोत्तेजनम्=क्रोधोद्दीपकवाक्यैः परशुरामस्य सन्धुक्षणम्।

पक्षान्तरे=रामकर्त्तृके परशुरामस्य पराजये। महादोषः=रामस्य विश्वविजयित्वरूपोऽनर्थः। शक्तितः=यावच्छक्ति। प्रतिविधास्यते प्रतिकारः करिष्यते, प्रतिकारश्चात्र वञ्चनया दण्डकारण्यप्रस्थापनसीताहरणादिरूपश्चिन्तितो वेद्यः।

तान्येवेति० यदि तानि इतः पूर्वं यान्यासन् तानि एव भूतानि पृथिव्यादितत्त्वानि ता एव या इतः पूर्वमनुभूतास्ता एव यदि शक्तयः परशुरामस्य सामर्थ्यानि अथवा भूतानां सामर्थ्यानि यदि सन्ति ततः तदा परशुरामस्य पराभवम् पराजयम् (कुतोऽपि

परशुरामने किया था, उसे भी यदि राम ठीकसे निगृहीत कर लेगा तब उसके हृदयसे हमारा भय भी मिट जायगा और इसके बाद सामर्थ्यके बलसे धर्मात्मा राम संसार का पति बन बैठेगा॥

शूर्पणखा—फिर इस विषयमें क्या तय रहा?

माल्यवान्—यही कि परशुरामको उचितरूपसे उत्तेजित किया जाय।

शूर्पणखा—इसमें एक पक्षमें तो भारी खतरा है।

माल्यवान्—उसका भी यथाशक्ति समाधान किया जायगा। किन्तु—

अगर यही पञ्चतत्त्व और यही शक्तियाँ रहीं तो मैं नहीं विश्वास करता हूँ कि परशुरामकी हार होगी ॥ १४ ॥

तदुत्तिष्ठ ! मिथिलाप्रस्थापनाय जामदग्न्यमुत्तेजयितुं महेन्द्रद्वीपमेव गच्छावः । द्रष्टव्यश्च तत्र भार्गवः ।

गभीरो माहात्म्यात्प्रशमशुचिरत्यन्तसुजनः
प्रसन्नः पुण्यानां प्रचय इव सर्वस्य सुखदः ।
प्रभुत्वस्योत्कर्षात्परिणतिविशुद्धेश्च तपसा-
मसौ दृष्टः सत्त्वं प्रबलयति पापं च नुदति ॥ १५ ॥

शत्रोः) न प्रतीमः न निश्चिनुमः । भूतसृष्टौ तच्छक्तौ च विपर्यस्तायां सम्भवति परशुरामस्य पराजयो नान्यथा कथमपीति भावः ॥ १४ ॥

तदुत्तिष्ठ, मिथिलाप्रस्थापनाय = मिथिलां प्रति प्रस्थातुं प्रेरणाय । उत्तेजयितुम्= उपजातक्रोधं कर्त्तुम् । द्रष्टव्यः = स्वकार्यसाधनार्थं साक्षात्करणीयः ।

गभीर इति० माहात्म्यात् महाप्राणत्वात् परमात्मांशसम्भूतत्वात् अभिजनतयो महिम्नागौरवशालित्वाद्वा गभीरः दुःखगमाभिप्रायः, प्रशमशुचिः आन्तरशान्त्यापूतः, अत्यन्तसुजनः आनृशंस्यादिसौजन्ययुक्तः, प्रसन्नः मानसस्य सदोपचितसत्त्वतया प्रसादावस्थायां वर्त्तमानः, पुण्यानाम् शुभकर्मणाम् प्रचयः राशिः इव सर्वस्य आत्मीयपरकीयाविवेकेन हर्षदाता च असौ परशुरामः प्रभुत्वस्य उत्कर्षात् जगदेकाधिपतित्वरूपप्रभावातिशयात् , तपसाम् व्रतादीनाम् परिणतिविशुद्धेः परया काष्ठया निरघत्वात् च हेतोः सर्वस्य प्राणिनः सत्त्वम् ज्ञानबलादिसाधकं सत्त्वगुणम् प्रबलयति वर्धयति पापम् दुरितम् च नुदति नाशयति । अयमाशयः—परशुरामस्य दर्शनं ज्ञानवर्धकं पापहरञ्च यतोऽसौ महात्मतयाऽतिगभीरः, शान्त्युपाशनयाऽतिशुचिः आनृशंस्येनातिसुजनः सदा प्रसन्नः मूर्त्तो धर्म इव सर्वहितैषी । प्रभावातिशयवशात् तपसश्चातिशयात् कस्यापि द्रष्टव्यः सोऽतोऽस्माभिरपि स्वकार्यानुरोधेन द्रष्टव्योऽसाविति भावः। 'सत्त्वं प्रबलयती'त्युक्तौ 'महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैषप्रवर्त्तकः' इति श्रुत्यर्थः 'पापं नुदती'त्युक्तौ च 'ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः' इति स्मृत्यर्थश्च मूलम् । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १५ ॥

इसलिये उठो, मिथिला जानेके लिये जामदग्न्यको उत्तेजित करने महेन्द्र द्वीप चलें। वहाँ ही भार्गव मिलेंगे ।

माहात्म्यके कारण गभीर, शान्तपावन, अत्यन्तसुजन, प्रसन्न पुण्यराशिकी तरह सर्वसुखद वह परशुराम प्रभावातिशय तथा तपःशुद्धिके कारण देखनेवालोंके सत्त्वगुणकी वृद्धिके साथ पापका विनाश करते हैं ॥ १५ ॥

(उत्थाय परिक्रम्य निष्कान्तौ)

मिश्रविष्कम्भः ।

(नेपथ्ये)

भो भो विदेहनगरीगता राजकुलचारिणः! कथयन्तु भवन्तः कन्यान्तःपुरगताय रामाय—

'कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजयौर्जित्यनिष्णातदोष्णः
पौलस्त्यस्यापि हेलापहृतरणमदो दुर्दमः कार्तवीर्यः ।
यस्य क्रोधात्कुठारप्रविघटितमहास्कन्धबन्धस्थवीयो-
दोःशाखादण्डषण्डस्तरुरिव विहितः कुल्यकन्दः पुराभूत् ॥ १६ ॥

मिश्रविष्कम्भकः = संस्कृतप्राकृतात्मको विष्कम्भः । तल्लक्षणं यथा—'वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः' ॥

विदेहनगरीगताः = मिथिलायां वर्त्तमानाः । राजकुलचारिणः = राजान्तःपुरपरिचारकाः । कन्यान्तःपुरगताय = अवरोधावस्थिताय । अवरोधस्थितं राममधरतादुच्यमानं सूचयन्त्वित्यर्थः ।

कैलासोद्धारेति० कैलासस्य हरपर्वतस्य उद्धारे उत्पाटने सारः बलं येषां तादृशाः, तथा त्रिभुवनस्य लोकत्रयस्य विजयेन अधीनीकरणेन यत् और्जित्यम् अभ्युदयः तत्र निष्णाताः निपुणाः = कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजयौर्जित्यनिष्णाताः दोषः बाहवः यस्य तस्य कैलासोत्पाटनत्रिभुवनविजयासादितगौरवबाहोः पौलस्त्यस्य रावणस्य अपि दुर्दमः पराजेतुमसुकरः हेलापहृतरणमदः लीलाऽपाकृतयुद्धोत्साहः कार्त्तवीर्यः यस्य क्रोधात् कुठारेण परशुना प्रविघटिताः विच्छिन्नाः महतः स्कन्धस्य बन्धेन स्थवीयांसः अतिदृढा दोषः बाहवः एव शाखा दण्डाः मुण्डश्च यस्य तथाभूतः पुरा पूर्वम् कुल्यकन्दः मूलमात्रावशिष्टः तरुः वृक्ष इव विहितः । अयमाशयः—

(दोनोंका प्रस्थान)

(मिश्रविष्कम्भक समाप्त)

(नेपथ्यमें)

अरे ओ विदेहनगरीके राजकर्मचारियो, कन्यान्तःपुरमें वर्त्तमान रामसे जाकर कहो—कैलासपर्वतके उठानेमें समर्थ तथा त्रिलोक विजयमें निष्णातबाहुधारी रावणके रणमदको अत्यन्त आसानीसे दूर कर देनेवाला दुर्धर्ष कार्त्तवीर्य, जिसके क्रोध करनेपर कुठार प्रहारसे महान् स्कन्ध गल बाहुदण्ड आदिके कट जानेपर कटे छटे वृक्षके सदृश कर दिया गया ॥ १६ ॥

सोऽयं त्रिःसप्तवारानविकलविहितक्षत्रतन्त्रप्रमारो
वीरः क्रौञ्चस्य भेदात्कृतधरणितलापूर्वहंसावतारः ।
जेता हेरम्बभृङ्गिप्रमुखगणचमूचक्रिणस्तारकारे-
स्त्वां पृच्छञ्जामदग्न्यः स्वगुरुहरधनुर्भङ्गरोषादुपैति ॥ १७ ॥'

(ततः प्रविशति सधैर्यसम्भ्रमो रामः सीता सख्यश्च)

कैलासमुत्पाट्य त्रिभुवनं च विजीत्य प्रभावातिशयं बिभ्रतो विंशति भुजान् दधानमपि रावणं यः कार्त्तवीर्यो रणगर्वं विस्मर्त्तुमबाधिष्ट, तादृशोऽप्यसौ कार्त्तवीर्यः कुठारच्छिन्नबाहुशाखासहस्रतया कृत्तमूर्द्धतया च मूलमात्रावशिष्टस्तरुरिव येन विहितोऽसौ परशुराम उपैतीति, स्रग्धरावृत्तम्, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' इति तल्लक्षणम् ॥ १६ ॥

सोऽयमिति० त्रिःसप्तवान् एकविंशतिकृत्वः अविकलविहितक्षत्रतन्त्रप्रमारः निःशेषविहितक्षत्रजातिवधः। वीरः साहसिकः क्रौञ्चस्य तदाख्यस्य गिरेः भेदात् बाणैः सरन्ध्रतासम्पादनात् कृतधरणितलापूर्वहंसावतारः सर्वप्रथमं पृथिवीमण्डले हंससमुदायस्यावतरणं कृतवान्। हेरम्बः गणेशः, भृङ्गी रुद्रगणविशेषः, तौ प्रमुखौ मुख्यौ यत्र गणे—स एव चमूचक्रम् सैन्यसमूहः सोऽस्यास्तीति हेरम्बभृङ्गिप्रमुखगणचमूचक्रिणः गणेशभृङ्गिप्रधानकसैन्यशालिनः तारकारेः कार्त्तिकेयस्य जेता विजयी सोऽयं जामदग्न्यः परशुरामः स्वगुरुहरधनुर्भङ्गरोषात् स्वगुरोः हरस्य धनुषः कार्मुकस्य भङ्गः त्रोटनम् ततः रोषः कोपस्तस्मात् त्वां पृच्छन् क्वास्त्वमिति जिज्ञासमानः उपैति इत एवाभिवर्त्तते। त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता, पुरा पुरारेर्वेदाध्ययनावसरे कार्त्तिकेयेन समं युद्धकलाप्रतियोगितायां जातायां बाणेनैकेन क्रौञ्चपर्वतं भित्त्वा तद्वर्त्मना हंसानां धरणीतलेऽवतारं कृतवान्, गणेशभृङ्गिप्रमुखसेनासहायमपि कार्त्तिकेयं जितवान् परशुरामः स्वगुरुचापभङ्गजनितरोषतया त्वामन्विष्यन्नित एवागच्छतीति तात्पर्यम्। वृत्तमनुपदमेवोक्तम्। 'त्रिःसप्तवारा'नित्यत्र 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सुच्। 'मारो ना मरणे कामे' इति रत्नमाला ॥ १७ ॥

सधैर्यसम्भ्रमः=धैर्यं स्वाभाविकं गभीरत्वम्, सम्भ्रमस्त्वरा सा च महाजनोपस्थित्या बोध्या, ताभ्यां सहितः।

जिसने इक्कीसवार सकलक्षत्रियका संहार कर दिया, क्रौञ्चपर्वतका भेदन करके पृथ्वी पर सर्वप्रथम हंसोंको आनेका अवसर दिया, गणेश तथा भृङ्गिगण रूपसैन्यसे युक्त स्कन्दको जीता, वही परशुराम अपने गुरुके धनुर्भङ्ग होनेके कारण उत्पन्न रोषवश तुम्हें पूछते हुए आरहे हैं ॥ १७ ॥

(धैर्य और क्षोभसे युक्त राम, सीता और सखियोंका प्रवेश)

रामः—

माहाभाग्यमहानिधिर्भगवतो देवस्य दग्धुः पुरा-
मम्नायेन विशुद्धसत्त्वचरितः शिष्यो भृगूणां पतिः।
द्रष्टव्यः स च मां दिदृक्षुरपि च त्यक्त्वा ह्रियं मुग्धया
सन्त्रासादयमाभिजात्यनिभृतस्नेहो मयि द्योत्यते ॥ १८ ॥

सीता—सख्यः ! कथमेतत् । (सहिओ ! कहं एदम्)

सख्यः—कुमार ! अलं तावत्त्वरया । (कुमार ! अलं दाव तवराए)

माहाभाग्येति० माहाभाग्यस्य महाभागतायाः महानिधिः विशिष्ट आश्रयः, भगवतः सकलैश्वर्यशालिनः देवस्य पुरां दग्धुः त्रिपुरारेः शिवस्य आम्नायेन शिष्यभावे ततो लब्धेन वेदेन विशुद्धसत्त्वचरितः निष्कलङ्कव्यवसायचारित्रः भृगूणाम् भृगुवंश्यानां पतिः श्रेष्ठः परशुरामः द्रष्टव्यः साक्षात्कार्यः, स च परशुरामश्च माम् दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुरपि । एतेन दर्शनस्यानतिप्रयासोपपाद्यत्वं व्यञ्जितम्, द्वयोः कामयमानयोर्मिलनस्यावश्यंभावादिति भावः। अपि च किञ्च मुग्धया 'उदयद्यौवना मुग्धा लज्जाविजितमन्यथा' इति लक्षितया नवोढया सन्त्राणात् क्रुद्धपरशुरामागमनसम्भावितप्रियविपत्तिजन्याद्भयात् ह्रियम् नवस्त्रीस्वभावसिद्धां लज्जां त्यक्त्वा अयम् आभिजात्यनिभृतस्नेहः सत्कुलप्रसूतिसहचरः प्रेमा मयि द्योत्यते प्रकाश्यते। अयमाशयः—महाभागताया आश्रयस्त्रिपुरारेश्शिष्यतया विशुद्धचारित्रो भार्गवो मां द्रष्टुमायाति द्रष्टव्यश्चास्माभिरसौ ब्रह्मर्षिस्तदस्यामपि दशायां तं द्रष्टुं प्रतिष्ठमाने मयि भाविनीं कामपि विपत्तिमन्तर्निधाय मुग्धास्वभावाप्राप्तमपि ह्रीपरित्यागं कृत्वा यदियं सीता साश्रुनेत्रत्वादिना मयि स्नेहं प्रकाशयति सोऽस्याः कुलगौरवगुणो, न प्राकृतकुलोत्थाः कन्यका एतावति स्वल्पे परिचये प्रमाणमेवं प्रकाशयेयुरिति। पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ १८ ॥

एतत् = परशुरामस्यात्रागमनम्, केन कारणेनानिष्टमिदमीयं दर्शनमजनिष्टात्रेति भावः। अलं तावत्त्वरया = परशुरामदर्शनाय मा त्वरिष्ठा इत्यर्थः।

राम—महाभाग्यवत्ताके निधान, त्रिपुरहरके शिष्य, वेदाध्ययनसे शुद्ध सात्त्विक चरितयुक्त भृगुपति द्रष्टव्य भी हैं और मुझे देखना भी चाहते हैं, किन्तु इधर यह मुग्धा स्वभाव सिद्ध लज्जाका भी त्याग करके भयसे शालीनतामें लिपटा प्रेम प्रकट कर रही है ॥ १८ ॥

सीता—सखियो, यह क्या हुआ ?

सखियाँ—कुमार, शीघ्रता करना व्यर्थ है।

रामः—नोत्सवाः परावधीरणावैरस्यमर्हन्ति ।

सख्यः—वारंवारं निःक्षत्रीकृतसमस्तजीवलोको निवर्तितविषयव्यवसायः परशुरामः श्रूयते । (वारंवारं णिक्खत्तीकिदसमत्तजीअलोओ णिवट्टिअविसअव्ववसाओ परसुरामो सुणीअदि)

रामः—किमेकदेशेन महाज्ञाननिधेर्माहात्म्यमपह्नियते । य एषः
उत्खातक्षितिपालवंशगहनास्त्रिःसप्तकृत्वो दिशः
कृत्वा विश्रुतकार्तिकेयविजयश्लाघ्यश्च बाह्वोर्बलात् ।

उत्सवाः = विवाहादयः शुभावहा विषयः । परावधीरणावैरस्यम् = परकृतपरिभवजन्यरसभङ्गम् । अयमर्थः–विवाहादावुत्सवे कोऽपि परिपन्थी किमपि परिभवसूचकं कर्म कृत्वा यत्तस्योत्सवस्य सरसतां न्यूनीकरोति तन्नोपयुक्तं प्रतीयते, अतः परावधीरणापरिहारं विधायाऽस्योत्सवस्य रसवत्तामक्षतां स्थापयितुं मया यतनीयमतो मां मा प्रतिषेधिषुर्भवत्य इति भावः ।

वारम्वारम् = एकविंशतिवारान् । निःक्षत्रीकृतसमस्तजीवलोकः = संसारं क्षत्रशून्यं कृतवान् । निवर्त्तितविषयव्यवसायः = विषयेभ्यः स्रक्चन्दनवनितादिसांसारिकसुखेभ्यो विरक्तः । एकदेशेन = अर्धोक्त्या 'वक्तव्यमनुक्तं परितापं जनयति' इति 'खलत्वमल्पीयसि जल्पिते तु' इति च स्मरणात् समधिके माहात्म्ये तदेकदेशोक्तिर्माहात्म्यन्यूनतां गमयति, तथाकरणमते नोचितं तेन न केवलं निःक्षत्रीकरणं भुवो विषयव्यावृत्ता चेत्येतावेव तदीयौ गुणौ किन्तु सद्वीपधराप्रदानादिकमपि तस्य गुणेष्वस्ति, तदल्पमुक्त्वा तन्माहात्म्यमपह्नियते भवतीभिरिति भावः ।

उत्खातेति० विश्रुतेन परमप्रसिद्धेन कार्त्तिकेयस्य विजयेन श्लाघ्यः प्रशंसनीयो (योग्यतया स्तुत्यः) बाह्वोर्बलात् भुजपराक्रमात् दिशः दशापि दिग्विभागान् त्रिःसप्तकृत्वः एकविंशतिवारान् उत्खातक्षितिपालवंशगहनाः उत्खातानि उन्मूलितानि क्षितिपालानाम् क्षत्रियाणाम् वंशाः कुलान्येव गहनानि वनानि यासान्तास्तथोक्ताः कृत्वा विधाय अथ अनन्तरम् (क्षत्रवधजनितपापापनुनुत्सया विहितेऽश्वमेधनामक-

राम—उत्सवोंमें पर पराभवजन्य विरसता अच्छी नहीं लगती है ।

सखियाँ—परशुरामके विषयमें सुनती हूँ कि उन्होंने बारबार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया है और विषयोंसे विरक्त हैं ॥

राम—एक हिस्सा कहकर महाज्ञानी परशुरामके महत्त्वको क्यों आप अपकृत करती हैं ? जो यह इक्कीसवार दिशाओंको क्षत्रियोंसे शून्य बनाकर बाहुबल द्वारा कीर्त्ति विख्यात

सद्वीपामथ काश्यपाय मुनये दत्वाश्वमेधे महीं
शस्त्रव्यस्तसमुद्रदत्तविषयं लब्ध्वा तपस्तप्यते ॥ १९ ॥

(नेपथ्ये)

सत्त्वभ्रंशविषादिभिः कथमपि त्रस्तैः क्षणं वेत्रिभि-
र्दृष्टो दृष्टिविघातजिह्मितमुखैरव्याहतप्रक्रमः।
रामान्वेषणतत्परः परिजनैरुन्मुक्तहाहारवं

यागे अश्वमेधे तदाख्ययज्ञे सद्वीपाम् अष्टादशद्वीपयुताम् महीम् पृथिवीम् मुनये कश्यपाय कश्यपाख्यर्षये तत्र यज्ञे कृताचार्यकार्याय दत्वा शस्त्रव्यस्तसमुद्रदत्तविषयं शस्त्रेण परशुना व्यस्तेन अपसारितेन समुद्रेण दत्तम् अनुमतम् विषयम् वासार्हं देशं लब्ध्वा तपस्तप्यते तपस्यामाचरति। अयमर्थः—कार्त्तिकेयविजयेन प्रशंसनीयः परशुरामस्त्रिःसप्तकृत्वः क्षितिपालवंशानुन्मूल्य दिशः क्षितिपालवंशशून्याः कृतवानथ तत्पापापनोदनेच्छयाऽश्वमेधं चक्रे यत्राचार्यकृत्यमनुष्ठितवते कश्यपाय सद्वीपां धरां दक्षिणारूपेण दत्तवान्, तदनन्तरं समग्राया धराया दानकर्मीकृतत्वेन परकीयतया वासक्षमधराऽभावेन समुद्रमुपेत्य शस्त्रभीतं तं किञ्चिदपसार्य तदपसरणकृतायां भुवि स्वस्वत्वस्याक्षतत्वेन तत्रोषित्वा तपश्चरतीति परस्तस्योत्कर्ष इति। तप्यते इत्यत्र 'तप ऐश्वर्ये वा' इति तङ्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्, लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ १९ ॥

सत्त्वभ्रंशेति० सत्त्वस्य बलस्य (परशुरामदर्शनात्) भ्रंशेन भयहेतोरपगमेन विषादिभिः विषादंगतैः वेत्रिभिः द्वाररक्षकताद्यधिकृतैर्वेत्रपाणिपुरुषैः त्रस्तैःक्षणम् सभयनेत्रम् कथमपि (प्राणानाधायकरयोः) दृष्टः, दृष्टिविघातजिह्मितमुखैः दृष्टेः दर्शनशक्तेः विघातेन तेजोमयमूर्त्तिपरशुरामदर्शनजन्मना प्रतिघातेन अव्याहतप्रक्रमः अवारितपदन्यासः क्रुद्धः कुपितः मुनिर्भार्गवः परशुरामः रामान्वेषणतत्परः रामं गवेषयन् परिजनैः अन्तःपुरपरिचारिकाभिः उन्मुक्तहाहारवम् कृतहाहाशब्दम्

कार्त्तिकेय पर विजय प्राप्त करके अश्वमेधकी दक्षिणाके रूपमें द्वीपोंसे युक्त समस्त पृथ्वी कश्यप मुनिको दे दिया और स्वयं शस्त्र द्वारा तपाये गये समुद्रसे दी गई भूमिमें रहकर तपस्या करते हैं ॥ १९ ॥

(नेपथ्यमें)

सत्त्वक्षयसे विषण्ण प्रहरी वेत्रधारीगण किसी प्रकार उन्हें देख भर रहे हैं, उनकी आंखें उनकी ओर उठ नहीं रही हैं, उन्होंने उनकी ओरसे मुंह फेर लिया है, परशुरामकी गति अव्याहत ही है, प्रहरी उन्हें रोक नहीं पाते। वे रामको खोज रहे हैं, परिजन हाहाकार

कन्यान्तःपुरमेव हा प्रविशति क्रुद्धो मुनिर्भार्गवः ॥ २० ॥

रामः—नन्वेत एव शिष्टाचारपद्धतेः प्रणेतारः। तत्कथमयं विद्वान्प्रमाद्यति। भवतु। उपसर्पामि। (सधैर्यविकटं परिक्रामति)

सख्यः—अहो! समन्तत एव 'हा देव चन्द्रमुख रामचन्द्र! हा जामातृक' इति परिदेवनमुखरकातरोद्विग्नसमस्तपरिजनं पलायितमस्मद्राजकुलम्। भर्तृदारिके! स्वयमेव विज्ञापय भर्तारम्। (अह्मो! समन्तदो एव्व 'हा देव चन्दमुह रामचन्द! हा जामादुए'त्ति परिदेवणमुहरकाअरुव्विग्गसमत्तपरिअणं पलाइदं अह्मराअउलम्। भट्टदारिए! सअं एव्व विण्णवेहि भट्टारम्)

कन्यान्तःपुरम् कन्यावासावरोधम् प्रविशति एव। अयमाशयः—परशुराममायान्तं दृष्ट्वा भयेन निःसत्त्वभावंगता अन्तःपुररक्षकाः कथमपि भीतभीतदृष्ट्या तमैक्षन्त, तत्तेजःप्रतिहतदृक्शक्तयश्च मुखं परावर्त्य स्थिता अतस्ते तं निवारयितुं नाशकन्, तेन चाव्याहतगमनो मुनिर्भार्गवः रामस्यान्वेषणायान्तःपुरपरिचारिकाभिः क्रियमाणेन हाहाशब्देन मुखरं कन्यान्तःपुरं प्रविशतीति। पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ २० ॥

एत एव = परशुरामसदृशा एव। शिष्टाचारपद्धतेः = शिष्टजनाचरणीयकार्यकलापबोधकधर्मसूत्रादेः। प्रणेतारः = निर्मातारः। प्रमाद्यति = अनवधानो भवति, कन्यान्तःपुरे परकीये प्रवेशोऽधर्मस्तदनुष्ठानप्रयासोऽत्र प्रमादो बोध्यः। उपसर्पामि = समीपं गच्छामि।

परिदेवनम् = विलपनम्, मुखरम् = शब्दायमानम्, उद्विग्नम् = भयकातरम्, परिजनः = परिचारकलोकः, इति शब्दार्थः। यत्र विलापप्रवृत्तैः शब्दायमानैश्च परिजनैरुद्वेग इव प्रदर्श्यते, तदेतद्राजकुलं भयेन पलायत इवेत्याशयः। भर्तृदारिके = राजपुत्रि। विज्ञापय = निवेदय। त्वदुक्तमसौ श्रद्धास्यति ततश्च कमपि प्रतिकारं विधास्यति, तदेव व्यञ्जयितुं स्वयं पदम् ॥

कर रहे हैं, हाय क्रुद्ध परशुराम तो जनान खानेमें पैठे आरहे हैं ॥ २० ॥

राम—यही लोग शिष्टाचार पद्धतिके निर्माता हैं, फिर ये विद्वान् होकर क्यों गलती कर रहे हैं। अच्छा, समीप जाता हूँ। (धैर्यके साथ चलता है)

सखियाँ—अहा, चारो ओर—'हा देव, हा चन्द्रमुख रामचन्द्र, हा जामातृक' इस प्रकार विलाप करनेवाले परिजन उद्विग्न होकर भाग रहे हैं। राजकुमारी! आप स्वयं स्वामीसे कहें।

सीता—तेन हि त्वरमाणाः सम्भावयेम वेगप्रस्थितमार्यपुत्रम्। (तेण हिं तुवरन्तिओ सम्भावेह्म वेअपत्थिअं अज्जउत्तम्)

(इति परिक्रामति)

सख्यः—कुमार कुमार! प्रेक्षस्व तावत्त्वराविशृङ्खलमरालवधूद्भ्रान्तगमनां भर्तृदारिकाम्। (कुमार, कुमार! पेक्ख दाव तुवराविसिङ्खलमरालवहुब्भन्तगमणं भट्टिदारिअम्)

रामः—(सप्रेमानुकम्पं परिवृत्य) कातरेयमत्रभवतीभिरेव पर्यवस्थापयितव्या।

सख्यः—सखि! ससुरासुरसमस्तत्रैलोक्यमङ्गलं तुङ्गजयलक्ष्मीलाञ्छितमीषद्विभ्रमविस्रस्तनेत्रकुवलयशोभाविहरन्मुखपुण्डरीकविस्तारितस्नेहसं-

त्वरमाणाः = शीघ्रतया चलन्त्यः। सम्भावयेम = तदन्तिके उपस्थाय निवेदयेम। त्वराविशृङ्खलमरालवधूद्भ्रान्तगमनम् = कुतश्चित् कारणात् त्वरया चलन्त्या मरालवध्वा यथा उद्भ्रान्तं-शीघ्रतया विस्मृतविलासम्-गमनं तथागमनं यस्यास्ताम्। कातरा = अल्पेऽपि संभ्रमे भयकारिणी। इयम् = सीता। अत्र भवतीभिः = आदरणीयाभिः। पर्यवस्थापयितव्या = प्रकृतौ स्थापनीया, निर्भया करणीयेत्यर्थः।

ससुरासुरसमस्तत्रैलोक्यमङ्गलम् = सुरैः देवैः असुरैः दैत्यैः सहितस्य समस्तत्रैलोक्यस्य त्रिभुवनस्य मङ्गलकरम्। तुङ्गजयलक्ष्मीलाञ्छितम् = उन्नतविजयश्रीसम्पन्नम्। ईषद्विभ्रमेण मुग्धतया स्वल्पेन विलासेन विस्रस्तस्य किञ्चिन्नतस्य नेत्रकुवलयस्य नयनरूपरक्तकमलस्य शोभया विहरत् सनाथं यन्मुखपुण्डरीकं मुखाब्जं तेन विस्तारितौ प्रकटीकृतौ स्नेहसंभ्रमौ प्रेमातङ्कौ यया सा तथोक्ता। अल्पीयसा विलासेन नेत्रयोर्न तयोर्जातयोस्तच्छोभया च मुखे युज्यमाने तेन तदवस्थेन स्नेहं तज्जनितमातङ्कं च व्यञ्जयन्ती त्वं स्वं प्रियं जगद्धितकरं वीरं

सीता—तब शीघ्र चलो, वेगसे जाते हुए आर्यपुत्रको समझावें।

(चलती है)

सखियाँ—कुमार! देखें, शीघ्रतावश भर्तृदारिकाके चरण मरालीकी गतिसे विलक्षण चल रहे हैं।

राम—(प्रेम और कृपावश घूमकर) यह अधीर हो रही है इसे आप समझा दें।

सखियाँ—सखी! तुम सदा कहा करती थी कि हमारे स्वामी देवदानव सहित त्रिलोकके मङ्गलकारी असामान्य विजयश्रीसे युक्त हैं, इस बातके कहनेमें तुम्हारी आँखें

भ्रमा सर्वदास्मत्पुरतो वर्णयसि। तत्किमिति विजयाभिमुखे कुमार उत्कम्पितासि। (सहि! ससुरासुरसमत्ततेल्लोक्कमङ्गलं तुङ्गजयलच्छीलञ्छिअं ईसिविब्भमविसट्टणेत्तकन्दोट्ठसोहाविहरन्तमुहपुण्डरीअवित्थारिदसिणेहसंभमा सव्वदा अह्मपुरदो वण्णेसि। ता किंति विअआहिमुहे कुमारे उक्कम्पितासि)

सीता—सर्वक्षत्रियसन्तापकारी परशुराम इति। (सव्वक्खत्तिअसंदावआरी परसुरामो त्ति)

राम—प्रिये! स्वस्था सती निवर्तस्व।

आतङ्कश्रमसाध्वसव्यतिकरोत्कम्पः कथं सह्यता-
मङ्गैर्मुग्धमधूकपुष्परुचिभिर्लावण्यसारैरयम्।
उन्नद्धस्तनयुग्मकुड्मलगुरुश्वासावभुग्नस्य ते

चोक्तवती, तदधुना तस्मिन् परशुरामसाक्षात्काराय प्रतिष्ठमाने भाविनीं विपदमुत्प्रेक्षमाणा किमिति कम्पस इति सख्या आशयः॥

स्वस्था = निर्भयतया प्रकृतौ स्थिता। निवर्तस्व = परावृत्ता भव। मा मामनुयासीरित्यर्थः।

आतङ्केति० प्रिये, प्रियतमे सीते, मुग्धम् अतिसुन्दरम् यत् मधूकपुष्पम् गुडपुष्पम् तस्येव रुचिः सरसधवला कान्तिर्येषाम् तैः मुग्धमधूकपुष्परुचिभिः लावण्यम्—'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति परिभाषितं सारः स्थिरांशो येषाम् तैस्तथोक्तैः अयम् प्रकटमनुभूयमानः आतङ्कश्रमसाध्वसव्यतिकरोत्कम्पः—आतङ्कः भयम्, श्रमः चलनादिजन्मा कायक्लमः, साध्वसम् सर्वसमक्षमुपस्थित्या लज्जा, तेषां व्यतिकरः सहसङ्गमस्तेन य उत्कम्पः वेपथुः सः कथं सह्यताम् केन प्रकारेण ध्रियताम्? नास्त्येव तन्मर्षणक्षमताऽस्यामित्यर्थः। उन्नद्धयोः उपरि कृत्वा बद्धयोः स्तनयुग्मयोः कुड्मलाभ्याम् विकासोन्मुखकलिकाभ्याम् गुरुः सोढुं कठिनः यः श्वासः तेनावभुग्नस्य नम्रीकृतस्य

विभ्रमसे कुछ झुक जाती थीं जिससे तुम्हारे मुखकमलपर स्नेह झलकने लगता था, फिर इस समय जब वे विजययात्रा कर रहे हैं तब तुम डरती क्यों हो?

सीता—परशुराम क्षत्रियान्तक हैं इसीसे।

राम—प्रिये! स्वस्थ रहो लौट जाओ।

भय श्रम तथा लज्जाके संयोगसे उत्पन्न इस कम्पको सुन्दर मधूक पुष्पतुल्य और लावण्यमय ये तुम्हारे अङ्ग किस प्रकार सह सकेंगे और इन कसे हुए स्तन द्वयपर

मध्यस्य त्रिवलीतरङ्गकजुषो भङ्गः प्रिये मा च भूत् ॥ २१ ॥

(नेपथ्ये)

भो भोः परिष्कन्दाः क रामो दाशरथिः ।

सीता—स एव व्याहरति । (सो एव्व वाहरइ)

रामः—तस्यानराजसाहसप्रचण्डकर्मणः पुष्करावर्तकस्तनितमांसलो वाङ्निर्घोषः कर्णविवरमाप्याययति । (इति परिक्रामति)

सीता—का गतिः । (धनुषि धारयन्ती) आर्यपुत्र ! न तावद्युष्माभिर्गन्तव्यं यावत्तातो नागच्छति । (का गई । अज्जउत्त ! ण दाव तुम्हेहिं गन्तव्वं जाव तादो णाअच्छइ)

त्रिवल्य एव तरङ्गकास्तज्जुषः तद्युक्तस्य ते तव मध्यस्य कटिप्रदेशस्य च भङ्गः माभूत् मानिनि । लावण्यातिशयसमृद्धैर्मधूकपुष्पवत्सरसगौरैरङ्गैर्भयश्रमलज्जासंसर्गजन्मा कम्पः कथमिव प्रियया सह्यताम् ? अस्याः स्तनयुगलं कम्पयतो गुरोः श्वासस्य वेगेन त्रिवलीशाली मध्यभागस्त्रुटितो न भवेदिति च काम्यमतोऽनया स्वस्थया निवर्तनीयमित्यर्थः । 'वलिर्वली चाप्युदररेखा चामरदण्डयो'रिति रत्नमाला । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २१ ॥

परिष्कन्दाः = परिचारकाः, 'नियोज्य किङ्करप्रैष्यभुजिष्यपरिचारकाः । पराान्वितपरिष्कन्दपरजातपरैधिताः' । इत्यमरः ॥

तस्य = परशुरामस्य । अनरालसाहसप्रचण्डकर्मणः = अनरालेन अकुटिलेन साहसेन प्रचण्डम् भीषणं कर्म यस्य तादृशस्य । पुष्करावर्त्तकस्तनिमांसलः = पुष्करावर्त्तकाः मेघविशेषाः तेषां स्तनितानीव मांसलः स्थूलो गभीर इत्यर्थः । वाङ्निर्घोषः = शब्दः । कर्णविवरम्=श्रुतिकुहरम् । आप्याययति = तर्पयति ।

धनुषि धारयन्ती=रामस्य चापमवलम्बमाना ।

पड़नेवाले श्वाससे झुका त्रिवलीयुक्त तुम्हारा यह मध्यभाग कहीं टूट न जाय ॥ २१ ॥

(नेपथ्यमें)

अजी परिचारको ! दाशरथि राम कहाँ है ?

सीता—वही बोल रहा है !

राम—अच्छिद्र साहससे पूर्ण कर्मवाले परशुरामका हो पुष्करावर्त्तक नामक मेघकी ध्वनिके सदृश गम्भीर वचन कानको तृप्तकर रहा है । (चलता है)

सीता—क्या उपाय है ? (धनुष पकड़ती हुई) आर्यपुत्र, आप तब तक नहीं जांय जब तक पिताजो नहीं आ लेते हैं ।

सख्यः—उद्वर्तितमिदानीं प्रियसख्या रसान्तरेण लज्जालुत्वम्। (उव्वत्तिअं दाणिं पिअसहीए रसन्तरेण लज्जालुत्तणम्)

रामः—जितं स्नेहेन। तर्हि मुक्त्वा धनुर्गच्छामि।

(नेपथ्ये 'भो भोः परिष्कन्दाः' इत्यादि पठति)

सीता—ततो बलादेव धारयिष्यामि। (तदो बलादो एव्व धारइस्सम्)

रामः—हन्त हन्त।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोन्मादश्च मां कर्षतः।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरस्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः॥ २२॥

रसान्तरेण = स्नेहातिशयेन। भयेनेत्यर्थो वा। लज्जालुत्वम्=लज्जाशीलत्वम्।

जितम् = बलवत् प्रतीतम्। लज्जापेक्षया स्नेहो बलवान्, यतस्तां हित्वा स्नेहपरवशतया मा भियं निषेद्धुं बद्धकक्षेत्याशयः।

उत्सिक्तस्येति० उत्सिक्तस्य गर्वोद्धतस्य तपः पराक्रमनिधेः तपस्याबलयोः स्थानभूतस्य (परशुरामस्य) अभ्यागमात् स्वयमागमनेन एकतः एकस्यां दिशि सत्सङ्गप्रियता परशुरामसदृशसत्पुरुषसङ्गाभिलाषः च पुनः वीररभसोन्मादः वीरस्य रभसः उत्साहः तस्य तत्कृत उन्मादश्चित्तविभ्रमः, यद्वा वीररभसोत्फाल इति पाठः, तर्हि वीरोत्साहोद्रेक इति च (एतौ द्वावपि भावौ) मां कर्षतः आकर्षतः, अत्र चकारद्वयमुभयोः सत्सङ्गप्रेमवीरोत्साहोद्रेकयोः प्राधान्यं सूचयितुम्। अन्यतः अन्यस्यां दिशि एषः अनुभूयमानः वैदेहीपरिरम्भः सीताकायालिङ्गनम् आनन्दी सुखदः, मुहुः वारं वारं चैतन्यं ज्ञानम् आमीलयन् विषयान्तरात् व्यावर्त्तयन्, हरिचन्दनं चन्दनभेदः इन्दुः चन्द्रः तद्वत् शीतलः शिशिरस्पर्शः, स्निग्धः प्रेमपूर्णश्च (इति हेतोः) रुणद्धि मुनिपार्श्वगमनात्प्रतिबध्नातीत्यर्थः। एकतस्तपसः पराक्रमस्य चाश्रयभूतं परशुरामं द्रष्टुं मां सत्सङ्गस्नेहो वीररसोद्रेकश्चाकर्षति परतश्चानन्दजनको भूयोभूयो

सखियाँ—हमारी प्रियसखीकी लज्जा रसान्तरसे ढीली पड़ रही है।

राम—स्नेह जीत रहा है। छोड़ कर जाऊँगा।

(नेपथ्यमें—'अजी परिचारको'—इत्यादि पढ़ता है)

सीता—तब जबर्दस्ती पकड़ कर रखूंगी।

राम—अफसोस है,

गर्वी तथा तपस्या और पराक्रमसे युक्त परशुरामके आनेसे सत्सङ्गका लोभ और

सख्यः—हा ! एष दीप्यमानदिनकरालोकदुष्प्रेक्ष्यजरठदेहप्रभापरिक्षेप-भासुरो ज्वलन्तं सुनिशितं परशुं धारयन्विश्रृङ्खलोद्वेलहुतवहशिखासहस्रसं-दिग्धजटाप्रभाडामरः सुदूरविक्षेपाविद्धविकटोरुदण्डनिर्भराभिघातविह्व-लितवसुन्धरः परागत एव सकलक्षत्रियमहाराक्षसः। (हा ! एसो दिप्पन्तदि-णअरालोअदुप्पेक्खजरठदेहप्पहापरिक्खेवभासुरो जलन्तं सुणिसिदं परसुं धारअन्तो विसङ्खलुव्वेल्लहुअवहसिहासहस्ससंदेहिदजडाप्पहाडामरो सुदूरविक्खेवाविद्धविअटो-रुदण्डणिब्भराभिघादविहुलिअवसुन्धरो परागदो एव्व सअलक्खत्तिअमहारक्खसो)

रामः—

अयं स भृगुनन्दनस्त्रिभुवनैकवीरो मुनि-
र्य एष निवहो महानिव दुरासदस्तेजसाम् ।

विषयान्तरजं ज्ञानं तिरोदधत् हरिचन्दनचन्द्रमरीचिशीतलो वैदेहीपरिरम्भो मां मुनिपार्श्वगमनाद्रुणद्धि तदिदं भावयोर्मिलनमित्याशयः। 'रभसो वेगहर्षयोः' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तं लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ २२ ॥

दीप्यमानेति० दीप्यमानः=प्रकाशमानः । दिनकरालोकः=सूर्यप्रभा । तद्वत् दुष्प्रेक्ष्या दुरालोका जरठदेहप्रभा वृद्धशरीरकान्तिस्तस्याः परिक्षेपेण प्रसारेण भासुरः प्रभायुक्तः । सुनिशितम्=अतितीक्ष्णधारम् । विश्रृङ्खलः अयथास्थानविन्यस्तः, उद्वेलः प्रदीप्तः यः हुतवहः वह्निः तस्य शिखायाः ज्वालाकलापस्य सहस्रं तेन सन्दिग्धा तत्प्रकारकसन्देहविषयः या जटा तस्याः प्रभया डामरः व्याप्तः। इतस्ततो व्यस्तया दीप्तपावकवर्णया जटया प्रभामुत्किरन्त्या परिवृत इत्यर्थः। सुदूरविक्षेपार्थ-माविद्धयोर्दीर्घप्रसारितयोः विकटोरुदण्डयोः निर्भराभिघातेन दृढाभिघातेन विह्वलि-तवसुन्धरः कम्पितधरामण्डलः । सकलक्षत्रियमहाराक्षसः=क्षत्रकुलभयङ्करः ।

अयमिति० अयम् पुरोवर्त्ती व्यक्तिविशेषः त्रिभुवनैकवीरः लोकत्रयेऽसाधारणः शूरः सः प्रसिद्धः मुनिस्तपस्वी य एषः तेजसाम् प्रभावाणाम् दुरासदः दुर्धर्षः निवहः

वीररसका उन्माद एक ओर खींच रहे हैं, और चन्दन शीतल तथा पुनः-पुनः चैतन्यको लुप्त करनेवाला यह सीताका आलिङ्गन दूसरी ओर रोक रहा है॥ २२ ॥

सखियाँ—हाय, चमकते हुए सूरजकी तरह दुष्प्रेक्ष्य चमकदार शरीरकान्तिको फैलाता हुआ, जलते हुए तेज कुठारको लिये, इधर-उधर बिखरी बह्निज्वाला तुल्य जटाओंको लटकाये, लम्बी-लम्बी डग भरनेके कारण विकट जङ्घाके आघातसे पृथ्वीको थर्राता हुआ, यह क्षत्रिय संहारी आ ही गया ।

राम—यह सामने असाधारण वीर मुनि परशुराम जी उपस्थित हैं जो किसी से

प्रतापतपसोरिव व्यतिकरस्फुरन्मूर्तिमा-
न्प्रचण्ड इव पिण्डतामुपगतश्च वीरो रसः ॥ २३ ॥
पुण्योऽपि भीमकर्मा निधिर्व्रतानां चकास्त्यमितशक्तिः ।
मूर्तिमभिरामघोरां बिभ्रद्दिवाथर्वणो निगमः ॥ २४ ॥

अयं हि—

कल्पापायप्रणयि दधतः कालरुद्रानलत्वं
संरब्धस्य त्रिपुरजयिनो देवदेवस्य तिग्मः ।

समूह इव प्रतापतपसोः पराक्रमतपस्ययोः व्यतिकरस्फुरन्मूर्त्तिमान् शरीरधरः पराक्रमतपःसङ्गम इव पिण्डताम् घनत्वम् उपगतः प्रचण्डः अत्युग्रः वीरः रसः इव विभातीति योजनीयम् । अयं सोऽसाधारणशूरो मुनिर्भार्गवः योऽयं दुर्धर्षस्तेजसां राशिरिव, मूर्त्तिधरप्रतापतपःसगम इव किञ्च घनत्वमुपयातो वीरो रस इव च विभातीति भावः । स्पष्टमन्यत् । पृथ्वीवृत्तम्-तल्लक्षणं यथा—जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति ॥ २३ ॥

पुण्योऽपीति० पुण्यः धर्मिष्ठः अपि भीमकर्मा दारुणव्यापारः व्रतानाम् यमनियमादितपसां निधिः स्थानभूतः आश्रय इत्यर्थः । अमितशक्तिः अपरिमितसामर्थ्यः (अयं भार्गवः) अभिरामघोराम् रम्यां भयङ्कराञ्च मूर्त्तिम् आकृतिम् बिभ्रत् धारयन् आथर्वणः अथर्वोक्तः निगमः वेदभाग इव चकास्ति विभातीति भावः । यथाऽऽथर्वणो निगमः स्वरतो वर्णतश्चाभिरामोऽप्याभिचारिकविधिना घोरस्तथाऽयमपि प्रणतानुग्रहकरणात्सौम्योऽपि परिपन्थिनिग्रहपरायणत्वाद् भयङ्कर इत्युपमा । आर्यावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' ॥ २४ ॥

कल्पापायेति० कल्पापायस्य प्रलयकालस्य प्रणयि प्रियतमम् कालरुद्रानलत्वम् जगत्संहारकराग्निभावम् दधतः धारयतः संरब्धस्य कुपितस्य त्रिपुरविजयिनो देवदेवस्य हरस्य तिग्मः दारुणः निखिलभुवनस्तोमनिर्माथयोग्यः समस्तब्रह्माण्डध्वंस-

---

दुर्धर्षणीय तेजराशि और मूर्तिधारी प्रतापसमूह के समान और कुछ घनत्वको प्राप्त वीर रस के समान शोभित हो रहे हैं ॥ २३ ॥

पवित्र होकर भी भयङ्कर, व्रतोंका निधान यह सुन्दर तथा भयङ्कर मूर्त्तिका धारण करनेवाला परशुराम अथर्ववेदकी तरह अमित शक्ति मालूम पड़ रहा है ॥ २४ ॥

और—प्रलयकी इच्छा रखनेवाले कालरुद्र शिवकी क्रोध कठोर शक्ति ही ब्राह्मणके रूपमें

ब्रह्मच्छद्मा निखिलभुवनस्तोमनिर्माथयोग्यो
राशीभूतः पृथगिव समुत्थाय सामर्थ्यसारः ॥ २५ ॥

(विहस्य) अहो स्वाच्छन्द्यवैचित्र्यमत्रभवतः ।

ज्योतिर्ज्वालाप्रचयजटिलो भाति कण्ठे कुठार-
स्तूणीरोंऽसे वपुषि च जटाचापचीराजिनानि ।
पाणौ बाणः स्फुरति वलयीभूतलोलाक्षसूत्रे
वेषः शोभां व्यतिकरवतीमुग्रशान्तस्तनोति ॥ २६ ॥

समर्थः सामर्थ्यसारः शक्तिभरः पृथक् समुत्थाय रुद्रदेहरूपं स्वाश्रयं विहाय ब्रह्मच्छद्मा ब्राह्मणव्याजेन राशीभूतः पुञ्जीभूत इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा । अयमाशयः—यः शिवः क्रुद्धः सन् त्रिपुरसंहारं कृतवान् तस्य प्रलयकारी भुवनध्वंसक्षमश्च सामर्थ्यसार एवायं ब्राह्मणवपुरास्थाय परशुरामभावेन स्थित इति सापह्नवोत्प्रेक्षा । मन्दाक्रान्ता-वृत्तं लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ २५ ॥

स्वाच्छन्द्यवैचित्र्यम् = स्वेच्छाचारेणाद्भुतत्वम् । अत्रभवतः पूज्यस्य परशुरामस्य।

ज्योतिर्ज्वालेति० ज्योतिषाम् तेजसाम् ज्वालाः शिखाः तासाम् प्रचयेन समूहेन जटिलः कुठारः परशुः कण्ठे स्कन्धदेशे भाति शोभते । (अपरत्र च) स्कन्धदेशे तूणीरः बाणस्थापनाय इषुधिः । वपुषि शरीरे च जटा, चापः धनुः, चीरम् वल्कलम् , अजि-नम् चर्म मृगचर्म तानि । वलयीभूतलोलाक्षसूत्रे वृत्ताकारेणावस्थितचञ्चलजपमाला-परीते पाणौ हस्ते बाणः शरः स्फुरति । (इत्थम्) उग्रशान्तः अंशतस्तीव्रः अंशतः सौम्यः (यत्रांशे वीरपरिच्छदस्तत्र तीव्रता यत्र चांशे तपस्विपरिच्छदस्तत्र सौम्यता) वेशः परशुरामस्याकृतिः व्यतिकरवतीम् विमिश्राम् शोभाम् तनोति विस्तारयति । अयमर्थः—सोऽयं परशुरामस्य तीक्ष्णसौम्यो वेशः समीक्ष्यमाणो वीरशान्तयोरेकदेश-स्थतां गमयन् लोकस्य विस्मयं प्रादुर्भावयति यस्यैकत्र स्कन्धे प्रभाधवलः कठोरः कुठारोऽपरत्र स्कन्धे च तूणीरः, तदतिरिक्तभागे च जटाचापचीराजिनानि, जयमाला-शालिनि च करे बाणः स्फुरति । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ २६ ॥

हमारे सामने है निखिल विश्वके संहार की क्षमता रखती है और पृथग् भावेन स्थित है ॥२५॥

(हँसकर) आप अतिस्वच्छन्द तथा विचित्र हैं ।

चमकता हुआ कुठार गलेमें लटक रहा है, कन्धेपर तरकस है, देहमें जटा, वल्कल, और मृगचर्म हैं । वृत्ताकार अक्षसूत्रवाले हाथमें बाण है, इस प्रकारका इनका वेश जो उग्र भी है और शान्त भी है, उभयविध शोभा को धारण करता है ॥ २६ ॥

प्रिये ! एते गुरवः । तदपसृत्य कृतावगुण्ठना भव ।

सीता—हा धिक् हा धिक् । परागत एव । (अञ्जलिं बद्ध्वा) आर्यपुत्र ! परित्रायस्व साहसिक । (हद्धि हद्धि । परागदो एव्व) (अज्जउत्त ! परित्ताअहि साहसिअ)

रामः—अयि प्रिये !

मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि ।
तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूलदोष्णः
परिचरणसमर्थो राघवक्षत्रियोऽहम् ॥ २७ ॥

एते = परशुरामः, आदरार्थं बहुत्वम्, गुरवः = वसिष्ठसगोत्रत्वाद् वृद्धत्वाच्चादरपात्राणि । अपसृत्य अन्यतो गत्वा । कृतावगुण्ठना = वस्त्राच्छादितमुखभागा । आचाराद्वृद्धसमीपे कुलस्त्रियोऽवगुण्ठनवत्यो भवन्ति, तदनुरोधेनेत्थमुक्तम् ॥

परागतः = समीपमुपागतः । परशुरामो भयहेतुतयाऽनभिलषितदर्शनस्तदागमेनेदं भयम् ।

मुनिरयमिति० अयम् परशुरामः मुनिः ब्रह्मनिष्ठस्तपस्वी अथ अथवा तादृशः लोकोत्तरः वीरः पराक्रमी तत् उभयथाऽपि मे प्रियम् हितम् एतदागमनमिति शेषः । (उभयथापि भयहेतुर्नास्ति ततः) तव परिकम्पः कायवेपथुः विरमतु निवर्त्तताम् , अयि कातरे, भयशीले क्षत्रिया क्षत्रजातीया असि, क्षत्रियकुलोत्पन्नाया ईदृशमुनिवरस्य वीराग्रगण्यस्य वोपस्थितौ भयं नोचितं, तस्याः सर्वविधपरिस्थितिसहनस्वभावत्वादिति भावः । अहम् राघवक्षत्रियः रघुकुलोत्पन्नः क्षत्रियः, तपसि विदितकीर्त्तेः विश्वविख्यातयशसः दर्पकण्डूलदोष्णः अहङ्कारकण्डूयुक्तबाहुदण्डस्य परिचरणे योग्यसेवायाम् समर्थः दक्षः अस्मि । रघुवंश्यत्वात्क्षत्रियत्वाच्चाहं परशुरामस्य—तपोनिष्ठतया समुचितोपदेशप्रदानाद्यभिप्रायकत्वे तत्पादसंवहनादिकर्मणि—वीरतया युद्धाभिप्रायकत्वे तदुपयुक्तोत्तरप्रदाने च समर्थोऽस्मि, अतः प्रिये मा कातरा भूरिति भावः । सिध्मादिपाठात् कण्डूशब्दाल्लच्प्रत्यये कण्डूलपदम् । मालिनीवृत्तम्, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति च तल्लक्षणम् ॥ २७ ॥

प्रिये, ये गुरुजन हैं, छिपकर पर्दा कर लो ।

सीता—हा धिक्, हा धिक्, यह आ ही गया, आर्यपुत्र, साहसिक, रक्षा करो, रक्षा करो ।

राम—प्रिये ! ये मुनि हैं और प्रसिद्ध वीर हैं यह हमारी खुशीकी बात है, कांपना छोड़ो, अरी भयशीले ! तुम क्षत्रिया हो, और मैं भी तपस्यासे ख्यातकीर्त्ति तथा दर्पसे युद्धोद्यतकी सेवामें तत्पर रघुवंशी क्षत्रिय हूँ ॥ २७ ॥

(ततः प्रविशति क्रुद्धः परशुरामः)

परशुरामः—हुम् । अहो, दुरात्मनः क्षत्रियबटोरनात्मज्ञता ।

न त्रस्तं यदि नाम भूतकरुणासंतानशान्तात्मन-
स्तेन व्यारुजता धनुर्भगवतो देवाद्भवानीपतेः ।
तत्पुत्रस्तु मदान्धतारकवधाद्विश्वस्य दत्तोत्सवः
स्कन्दः स्कन्द इव प्रियोऽहमथवा शिष्यः कथं न स्मृतः ॥२८॥

एष एव मे प्रशमस्य कर्कशः परिणामः ।
यत्क्षत्रियेष्वपि पुनः स्थितमाधिपत्यं तैरेव संप्रति धृतानि पुनर्धनूंषि ।

अनात्मज्ञता = स्वरूपापरिचयः ।

न त्रस्तमिति० यदि तेन रामेण धनुः व्यारुजता हरशरासनं खण्डयता देवात् जयशीलात् भगवतः सर्वविधसामर्थ्ययुतात् भवानीपतेः शिवात् न त्रस्तम् भयं कृतम् नाम युक्तं तदित्यर्थः । तत्र हेतुमभिधातुं शिवस्यैकं विशेषणमाह—भूतेति० भूतेषु प्राणिषु यः करुणासन्तानः दयोद्रेकस्तेन शान्तात्मनः, प्राणिमात्रविषये दयाशालिन-स्तस्य स्वापकर्त्तर्यपि क्रोधोदयस्याल्पसम्भावनतया ततो भयाभावो युक्तियुक्त इति भावः । तु किन्तु मदान्धतारकवधात् मदमत्ततारकासुरनिवर्हरणात् विश्वस्य दत्तोत्सवः कृतजगदानन्दः पुत्रः स्कन्दः, स्कन्द इव प्रियोऽहं शिष्यः अथवा कथं न स्मृतः ध्यानगोचरीकृतः । महादेवं शान्तात्मानं विदित्वा ततो न भयं कृतमिति तु युक्तं कृतं, परन्तु जगदपकर्त्तृतारकविजयी पुत्रः शिवस्य स्कन्दः, स्कन्द इव प्रियः शिवस्य शिष्योऽहं वा कथं न स्मृतस्तत्र कारणं नावगम्यत इति तात्पर्यम् ॥ अत्राहं पदं क्षत्रियकुलान्तकेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २८ ॥

प्रशमस्य = शान्तेः । कर्कशः अनर्थरूपः । मया शान्तिमाश्रित्य स्थितमत एव चैषां क्षत्रियाणामियत्साहसं यदयं रामो मम गुरोर्धनुरखण्डयत्, अन्यथा तु का कथाऽमीषा दुग्धमुखानामीदृशाचरणस्येति भावः ।

यत्क्षत्रियेष्विति० (सर्वोऽप्ययं मम प्रशमस्यैव परिणामः) यत् क्षत्रियेषु अपि पुनः आधिपत्यम् स्थितम् प्रभुत्वम् उत्पन्नम्, तैः क्षत्रियैः एव पुनः धनूंषि धृतानि ।

(क्रुध परशुराम का प्रवेश)

परशुराम—हुँ, इस क्षत्रिय बटुककी अनात्मज्ञता तो देखो—

यदि महादेवके धनुषका इसने भङ्ग किया तो इसको प्राणियोंपर दया करनेवाले भगवान् शिवका भय नहीं हुआ ! अथवा तारकासुरको मारकर विश्वको प्रसन्न करनेवाले महादेवके पुत्र स्कन्दकी या पुत्रकी ही तरह स्नेहपात्र शिष्य मेरी याद नहीं रही ॥ २८ ॥

मैंने शान्तिका अवलम्बन किया इसका ही यह भयङ्कर फल है—

उन्माद्यतां भुजमदेन मयापि तेषामुच्छृङ्खलानि चरितानि पुनः श्रुतानि ॥

राम:—

अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि यशोनिधा-
ववितथमदध्माते रोषान्मुनावभिधावति ।
अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसंग्रहणाय च ॥ ३० ॥

किन्त्वविषयस्तावदाचारस्य ।

जामदग्न्यः—भो भोः परिष्कन्दाः ! क्व रामो दाशरथिः ।

भुजमदेन बाहुदर्पेण उन्माद्यताम् विभ्रान्तचित्तानाम् च तेषाम् उच्छृङ्खलानि उद्धतानि चरितानि मयापि श्रुतानि । यद्यहं प्रशमं नाग्रहीष्यं तदा क्वेमे क्षत्रिया राजानः, क्व चैषां धानुष्कत्वम्, क्व चैषां भुजवीर्यमदोऽभविष्यन् । मयैतदुद्धतचरितस्य यदाकर्णनं कृतं तदवसर एव नाभविष्यदित्याशयः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥२९॥

अकलितेति० अकलितम् अगणितम् अपरिमितमित्यर्थः, तपसः यत्तेजो वीर्यञ्च ताभ्यां प्रथिमा पृथुता गौरवं यस्य तादृशे यशोनिधौ कीर्त्तिभूषिते अवितथेन यथार्थेन मदेन ध्माते उद्दीपिते मुनौ परशुरामे रोषात् क्रोधात् अभिधावति अभ्यागते सति पाणिः मम हस्तः अभिनवाऽलौकिकी नवोपार्जिता वा धनुर्विद्या अस्त्रशिक्षा तया यो दर्पः गर्वस्तत्क्षमाय तद्योग्याय बाणाकर्षणादिरूपाय कर्मणे व्यापाराय पादोपसङ्ग्रहणाय पादयोर्वन्दनाय च रभसात् वेगात् स्फुरति चलति तपस्तेजसी ध्यायमाने परशुरामस्य पादौ वन्दितुं मम पाणिं प्रेरयतः, तदीयवीर्यमदौ पुनर्ध्यायमानौ धनुराकर्षणायाह्वयेते तदयं मानसिकः सङ्घर्ष इति भावः । हरिणीवृत्तम् ॥३०॥

किन्त्वविषयस्तावदाचारस्य = आचारस्य उचितव्यवहारस्य युद्धपादोपसंग्रहणयोरन्यतरानुष्ठानरूपस्य, अविषयः = अप्रसङ्गः, अयुद्ध्यमाने युद्धस्य युयुत्सौ पादोपसङ्ग्रहणस्य चायुक्तेनाभिलाषिताचारपालनं न शक्यं कर्त्तुमिति भावः ।

कि क्षत्रियोंको फिर आधिपत्य मिला, वे फिर धनुष पकड़ने लगे और भुजमदसे उन्मत्त उन क्षत्रियोंका उच्छृङ्खल चरित मुझे फिर सुनना पड़ रहा है ॥ २९ ॥

राम—असीमतेज तथा पराक्रमसे प्रख्यात यशोनिधि अमिथ्यागर्वसे पूर्ण मुनि परशुराम रोषसे चले आ रहे हैं इस स्थितिमें हमारा हाथ नवशिक्षित धनुर्विद्याके उपयुक्त कार्यको करनेके लिये और चरणवन्दनाके लिये बलात् चलना चाहता है ॥ ३० ॥

किन्तु आचार पालनका यह स्थान नहीं है ।

परशुराम—अजी परिचारको ! दाशरथि राम कहाँ है ?

रामः—अयमहं भोः । इत इतो भवान् ।

जामदग्न्यः—साधु राजपुत्र ! साधु । सत्यमैक्ष्वाकः खल्वसि ।

अन्विष्यतः प्रमथनाय ममापि दर्पा-
दात्मानमर्पयसि जातिविशुद्धसत्त्वः ।
गन्धद्विपेन्द्रकलभः करिकुम्भकूट-
कुट्टाकपाणिकुलिशस्य यथा मृगारेः ॥ ३१ ॥

स्त्रियः—शान्तं पापं शान्तं पापम् । प्रतिहतममङ्गलम् । (सन्तं पावं सन्तं पावम् । पडिहदं अमङ्गलम्)

जामदग्न्यः—(निर्वर्ण्य, स्वगतम्) रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत् ।

चञ्चत्पञ्चशिखण्डमण्डनमसौ मुग्धप्रगल्भं शिशु-

अन्विष्यत इति० जात्या उत्पत्त्या विशुद्धसत्त्वः पवित्रात्मा प्रमथनाय मारणाय अन्विष्यतः मृगयमाणस्यापि मम (पार्श्वं) दर्पात् वीर्यगर्वात् आत्मानम् स्वम् गन्धद्विपेन्द्रकलभः मदगन्धयुक्तश्रेष्ठगजजातिशावकः करिकुम्भकूटकुट्टाकपाणिकुलिशस्य हस्तिशिरोरूपगिरिशृङ्गविदारणक्षमबाहुवज्रस्य यथाऽऽत्मानमर्पयति तथाऽर्पयसि । अत्रोपमया सिंहकर्तृकं गजविदारणमिव मत्कर्तृकं तव विदारणमप्याशुभावीति व्यज्यते । 'कूटोऽस्त्री गिरिशृङ्गे' इति 'कुम्भौ तु पिण्डौ शिरसः' इति च कोषः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

शान्तम् = निवृत्तम् , पापम् = अशुभम् । अमङ्गलम्=अकल्याणम् । प्रतिहतम्= निराकृतम् । रामस्याशुभं निवर्त्तताम्, एतेनाभिधीयमानं रामस्य वधरूपमशुभं मास्त्वित्यर्थः । रमणीयः = सुन्दराकृतिः । आसीदिति भूतकालिकक्रियया रामस्य वधो जातवद् बोध्यते ।

चञ्चत्पञ्चेति० चञ्चन्तः इतस्ततो विप्रकीर्णाः पञ्चशिखण्डाः कतिपये काकपक्षाः

राम—यहीं तो मैं हूँ, आप इधर पधारें ।

परशुराम—साधु राजपुत्र ! साधु, तुम ठीक इक्ष्वाकुवंशज हो ।

मैं तुम्हें मारनेके लिये ढूँढ़ रहा हूँ और जन्मना पवित्रात्मा होनेके कारण तुम अपनेको अर्पित करता है जैसे कोई उत्तम गजशिशु हाथिओंके मस्तकको फाड़नेमें प्रसिद्ध वज्रोपम पाणिवाले सिंहके आगे अपनेको अर्पित कर रहा हो ॥ ३१ ॥

स्त्रियाँ—पाप शान्त हो । अमङ्गलका नाश होवे ।

जामदग्न्य—(देखकर, स्वगत) सुन्दर क्षत्रिय पुत्र था ।

यह शिशु भूषणस्वरूप घुंघराले बाल, सुन्दर प्रगल्भ चेहरा, स्वाभाविक शोभा सम्पन्न

गम्भीरं च मनोहरं च सहजश्रीलक्ष्म रूपं दधत् ।
द्राग्दृष्टोऽपि हरत्ययं मम मनः सौन्दर्यसारश्रिया
हन्तव्यस्तु तथापि नाम धिगहो वीरव्रतक्रूरताम् ॥ ३२ ॥

(प्रकाशम्)

प्रागप्राप्तनिसुम्भशांभवधनुर्द्वेधाविधाविर्भव-
त्क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात् ।
सज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥ ३३ ॥

मण्डनम् भूषणम् यस्य तादृशम् इतस्ततो विकीर्णकतिपयकाकपक्षभूषितम्, मुग्धप्रगल्भम् बालभावेन मुग्धम् वीर्यमहिम्ना प्रौढम् प्रगल्भम्, गम्भीरम् शान्तस्वभावतया दुरवगाहम् मनोहरम् रोचिष्णु सहजश्रीलक्ष्म सामुद्रिकशास्त्रप्रसिद्धस्वाभाविकमहापुरुषलक्ष्मभूतश्रीलावण्यादियुक्तम् च रूपमाकारम् दधत् धारयन् द्राग् दृष्टोऽपि सहसा अद्यैवावलोकितोऽपि अयम् शिशुरूपो रामः सौन्दर्यसारश्रिया रूपसम्पदा मम हन्तुमुद्यताय अपि मनः हरति स्ववशं नयति तथापि एवंविधनेत्रानन्दनरूपसम्पदुपेतत्वेऽपि हन्तव्यस्तु मया वध्यस्तु नाम । अहो वीरव्रतक्रूरताम् वीराचारस्य नैष्ठुर्यम् धिक् । अतिकठिनमिदं वीरव्रतं धिक्, यत्प्रभावेणेदृशं रमणीयं रूपं धारयन्नप्ययं रामो मया निश्चयेन हन्तव्य इति भावः । 'शिखण्डः पिच्छचूडयोः' इति रत्नमाला । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

प्रागप्राप्तेति० प्राक् पूर्वम् अप्राप्तः अनासादितः निसुम्भः नमनम् भङ्गो वा येन तादृशम् यत् शाम्भवम् हरसम्बन्धि धनुः कार्मुकमृतस्य या द्वेधा विधा द्वैधीकरणं भङ्गः तेन आविर्भवन् उत्पद्यमानः यः क्रोधः परशुरामनिष्ठः कोपः तेन प्रेरितः भीमो भयङ्करः यः भीमः भीषणकर्मा भार्गवस्य परशुरामस्य भुजः बाहुः स एव स्तम्भः पुष्टदीर्घतया स्तम्भ इव तेन अपविद्धः क्षिप्तः अत एव च अशिथिलः वेगवत्तरः तथा उज्ज्वालः ज्वालाजालमुद्गिरन् (सः) मे परशुः क्षणात् क्षणमात्रेण त्वत्कण्ठपीठातिथिः त्वत्कण्ठरूपे पीठेऽवस्थितः भवतु जायताम्, येनानेन परशुना देवो हरः जगत्सु लोकेषु खण्डपरशुः अर्धीकृतनिजपरशुः ख्याप्यते उद्घोष्यते ।

गम्भीर तथा मनोहर रूप धारण करने वाला होनेके कारण एकवार देख लेनेपर अपने सौन्दर्यसे हमारे हृदयको आकर्षित कर रहा है, फिर भी इसे मारना है, वीरव्रतकी क्रूरताको धिक्कार है ॥३२॥

(प्रकाशमें) पहले कभी नहीं आनमित शिवधनुके खण्डित होनेसे उत्पन्न कोपवश परशुराम द्वारा चलाया गया दीप्त यह कुठार तुम्हारे गलेका अतिथि बने जिस कुठारने संसारमें शिवकी खण्ड परशु ख्यात किया है ॥ ३३ ॥

स्त्रियः—हा धिक् हा धिक् । प्रज्वलितः खल्वेषः । (हद्धी हद्धी । पज्जलिदो क्खु एसो)

रामः—(सधैर्यबहुमानं निर्वर्ण्य) अयं स किल यः सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन सहस्रपरिवत्सरान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः ।

सख्यः—भर्तृदारके ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । हृदयनिर्वर्तितबहुमानो निष्कम्पधीरगुरुकत्वेनापहसतीव भगवतो भार्गवस्यायुधं भर्तृदारकः (भट्टिदारिए ! पेक्ख पेक्ख । हिअअणिव्वत्तिदबहुमाणो णिक्कम्पधीरगुरुअत्तणेण ओअहसदि विअ भअवदो भग्गवस्स आउहं भट्टिदारओ)

कदापि केनापि पूर्वं न नमितं हरधनुस्त्वभञ्जयः, तेन क्रुद्धो भीमो भार्गवभुजः स्वं परशुं क्षिपति, अयमतिवेगो दीप्तश्च परशुराश्वेव त्वत्कण्ठपीठे पतति, योऽयं परशुः शिवेनैव स्वशिष्याय मह्यमुपहृत इति तात्पर्यम् । अत्रागच्छतः परशोरनिवारणीयत्वद्योतनायातिथित्वेन रूपणमतिथेश्च पीठाधिष्ठायित्वस्यौचित्यात् कण्ठस्य पीठता । 'भूतेशः खण्डपरशुः' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

प्रज्वलितः = क्रोधाविष्टः । एषः=परशुरामः ।

सपरिवारकार्त्तिकेयविजयावर्जितेन=ससैन्यस्कन्दविजयाकृष्टेन । नीललोहितेन = शिवेन । सहस्रपरिवत्सरान्तेवासिने=वर्षसहस्रं यावत् शिष्यत्वं भजमानाय । इदमुपहासगर्भं विशेषणम् । प्रसादीकृतः=अनुगृह्य प्रदत्तः ।

हृदयनिर्वर्त्तितबहुमानः = मनसा सम्मानं कुर्वन् । निष्कम्पधीरगुरुकत्वेन=अचलगम्भीरगौरवेण । उपहसति=परिहसति, सचायं परिहासः पूर्वोक्त तद्वचसि स्फुटमवसीयते–सहस्रपरिवत्सरान्तेवासिन इत्यत्र । अत्र सहस्रं समाः शिष्यभावेन शिवं वरिवस्यते तुभ्यं प्रसन्नेन शिवेन केवलमयं तुच्छः परशुरेव प्रदत्तस्तदयं प्रयासानुरूपफलानवाप्त्युपहासो बोध्यः ।

स्त्रियाँ—हा धिक्, यह तो धधका हुआ है ।

राम—(धैर्य तथा आदरसे देखकर) यही वह परशु है जिसे हजार वर्षों तक शिष्य रहने और ससैन्य कार्त्तिकेयको परास्त करनेपर शिवजीने आपको प्रसाद करके दिया था ?

सखियाँ—राजकुमारी ! देखो देखो, हृदयमें आदर लिये अपनी अचलधीरतासे कुमार भार्गवके अस्त्रका उपहास-सा कर रहे हैं ।

(सीता सविस्मयास्रं पश्यति)

जामदग्न्यः—(स्वगतम्) आश्चर्यम् । अन्य एवायं प्रकारः । किमपि चैतदसंविज्ञातनिबन्धनं माहात्म्यं सौजन्यं चोत्साहसंरम्भगम्भीरश्च पौरुषावष्टम्भः । (प्रकाशम्) आं दाशरथे ! स एवायमाचार्यपादानां प्रियः परशुः।

सख्यः—क्षणं तु प्रशान्तरोषस्येवालापः । (क्खणं तु पसण्णरोसस्स विअ आलावो)

जामदग्न्यः—

अस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणानां सैन्यैर्वृतोऽपि जित एव मया कुमारः ।
एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसादः प्रादादिमं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे ॥३४॥

सविस्मयास्रम्=विस्मयेनाश्चर्येणास्रेणाश्रुणा च सहेत्यर्थः। विस्मयश्च तादृशभयहेतूपस्थितावपि रामस्याकम्पधैर्यदर्शनेन, अस्रं चैवमुपहसितोऽयं भार्गवः कमनर्थं करिष्यतीति चिन्तयेति बोध्यम् ।

अन्य एवायं प्रकारः=परेषु वीरपुरुषेषु दृष्टात् प्रकाराद्विलक्षणोऽस्य व्यवहारः, असंविज्ञातनिबन्धनम=अचिन्त्यहेतुकम् । उत्साहसंरम्भगभीरः=स्थेयसा प्रयत्नेन संरम्भेण क्रोधेन च गभीरः दुर्ज्ञेयः । पौरुषावष्टम्भः=पुंस्त्वस्थैर्यम् । आमित्यभ्युपगमे । आचार्यपादानाम्=अस्मद्गुरोः शिवस्य ।

प्रशान्तरोषस्य=अपगतकोपस्य । आलापः=वाक्प्रवृत्तिः ।

अस्त्रप्रयोगेति० अस्त्रप्रयोगस्य धनुर्वेदाभ्यासस्य (समये) या खुरलीलक्ष्यभेदपरीक्षा तत्र कलहे प्रतिस्पर्द्धारूपे विवादे सैन्यैः प्रमथसैनिकैः वृतः युक्तः अपि कुमारः स्कन्दः एव मया जितः परास्तः कृतः। प्रियगुणः गुणपक्षपाती भगवान् सर्वविधैश्वर्यपूर्णः मे मम गुरुः शिवः एतावतापि स्वल्पेनाप्यमुना स्कन्दजयेनापि कृतप्रसादः कृतानुकम्पः परिरभ्य स्नेहवशान्मामाश्लिष्य इमं परशुं प्रादात् मह्यं दत्तवान् । सैन्यैर्वृतोऽपि कुमार एव मया जितो न कोऽप्यन्यो वीरयोद्धा, तावतैव मम विक्रमेण शिवस्य प्रसादोक्त्या स्वस्याभिमानो व्यक्तः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

(सीता आंसू और आश्चर्यके साथ देखती है)

जामदग्न्य—(स्वगत) आश्चर्य ! यह तो कुछ दूसरा ही प्रकार है । कारणतः अज्ञात यह कुछ विलक्षण महत्ता सौजन्य, उत्साह गम्भीरतासे पूर्ण पौरुष है । (प्रकाश) हाँ दशरथ पुत्र ! यही वह हमारे गुरुदेवका कुठार है ।

सखियाँ—क्षणिक आलापमें तो कोपशान्त प्रतीत हो रहा है ।

जामदग्न्य—अस्त्र प्रयोगकी होड़में सैन्यगणसमेत स्कन्दको मैंने जीत लिया, इतने ही से गुणग्राही गुरुदेवने हमारा आलिङ्गन करके यह कुठार उपहारमें दे दिया ॥ ३४ ॥

रामः—(स्वगतम्) कथमेतावतापीत्याह । अहो गर्वगौरवस्याभोगः । (प्रकाशम्) अतश्च भगवन् ! द्यावापृथिव्योर्विततस्ते वीरवादः ।

येनैव खण्डपरशुर्भगवान्प्रचण्डश्चण्डीपतिस्त्रिभुवनेषु गुरुः प्ररूढः ।
तेनैव तारकरिपोर्विजयार्जितेन दीप्तिं गता परशुराम इति श्रुतिस्ते ॥३५॥

किंच—

उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान् देवः पिनाकी गुरुः
शौर्यं यत्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः ।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः

एतावताऽपीत्याह = स्कन्दविजयं न बहुमन्यत इत्यर्थः । गर्वगौरवस्याभोगः = गर्वाधिक्यस्य विस्तारः । अतः=रुद्रप्रदत्तपरशुप्राप्तेः । द्यावापृथिव्योः = भुविव्योम्नि च । विततः = विस्तारङ्गतः । वीरवादः = वीरप्रशस्तिः, वीरत्वप्रयुक्तं यश इत्यर्थः ।

येनैवे न० येनैव परशुना भगवान् सामर्थ्यशाली प्रचण्डः कोपनः चण्डीपतिः गुरुः शिवः त्रिभुवनेषु लोकत्रये खण्डपरशुः इति प्ररूढः विख्यातः, तारकरिपोर्विजयार्जितेन स्कन्दविजयोपलब्धेन तेनैव परशुना परशुराम इति ते तव प्रसिद्धिः ख्यातिः दीप्तिम् प्रकाशं गता प्राप्ता । एक एव परशुस्तव तव गुरोः शिवस्य चेति तत्तुलितपराक्रमस्त्वमसीति व्यज्यते । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ ३५ ॥

उत्पत्तिरिति० भगवतः तव जामदग्न्यस्य जगदाग्नितः उत्पत्तिः जन्म भगवान् सर्वसामर्थ्यशाली देवः पिनाकी हरः गुरुः वेदधनुर्वेदयोरुपदेष्टा, यत् तव वीर्यम् पराक्रमः तत्तु गिराम् वाचाम् पथि वर्त्मनि न वाचामगोचरमित्यर्थः । ननु तस्य वीर्यस्य वाचामगोचरत्वे किं मानं तत्राह–ननु इति० तद्धि कर्मभिः स्कन्दविजयप्रभृतिः कर्मभिः व्यापारैः व्यक्तम् प्रमापितम् । किञ्च (भगवतः) त्यागः स्ववस्तुनः परेभ्यः प्रतिपादनरूपमौदार्यम् सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः—सप्तानां समुद्राणां समाहारः सप्तसमुद्रम् तेन मुद्रिता परिवृता या मही पृथ्वी तस्याः निर्व्याजं ख्यात्यादिनिरपेक्षम् यत् दानम् कश्यपाय प्रतिपादनम् अवधिः सीमा यस्य तथा॥

राम—क्यों, ये 'इतने ही से' कहते हैं । आश्चर्य है इनका गर्व । (प्रकाश) इसीसे तो आपकी वीरता सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

जिस परशुके टुकड़ेको लेकर महादेव संसारमें खण्डपरशु इस नामसे प्रख्यात है, तारकरिपुके जीतनेके कारण लभ्यमान उसी परशुके टुकड़ेसे आप परशुराम कहलाने लगे॥३५॥

जमदग्नि आपके जन्मदाता हैं, महादेव गुरु हैं, आपका जो पराक्रम है वह वचनोंसे नहीं कहा जा सकता है, सप्त समुद्रवेष्टित इस पृथ्वीका निर्व्याज दान आपका त्याग है, क्षात्र और ब्रह्मतेजके निधानभूत आपका सब कुछ लोकोत्तर ही है ॥ ३६ ॥

क्षत्रब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम् ॥ ३६ ॥

सख्यः—जानाति महाभागो गुरुषु रमणीयं मन्त्रयितुम् । (जाणादि महाभाओ गुरुसु रमणिज्जं मन्तिदुम्)

जामदग्न्यः—

राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥ ३७ ॥
हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छितं मे ।

(एवम्) क्षत्रब्रह्मतयोनिधेः क्षत्रियोचिततेजसः ब्राह्मणोचिततपसश्च निधेः आश्रयभूतस्य भगवतः तव किन्न लोकोत्तरम् सर्वातिशायि । जमदग्निजातत्वेन वंशशुद्धिकृत उत्कर्षः सूचितः, देवः पिनाकी गुरुरिति च धनुर्वेदादिसम्प्रदायशुद्धिस्तया च तत्र लोकोत्तरोत्कर्षः, त्याग इत्यादिनाचौदार्यप्रतिपादनेन मानसिकलोभाभावव्यञ्जनद्वारा सत्त्वशुद्धिरुक्ता, तदिदं सर्वं मिलित्वा भगवतो जामदग्न्यस्य लोकोत्तरतां गमयतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

राम रामेति० हे राम राम, सम्बोधने द्विरुक्तिर्हार्दं प्रकाशयितुम् । आशयस्य गुरुद्विजभक्त्यादिरूपस्य मनोव्यापारस्य सदृशीम् अनुरूपाम् नयनाभिरामतां चक्षुःप्रियताम् समुद्वहन् धारयन् अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः अचिन्त्यज्ञानशक्त्यादिगुणसौन्दर्यः त्वम् सर्वथा सर्वैः प्रकारैः एव मे मम हृदयङ्गमः प्रियः असि । हृदयसौन्दर्योपमितां कायसुन्दरतां दधानो गुणरमणीयश्च त्वं मेऽतीव रोचस इत्याशयः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ३७ ॥

हेरम्बेति० हेरम्बस्य गणेशस्य दन्तमुसलेन मुसलसदृशदन्तेन उल्लिखिता क्षता एकभित्तिः एकभागो यत्र तादृशमित्येकं वक्षोविशेषणम् । भित्तिवक्षसो रूप्यरूप्यकभावो वक्षसः परिणाहम् , उल्लिखितपदं च उत् उपरि लेख इति व्युत्पत्त्या वक्षसः काठिन्यञ्च गमयति । एकदन्ततया हेरम्बस्यैकैव भित्तिरुल्लिखितेति बोध्यम् । विशाखविशिखव्रणलाञ्छितम् कार्त्तिकेयबाणप्रहारजन्यव्रणचिह्नितम् मे मम वक्षः

सखियाँ—महाभाग कुमार गुरुजनके साथ सुन्दर तरीकेसे बातें करना खूब जानते हैं।

जामदग्न्य—राम ! हृदयकी तरह सुन्दर आकृति धारण किये हुए हो तुम, और तुम्हारे गुणकी रमणीयता अतर्क्य है, इस प्रकार तुम हमारे दिलमें बस गये हो ॥ ३७ ॥

हेरम्बके दन्तरूप मुसलसे आहत, विशाके बाणोंके प्रहार चिह्नसे युक्त हमारी यह छाती, मैं ठीक कहता हूँ, तुम्हें लिपटा लेना चाहती है, और तुम्हारे जैसे अनोखे वीरको पाकर रोमाञ्चसे व्याप्त हो रही है ॥ ३८ ॥

रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभात्सत्यं ब्रवीमि परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ॥

सख्यः—भर्तृदारिके ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व भर्तुः सौभाग्यम् । त्वं खलु नित्यं पराङ्मुख्यात्मानं वञ्चयसि । (भट्टिदारिए ! पेक्ख पेक्ख भत्तुणो सोहग्गम् । तुमं क्खु णिच्चं परांमुही अत्ताणं वञ्चेसि)

(सीता सास्रं निःश्वसिति)

रामः—भगवन् ! परिरम्भणं प्रस्तुतप्रतीपमेतत् ।

सीता—धीरमसृणो माहात्म्यशोभितोऽस्य विनयः । (धीरमसिणो माहप्पसोहिदो से विणओ)

जामदग्न्यः—(स्वगतम्) अहो ! परगुणोत्कर्षपरिणामग्राहि सौजन्य-

उरोदेशः अद्भुतवीरलाभात् आश्चर्यकरत्वादृशवीरलाभात् रोमाञ्चकञ्चुकितम् , रोमहर्षपरिवृत्तम् सत् त्वाम् परिरब्धुम् आलिङ्गितुम् इच्छति इव । (इति) सत्यम् तत्त्वभूतम् ब्रवीमि ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १८ ॥

सौभाग्यम् = भाग्यवत्त्वातिशयम् , यदेतादृशो भयङ्करोऽपि मुनिरित्थं व्याहरतीत्यर्थः । पराङ्मुखी = मुग्धात्वाल्लज्जापारवश्येनान्यतो दत्तदृष्टिरित्यर्थः । वञ्चयसि=विप्रलभसे, यदेवं विधं भर्त्तुः शत्रुमुखात्स्तुतिरूपं सौभाग्यं न पश्यतीति भावः।

परिरम्भणम् = आलिङ्गनम् , प्रस्तुतप्रतीपम् = प्रस्तुतस्य प्रकृतस्य प्रमथनस्य प्रतीपम् प्रतिकूलम् । प्रमथनप्रवृत्तस्य तव परिरम्भणमनोरथो विपरीत इत्यर्थः । धीरमसृणः = प्रस्तुतप्रतीपत्वोक्त्या परिरम्भणप्रस्तावस्यात्यन्तानभ्युपगमात्तस्य धीरत्वम् , मसृणत्वं च विनयेन । माहात्म्यशोभितः = अशक्तो हि विनीतो नाभिनन्द्यते, बलवतस्त्वस्येदृशो विनयो नितान्तप्रशस्य इति भावः ॥

परगुणोत्कर्षपरिणामग्राहि=अन्यदीयगुणगरिम्णः फलं जानत् । सौजन्यपूतम् = सद्व्यवहारपवित्रम् । राजन्यपोतस्य = क्षत्रियकुमारस्य । अयं हि क्षत्रियकुमारः सौजन्यपूर्णे हृदये परकीयान् गुणान् फलपर्यन्तं जानातीति वाक्यार्थः ।

सखियाँ—राजकुमारी ! देखो, देखो, अपने स्वामीका सौभाग्य देखो । तुम बराबर पराङ्मुखी रहकर अपनेको इस सौभाग्यसे वञ्चित रखती हो ।

(सीता रोती और निःश्वास छोड़ती है)

राम—महाराज! आलिङ्गन तो प्रकृत विरुद्ध होगा ।

सीता—इनका तो गम्भीर तथा माहात्म्य शोभित है ।

जामदग्न्य—(स्वगत) अहा ! इस राजपुत्रका अन्तःकरण कितना परगुणग्राही तथा सौजन्यपूर्ण है । परन्तु वास्तविकमें अहङ्कार निगूढ़ तथा निपुणबुद्धिवेद्य है ।

पूतमन्तःकरणमस्य राजन्यपोतस्य। पारमार्थिकविनयदुर्विभाव्यो निपुणबुद्धिग्राह्यो महानहङ्कारग्रन्थिः।

अप्राकृतस्य चरितातिशयस्य भावैरत्यद्भुतैर्मम हृतस्य तथाप्यनास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयसामर्थ्यसारसमुदायमयः पदार्थः॥३९॥

सम्भाव्यसप्तभुवनाभयदानपुण्यसम्भारमस्य वपुरत्र हि विस्फुरन्ति।
लक्ष्मीश्च सात्त्विकगुणज्वलितं च तेजो धर्मश्च मानविजयौ च पराक्रमश्च॥

पारमार्थिकविनयदुर्विभाव्यः = वास्तविकनम्रतयाऽप्रकाशः। निपुणबुद्धिग्राह्यः = सूक्ष्ममतिज्ञेयः। अहङ्कारग्रन्थिः = गर्वबन्धः। विनयच्छन्नोऽस्याहङ्कारो निपुणमतिभिरेव बोध्यो न साधारणजनैरिति भावः।

अप्राकृतस्येति० अप्राकृतस्य साधारणजनविलक्षणस्य चरितातिशयस्य वृत्तगौरवस्य अत्युद्भुतैः आश्चर्यजनकैः भावैः स्वभावैः हृतस्य आकृष्टस्य तथापि आश्चर्यवशान्मम वशीभूतस्यापि अनास्था अनादरः। असाधारणमिदमीयं गुणगौरवं वीक्ष्य परिरम्भणेच्छां प्रकटीकृतवतो मे 'प्रस्तुतप्रतीपमिदम्' इत्युक्त्याऽवमाननमिति भावः। वीरशिशुकाकृतिः वीरबालकरूपः रामात्मना भासमानः एषः कोपि अप्रमेयसामर्थ्यसरसमुदायमयः अनन्तसामर्थ्यानामुत्तमांशरूपः पदार्थः विद्यत इति शेषः। अस्मिन् वीरबालके रामेऽनन्ताः शक्तयो निहिता यद् गौरवेणायं मामपि नास्थया पश्यतीति भावः॥ ३९॥

सम्भाव्येति० अस्य रामस्य वपुः आकृतिः सम्भाव्य सप्तभुवनाभयदानपुण्यसम्भारम् सम्भाव्य आशंसनीयः सप्तभुवनेभ्यः अभयदानस्य पुण्यसम्भारो यत्र तादृशम् सप्तभ्योऽपि भुवनेभ्योऽयमभयं वितरीष्यति, तत्कृतं पुण्यस्तोमं चावाप्स्यतीदृशी सम्भावनाऽस्य वपुषो विलोकनेन स्फुटं प्रतीयत इत्यर्थः। अत्र एतद्वपुषि हि लक्ष्मीः असाधारणी शोभा, सात्त्विकगुणज्वलितं ज्ञानबलादिद्योतकसत्त्वांशविशदं तेजः प्रतापः, धर्मः, मानविजयौ प्रतिष्ठाप्रतिपन्थिपराभवौ, पराक्रमश्च (इत्येते गुणाः) विस्फुरन्ति स्फुटं प्रतीयन्ते। पूर्वोक्तमेव वृत्तम्॥ ४०॥

फिर भी इसके असाधारण चरितके उत्कर्ष पर इतना आकृष्ट हूँ कि हमारी उस अहङ्कार पर अनास्था हो गई है, यह वीरबालक रूपधारी अनन्त सामर्थ्य सारमय पदार्थ है॥ ३९॥

इसका शरीर ऐसा मालूम पड़ता है कि सप्तभुवनको यह अभयदान दे सकेगा, इसमें लक्ष्मी, सत्त्वगुणसे ज्वलित तेज, धर्म, मान, विजय और पराक्रम स्पष्ट झलकते हैं॥ ४०॥

अयं हि—

त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै।
सामर्थ्यानामिव समुदयः सञ्चयो वा गुणानां
प्रादुर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः ॥ ४१ ॥

हे भवत्यः ! प्रविशत्वियं वधूरभ्यन्तरमेव ।

रामः—(स्वगतम्) एवमेव ।

त्रातुमिति० लोकान् सप्तभुवनानि त्रातुम् अपायेभ्यः रक्षितुम् कायवान् परिणतः शरीरित्वमुपयातः अस्त्रवेदः धनुर्विद्या इव, ब्रह्मकोशस्य अखिलब्रह्माण्डस्य गुप्त्यै रक्षणाय तनुं श्रितः कायं गृहीतवान् क्षात्रो धर्म इव क्षत्रियोचितधर्म इव, सामर्थ्यानाम् सर्वविधप्रभावाणाम् समुदयः राशीभाव इव, गुणानाम् दयादाक्षिण्यादिगुणगणानाम् सञ्चयः एकत्रावस्थानम् इव, प्रादुर्भूय प्रत्यक्षीभावमुपेत्य स्थितः जगत्पुण्यनिर्माणराशिः संसारस्य यत्पुण्यं सुचरितं तस्य निर्माणम् फलम् तद्राशिः पुञ्ज इव। अत्र रामस्योत्प्रेक्षापञ्चकम् , लोकरक्षार्थं मूर्त्तत्वं गतोऽस्त्रवेदोऽयमित्येका, ब्रह्माण्डरक्षायै शरीरित्वं गतः क्षत्रियधर्मोऽयमिति द्वितीया, सामर्थ्यानामयं समष्टिरिवेति तृतीया, दयादाक्षिण्यादीनामयं समूह इति चतुर्थी, प्रत्यक्षीभूय स्थितः संसारपुण्यफलपुञ्जोऽयमिति च पञ्चमी। निर्माणशब्देऽत्र बाहुलकात्कर्मणि ल्युट् , भोजनाः शालय इत्यत्रेव । 'समुदायः समुदयः समवायश्चयो गणः' इत्यमरः । मन्दाक्रान्तावृत्तम् , लक्षणं प्रागभिहितम् ॥ ४१ ॥

इयं वधूः=सीता परशुरामस्य वसिष्ठसगोत्रत्वात्सीतायां वधूत्वव्यपदेशः । अभ्यन्तरम् गृहमध्यम् ।

एवमेव = सीताया अभ्यन्तरप्रवेशो ममापीष्टः, बहुतरगुरुजनस्यात्रोपस्थानादिति भावः ।

यह—ऐसा प्रतीतहो रहा है मानों सकलभुवनकी रक्षार्थकायधारी अस्त्रवेदहो, ब्रह्माण्डकी रक्षाके लिये क्षात्रधर्मने शरीर धारण कियाहो, सामर्थ्यका समूहहो या गुणोंका सञ्चयहो, अथवा जगत् का पुण्यकर्म मूर्त्तिधारण करके खड़ाहो ॥ ४१ ॥

ललनाओ, बहू भीतरही रहे ।

राम—(स्वगत) हां, यही ठीक है ।

(नेपथ्ये)

सीरध्वजो धनुष्पाणिरित एवाभिवर्तते ।
गौतमश्च शतानन्दो जनकानां पुरोहितः ॥ ४२ ॥

सख्यः—भर्तृदारिके ! परागत एव तातः । तदेहि । प्रविशामः । (भट्टिदारिए ! परागदो जेव्व तादो । ता एहि । पविसह्म)

सीता—भगवति ! सङ्ग्रामश्रीरेष तेऽञ्जलिः । (भअवदि ! सङ्गामसिरी एसो दे अञ्जली)

(इति निष्क्रान्ताः स्त्रियः)

जामदग्न्यः—

स एष राजा जनको मनीषी पुरोहितेनाङ्गिरसेन गुप्तः ।
आदित्यशिष्यः किल याज्ञवल्क्यो यस्मै मुनिर्ब्रह्म परं विवव्रे ॥४३॥

सीरध्वज इति० **धनुष्पाणिः चापधरः सीरध्वजो जनक इतः एतद्देशाभिमुखम् एव अभिवर्त्तते आगच्छति ।। जनकानां जनकान्वयसम्भविनाम् राज्ञां पुरोहितः पुरोधाः गौतमः गौतमपुत्रः शतानन्दश्च इत एवाच्छतीत्यन्वयः ॥ ४२ ॥**

परागतः = उपस्थितः । प्रविशामः=अभ्यन्तरगृहं व्रजामः ।

संग्रामश्रीः = युद्धलक्ष्मीः, अञ्जलिः = प्रणामः । एतेन नमनेन मदनुकूला भूया इति प्रार्थना व्यज्यते ।

स एष इति० **मनीषी विद्वान् आङ्गिरसेन अङ्गिरसः पौत्रेण पुरोहितेन शतानन्देन गुप्तः रक्षितः स एष राजा जनकः, यस्मै जनकाय आदित्यशिष्यः सूर्याद् विद्यामधिगतवान् याज्ञवल्क्यो नाम मुनिः परं ब्रह्म परमात्मानं विवव्रे विवृतवान् , उपदेशप्रदानेन ज्ञापितवानित्यर्थः ॥ ४३ ॥**

(नेपथ्यमें)

धनुष्पाणिराजा सीरध्वज और गौतमपुत्र जनकपुरोहित शतानन्द इधरही आरहे हैं ॥

सखियाँ—राजकुमारी, पिताजी आही गये, तब चलिये, भीतर चलें ।

सीता—भगवती-सङ्ग्रामलक्ष्मी, हाथ जोड़ती हूँ ।

(सभी स्त्रियाँ जाती हैं)

जामदग्न्य—अङ्गिरा कुलके पुरोहितसे रक्षित यही मनीषी राजाजनक हैं जिन्हें सूर्यके शिष्य याज्ञवल्क्यके वेदान्तका उपदेश दिया ॥ ४३ ॥

सद्वृत्त एषः । तथापि क्षत्रिय इति शिरःशूलमुत्कोपयति ।

(ततः प्रविशति सम्भ्रान्तो जनकः शतानन्दश्च)

शतानन्दः—राजन् ! किमत्र युक्तम् ?

जनकः—भगवन् ! किमन्यत् ?

ऋषिरयमतिथिश्चेद्विष्टरः पाद्यमर्घ्यं
तदनु च मधुपर्कः कल्प्यतां श्रोत्रियाय ।
अथ तु रिपुरकस्माद्द्वेष्टि नः पुत्रभाण्डं
तदिह नयविहीने कार्मुकस्याधिकारः ॥ ४४ ॥

(इति परिक्रामतः)

सद्वृत्तः = साधुशीलः । शिरःशूलम् = शिरोव्यथाम् । उत्कोपयति = प्रकोपयति, यद्यपि शीलेनायम् कोपयोग्योऽथापि जात्या क्षत्रिय इतीममपि दृष्टवतो मम कोपवेगः शिरःपीडां प्रादुर्भावयतीति भावः ।

ऋषिरयमिति० अयम् ऋषिः जामदग्न्यः अतिथिः चेत् अतिथिभावेनागतश्चेत् श्रोत्रियाय वेदाध्ययनशीलाय विष्टरः आसनम् उपकल्प्यताम् आनाय्यताम् पाद्यम् पादार्थमुदकम् उपकल्प्यताम्, अर्घ्यम् आचमनाद्यर्थं च जलम् उपकल्प्यताम् । अत्र सर्वत्र क्रियाया अध्याहारः कर्त्तव्यः । तदनु आसनपाद्यार्घ्यप्रदानान्तरम् मधुपर्कः मधुयुतं दधि कल्प्यताम् उपह्रियताम् । 'गोमधुपर्कार्हो वेदाध्यायः' इत्यापस्तम्बवचनानुसारेयमुक्तिः, मधुपर्कस्वरूपं यथा—'मधुपर्कश्च दधिमधुसंसृष्टम्, पयो वा मधुसंसृष्टम्, अभावे उदकम्' इति । अथ तु पक्षान्तरे रिपुः शत्रुः सन् अकस्मात् किमपि कारणं विनैव नः पुत्रभाण्डम् रामस्वरूपपुत्रात्मकं मूलधनम् द्वेष्टि द्वेषपात्रीकरोति तत् तदा नयविहीने न्यायादपेते इह परशुरामे कार्मुकस्य धनुषः अधिकारः उपयोगः कार्य इति । मालिनीवृत्तम् , लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ४४ ॥

यह सदाचारी हैं, फिर भी क्षत्रिय हैं इससे हमारा माथा दुखता है ।

(वेगमे जनक तथा शतानन्द का प्रवेश)

शतानन्द—राजन् ! इसमें क्या उपयुक्त होगा ?

जनक—महाराज और क्या ? अगर यह ऋषि हैं तो इन्हें आसन पाद्य अर्घ्य दिये जांय, फिर श्रोत्रियोचित मधुपर्क दिया जाय । यदि शत्रु हैं हमारे पुत्ररूप धनपर बुरी दृष्टि रखते हैं तो इस अनैतिक जनपर धनुष का प्रयोग हो ॥ ४४ ॥

(चलते हैं)

रामः—किमित्यतिबाष्पायितं भगवता ?

जामदग्न्यः—न किञ्चित्। किन्तु—

सम्भूयैव सुखानि चेतसि परं भूमानमातन्वते
यत्रालोकपथावतारिणि रतिं प्रस्तौति नेत्रोत्सवः।
स त्वं नूतन एव कङ्कणधरः श्रीमान्प्रियश्चेतसो
हन्तव्यः परिभूतवान्गुरुमिति प्रागेव दूयामहे ॥ ४५ ॥

रामः—भार्गव ! ज्ञायते मामनुकम्पस इति।

अतिबाष्पायितम् = अत्यर्थं बाष्पमुद्गमितम्, रुदितमित्यर्थः। 'बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने' इति बाष्पशब्दात् क्यङि बाष्पायते, ततो भावे क्तः ॥

सम्भूयेति० यत्र त्वयि आलोकपथावतारिणि दृष्टिविषयीभूते सुखानि आनन्दाः सम्भूय अहमहमिकयोपसृत्य मिलित्वा च चेतसि हृदये परम् भूमानं महान्तम् विस्तारम् आतन्वते, तथा (यत्रालोकपथावतारिणि) नेत्रोत्सवः नयनानन्दः रतिं प्रस्तौति स्नेहं प्रकाशयति। स त्वं नूतनः कङ्कणधरः अनतिचिरनिर्वृत्तविवाहसूचकमङ्गलसूत्रोपेतपाणिः श्रीमान् सुश्रीः चेतसः प्रियः हृदयानन्दनः (अपि) गुरुम् आचार्यम् महादेवम् परिभूतवान् तत्कार्मुकभञ्जनादवमतवानिति हेतोः हन्तव्यः मारणीयः इति हेतोः (मारणात्) प्रागेव पूर्वमेव दूयामहे खिद्यामहे। अयमर्थः—त्वां दृष्ट्वा हृदये आनन्दाः प्रादुरासते नेत्रं तृप्यति, त्वं श्रीसम्पन्नः सद्यो जातविवाहश्चासि, सर्वमिदं तवावध्यताहेतुः, परमाचार्यावमाननायाः सर्वथाऽसह्यतयाऽनिच्छन्नपि कर्त्तव्यवाध्योऽहमवश्यं त्वां हनिष्यामि, तदयं मनोधर्मयोर्विरुद्धदिक्त्वं मां वाष्पाकुलनयनं करोतीति। बहोर्लोपो 'भू च बहोः' इति भूमन्पदसिद्धिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४५ ॥

मामनुकम्पसे = मम दयसे, यदधुनावधि नावधीः, शक्यस्तु त्वया मद्वधः कर्त्तुमिति कटुरयमाक्षेपः। 'माम्' 'अनु' 'कम्पसे' इति छित्त्वा मां दृष्ट्वा कम्पसे इत्यर्थोऽपि कटुरेव, परं सग्राम्य इवेति मया नादृतः।

राम—महाराज ! आप क्यों रोने लगे ?

जामदग्न्य—नहीं, कुछ नहीं, किन्तु—जिसे देखनेपर हृदयमें नाना प्रकारके सुखों का सञ्चार हो आता है, आंखें स्नेह प्रकाश करने लगती हैं वही तुम हमारे गुरुका अपमन्ता हो इसलिये अभिनव कङ्कणधारी की हालतमें हमारे हन्तव्य हो रहे हो इसीसे पहले ही खेद हो रहा है ॥ ४५ ॥

राम—भार्गव ! मालूम होता है तुम मुझ पर दया कर रहे हो।

जामदग्न्यः—अरे ! किमुद्भ्रान्तोऽसि ?

अमृताध्मातजीमूतस्निग्धसंहननस्य ते ।
कुठारः कम्बुकण्ठस्य कष्टं कण्ठे पतिष्यति ॥ ४६ ॥

रामः—आः ! सत्यमेव करुणया परिक्षिप्तोऽसि ।

जामदग्न्यः—मय्येव भ्रुकुटीधरः संवृत्तः । अरे क्षत्रियडिम्भ ! त्वं किल शिशुर्नववधूटिकापरिग्रहः सुन्दर इत्यपूर्वमुपतप्यतेऽस्माभिः ।

सुप्रसिद्धः प्रवादोऽयमितिहेताह गीयते ।

उद्भ्रान्तः=अनवस्थचित्तः, यदेवं मामाक्षिपसीत्यर्थः ।

अमृतेति० अमृतेन जलेन आध्मातः पूरितः यः जलदः मेघः तद्वत् स्निग्धम् रमणीयं संहननम् गात्रं यस्य तस्य जलपूर्णजलदसुन्दरतनोः कम्बुकण्ठस्य शङ्खकण्ठस्य ते तव कण्ठे कुठारः मम परशुः पतिष्यति इति कष्टम् । एतादृशसौन्दर्ययुतोऽपि त्वं हन्तव्य इति चेखिद्यते चित्तम् इति भावः । 'शङ्खः स्यात्कम्बुरस्त्रियाम्' इति कोशः । 'रेखात्रयाङ्किता ग्रीवा कम्बुग्रीवेति कथ्यते' इति हलायुधश्च । 'गात्रं संहननं वपुः' इत्यमरः ॥ ४६ ॥

करुणया=दयया । परिक्षिप्तः=गृहीतचित्तः ।

भ्रुकुटीधरः=कोपेन विकृतां भ्रुवं दधानः, कुपित इत्यर्थः । क्षत्रियडिम्भः=क्षत्रियबालकः । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इति कोशः । शिशुः=बालः । नववधूटिकापरिग्रहः=सद्यःकृतपाणिग्रहणः । सुन्दरः=रम्यरूपः । अपूर्वम्=इदं प्रथमम्, इतः पूर्वं मया स्थितावीदृश्यामपि नातप्यत, परं तव रूपं वयो नवपरिणयं च दृष्ट्वा ममापि हृदयं तप्यत इत्यर्थः ।

सुप्रसिद्ध इति० जामदग्न्यः जमदग्नेरपत्यम् पुमान् परशुरामः स्वयम् मातुः जनन्याः रेणुकायाः मूर्द्धानम् शिरः अच्छिनत् खण्डितवान् इह जगति अयं प्रवादः सुप्रसिद्धः प्रख्यातः इतिह ऐतिह्यम् । 'पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाव्ययम्'

जामदग्न्य—अरे, क्या तुम पागल हो गया है ?

अमृतपूर्ण मेघके समान अङ्गोंवाले तुम्हारे कम्बुतुल्य कण्ठमें यह कुठार लगाना होगा, खेद है ॥ ४६ ॥

राम—आः ! ठीक ही तुम दयापराधीन हो रहे हो ।

जामदग्न्य—मुझपर ही भवें टेढ़ी कर रहा है, अरे क्षत्रिय कुमार ! तुम बच्चा है, तुम्हारी अभी अभी शादी हुई है, इससे अवश्य हमको प्रथम प्रथम ताप हो रहा है ।

यह प्रवाद प्रसिद्ध है—यहाँ वहाँ सर्वत्र कहा जाता है, कि परशुरामने स्वयं अपनी मांका शिर काट लिया ॥ ४७ ॥

जामदग्न्यः स्वयं रामो मातुर्मूर्धानमच्छिनत् ॥ ४७ ॥

अपि च—रे मूढ !

उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसंतानरोषा-
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विधमतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान-
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥

इत्यमरः । 'पुरा भार्गवजननी रेणुका पत्युर्जमदग्नेः सकाशाज्जलाहरणार्थं नर्मदांगता बहुभिः कामिनीभिर्जलक्रीडापरायणं कार्त्तवीर्यं तत्रापश्यत्, तद्दर्शनक्षपितकालायां विलम्ब्यागतायां च तस्यां क्रोधाविष्टो जमदग्निस्तां हन्तुं पुत्रानादिदेश, अन्ये पुत्रास्तद्वचो नामन्यन्त, केवलमेकः परशुरामः पितुराज्ञया तस्याः स्वजनन्या रेणुकायाः शिरोऽच्छिनत्' इति कथात्रानुसन्धेया ॥ ४७ ॥

उत्कृत्येति० क्षत्रसन्तानरोषात् क्षत्रियजातौ क्रोधात्कारणात् गर्भान् निरपराधान् अकिञ्चित्करांश्च गर्भपिण्डान् उत्कृत्योत्कृत्य असकृच्छित्त्वा शकलयतः खण्डखण्डं कुर्वतः, उद्दामस्य उदीर्णस्य सर्वतः सर्वासु दिक्षु राजवंश्यान् क्षत्रियान् एकविंशत्यवधि एकविंशतिवारान् विधमतः नाशयतः, तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान-क्रोधाग्नेः क्षत्रियरक्तभृतजलाशयस्नानमन्दक्रोधपावकस्य पित्र्यं पितृकर्म तेन क्षत्रिय-रक्तेन तर्पणं कुर्वतः मे मम परशुरामस्य स्वभावः प्रकृतिः सर्वभूतैः सर्वैः प्राणिभिः न खलु न विदितः सर्वैर्ज्ञात एव। क्षत्रियजातौ क्रोधाद्गर्भानपि खण्डयतः त्रिःसप्त-कृत्वो राजवंश्यान्विनाशितवतः' तद्रक्तपूर्णह्रदे स्नात्वा पितृतर्पणं कृत्वा च शान्तको-पपावकस्य मम स्वभावमत्र जगति सर्वेऽपि प्राणिनो जानन्तीति भावः। 'सवनं सोमनिष्पेषे जननस्नानयोरपि' 'जलाशया जलाधरास्तत्रागाधजलो ह्रदः' इति 'पुरा कार्त्तवीर्यो मृगयां चरन् जमदग्नेराश्रममागतो जमदग्निना दिव्यैर्भोगैः सत्कृतश्च होमधेनुप्रसादात्। तं होमधेनुप्रभावमालोक्य लुब्धः कार्त्तवीर्यो धेनुमेव ग्रहीतुमि-च्छन्मुनिना प्रत्याख्यातः, प्रत्याख्यानप्रकुपितश्चासौ तां धेनुं बलाज्जहार, अथागतं परशुरामं तत्पिता सर्वं धेनुहरणवृत्तान्तमाख्यत्तेन च पित्रवमानेन कुपितः परशुरामः कार्त्तवीर्यस्य राजधानीमुपेत्य तं हत्वा धेनुप्रत्यानीतवान्। अथैकदा परशुरामे स्थाना-

और—मूर्ख! क्षत्रिय विषयक क्रोधसे गर्भोंको निकाल कर काटा, उद्दण्ड होकर इक्कीस वार समस्त राजकुलका संहार किया। उनके रक्तसे बने सरोवरमें स्नान तर्पण करनेसे जो आनन्द हुआ उससे हमारी कोपाग्नि कुछ शान्त हुई, क्या तुम सर्वविदित हमारे स्वभावको नहीं जानते ॥ ४८ ॥

रामः—नृशंसता हि नाम पुरुषदोषः । तत्र का विकत्थना ?

जामदग्न्यः—आः निर्भय क्षत्रियबटो ! अति नाम प्रगल्भसे ।

प्रहर नमतु चापं प्राक्प्रहारप्रियोऽहं
मयि तु कृतनिघाते किं विदध्यात्परेण ।
झटिति विततवह्न्युद्गारभास्वत्कुठार-
प्रविघटितकठोरस्कन्धबन्धः कबन्धः ॥ ४९ ॥

जनकशतानन्दौ—वत्स रामभद्र ! विश्वस्य तावदास्स्व ।

न्तरगते हैहयाः कार्त्तवीर्यवधजनितामर्षाः समभ्येत्य जमदग्निं हतवन्तस्ततश्च पितृवधजनितक्रोधदीप्तः परशुरामः एकविंशतिवारान् क्षत्रियान्सर्वानेव निहत्य पितरं तर्पयिष्य इति प्रतिज्ञातवाँस्तथैव कृतवाँश्चेति पुराणकथा । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ४८ ॥

नृशंसता = निष्ठुरता, पुरुषदोषः = पुरुषापराधः, अपराधिनां दण्डनं न दोषावहं निरपराधानां वधस्तु दोष एव । तत्र = तस्मिन् कार्ये । का विकत्थना = का प्रशंसा ? प्रगल्भसे = धृष्टतामाचरसि ।

प्रहरेति० प्रहर प्रहारं कुरु, चापं धनुर्नमतु नम्रीभवतु ज्यासङ्गतं ते धनुर्बाणं मयि प्रहरतु । अहं प्राक्प्रहारप्रियः शत्रवो मां पूर्वं प्रहरेयुरिति मम प्रियमित्यर्थः । ननु सर्वत्र शत्रवो भवन्त्येव प्रहरेयुरिति कोऽयं नियमस्तत्राह—मयि त्विति० झटिति शीघ्रम् विततो विस्फुरितः वह्निः तस्योद्गारः प्रकटनम् तेन भास्वान् देदीप्यमानः यः कुठारः परशुः तेन प्रविघटितः छिन्नः स्कन्धबन्धः कण्ठदेशो यस्य तादृशः कबन्धः छिन्नगलः प्राणवांश्च शरीरभागः मयि कृतनिघाते विहितप्रहारे परेण परतः किं विदध्यात् । अयमाशयः—शत्रवो मां पूर्वं प्रहरेयुरिति मम प्रियमतश्चापं नमय मां प्रहर यदि चाहं पूर्वं प्रहरेयं तदाऽग्निस्फुलिङ्गोद्गारिणा मम कुठारेण युद्धार्थमागतः शत्रुः सद्य एव कबन्धतां गतः परतः किं कुर्यादिति ॥ 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः । मालिनीवृत्तम् ॥ ४९ ॥

विश्वस्य = विश्वासं कृत्वा, स्वविजये धृतविश्वास इत्यर्थः । आस्स्व = तिष्ठ ।

राम—क्रूरता तो पुरुषका दोष है, इसमें क्या श्लाघा है ?

जामदग्न्य—आः निर्भय क्षत्रियकुमार ! तुम बहुत ढीठ हुआ जा रहा है ।

प्रहार कर, धनुष उठा, मैं पहले अपने पर ही प्रहार चाहता हूं, मैं प्रहार कर दूंगा तब वह क्या प्रहार करेगा ? आग बरसाने वाले हमारे कुठार की धारसे शीघ्र ही उसका गला कट जायगा, स्कन्धसे गला अलग हो जायगा, कबन्ध भर रहेगा ॥ ४९ ॥

जनक-शतानन्द—बेटा राम ! विश्वास करो, ठहरो ।

रामः—कष्टम् । अभ्यनुज्ञापेक्षः संवृत्तोऽस्मि ।

जामदग्न्यः—आङ्गिरस ! अपि सुखम् ?

शतानन्दः—विशेषतस्त्वद्दर्शनात् । अपि च–

त्वं नः पूज्यतमोऽतिथिर्यदि ततः सज्जातिथेया वयं (क)

जामदग्न्यः—त्वं पुरोहितः सुचरितो गृहमेधी याज्ञवल्क्यशिष्यः । तदत्र सर्वं युज्यते । किन्तु नाहमातिथ्यकामः ।

शतानन्दः—

कन्यान्तःपुरमक्रमात्प्रविशता संदूषिता नः स्थितिः । (ख)

जामदग्न्यः—अरण्यवासी ब्राह्मणोऽहमनभिज्ञः परमेश्वरगृहव्यवहारस्य ।

अभ्यनुज्ञापेक्षः = आदेशप्रतीक्षी गुरूपपस्थितेषु तदाज्ञाया ग्रहीतव्यत्वादेषामुपस्थितावाज्ञामादायैव मया योद्धव्यमतो निभृतं तिष्ठामीति भावः । अत्राज्ञाप्रतीक्षापारतन्त्र्यस्य कष्टत्वोक्त्योत्साहातिशयो व्यज्यते, तेन च स्वपराक्रमे विश्वासभूमेति बोध्यम् ।

त्वं न इति यदि त्वम् परशुरामः अस्माकम् पूज्यतमः अतिपूज्यः अतिथिः असि तदा वयम् सज्जातिथेयाः प्रस्तुतातिथ्योचितद्रव्याः उपकल्पितविष्टरपाद्यार्घादिपदार्थाः इत्यर्थः । 'सज्जौ संभृतसन्नद्धौ' इति रत्नमाला । अतिथिषु साधु आतिथेयम्, 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' इति ढञ् ॥ क ॥

सुचारितः = सद्वृत्तः । गृहमेधी = गृहस्थः ।

कन्येति अक्रमात् सहसा कन्यान्तःपुरम् प्रविशता त्वया नः अस्माकम् स्थितिः मर्यादासंदूषिता विकलिता ॥ ख ॥

अरण्यवासी = तपस्यार्थं वनवासी । परमेश्वरगृहाचारस्य = राजगृहव्यवहारस्य ।

राम—कष्ट है कि अनुज्ञाकी अपेक्षा करनी पड़ती है ।

जामदग्न्य—आङ्गिरस ! आनन्दमें हो ?

शतानन्द—मुख्यतः आपके दर्शनोंसे, और—

यदि तुम हमारे पूज्य अतिथि हो तो हम आतिथ्य सत्कारके लिये तैयार हैं । (क)

जामदग्न्य—तुम राजपुरोहित, सदाचारी, गृहस्थ तथा याज्ञवल्क्यके शिष्य हो, तुमसे सब सम्भव है, किन्तु मैं आतिथ्य नहीं चाहता हूँ ।

शतानन्द–कन्याश्रित अन्तःपुरमें अक्रम से प्रवेश कर तुमने हमारी मर्यादा नष्ट की है ? (ख)

जामदग्न्य—मैं वनवासी ब्राह्मण परमेश्वरके घरके व्यवहारको क्या जानूं ?

रामः—(स्वगतम्) शोभत एव दत्तभुवनैकदक्षिणस्य सामन्तेष्वहंकारोत्प्रकाशः ।

जनकः—पापं वाञ्छसि कर्म राघवशिशावस्मत्सनाथे कथं (ग)

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—देव्यः कङ्कणमोचनाय मिलिता राजन् वरः प्रेष्यताम् ॥ ५० ॥

जनकशतानन्दौ—वत्स रामभद्र ! श्वश्रूजनस्त्वामाह्वयति । तद्गम्यताम् ।

रामः—जामदग्न्य ! एवमादिशन्ति गुरवः ।

जामदग्न्यः—क्रियतां लोकधर्मः । पश्यन्तु त्वां ज्ञातयः । किन्तु जनपदेषु न चिरमारण्यकास्तिष्ठन्ति । गन्तुकामोऽस्मि । अतो न कालः परिक्षेप्तव्यः ।

राजान्तःपुरादौ कथं प्रवेष्टव्यमिति मादृशो विरक्तो वनवासी कथं जानीयादिति भावः ।

दत्तभुवनैकदक्षिणस्य = समग्रापि भुवमेकदक्षिणाभावेन दत्तवतः । सामन्तेषु = साधारणमहीपालेषु । अहङ्कारोत्प्रासः = गर्वपरिहासः, आमाशयः—यः समस्तामपि भुवं दक्षिणारूपेण दत्तवाँस्तस्य यदीदृशेषु सामन्तेषु न राजबुद्धिस्तदोचितमेव तस्य तथाभाववत्त्वम् ।

पापमिति० अस्मत्सनाथे मया रक्षकेण सनाथे रक्षकशालिनि राघवशिशौ रघुवंशोद्भवे पापम् कुठारक्षेपरूपं निन्द्यं कर्म कथं वाञ्छसि इच्छसि ? रामस्यास्मत्सनाथत्वात् शिशुत्वाच्च दुःशकं पापत्वादकर्त्तव्यञ्च तत्र कुठारप्रेरणं तत्कथमिच्छसीति भावः ॥ग॥

देव्य इति० कङ्कणमोचनाय वैवाहिकमङ्गलसूत्रविसर्जनरूपाय लौकिकविधये मिलिताः सङ्गताः, राजन्, वरो जामाता रामः प्रेष्यताम् ॥ ५० ॥

लोकधर्मः = लोकाचारप्राप्तं कङ्कणविसर्जनम् । 'पश्यन्तु त्वां ज्ञातयः' एतेन मया त्वमवश्यं वध्यस्तत्क्षणं ज्ञातीन् स्वदर्शनेनानन्दयेति कटुभावो व्यञ्जितः । जनपदेषु = लोकाध्युषितेषु ग्रामनगरादिषु । आरण्यकाः = वनवासिनः । कालो न परिक्षेप्तव्यः = विलम्बो न कार्यः, शीघ्रमागन्तव्यमित्याशयः ॥

राम—(स्वगत) जिसने संसार दक्षिणामें दे डाला हो उसका सामन्तोंके सम्बन्धमे अहङ्कार भला लगता है ।

जनक—हमारे आश्रयमें वर्त्तमान राघवके प्रति अनिष्ट करना क्यों चाहते हो ? (ग)

(प्रवेश करके)

कञ्चुकी—कङ्कणमोचन विधिके लिये देवियाँ इकट्ठी हैं, महाराज! वरको भेजें॥५०॥ (घ)

जनक-शतानन्द—वत्स रामभद्र ! श्वश्रूजनका आह्वान हो रहा है ।

राम—जामदग्न्य ! गुरुजनका यह आदेश है ।

जामदग्न्य—लोकाचार करलो, तुम्हें ज्ञातिजन देख लें, किन्तु गांवमें वनवासी देर तक नहीं ठहरते हैं, मैं जाना चाहता हूँ, विलम्ब मत करना ।

रामः—एवम् । (इति निष्क्रान्तः)

(प्रविश्य)

सुमन्त्रः—भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः ।

पूर्वाङ्केऽस्मिन्नङ्के च मुखसन्धिः प्रतिमुखसन्धिश्चाभिहितः, तत्स्वरूपं यथा—'मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा । अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ॥ उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् । युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ॥ उद्भेदभेदकरणानि इति' दशरूपकादावुक्तम् ।

तत्र—'भद्रमस्तु' 'स्नेहं करोति' इति बीजारम्भसमन्वय उक्तः । बीजारम्भलक्षणं यथा—'स्तोकोद्दिष्टः कार्यहेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा । औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे' इति ।

'अरिष्टतातिमाशास्महे' इति बीजमुखागमरूपप्राप्तिरुक्ता ।

'कथमप्रमेय' इत्यत्र बीजविषय आश्चर्यावेशरूपपरिभावनोक्ता ।

'रामाय पुण्यमहसे' इत्यत्र बीजसुखदुःखहेतुरूपं विधानमुक्तम् ।

'वत्स हन्यताम्' इत्यत्र बीजानुगुणप्रोत्साहनरूपभेद उक्तः ।

'अस्यायमवसरः' इत्यादौ बीजानुगुणप्रस्तुतकार्यारम्भरूपकारणमुक्तम् ।

अनन्तरं प्रतिमुखसन्धिः, तत्स्वरूपं यथा—

'लक्ष्यालक्ष्यस्य बीजस्य व्यक्तिः प्रतिमुखं मतम् । बिन्दुप्रयत्नाभिगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश' ॥ 'विलासः परिसर्पश्च विधूतं नर्मशर्मणी । नर्मद्युतिप्रगमनं विरोधः पर्युपासनम् । वक्त्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि' ॥ प्रथममलक्ष्यस्य धनुर्भङ्गदिव्यास्त्रादिना लक्ष्यस्य च बीजस्य व्यक्तिरूपं प्रतिमुखम् । तत्र च बिन्दुप्रयत्नौ वक्तव्यौ । 'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्' 'प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः' इति ।

अत्र भार्गवप्रवेशो बिन्दुः, अवान्तरविच्छेदहेतुत्वेऽप्युत्तरत्र धनुर्दानादिभिरच्छेदकारणत्वात् ।

'तपस्यते' इत्यादिषु प्रयत्नः स्पष्टः । तत्राङ्गानि लिख्यन्ते—

'सख्यः—कथयत तत्' इति दृष्टनष्टपदार्थानुसरणरूपः परिसर्प उक्तः ।

'नोत्सवाः' इत्यादावनिष्टवस्तुविक्षेपरूपविधूननमुक्तम् ।

राम—ठीक है । (जाते हैं)

(प्रवेश करके)

सुमन्त्र—महाराज वसिष्ठ तथा विश्वामित्र भार्गव समेत आप लोगोंको बुलाते हैं ।

इतरे—क भगवन्तौ ।

सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके ।

इतरे—गुरुवचनाद्गच्छामः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचिते महावीरचरिते द्वितीयोऽङ्कः ।

'किमेकदेशेन' इत्यादिना रत्युपशमनरूपं शर्मोक्तम् ।
'कुमार प्रेक्षस्व' इत्यादिनानुरागोद्‌घटनार्थप्रतीतिरूपद्युतिरुक्ता ।
'सखि, ससुरासुर' इत्यादिना चानुरागप्रकाशकवचनरूपं पुष्पमुक्तम् ।
'आतङ्कश्रम' इत्यादिना चानुरागहेतुवाक्यरचनारूपन्यास उक्तः ।
'धनुषि धारयन्ती' इत्यादिना च छद्मना हितागमनिरोधनरूपनिरोध उक्तः ।
'उत्सिक्तस्य' इत्यादिना च संभोगविषयमनोरथरूपविलास उक्तः ।
'आर्यपुत्र' इत्यादिना चेष्टजनानुनयरूपपर्युपासनमुक्तम् ।
'अन्विष्यतः' इत्यादिना च प्रमुखनिष्ठुरवचनरूपं वज्रमुक्तम् ।
'अयं स किल' इत्यादिना परिहासवचनरूपं नर्मोक्तम् ।

'राम राम नयनाभिरामताम्' इत्यादिना चोत्तरोत्तरवाक्यैरनुरागबीजप्रकाशनरूपः प्रगम उक्तः । एवमन्यान्यप्यङ्गानि यथायथमूह्यानि ।

इति मैथिलपण्डित-श्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते महावीरचरित-
'प्रकाशे' द्वितीयाङ्क-'प्रकाशः'

और लोग—वे दोनों हैं कहाँ ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथके पास ।

और लोग—गुरु की आज्ञासे जाते हैं ।

(सबका प्रस्थान)

द्वितीय अङ्क समाप्त

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशत उपविष्टौ वसिष्ठविश्वामित्रौ जामदग्न्यशतानन्दौ च)

वसिष्ठविश्वामित्रौ—(जामदग्न्यं प्रति)

इष्टापूर्त्तविधेः सपत्नशमनात्प्रेयान्मघोनः सखा
येन द्यौरिव वज्रिणा वसुमती वीरेण राजन्वती ।
यस्यैते वयमग्रतः किमपरं वंशश्च वैवस्वतः
सोऽयं त्वां तनयप्रियः परिणतो राजा शमं याचते ॥ १ ॥

तद्विरम शुष्ककलहात् । इदं चास्तु ।

इष्टापूर्त्तेति (यो दशरथः) इष्टापूर्त्तविधेः—इष्टम् दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमाश्वमेध-राजसूयादियागः, पूर्त्तम् खातादिनिर्माणम् , इष्टं च पूर्त्तं चेति द्वन्द्वः, पृषोदरादितया पूर्वपदे दीर्घः इष्टापूर्त्तयोर्विधिः विधानम् तस्मात् , सपत्नशमनात् शत्रुभूत-तत्तद्राक्षसादिविनाशनात् मघोनः इन्द्रस्य सखा समप्राणः सुहृत् , येन वीरेण दशरथेन वज्रिणा इन्द्रेण द्यौः स्वर्ग इव वसुमती पृथिवी राजन्वती सुराजयुक्ताः यस्य दशरथस्य एते वयम् अहं विश्वामित्रादयश्च अग्रतः हिताद्यनुशासनार्थं सर्वदा सन्निहिताः, किमपरम् यस्य वंशः कुलं वैवस्वतः सूर्यसम्बन्धी, परिणतः वृद्धः सोऽयं राजा दशरथस्त्वां शमं याचते शान्तिमवलम्बितुं प्रार्थयत इति यो दशरथो यज्ञैः खातादिभिश्चेन्द्रस्य प्रियसखो मतो, येन राज्ञा मघवता द्यौरिव धरित्री राजन्वती, यस्य वयं हितोपदेष्टारः, यस्य च सूर्यवंशे जनुः सोऽयं वृतो राजा दशरथस्त्वां शान्तिं श्रयितुं प्रार्थयत इत्यर्थः । 'क्रतुकर्मेष्टं पूर्त्तं खातादिकर्म यत्' 'रिपौ वैरिसपत्नारि-द्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' 'सुराज्ञि देशे राजन्वान् ततोऽन्यत्र तु राजवान्' इति सर्वत्रामरः । एतदुत्तराङ्कस्य पूर्वाङ्कार्थानुसङ्गतत्वादङ्कावतरणम् , यथोक्तम्—'यत्र स्यादुत्तराङ्कार्थः पूर्वाङ्कार्थानुसङ्गतः । असूचिताङ्कपात्रं तदङ्कावतरणं मतम्' शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १ ॥

विरम = निवृत्तो भव । शुष्ककलहात् = अकारणद्वेषात् । व्यर्थयुद्धं माकार्षीरित्यर्थः ।

(बैठे हुए वसिष्ठ विश्वामित्र और जामदग्न्य तथा शतानन्दका प्रवेश)

वसिष्ठ-विश्वामित्र—(जामदग्न्यसे) यज्ञ तथा देवालय आदिके विधान और शत्रुओं का विनाश करके जो इन्द्रका मित्र बने हैं, जो स्वर्गमें देवराजके समान पृथ्वीमें अच्छे शासक गिने जाते हैं, हम जिनके साथ हैं तथा जो सूर्यवंशजात हैं वह बूढ़े राजा दशरथ पुत्रप्रेम पराधीन होकर आपसे शान्तिकी याचना करते हैं ॥ १ ॥

इसलिये छोड़िये इस वृथा युद्धको । यही कीजिये—

संज्ञप्यते वत्सतरी सर्पिष्यन्नं च पच्यते ।
श्रोत्रिय श्रोत्रियगृहानागतोऽसि जुषस्व नः ॥ २ ॥

जामदग्न्यः—अत्र वो विज्ञापयामि किं न क्षमे यदि रामः प्रकृष्टवीर्यो न स्यात् । पश्यन्तु भवन्तः—

रामः कर्मभिरद्भुतैः शिशुरपि ख्यातस्ततो भार्गवः
कस्मात्प्राप्य तिरस्क्रियामसहनोऽप्यस्थादिति प्रस्तुते ।
को विद्याद्गुरुगौरवादिति भवेज्ज्ञातापि वक्ता पुन-
र्नत्वेवास्ति तथास्थितस्य सुलभद्वेषं हि वीरव्रतम् ॥ ३ ॥

संज्ञप्यते इति० वत्सतरी द्वितीयं वयः प्राप्ता गौः संज्ञप्यते हन्यते । युगान्तरेष्वतिथीनां मांसकल्पो विहितस्तदनुसारेणेत्थमुक्तम् । किञ्च सर्पिषि घृतेऽन्नं पच्यते सिद्धं क्रियते, हे श्रोत्रियवेदाध्यायिन् । श्रोत्रियगृहान् जनकोपमवेदज्ञभवनम् आयातोऽसि नः अस्मान् जुषस्व प्रीणय । सत्कारग्रहणेन कृतार्थयेति भावः । 'संज्ञप्यते' इत्यत्र 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' इति मित्त्वात् मितां ह्रस्व इति ह्रस्वत्वं कर्मणि लट् यक् च ॥ २ ॥

अत्र = भवदनुरोधविषये कलहत्यागपूर्वकातिथ्यग्रहणरूपेऽर्थे । प्रकृष्टवीर्यः = अधिकबलः । किन्न क्षमे = कथं न क्रोधं त्यजेयम् । रामस्य प्रकृष्टवीर्यतायां मम क्रोधनिवृत्तिर्भयहेतुकतयाऽपि सम्भाव्येतातस्तथाकर्त्तुं नेच्छामीति तात्पर्यम् ।

राम इति० शिशुरपि अप्राप्तयौवनोऽपि रामः कर्मभिः हरधनुर्भङ्गादिभिरलौकिकैः स्वैः कार्यकलापैः ख्यातः प्रसिद्धिगतः । असहनः परावमाननाऽऽक्षमाशीलः अपि भार्गवः ततः रामात् तिरस्क्रियाम् अपमानम् गुरुधनुर्भञ्जनरूपम् प्राप्य कस्मात् कारणात्कुतः अस्थात् निभृतं स्थितः इति प्रस्तुते प्रसङ्गवशात् विचारविषये गुरुगौरवात् गुरूणां श्रेष्ठानां भवतां वसिष्ठविश्वामित्रादीनां गौरवात् आदरात् (गुरुवचनस्यालङ्घ्यत्वात्) इति (अवमानायाः क्षमायाः कारणं न पराक्रमन्यूनत्वं किन्तु गुरुगौरवमेव) इति को विद्यात् जानीयात् न कोपीति शेषः । यदि ज्ञाता तथाविधरहस्यविषयकज्ञानवान् भवेदपि तथापि तथास्थितस्य वक्ता तु नैवास्ति नैव विद्यते ।

वत्सतरी मरवा रहे हैं, घीमें अन्न पक रहा है, श्रोत्रिय होकर आप श्रोत्रियके घर पधारे हैं, हमारा आतिथ्य स्वीकारकर हमें प्रसन्न कीजिये ॥ २ ॥

जामदग्न्य—मैं क्षमा क्यों न कर देता, यदि राम बलवान् नहीं होता । यही मेरा कहना है । आप देखें—राम लड़का होकर भी अत्यन्त ख्याति प्राप्त कर चुका है, इस अवस्थामें क्रोधी होकर भी परशुराम अपमानकी घूंट क्यों पी गया ? इसका प्रसङ्ग छिड़ने पर गुरुजनोंके प्रति समादरसे परशुरामने ऐसा किया इस बातको कौन जानेगा ? जानकर भी कहनेवाला तो नहीं ही मिलेगा, क्योंकि वीरोंमें परस्पर द्वेष बहुत रहा करता है ॥ ३ ॥

अपि च—

यशसि निरवकाशे विश्वतः श्वेतमाने
कथमपि वचनीयं प्राप्य यत्किञ्चिदेव ।
कृतविततिरकस्मात्प्राकृतैरुत्तमानां
विरमति न कथंचित्कश्मला किंवदन्ती ॥ ४ ॥

वसिष्ठः—अयि वत्स ! किमनया यावज्जीवमायुधपिशाचिकया । श्रोत्रियोऽसि जामदग्न्य ! पूतं भजस्व पन्थानम् । आरण्यकश्चासि । तत्परिचिनु

ननु माभूद् वक्ता, का क्षतिस्तत्राह सुलभद्वेषं हि वीरव्रतम्—वीरेषु सर्वेषामपि द्वेषः साधारणः, अतो द्वेषादपि लोकाः सत्यमपलप्य यमाशक्तिमेव प्रचारयेयुरित्यर्थः । अयमाशयः—रामप्रभावस्तदीयैः कर्मभि प्रख्यातः, तस्मिन् कृतापमाने यद्यहं भवतां वचनमनुरुद्ध्याप्युदासेऽथापि लोका ममाशक्तिमेवानुमिनुयुः, रहस्यं तु न कोऽपि जानीयात् , ज्ञातरहस्योऽपि वीरे मयि सुलभद्वेषतयाऽपलयेदेव न तु सत्यं प्रचारयेदतो दुष्करमत्र निभृतमवस्थानमिति ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

यशसीति० विश्वतः सर्वत्र देशे श्वेतमाने धावल्यं गच्छति निरवकाशे परिवादप्रवेशार्हच्छिद्ररहिते उत्तमानाम् महतां यशसि वीर्यगुणवत्तादिप्रथायां कथमपि महता प्रयत्नेन केनापि प्रकारेण यत्किञ्चित् अत्यल्पम् एव वचनीयम् निन्द्यं गर्ह्यं (निन्दरूपम्) प्राप्य प्राकृतैः साधारणजनैः कृतविततिः विहितविस्तारा कश्मला मलिना किंवदन्ती मिथ्याप्रवादः अकस्मात् प्रतीकारं विना न विरमति न निवर्त्तते । अयमाशयः—विस्तीर्णे महतां यशसि कुतोऽपि कारणात् किमपि निन्दारूपं वचनीयमुपपन्नं यदि भवति तदा प्राकृतास्तस्य प्रचारं कुर्वन्ति, तत् तु वचनीयं तदैव निवर्त्तते यदा प्रतीक्रियतेऽतोऽस्यावमानस्यापेक्षां कुर्वाणे मयि मदीयोऽयं कलङ्को दुरयासः स्यादिति । 'प्राकृतश्च पृथग् जनः' 'किंवदन्ती जनश्रुतिः' इत्यमरः । मालिनीवृत्तम् ॥ ४ ॥

आयुधपिशाचिकया = आयुधानि अस्त्राण्येव पिशाचिका तया अस्त्रग्रहणग्रहणप्रवृत्त्या, किम् = किमपि फलन्नेत्यर्थः । ब्राह्मणावर्हत्वेन नियतया पिशाचिकास्वरूपणम् । यावज्जीवम् = जीवनपर्यन्तम् । श्रोत्रियः = वेदाध्यायी । पूतम् = पवित्रम् ।

और—निश्छिद्र यशोराशिके चारों ओर चमकते रहने पर थोड़ा-सा भी कलङ्क प्राप्त कर साधारण जनद्वारा फैलाई गई उत्तम जनकी निन्दा पीछे किसी प्रकार नहीं मिटती है ॥

वसिष्ठ—वत्स ! जीवनभरके लिये इस अस्त्रपिशाचीके फेरमें पड़े रहनेसे क्या लाभ ? जामदग्न्य, तुम श्रोत्रिय हो, पवित्र मार्गको अपनाओ, तुम वनवासी भी हो, फिर चित्तको

चित्तप्रसादनीश्चतस्रो मैत्र्यादिभावनाः। प्रत्यासीदति हि ते विशोका ज्योतिष्मती नाम योगवृत्तिः। तत्प्रसादजं ऋतंभराभिधानं नामाबहिःसाधनोपधेयसर्वार्थसामर्थ्यमपविद्धविप्लवोपरागमूर्जस्वलमन्तर्ज्योतिषो दर्शनम्। यतः प्रज्ञानमभिसंभवति तदध्याचरितव्यं ब्राह्मणेन। तरति येनापमृत्युं पाप्मानम्। अन्यत्र ह्यभिनिविष्टोऽसि। पश्य—

पन्थानम्=निःश्रेयसोपायम्। अनेन शस्त्रग्रहणमार्गस्यापूतत्वमुक्तम्। तथा चापस्तम्बः—'परीक्षार्थेऽपि ब्राह्मण आयुधं नाद्रियेत' इति। आरण्यकः=वनवासी, एतद्विशेषणञ्च ब्रह्मविद्यायां विशिष्टाधिकारितां व्यञ्जयति। तत्=तस्मादारण्यकत्वाच्छ्रोत्रियत्वाज्जमदग्निवंशोद्भवत्वाच्च शस्त्रविद्या तव नोपयुक्ता, ब्रह्म विद्यैव तव हितायेति भावः। चित्तप्रसादनीः=चित्तनैर्मल्यसम्पादिकाः, मैत्र्यादिभावनाः, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, इति चतस्रो भावनाः, पुण्यकृत्सु मैत्री, दुःखिषु करुणा, सुखिषु मुदितता, पापिषूपेक्षा च मनोमलहारिण्य इति इति योगशास्त्रप्रक्रिया। प्रत्यासीदति=अचिरेण सिद्धा भवति। विशोकाहृसुखमयसत्त्वाभ्यासवशात् रजःपरिणामशोकरहिता चित्तस्य स्थैर्यहेतुभूता। ज्योतिष्मती=सत्त्वोद्रेकशालिनी द्रष्टव्यतया ज्योतिरस्त्यस्यामिति ज्योतिष्मती। योगवृत्तिः=चित्तवृत्तिनिरोधरूपा स्थितिः।

तत्प्रसादजम्=तादृशचित्तवृत्तिप्रसादाज्जातम्। ऋतम्भरा=ऋतं सत्यं बिभर्तीति तथा, कदाचिदपि विपर्ययज्ञानेन यानाच्छाद्यते, सत्यमयीति यावत्। अबहिःसाधनोपधेयसर्वार्थसामर्थ्यम्=अबहिःसाधानम् आभ्यन्तरसाधनं तदुपधेयं तत्सम्पाद्यम् सर्वार्थसामर्थ्यम् सर्वविधाशक्तिर्यत्र तादृशम्। अपविद्धविप्लवोपरागम्=अपविद्धः विगतः विप्लवस्य भ्रान्तेः उपरागः संसर्गो यस्मिंस्तादृशम्। ऊर्जस्वलम्=तेजोयुक्तम्। अन्तर्ज्योतिषः=परमात्मनः प्रकाशरूपस्य। यतः=यस्मादन्तर्ज्योतिषो दर्शनात्। प्रज्ञानम्=प्रकृष्टं ज्ञानमात्मज्ञानम्। अभिसम्भवति=जायते। तत्=अन्तर्ज्योतिषो दर्शनम्। आचारितव्यम्=कर्त्तव्यम्। येन=प्रज्ञानेन। अपमृत्युम् अकालमृत्युम् तद्वत्कष्टकरं वा। पाप्मानम्=पापम्। अन्यत्र=ब्राह्मणानाचरणीये। अभिनिविष्टः=साग्रहः।

निर्मल बनानेवाली मैत्री आदि भावनाका अवलम्बन करो, तुम्हारे लिये शोकको दूर भगानेवाली ज्योतिष्मती नाम समाधिवृत्ति सुलभ होगी। उसके होनेपर ऋतम्भरा प्रज्ञाके सहारे तुमको आन्तर ज्योतिके दर्शन होंगे, जिसमें बाहरी साधनकी आवश्यकता नहीं होगी, सभी प्रकारकी सामर्थ्य मिल जायगी, किसी प्रकारका विघ्न बाधित नहीं कर पावेगा, और तेजोबलकी वृद्धि होगी। आन्तर ज्योतिके दर्शनोंसे मनुष्यकी ज्ञानवृद्धि होती है, ब्राह्मणको यही करना चाहिये, जिससे पाप अपमृत्युको पारकर जाता है। तुम साग्रह होकर दूसरी ओर लग गये हो। देखो—

परिषदियमृषीणामत्र वीरो युधाजित्सह नृपतिरमात्यै रोमपादश्च वृद्धः ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकास्ते ॥

जामदग्न्यः—एवमेतत् । किंतु—

शत्रुमूलमनुत्खाय न पुनर्द्रष्टुमुत्सहे ।
त्र्यम्बकं देवमाचार्यमाचार्यानीं च पार्वतीम् ॥ ६ ॥

विश्वामित्रः—यदि गुरुष्वनुरुध्यसे चेतयस्वेमावपि ततः किंचित् ।

परिषदियमिति० इदम् ऋषीणाम् मन्त्रद्रष्टृणाम् परिषत् सभा, एषः वीरः युधाजित् केकयराजपुत्रो भरतमातुलः, अमात्यैः मन्त्रिभिः सह नृपतिः दशरथः, वृद्धः स्थविरः रोमपादश्च । अयम् अविरतयज्ञः असमाप्तयागः पुराणः स्थिविरः ब्रह्मवादी परमात्मज्ञानवान् जनकानाम् जनकवंश्यानाम् प्रभुः स्वामी सीरध्वजः, (एते) अद्रुहः द्रोहरहिताः सन्तः ते तव याचकाः प्रार्थयितारः सन्तीति शेषः । कृतापराधेष्वपि प्रार्थना परेऽष्वनुग्रहः कर्त्तव्यतां भजते, किं पुनरकृतापराधेषूत्तमजनेषु प्रार्थिषु, तदवश्यं त्वया रामविषये जिघांसा निवर्त्तनीयेति तात्पर्यम् । मालिनीवृत्तम् ॥ ५ ॥

एवमेतत् = भवदुक्तं सर्वथा सत्यम् ।

शत्रुमूलमिति० शत्रोः मूलम् शत्रुरेव वा मूलम् अनुत्खाय अनुन्मूल्य आचार्यम् देवं त्र्यम्बकम् आचार्यानीम् आचार्यस्य पत्नीम् पार्वतीञ्च अहं द्रष्टुं न उत्सहे इच्छामि । यद्यपि तौ परमकारुणिकौ स्वधनुर्भङ्गेऽपि क्षमाशीलावेव भवितारौ, परं तच्छिष्यतया तदवमानस्याः सोढुमशक्यत्वेनाहं तौ द्रष्टुं तदैव क्षमो यदा शत्रुमूलमुत्खातं स्यादिति भावः । 'आचार्यानी'त्यत्र 'आचार्यादणत्वञ्च' इति ङीषानुक्च ॥ ६ ॥

गुरुषु अनुरुध्यसे = गुरूणामनुरोधं पालयसि, चेतयस्व = विचारय, इमौ = वसिष्ठशतानन्दौ । वसिष्ठो भृगुभ्रातृतया शतानन्दोऽपि च भृगुभ्रातृपौत्रतया तव गुरू, तदनयोरप्यनुरोधस्त्वया गुर्वनुरोधरक्षिणा पालनीय इति भावः ।

यह ऋषियोंकी मण्डली है, यहाँ वीर युधाजित तथा मन्त्रियोंके साथ वृद्ध राजा रोमपाद बैठे हुए हैं, सततयज्ञपरायण, पुराने ब्रह्मज्ञानी जनक जनपदके स्वामी, सभी द्रोह रहित हैं और सभी तुमसे शान्तिकी प्रार्थना करते हैं ॥ ५ ॥

जामदग्न्य—बात तो यह ठीक है, किन्तु—

मैं जब तक शत्रुकी जड़ नहीं उखाड़ फेंकता हूँ तब तक आचार्य शिव तथा आचार्यानी पार्वती को कौन-सा मुंह दिखाऊँगा ? ॥ ६ ॥

विश्वामित्र—यदि तुम गुरुका ध्यान करते हो तो इधर भी थोड़ा ध्यान दो—

हिरण्यगर्भाद्दषयो बभूवुर्वसिष्ठभृग्वङ्गिरसस्त्रयो ये ।
सोऽयं वसिष्ठो भृगुनन्दनस्त्वमेषोऽपि तस्याङ्गिरसः प्रपौत्रः ॥ ७ ॥

जामदग्न्यः—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥ ८ ॥

यतो विमुक्तेरपि मानरक्षणं प्रियं निसर्गेण तथा च पश्य मे ।
सनाभयो यूयमयं च कर्कशः शरासनज्याकिणलाञ्छनो भुजः ॥ ९ ॥

हिरण्यगर्भादिति० हिरण्यगर्भात् ब्राह्मणः ये वसिष्ठभृग्वङ्गिरसः तन्नामानः त्रयः ऋषयः बभूवुः सञ्जाताः, सः ब्रह्मपुत्रः अयं वसिष्ठः, एषः अपि तस्य ब्रह्मपुत्रस्य अङ्गिरसः प्रपौत्रः अस्तीति शेषः । तत्सम्बन्धकृतं गुरुत्वमेषामप्यव्याहतमिति भावः । अत्र 'अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे । भगवच्छक्तियुक्तस्य प्रजासन्तानहेतवः ॥ मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः' । इदं भागवतवचनं द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

प्रायश्चित्तमिति० पूज्यानाम् गुरूणाम् वः युष्माकम् व्यतिक्रमात् वचनापालनरूपात् उल्लङ्घनात् प्रायश्चित्तम् प्रत्यवायपरिहारोपयुक्तं व्रतादिकम् चरिष्यामि विधास्यामि तु किन्तु शस्त्रग्रहः अस्त्रग्रहणं तद्रूपम् महाव्रतम् अवश्यकर्त्तव्यतया स्वीकृतं नियमम् नैव दूषयिष्यामि लोपयिष्यामि । भवतां वचनात् सम्प्रति रामं न त्यजामीति भवद्वचनव्यतिक्रमजन्यदोषक्षयार्थमुपयुक्तं प्रायश्चित्तं चरिष्यामि किन्तु वीरव्रतं न लोपयिष्यामि •तदलमनुरोधेनेत्यर्थः ॥ ८ ॥

यत इति० यतो यस्मात् कारणात् मानलक्षणम् शस्त्रग्रहणेन शौर्याभिमानपालनम् निसर्गेण स्वभावतः विमुक्तेः मोक्षादपि प्रियम् , तथा च तत्र प्रमाणम् पश्य अवलोकय , यदहं मोक्षादपि श्रेष्ठतया मानरक्षणं जाने तत्र प्रमाणं पश्येत्याशयः । यूयम् वसिष्ठप्रभृतयः (मम) सनाभयः सगोत्राः, अयम् प्रत्यक्षदृश्यश्च शरासनज्या-

---

ब्रह्मासे जो तीन वसिष्ठ भृगु अङ्गिरस ऋषि पैदा हुए, वही यह वसिष्ठ है, तुम भृगुके पुत्र हो और यह शतानन्द भी अङ्गिरस्के ही प्रपौत्र हैं ॥ ७ ॥

जामदग्न्य—आप गुरुजन हैं आपकी बातका उल्लङ्घन कर रहा हूँ इसका प्रायश्चित्त कर लूंगा किन्तु शस्त्रग्रहणरूप महाव्रतका तो उल्लङ्घन नहीं करूँगा ॥ ८ ॥

क्योंकि मुझे स्वभावतः मोक्षसे भी बढ़कर मानरक्षासे स्नेह है, आप देख लें—कहाँ तो आप हमारे सगोत्र हैं और कहाँ हमारा यह हाथ धनुषकी डोरीसे बने चिह्नोंसे लाञ्छित तथा कर्कश है ॥ ९ ॥

विश्वामित्रः—(स्वगतम्)

संपूजितं हि माहात्म्यमुद्गिरन्त्यः पदे पदे ।
अपि मर्माविधो वाचः सत्यं रोमाञ्चयन्ति माम् ॥ १० ॥

जामदग्न्यः—भगवन् कुशिकनन्दन !

ब्रह्मैकतानमनसो हि वसिष्ठमिश्रास्त्वं ब्रूहि वीरचरितेषु गुरुः पुराणः ।
वंशे विशुद्धिमति येन भृगोर्जनित्वा शस्त्रं गृहीतमथ तस्य किमत्र युक्तम् ॥

किणलाञ्छनः धनुःप्रत्यञ्चामर्शनजन्यव्रणशुष्कचिह्नाङ्कितः कर्कशः कठोरः भुजः बाहुः भवादृशतपस्विगोत्रोद्भूतस्यापि ममायं भुजो यद्बाणज्याकिणलाञ्छितस्तदेव प्रमाणं मम मानरक्षाग्रहिलस्येति भावः । 'स्यात्कर्कशः साहसिकः' 'स्वरूपञ्च स्वभावश्च निसर्गश्च' इत्यमरः ॥ ९ ॥

सम्पूजितमिति० मर्माविधः अरुन्तुदाः अपि वाचः पदे पदे पदे प्रतिपदं सम्पूजितं प्रशंसनीयम् माहात्म्यम् धृतिमत्त्वादिप्रकर्षम् समुद्गिरन्त्यः प्रकाशन्त्यः वाचः 'सुलभद्वेषं हि वीरव्रतम्' 'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि' इत्यादीनि परशुरामवचनानि माम् सत्यं विस्मापयन्ति विस्मितं कुर्वन्ति । यद्यप्यस्योक्तयो रामपन्थितया मर्म व्यथयन्ति अथापि स्वाभिमानाभिव्यञ्जकानामेतद्वचनानामकर्णनेन वीररसवासनावासितान्तःकरणोऽहं रोमाञ्च व्याप्तशरीरो भवामीति भावः ॥ १० ॥

ब्रह्मैकतानेति० वसिष्ठमिश्राः मान्या वसिष्ठादयः (मिश्रशब्दो बहुत्वं च पूजाद्योतनाय) ब्रह्मैकतानमनसः ब्रह्मविद्यैकपरायणाः (अतोऽत्र विषये तेषां कोऽपि विचारो न सम्भवतीति बोध्यम्) त्वम् विश्वामित्रः वीरचरितेषु वीराचारेषु पुराणः गुरुः विशेषेण वीराचारवेत्तेत्यर्थः । अतः त्वं ब्रूहि कथय । विशुद्धिमति सर्वथाशुद्धे भृगोः वंशे कुले जनित्वा जन्म गृहीत्वा येन मया शस्त्रं गृहीतम् तस्य मम अत्र गुरुवचनातिक्रममानत्यागरूपधर्मसङ्कटे किं युक्तम् ? वसिष्ठो ब्रह्मनिष्ठतया शूरजनसमुदाचारपराङ्मुख इति यथातथोपदिशतु नाम, परं भगवन् कुशिकनन्दन ! त्वं तु वीराचारज्ञः तत्कथय—येन मया भृगुसदृशस्य तपस्विनः कुले जन्म गृहीत्वाऽपि वीरव्रतमवलम्बितं सोऽहमिह गुर्वनुरोधमात्ररक्षार्थमाजन्मपालितं शस्त्रग्रहमहाव्रतं जहामि, तदतिक्रमेण पालयामि वाऽनयोः कतरद्युक्तमिति । 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः ॥ ११ ॥

विश्वामित्र—(स्वगत) पदपदमें पूजनीय महत्ताको व्यक्त करनेवाली इसकी बातोंसे हमें मर्मान्तक पीड़ा होती है, फिर भी हमारे रोंगटे खड़े हो आते हैं ॥ १० ॥

जामदग्न्य—महाराज विश्वामित्र !

पूज्य वसिष्ठ तो ब्रह्मलीन है, आप वीराचारके पुराने गुरु हैं, आप ही कहें कि जिसने भृगुके पवित्र वंशमें जन्म लेकर अस्त्र ग्रहण किया उसके लिये यहाँ क्या उपयुक्त है ? ॥११॥

वसिष्ठः—(स्वगतम्)

कामं गुणैर्महानेष प्रकृत्या पुनरासुरः।
उत्कर्षात्सर्वतोवृत्तेः सर्वाकारं हि दृप्यति ॥ १२ ॥

विश्वामित्रः—वत्स ! एतद्ब्रवीमि।

एकव्यक्त्यपराधकोपविकृतस्त्वं क्षत्रजातेरपि
प्रागाधारनिरन्वयप्रमथनादुच्छेदमेवाकरोः।
त्रिःसप्तावधि विप्रशुक्रजमपि क्षत्रं तथैवोद्धृतं
वृद्धैः स्वैश्च्यवनादिभिर्नियमितः क्रोधाद्व्यरंसीर्ननु ॥ १३ ॥

काममिति० एषः परशुरामः गुणैः वीर्यशौर्यदृढव्रतत्वादिभिः कामं सत्यं महान् उच्चः, पुनः किन्तु प्रकृत्या आसुरः आसुरीं प्रकृतिमुपेतः। हि यस्मात् सर्वतो वृत्तेः सर्वविषयकात् उत्कर्षात् सर्वाकारम् सर्वतः (मनसा वाचा कर्मणा च) दृप्यति गर्वं भजते। अस्य सर्वथोत्कर्षोऽस्य सर्वांशे गौरवं प्रसूते तदियमस्यासुरीप्रकृतिरिति भावः। उक्तञ्च गीतायाम्—'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! संपदमासुरीम्' ॥ १२ ॥

एकव्यक्तीति० एकस्याः कार्त्तवीर्यलक्षणायाः व्यक्तेः अपराधः होमधेनुहरणरूपमनिष्टाचरणम् तेन विकृतः क्षुभितः सन् आधाराणाम् क्षत्रियत्वजात्याधारभूतव्यक्तीनाम् निरन्वयप्रमथनात् निर्मूलविनाशनात् उच्छेदम् विलयम् एव अकरोः कृतवान्। नाशो द्विविधः-निरन्वयनाशः, सान्वयनाशश्च, तत्र दीपस्य निर्वापणे सजातीयज्वालानुवृत्त्यनर्हो यो नाशः स निरन्वयनाशः, यस्तु दीपस्योत्तरोत्तरज्वालाऽनुबन्धशिरस्कः पूर्वज्वालानाशः स सान्वयनाशः। अत्र वंशोच्छेदेऽनुवृत्तेरसंभवेनेत्थमुक्तम्। (एवं क्षत्रजातेरुच्छेदे कृतेऽपि न सन्तुष्टं भवता किन्तु) विप्रशुक्रजम् क्षत्रियस्त्रीषु विप्रशुक्रजम् ब्राह्मणवीर्यादुत्पन्नम् (अनुलोमसङ्कराणां मातृजातिवृत्तित्वात्) क्षत्रम् अपि तथैव निरन्वयविनाशविधयैव त्रिःसप्तावधि एकविंशतिवारान् उद्धृतम् विनाशितम्। (एवमत्यर्थमुत्तापितायां क्षत्रजातौ) स्वैः आत्मीयैः वृद्धैः वयसा ज्येष्ठः च्यवनादिभिः नियमितः किमिदमकार्यं करोषीति नियन्त्रितः

वशिष्ठ—(स्वगत) गुणोंसे यह अवश्य महान् है किन्तु इसकी प्रकृति असुरों की सी है। सब प्रकार के उत्कर्षसे यह सर्वथा गर्वी बन गया है ॥ १२ ॥

विश्वामित्र—वत्स ! मैं यही कहता हूँ कि—

एक व्यक्तिके दोषी होने पर क्रोधान्ध होकर तुमने समस्त क्षत्रिय जातिका आधार समेत समूल नाश कर दिया। ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियाणियोंमें उत्पन्न क्षत्रियोंका भी इक्कीस बार नाश किया, पीछे वृद्ध च्यवनादिके कहनेसे कोपसे विरत हुए ॥ १३ ॥

जामदग्न्यः—व्यरंसिषमेव पितृवधप्रयुक्तात्क्षत्रवधमहाधिकारात्। किमत्र निह्नवः।

परशुरशनिचण्डः क्षत्रघातं विहाय
प्रियमपि समिदिध्मव्रश्चनः किं न जातः।
निशितविशिखदंष्ट्रश्चापदण्डोऽपि धत्ते
प्रशमितविषवह्नेः साम्यमाशीविषस्य ॥ १४ ॥

सन् क्रोधात् व्यरंसीः ननु विरतोऽभूरिति निश्चितम्। अयमर्थः—एकेनापराधे कृते तत्कोपात् समूलघातं हतायां क्षत्रियसन्ततौ निषेक्तृभावे ब्राह्मणवीर्यात्क्षत्रियासूत्पन्नं क्षत्रमपि त्रिःसप्तवारान् विनाशितमथ वृद्धैश्च्यवनादिभिर्नियमितस्त्वं क्षत्रकदनफलकात् कोपाद्विरतोऽभूरिति विरतस्य पुनरुद्वेगो नोचित इति। अत्र प्रसङ्गे महाभारतम्—'एवमुच्चावचैरस्त्रैर्भार्गवेण महात्मना। त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा। एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा। उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः। पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम्। धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणांस्ताः समभ्ययुः। लोकेऽप्याचरितो दृष्टः क्षत्रियाणां पुनर्भवः। ततः पुनः समुदितं क्षत्रं समभवत्तदा' इति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १३ ॥

व्यरंसिषम् = विरतोऽभूवम्। पितृवधप्रयुक्तात् = पितृवधमूलकात्। क्षत्रवधमहाधिकारात् = क्षत्रियविनाशरूपान्महतो व्यासङ्गात्। क्षत्रवधप्रयोजकपितृवधजन्यकोपस्य शान्तत्वेऽपि गुर्वपमानजन्मा नवोऽयं कोपो न शाम्यतीति भावः। किमत्र निह्नवः=अपलापः, क्षत्रजातिवधनिवृत्तिर्मयाऽऽश्रितपूर्वेति नापलप्यते मयेति।

परशुरिति० अशनिचण्डः परशुः वज्रकठोरः कुठारः प्रियम् इष्टम् अपि क्षत्रघातम् क्षत्रियवधम् विहाय त्यक्त्वा समिदिध्मव्रश्चनः समित् होमोपयुक्त काष्ठम् इध्मा इन्धनम् तयोः व्रश्चनः छेदकः न जातः किम्? वज्रकठोरो मम कुठारो मनोऽभिलषितमपि क्षत्रवधं विहाय काष्ठेन्धनयोश्छेदे नोपयोगं स्वमकृत किम्, अकृतैवेति भावः। निशितविशिखदंष्ट्रः तीक्ष्णबाणरूपदंष्ट्राशाली मम चापदण्डः धनुर्दण्डः अपि प्रशमितविषवह्नेः समाप्तविषज्वालस्य आशीविषस्य साम्यम् तुलां धत्ते धारयति। बाणरूपतीक्ष्णदन्तधारी मम चापोऽपि क्षत्रवधान्मम निवृत्तौ शान्तविषज्वालस्य सर्पस्य

जामदग्न्य—पितृवधप्रयुक्त इस क्षत्रिय संहार लीलासे तो मैं विरक्त हो ही गया था, इसमें छिपाना क्या है—

वज्रकठोर हमारा यह परशु क्षत्रिय वध छोड़कर क्या लकड़ी तथा जलावन नहीं काटने लग गया था? हमारा यह धनुष भी शान्तविष सर्पके सदृश हो गया है जिसके बाणरूप दांत गिर चुके हैं ॥ १४ ॥

एवं मया नियमितश्च्यवनादिवाक्यैः कोपानलश्च परशुश्च पुनर्यथैतौ ।
देवस्य संप्रति धनुर्मथनेन सत्यमुत्थापितौ रघुसुतेन तथा प्रसह्य ॥१५॥
एकस्य राघवशिशोः कृतचापलस्य कृत्वा शिरो मयि वनाय पुनः प्रयाते ।
स्वस्थाश्चिराय रघवो जनकाश्च सन्तु माभूत्पुनर्न तु कथंचिदतिप्रसङ्गः ॥

शतानन्दः—आः ! शक्तिरस्ति कस्य वा विदेहराजन्यस्य राजर्षेर्याज्यस्य मे प्रेयसश्छायामप्यवस्कन्दितुम् , किं पुनर्जामातरम् ।

तुलां धत्ते, तदाभ्यां ममास्त्राभ्यामेवेत्थ भावं गताभ्यां प्रमापितं मम शान्तकोपवेगत्वमिति प्रघट्टकार्थः ॥ १४ ॥

एवं मयेति० च्यवनादिवाक्यैः च्यवनप्रभृतिवृद्धात्मीयवचनैः (प्रयोजकैः) मया परशुरामेण कोपानलश्च क्रोधवह्निः परशुः कुठारश्च यथा नियमितः संयतः, तथा एतौ मम कोपपरशू रघुसुतेन रामेण सम्प्रति देवस्य रुद्रस्य धनुर्मथनेन तथा तेनैव प्रकारेण उत्थापितौ उदितकोपौ कृतौ । च्यवनादिवृद्धजनवाक्यमनुरुध्य मया कोपः परशुश्च संयमित इति यथासत्यं, तथैव रुद्रधनुर्भङ्गं कृत्वा रामो मम कोपपरशू पुना रौद्राय कर्मणे आहूतवानिति वस्त्वपि सत्यमिति भावः ॥ १५ ॥

एकस्येति० कृतं चापलम् धाष्ट्र्यम् हरधनुर्भञ्जनरूपम् येन तादृशस्य एकस्य राघवशिशोः रघुवंशबालस्य शिरः मूर्धानम् कृत्वा अवखण्ड्य मयि पुनः वनाय अरण्याय प्रयाते सति चिराय बहोः कालस्य कृते रघवो रघुवंश्याः जनकाः जनकवंशभवाश्च स्वस्थाः सन्तु निर्भयास्तिष्ठन्तु पुनः भूयः अतिप्रसङ्गः दुर्विनयरूपः माभूत् न भवतु । अपराधिनमेकमिमं राघवं हत्वाऽहं वनं गच्छामि, रघवो जनकाश्च निर्भया विचरन्तु, इदं परमवधेयं यदेवंविधोऽपराधो भूयो माजनि, तदिह 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' इति न्यायेनाग्रहत्याग एवोचित इति भावः ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥१६॥

विदेहराजन्यस्य = विदेहवंश्यक्षत्रियस्य । राजर्षेः = राजाऽपि तपस्वित्वादृषिस्तस्य जनकस्य । याज्यस्य = याजयितुमर्हस्य । यजमानस्येति भावः । प्रेयसः=अतिशयेन प्रियस्य । अवस्कन्दितुम्=आक्रमितुम् । न कोऽपि मम प्रिययजमानस्य छायामप्याक्रमितुं शक्तस्तज्जामात्रतिक्रमकथा तु दूरापास्तेति भावः ॥

इस तरह हमने च्यवन आदि अत्यन्त वृद्धोंके कहनेसे क्रोधानल तथा परशुको नियमित कर लिया था परन्तु इस हरधनुर्भङ्गने उन्हें फिरसे हठपूर्वक उठा दिया है ॥ १५ ॥

चपलता करनेवाले इस राघव शिशुका संहार करके मेरे वनमें फिरसे चले जाने पर सदाके लिये रघुवंशी तथा जनक स्थिर होकर बैठें परन्तु देखना होगा कि पुनः कोई व्युत्क्रम किसी भी तरह न होने पावे ॥ १६ ॥

शतानन्द—आः ! किसका सामर्थ्य है कि हमारे यजमान राजर्षि जनकको छाया भी छू सके जामाताको छू सकना तो दूर रहे ।

वयमिव यथा गृह्यो वह्निस्तथैव चिरं स्थिताः
सुचरितगुरुस्तम्भाधारे गृहे गृहमेधिनाम् ।
यदि परिभवस्तत्रान्यस्मादुपैति धिगस्तु त-
त्प्रियमपि तपो धिग्ब्राह्मण्यं धिगङ्गिरसः कुलम् ॥ १७ ॥

विश्वामित्रः—साधु गौतम वत्स ! साधु । कृतकृत्य एष राजा सीरध्वजस्त्वया पुरोहितेन ।

न तस्य राष्ट्रं व्यथते न रिष्यति न जीर्यति ।
त्वं विद्वान् ब्राह्मणो यस्य राष्ट्रगोपः पुरोहितः ॥ १८ ॥

वयमिहेति० सुचरितगुरुस्तम्भाधारे सुचरितानि सुकृतानि पुण्यानि एव गुरवः महान्तः स्तम्भाः आधारस्थूणाः यस्य तादृशे पुण्यावलम्बिनि गृहमेधिनाम् जनकरघुप्रभृतिसद्गृहस्थानां गृहे वयम् अहम् वसिष्ठादयश्च गृह्यः स्वशाखोक्तः वह्निः यथा तथा चिरम् बहुकालं स्थिताः । यदि तत्र तादृशानां गृहे अन्यस्मात् शत्रोः परिभवः भयमनादरो वा उपैति प्राप्तावसरीभवति तत् नः प्रियम् प्राणेभ्योऽपि गरीयः तपः, ब्राह्मण्यम् विप्रत्वम् , अङ्गिरसः कुलञ्च धिक् । पुण्याश्रयिणि सद्गृहस्थानां जनकादीनां गृहे वयं चिरं गृह्याग्निवदाराध्यभावेन स्थितास्तदस्मास्ववस्थितेषु यद्येषां किमपि भयं कुतश्चिदरातेरुपस्थितं भवति तदाऽस्माकं प्राणेभ्योऽपि प्रियेण तपसाऽलम् , यावज्जीवनमुपासितं ब्राह्मण्यं वृथा, धिक्चाङ्गिरसः कुले गृहीतं जन्मेति भावः । हरिणीवृत्तम् , लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ १७ ॥

कृतकृत्यः = कृतार्थः ।

न तस्येति० विद्वान् शास्त्रज्ञः ब्राह्मणः ब्रह्मतेजोयुतश्च त्वं शतानन्दः यस्य राष्ट्रगोपः राज्यरक्षापरायणः पुरोहितः पुरोधाः, 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः । तस्य राष्ट्रम् राज्यम् न व्यथते कुतोऽपि भयं न लभते, न रिष्यति न परस्परं हिनस्ति, न जीर्यति नाकाले शिथिलं भवति । अतस्त्वादृशः पुरोहितो दुर्लभ इति भावः ॥१८॥

हमलोग इनके सच्चरितरूप स्तम्भ पर अवलम्बित गृहस्थोंके घरमें गृह्य वह्निके समान रहते आये हैं इस स्थितिमें यदि इन पर किसी दूसरी ओरसे कोई आपत्ति आ जाय तो हमारे प्रिय तप तथा अङ्गिराके कुलको धिक्कार है ॥ १७ ॥

विश्वामित्र—साधु गौतम वत्स ! साधु, तुम जैसे पुरोहित से राजा जनक कृतकार्य हैं ।

उसके राष्ट्रमें कोई पीड़ा होती है, न उस पर कोई आपत्ति आती है, न वह जीर्ण होने पाता है जिसे तुम्हरे जैसा विद्वान् ब्राह्मण राष्ट्ररक्षक पुराहित होता है ॥ १८ ॥

जामदग्न्यः—गौतम ! त्वयेव बहुभिः क्षत्रियपुरोहितैर्ब्रह्मतेजसा स्फुरितमासीत् । किन्तु प्राकृतानि तेजांस्यप्राकृते ज्योतिषि शाम्यन्ति ।

शतानन्दकः—(सक्रोधम्) अरे अनड्वन् ! पुरुषाधम ! निरपराधराजन्यकुलकदन ! महापातकिन् ! अशिष्ट ! विकृतवेष ! बीभत्सकर्मन् ! अपू-

त्वया इव = यथा त्वया सम्प्रति ब्रह्मतेजः प्रकटीक्रियते तथा पुरापि मया क्षत्रियेषु हन्यमानेषु बहुभिः पुरोहितैः ब्रह्मतेजः प्रकटीकृतमासीदित्यर्थः । प्राकृतानि = साधारणानि । अप्राकृते = असाधारणे । तेषां स्वल्पं तेजो मयि दिव्यतेजस्के किमपि कर्तुं नाशकन् तद्वत्तवापि विकत्थनेयं व्यर्था, न मम निरोधे त्वं प्रभुस्तन्निभृतमास्स्वेति भावः ॥

अत्राङ्के नियताप्तिप्रकरीयोगात् विमर्शसन्धिः, तदुक्तम्—'गर्भसन्धौ प्रसिद्धस्य बीजार्थस्यावमर्शनम् । हेतुना येन केनापि विमर्शः सन्धिरिष्यते ॥ नियताप्तिप्रकर्युक्तेरङ्गान्यस्य त्रयोदश । तत्रापवादः संफेटो विद्रवद्रवशक्तयः । द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो निरोधनम् । प्ररोचनं विचलनमादानञ्च त्रयोदश' । इति । तथा— 'अपायाभावतः कार्यनिश्चयो नियताप्तिका । अव्यापिनी प्रकरिका' इति च । परशुरामप्रयुक्तापायाभावेन निर्विघ्नरामश्रेयोरूपकार्यनिश्चयस्य तदुपयुक्तशतानन्दाद्यव्यापिकथांशस्य च योगाद्बीजार्थावमर्शनरूपविमर्शसन्धिः । अस्याङ्गानि परतः प्रदर्शयिष्यन्ते ।

अनड्वन् = गर्वोद्धत, वृषभस्य दर्पोद्धतत्वादेतद्रूपकम् । पुरुषाधम=नीचपुरुष । निरपराधराजन्यकुलकदन = अकृतापराधस्य क्षत्रियवंशसमुदयस्य संहारिन् । महापातकिन् = ब्रह्महत्यादिपापपरायण । 'राज्ञो मूर्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद् गुरुः' इति भागवतवचनात् क्षत्रियराजवधे ब्रह्महत्यापापस्योक्तेरित्थमुक्तम् । अशिष्ट = शिष्टजनव्यवहारानभिज्ञ । विकृतवेष = अनुपयुक्ताकार । परशुधनुर्बाणादिधारणं ब्राह्मणवेषानुपयुक्तमिति तद्वेषस्य विकृतिः । बीभत्सकर्मन् = जुगुप्सितकार्यकारिन् । अपूर्वपाषण्ड = नूतनपाषण्ड—'भवव्रतधरा ये च ये च तान्समनुव्रताः । पाषण्डास्ते' इत्युक्तेरिति भावः ।

जामदग्न्य—तुम्हारी तरह कितने राजपुरोहितोंने अपने तेज प्रकट किये थे, किन्तु प्राकृत तेजका अप्राकृत तेजमें शमन हो जाता है ।

शतानन्द—(क्रोधसे) अरे बैल ! पुरुषाधम ! निरपराध क्षत्रियोंका नाश करनेवाला ! महापातकी ! अशिष्ट ! विकृतवेष ! घृणितकर्म करनेवाला ! अद्भुतपाषण्डी ! बाणधारी तथा

र्वपाषण्ड ! काण्डीर ! काण्डपृष्ठ ! कथमस्यामपि दिशि प्रगल्भसे। ननु च रे ! त्वमसि किं ब्राह्मण एव । अहो ब्राह्मणस्याचारः ।

मातुरेव शिरश्छेदो गर्भाणां चापकर्तनम् ।
राज्ञां च सवनस्थानां ब्रह्महत्यासमो वधः ॥ १६ ॥

जामदग्न्यः—आः ! स्वस्तिवाचनिक दुष्ट सामन्तपुरोहित ! अपि च रे अहल्यायाः पुत्र ! तवाहं काण्डपृष्ठः !

काण्डीर = बाणधारिन् , काण्डा बाणाः सन्त्यस्येति काण्डीरः, 'स्यात्काण्डवांस्तु काण्डीरः' 'काण्डाण्डादीरन्नीरचौ' इति मत्वर्थीय ईरन् । काण्डपृष्ठ = आयुधोपजीविन् । कथमस्यामपि दिशि प्रगल्भसे = ब्राह्मण्याभिमानमपि रक्षितुं व्यञ्जयितुं च धृष्टत्वं तनुष इत्यर्थः ।

मातुरेवेति० मातुः जनन्याः रेणुकायाः शिरश्छेदः हननम् , गर्भाणाम् कुक्षिस्थप्राणिनाम् अपकर्त्तनम् मात्रा समं छेदनम् । सवनस्थानां यज्ञदीक्षितानां राज्ञां च ब्रह्महत्यासमः ब्रह्महत्यातुल्यपापाधायकः वधः । एतादृशघोरकर्मणोऽपि तव ब्राह्मणाचाराभिमानोऽत्यन्तविस्मयावह इत्यर्थः । अत्र विष्णुस्मृतिः—'यागस्थक्षत्रियस्य वैश्यस्य रजस्वलायाश्चान्तर्वत्न्याश्चात्रिगोत्रजाया अविज्ञातगर्भस्य शरणागतस्य घातानि ब्रह्महत्यासमानि' इति । मातुः शिरश्छेदः पित्राज्ञया कृतस्तत्र तत्पापायेति तु न वक्तव्यम्, पित्राद्याज्ञाया अपि पापातिरिक्त एव पालनीयत्वात्, तथा चापस्तम्बः— 'आचार्याधीनः स्यादन्यत्र पतनीयेभ्यः' इति ॥ १९ ॥

आः इति क्रोधार्थकमव्ययम् । स्वस्तिवाचनिकः = प्रतिग्रहजीवी । प्रतिग्रहकाले ग्रहीत्रा स्वस्तिवचनं प्रयुज्यते, तेन सर्वदा प्रतिग्रहकाले स्वस्तीति वचनशील इत्यर्थः । सामन्तपुरोहित = क्षुद्रराजपुरोध । अहल्यापुत्र=अहल्यागर्भजात । अहल्याया इन्द्रसंसर्गकृतदोषवत्ताख्यापनायेदं संबोधनं प्रयुक्तम् । अहं तव काण्डपृष्ठः ? त्वदभिप्रायेणायुधजीवी ? येनाभिप्रायेण त्वं मां शस्त्राजीवमात्थ न तेनाभिप्रायेणाहं तथा किन्त्वनादरोपशमनार्थमहं तथेति भावः ।

आयुधजीवी ! तुम इस दिशामें भी ढिठाई क्यों करता है ? क्योंरे ! क्या तुम भी ब्रह्मण ही है ? अहा ब्राह्मणका आचार कैसा है ?

माताका शिर काट लिया, गर्भस्थ प्राणियों की नृशंस हत्या और यज्ञप्रवृत्त राजागणका वध जो ब्रह्महत्याके सदृश है ॥ १९ ॥

जामदग्न्य—आः ! स्वस्ति कहनेवाले दुष्ट ! सामन्तोंके पुरोहित ! और अहल्याके पुत्र ! तुम्हारे लिये भी मैं काण्डपृष्ठ हूँ ।

शतानन्दः—दुष्ट दुर्मुख भृगुप्रसवपांसन !

राजानो गुरवश्चैते महिम्नैव महाक्षमाः।
क्षमन्तां नाम न त्वेवं शतानन्दः क्षमिष्यते ॥ २० ॥

(इति कमण्डलूदकेनोपस्पृशति)

(नेपथ्ये)

कः कोऽत्र भोः ! प्रसाद्यतामयं धवित्रनिर्धूत इवाभिप्रणीतः पृषदाज्याभिघारघोरस्तनूनपात्समिध्यमानदारुणब्रह्मवर्चसज्योतिराङ्गिरसः।

दुर्मुख = परुषभाषिन्। भृगुवंशप्रसवपांसन = भृगुकुलकलङ्क।

राजान इति० राजानो दशरथजनकादयः, गुरवो वसिष्ठादयश्च महिम्ना स्वमहत्त्वेन एव महाक्षमाः आगःसहनरूपक्षमासाराः क्षमन्ताम् परशुरामकृतमुत्पातम् सहन्ताम् नाम। शतानन्दः तु एवम् ईदृशमस्योत्पातम् न क्षमिष्यते न मर्षयिष्यति। महतां क्षमाशीलत्वात्तेषां क्षमाया युक्तत्वेऽपि शतानन्दस्य तादृशक्षमाप्रयोजकमहत्त्वविरहितत्वात्स न क्षमिष्यते, एतदुत्तरक्षण एवापराधानुगुणं दण्डं प्रयोक्ष्यते इत्याशयः॥ २० ॥

उपस्पृशति = आचामति। शापप्रदानरूपकर्मणः पूर्वं कर्त्तव्यमाचमनं करोतीत्यर्थः। अत्र शतानन्दजामदग्न्ययोरन्योन्यदोषप्रख्यापनादपवादो नाम विमर्शसन्ध्यङ्गमुक्तम्, यथोक्तम्—'दोषप्रख्यापवादः स्यात्' इति। अत्रैवान्योन्यं रोषसम्भाषणात् संफेटो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, यथोक्तम्—'रोषसंभाषणं संफेटः' इति।

प्रसाद्यताम् = प्रसन्नः क्रियताम्। धवित्रनिर्धूतः = मृगचर्मरचितव्यजनेनाभिप्रणीतः कृतसंस्कारः प्रज्वालित इत्यर्थः। 'धवित्रं व्यजनं तद्यद्रचितं मृगचर्मणा' इत्यमरः। पृषदाज्याभिघारःघोरः = पृषदाज्यस्य दधिमिश्रघृतस्य अभिघारेण पूर्णसेकेन घोरः समधिकज्वालः, तनूनपात् = अग्निः। समिध्यमानदारुणब्रह्मवर्चसज्योतिः = प्रकाशमानभयङ्करतपोदीधितिः। आङ्गिरसः = अङ्गिरसः पौत्रः शतानन्दः। अयमङ्गिरसः पौत्रः शतानन्दो ब्रह्मतेजसा ज्वलन् धवित्रनिर्धूतः सदधिघृतबहुलसे-

---

शतानन्द—दुष्ट, कटुभाषी ! भृगुकुलकलङ्क !

राजाजनक तथा ये गुरुगण अपनी महत्ताके कारण क्षमाशील हैं अतः वे क्षमा किया करें, मैं शतानन्द अब नहीं क्षमा कर सकूंगा।

(कमण्डलु जलसे आचमन करता है)

(नेपथ्यमें)

कौन यहाँ है ? पङ्खासे प्रज्वलित तथा दधिघृतधारासे समिद्ध अग्निके समान भयङ्कर ब्रह्मतेजसे दीप्तिशाली शतानन्दको मनाओ।

शतानन्दः—(ससंरम्भं शापोदकं गृहीत्वा) भो भोः सभासदः ! पश्यन्तु भवन्तः ।

सक्रोधः प्रसभमहं पराभिघाता दुद्भूतद्रुतगतिराततायिनं वः ।
उत्पातक्षुभितमरुद्भिघट्यमानो वज्राग्निर्द्रुममिव भस्मसात्करोमि ॥२१॥

(नेपथ्ये)

भगवन्! प्रसीद । गृहानुपगते प्रशाम्यतु दुरासदं तेजः ।

कर्समिद्धोग्निरिव भयङ्करस्तदयं प्रणिपातादिना केनाप्युपायेन प्रसन्नः क्रियतामित्यर्थः। 'पृषदाज्यं सदध्याज्ये' 'जातवेदास्तनूनपात्' 'प्रणीतः संस्कृतोऽनलः' इति सर्वत्रामरः। 'घार'शब्दे 'गृ घृ सेचने' इति धातोर्घञ्। ब्रह्मणोवर्चः 'ब्रह्मवर्चसम्' 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' इत्यच्।

ससंरम्भम्=सकोपं सवेगञ्च। शापोदकम्=शापार्थमुदकम्। सभासदः=सभ्याः। सक्रोध इति० पराभिघातात् परस्य शत्रुभूतस्य परशुरामस्य अभिघातात् परिभवात् उद्भूतद्रुतगतिः जायमानशीघ्रताव्यापारः सक्रोधः कुपितः अहम् वः युष्माकम् रामादीनाम् आततायिनम् वधोद्यतम् इमम् उत्पातक्षुभितमरुद्विघट्टमानः अशुभयोगचलितवायुप्रेर्यमाणः वज्राग्निः अशनिवह्निः द्रुमम् वृक्षमिव भस्मसात् भस्मीभूतम् करोमि। यथौत्पातिकवातप्रेरितोऽशनि शिखी क्वचिद् वृक्षे पतितस्तमामूलचूलं दहति तद्वदिमं भवद्वधोद्यतं परशुरामं तदीयापमानक्रुद्धोऽहं प्रसभं शापेन दहामीति भावः। 'परोऽरिः परमात्मा च' 'प्रसभो वेगहर्षयोः' इति रत्नमाला। 'आततायी वधोद्यतः' इत्यमरः। प्रहर्षिणीवृत्तम्—'म्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' इति च तल्लक्षणम्॥ २१॥

गृहानुपगते=अतिथिभूते परशुरामे। प्रशाम्यतु=शान्तिमुपैतु। दुरासदम्=दुर्धर्षम्, पराभिभवसहनासमर्थमिति यावत्।

शतानन्द—(वेगसे शापोदक लेकर) अजी सभासदो ! आप लोग देखें—

सक्रोध तथा पराभिघात से शीघ्रता करनेके लिये प्रेरित मैं शीघ्र ही इस आततायी को उत्पात क्षुभित वायु द्वारा सञ्चालित वज्राग्नि जैसे महावृक्षको भस्मसात् करता है उसी तरह भस्म कर देता हूँ॥ २१॥

(नेपथ्यमें)

भगवन्! क्षमा कीजिये, घर पर आये हुए के लिये अपने दुर्धर्ष तेजको संभालिये।

श्लाघ्यो गुणैर्द्विजवरश्च निजश्च बन्धु-
स्तस्मिन् गृहानुपगते सदृशं किमेतत् ।
विद्वानपि प्रचलितस्तु यदेष मार्गा-
त्क्षत्रं हि तत्र विनयाय शमं भज त्वम् ॥ २२ ॥

वसिष्ठः—(शापोदकमपहरन्) वत्स शतानन्द ! यथाह संबन्धी ते महाराजदशरथः । अन्यच्च ।

यत्कल्याणं किमपि मनसा तद्वयं वर्तयाम-
स्त्वं जाबालिप्रभृतिसहितः शान्तिमध्यग्नि कुर्याः ।

श्लाघ्य इति० (परशुरामः) गुणैः श्रोत्रियत्वतपःपराक्रमादिभिः श्लाघ्यः प्रशंसनीयः, द्विजवरः ब्राह्मणश्रेष्ठः, निजः स्वीयः बन्धुः सपिण्डश्च । तस्मिन् गुणश्लाघ्यब्राह्मणसम्बन्धिपरशुरामे गृहान् आगते एतत् शापप्रदानोन्मुखत्वम् सदृशम् युक्तम् किम् ? न कथमपि युक्तमित्यर्थः । एषः परशुरामः विद्वान् अधीतशास्त्रः अपि यत् मार्गात् ब्राह्मणोचिताचारात् प्रचलितः तत्र हि विनयाय उपयुक्तशिक्षाप्रदानाय क्षत्रम् (योग्यमिति शेषः) अस्तीति या योजना । त्वं शमम् शान्तिम् भज आश्रय । गुणैः प्रशस्यो गृहागतः सपिण्डश्च परशुरामस्तस्मिंस्तव शापप्रदानं नोपयुक्तमथ स विद्वानपि यदपथप्रवृत्तस्तदुचितदण्डप्रदाने क्षत्रियस्याधिकारस्तस्यैवाचारपालनाधिकारादतो वृथा मा क्रोधीः शमं भजेति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥

अत्र विरोधशमनाच्छक्तिर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् , यथोक्तम्–'विरोधशमनं शक्तिः' । यथाह सम्बन्धी = सम्बन्धवान् महराजदशरथो यथाह तथैवास्त्वित्यर्थः ।

यत्कल्याणमिति० वयम् अहम् विश्वामित्रादयश्च यत् कल्याणम् रामस्य यदिष्टार्थसिद्धिरूपम् तत् वर्त्तयामः आशीःप्रदानादिना सम्पादयामः । त्वम् शतानन्दः जाबालिप्रभृतिसहितः अध्यग्नि अग्नौ इत्यध्यग्निवह्निरूप आधारे शान्तिम् अनिष्टशमनफलकं होमं कुर्याः विदध्याः । अथ स भगवान् सर्वविधसामर्थ्योपपन्नः

गुणोंसे प्रशंसनीय, ब्राह्मण, अपना बन्धु, घर पर आया हुआ है, उसके प्रति ऐसा व्यवहार क्या ठीक है ? यह विद्वान् होकर भी जो मार्गच्युत हो रहा है, उसे विनीत करनेके लिये राजा है, आप शान्ति ग्रहण करें ॥ २२ ॥

वसिष्ठ—(शापोदक दूर करके) बेटा शतानन्द ! तुम्हारे सम्बन्धी महाराज दशरथ ठीक कह रहे हैं—

जो कल्याणकर है उसे हम लोग हृदयसे कर रहे हैं, तुम जाबालि आदि के शान्तिहोम

जेतुं जैत्रानथ खलु जपन्सूक्तसामानुवाका-
नस्मच्छिष्यैः सह स भगवान् वामदेवो गृणातु ॥ २३ ॥

(शतानन्दः परिक्रम्य निष्क्रान्तः)

जामदग्न्यः—पश्यत बटोः क्षत्रियावष्टब्धस्य गर्जितानि। तत्किमनेन। भो भोः कोसलविदेहेश्वरप्रसादोपजीविनो ब्राह्मणाः! सप्तद्वीपकुलपर्वतगोचराश्च सर्वक्षत्रियाः! वदामः।

तपो वा शस्त्रं वा व्यवहरति यः कश्चिदिह वः
स दर्पादुद्दामस्त्विषमसहमानः स्खलयतु।

वामदेवः प्रसिद्धतन्नामर्षिः जेतुम् परानभिभवितुम् जत्रान् जयसाधनानि सूक्तसामानुवाकान्—सूक्तानि श्रीसूक्तपुरुषसूक्तादीनि, सामानि रथन्तरादीनि, अनुवाकान् 'शुक्रप्रविध्य' इत्यादिकान् 'आशुः शिशानः' इत्यादिकांश्च अस्मच्छिष्यैः मम विश्वामित्रस्य चान्तेवासिभिः सह जयन् उपांशूच्चारयन् (मनसा ध्यायन्निव) गृणातु उच्चारयतु। वयं रामस्य कल्याणनिर्वृत्त्यै स्वाशीःप्रदानादिना सतर्काः, त्वं तावद्निष्टशमनप्रयोजनं होमं सम्पादय, वामदेवश्च जैत्रान्सूक्तसामानुवाकानस्मच्छिष्यैः सह गृणातु, तदेवमिष्टसिद्ध्यनिष्टनिवृत्तिजपानामेकदा सिद्धिरुपपद्यत इति वृथा कलहं विहाय तदर्थमुद्योक्तव्यमिति भावः। मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ २३ ॥

अत्र कार्यसंग्रहणरूपमादानं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, यथोक्तम्—'कार्यसंग्रहणमादानम्' इति।

बटोः = बालकस्य, परशुरामापेक्षया शतानन्दस्य वयसा न्यूनतयेत्थमुक्तम्। क्षत्रियावष्टब्धस्य = क्षत्रियोपजीविनः। अनेन = अस्य गर्जितेन। कोसलविदेहेश्वरप्रसादोपजीविनः = कोसलेश्वरः दशरथस्य विदेहेश्वरस्य जनकस्य च प्रसादं प्रसन्नताम् उपजीवन्ति जीविकारूपेणावलम्बन्ते ते तदाश्रया इत्यर्थः। सप्तद्वीपकुलपर्वतगोचराः = सप्तद्वीपाः कुलपर्वताश्च गोचराः विषयाः निवासदेशा येषां ते तथोक्ताः।

तपो वेति० वः युष्माकम् (मध्ये) यः कश्चित् योऽपि कोऽपि तपः ब्राह्मम् शाप-

---

करो। जपके लिये जैत्रसूक्त साम तथा अनुवाकका जप हमारे शिष्योंके साथ भगवान् वामदेव करेंगे ॥ २३ ॥

(शतानन्द जाते हैं)

जामदग्न्य—क्षत्रियाश्रित इस बालककी गरजना तो देखो। इससे क्या ? अरे ओ कोसल तथा विदेहके टुकड़ों पर पलनेवाले ब्राह्मणो और सप्तद्वीप तथा कुलपर्वतवासी क्षत्रियो ! मैं कहे दे रहा हूँ—

जो कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय हमारे तेजको नहीं सह सकनेके कारण दर्पसे तपस्या वा

अरामां निःसीरध्वजदशरथीकृत्य जगती-
मतृप्तस्तत्कुल्यानपि परशुरामः शमयति ॥ २४ ॥

(नेपथ्ये)

भार्गव भार्गव ! अति हि नामावलिप्यसे ।

जामदग्न्यः—असूयति नामास्मदवलेपाय जनकः ससंरम्भश्च ।

(प्रविश्य)

प्रयोजकम् शस्त्रम् युद्धोपकरणमायुधं वा व्यवहरति अस्मदभियोगापकरणत्वेनोपसरति दर्पात् तेजसो बलस्य च गर्वात् उद्दामः उद्वेलः, (यः कोऽपि भवतु ब्राह्मणस्तपः-प्रयुक्तेन शापेन क्षत्रियो वा शस्त्रप्रयोगेण मम पराभवस्याशां पुष्णाति स गर्वोद्धतः) त्विषम् मदीयं तपोबलञ्च असहमानः अमृष्यमाणः स्खलयतु स्वं तपः पराक्रमं च स्खलयतु भ्रंशयतु (मत्पराभवसाधनत्वोपयुज्य वृथा नाशयतु, तत्तपःपराक्रमयोः मत्पराभवासमर्थतया तयोस्तथोपयोगो वृथानाश एव पर्यवस्येत्फलानाधायकत्वा-दिति भावः) परशुरामः अरामाम् रामरहिताम् जगतीम् लोकम् निःसीरध्वजदश-रथीकृत्य सीरध्वजो जनकः दशरथश्च ताभ्यां विहीनां कृत्वा अतृप्तः अनिर्वृतः तत्कुल्यानपि तत्सगोत्रान् तयोर्वंशे विद्यमानान् मनुष्यान् अपि शमयति विनाश-यति । युष्माकं मध्ये ब्राह्मणाः शापं दत्त्वा क्षत्रियाश्च शस्त्राणि वोपयुज्य वृथाभावं नयन्तु स्वं तपो वीर्यं च, परं ततः किञ्च रिछन्नमहं तु गुर्वपराधक्रोधभृतः परशुरामो भुवं रामेण जनकदशरथाभ्यां च शून्यां कृत्वाऽप्यपरितुष्यन् रघुजनकवंशयोरुच्छेदं करोम्येवेति तात्पर्यम् । 'स्खलयतु' इत्यत्र कामचारार्थे लोट् तेन तस्य वैयर्थ्यं, 'परशुरामः' इति नामोपादानेन प्राक्कृतं क्षत्रियकदनं बोधयता तथाकरणसामर्थ्यं चावेद्यते । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २४ ॥

अवलिप्यसे = गर्वं करोषि । 'दर्पोऽवलेपोऽहङ्कारः' इति कोशः ।

अत्रोद्वेजनाद्द्युतिर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं, यथोक्तम्—'तर्जनोद्वेजने द्युतिः' इति । अस्मदवलेपायासूयति = अस्मदीये गर्वे दोषमाविष्करोति, दुर्बलस्य बलवद्विषयाऽ-सूया न शोभत इत्यभिप्रायेणायमुपहासः । ससंरम्भः = क्रोधयुक्तः, दुर्बलस्य बल-वति कोपोऽपि हास्य एव, फलशून्यत्वादिति भावः ।

शस्त्रको व्यर्थ खर्च करना चाहते हो, करें, किन्तु मैं परशुराम संसारको राम तथा दशरथसे रहित करके भी तृप्त न होकर उनके वंशधरोंको समाप्त करूंगा ॥ २४ ॥

(नेपथ्यमें)

भार्गव ! भार्गव ! तुम अब अधिक बढ़े जा रहे हो ।

जामदग्न्य—जनकको हमारे गर्वसे ईर्ष्या होती है, वह क्रोधमें है ।

(प्रवेश करके)

जनकः—

शत्रुध्वंसात्परिणतिवशाद् गृह्यतन्त्रव्रतानां
नैरन्तर्यादपि च परमब्रह्मतत्त्वोपलम्भात् ।
क्षात्रं तेजो विजयसहजं यद् व्यरंसीदिदं त-
त्प्रत्युद्भूय त्वरयति पुनः कर्मणे कार्मुकं नः ॥ २५ ॥

जामदग्न्यः—भो जनक !

त्वं ब्रह्मण्यः किल परिणतश्चासि धर्मेण युक्त-
स्त्वां वेदान्तेष्वचरममृषिः सूर्यशिष्यः शशास ।

शत्रुध्वंसादिति० विजयसहजम् विजयेन सहोत्पन्नं सततविजयि यदिदं क्षात्रम् तेजः क्षत्रियधर्मतया प्रसिद्धं पराभिभवनसामर्थ्यम्—शत्रुध्वंसात् रिपुविनाशात्, परिणतिवशात् जराप्रभावात् गृह्यतन्त्रव्रतानाम् गृह्यम् आपस्तम्बादिप्रणीतकर्मावबोधकम् तन्त्रं शास्त्रम्–तत्र यानि व्रतानि उपवासादीनि तेषाम् नैरन्तर्यात् अव्यवधानेनाचरणात्, अपि च ब्रह्मतत्त्वोपलम्भात् परमात्मविषयकज्ञानोदयात्—व्यरंसीत् निवृत्तव्यापारमभूत्, तदिदं क्षात्रं तेजः पुनः प्रत्युद्भूयप्रकाशावस्थामवाप्य कार्मुकम् मम कोदण्डम् कर्मणे युद्धरूपाय व्यापाराय त्वरयति संभ्रमयति । अयमाशयः— मयि स्थितं युद्धप्रियत्वं मम शत्रूणामुन्मूलितत्वात्, वार्धक्यात्, धर्मशास्त्रोक्तव्रताद्याचरणपरायणत्वात् ब्रह्मज्ञानोदयाच्च यद्विरतमिवाजनिष्ट, तदिदं मम युद्धप्रियत्वमधुना (अमीषामौद्धत्यात्) पुनः प्रत्युद्भूय मां युद्धं कर्त्तुं प्रेरयतीति । 'त्वरयति' 'ञित्वरासंभ्रमे' घटादित्वान्मित्त्वं मित्त्वाद् ध्रस्वः । 'नियमो व्रतमस्त्री' इत्यमरः । 'तन्त्रं स्वराष्ट्रचिन्तायां तन्तुवाये परिच्छदे । यागप्रयोगसिद्धान्तशास्त्रमुख्यौषधेषु च' इति रत्नमाला । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ २५ ॥

त्वं ब्रह्मण्य इति० भो जनक ! त्वं ब्रह्मण्यः ब्रह्मणि वेदे साधुः वेदोक्तमार्गानुसारी परिणतः वृद्धः धर्मेण युक्तश्च असि, किल निश्चये । सूर्यशिष्यः ऋषिः याज्ञवल्क्यः त्वाम् वेदान्तेषु श्रुतिशिरस्सु अचरमम् श्रेष्ठम् बृहदारण्यकाभिधं शशास उपदिदेश । इति हेतोः ब्रह्मवित्ववृद्धत्वधर्मयुक्तत्ववेदान्तज्ञत्वरूपहेतुचतुष्टयात् आचारात् तादृश-

---

जनक—शत्रुके ध्वस्त होने बुढ़ापा, सतत ब्रह्मतत्त्वकी भावना, गृह्योक्त क्रिया कलापासक्ति आदि कारणोंसे विजयप्रद जो क्षात्र तेज निवृत्त सा हो गया था वह फिर जग रहा है और हमारे कार्मुक को सक्रिय होनेके लिये प्रेरित कर रहा है ॥ २५ ॥

जामदग्न्य—अजी जनक !

आप ब्रह्मनिष्ठ वयोवृद्ध तथा धर्मपरायण हैं, याज्ञवल्क्यने आप को वेदान्तमें शिक्षा दी

इत्याचारादसि यदि मया प्रश्रयेणोपजुष्ट-
स्तत्किं मोहादविदितभयः कर्कशानि ब्रवीषि ॥ २६ ॥

जनकः—अन्त्रभेदनं क्रियते प्रश्रयश्चेति । शृणुत भोः सभासदः !

भृगोर्वंशे जातस्तपसि च किलायं स्थित इति
द्विषत्यप्यस्माभिश्चिरमिह तितिक्षैव हि कृता ।
यदा भूयोभूयस्तृणवदवधूनोत्यनिभृत-
स्तदा विप्रेऽप्यस्मिन्नमतु धनुरन्यास्ति न गतिः ॥ २७ ॥

जनविषये कर्त्तव्यतया बोधितादव्यवहारात् त्वम् यदि मया प्रश्रयेण नम्रतया उपजुष्टः सेवितः असि तत् तदा मोहात् अज्ञानात् अविदितभयः अविज्ञातभाव्यनर्थः कर्कशानि कटुवचनानि किम् ब्रवीषि किमर्थमुच्चारयसि। जनको हि वेदोक्तमार्गानुसारी वृद्धो धार्मिकः सूर्यशिष्ययाज्ञवल्क्यकृतवेदान्तोपदेशकृतार्थश्चेति हेतुरयं जनकस्य विषये परशुरामकृतस्याचारप्राप्तस्यादरस्य, अथापि यदि भ्रमवशादविज्ञातभाव्यनर्थः सञ्जनकः परशुरामायैव कटूनि वाक्यान्युपहरति तत्र कारणं न ज्ञायते इत्यर्थः। 'स्यात् कर्कशः साहसिकः कठोरमसृणावपि' इत्यमरः। पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ २६ ॥

अन्त्रभेदनम् = हृदयान्तर्गतधमनीविशेषाणाम् अन्त्राणाम्, भेदनम् विदारणम्, असह्यवचनोच्चारणेन मर्म व्यथ्यत इति भावः। प्रश्रयः = नम्रता। कटूक्तिर्नम्रताचेति विरोधिन्यौ, तत्कटुवादिनस्तव कुतः प्रश्रय इति भावः।

भृगोरिति० अयम् परशुरामः भृगोः तदाख्यस्यर्षेः वंशे कुले जातः उत्पन्नः तपसि तपस्याचरणे च स्थितः संलग्न इति किल हेतोः द्विषति द्वेषं कुर्वति अपि इह परशुरामे चिरं बहुकालं यावत् तितिक्षा क्षमा एवं कृता विहिता। यदा भूयोभूयः वारम्वारम् नः अस्मान् तृणवत् अवधूनोति अत्यन्तम् परिभवति तदा विप्रेऽप्यस्मिन्परशुरामे धनुः नमतु सज्यीभूय बाणत्यागाय नतं जायताम् अन्या धनुर्नमनादितरा गतिः न अस्ति। एष परशुरामो ब्रह्मणो मानसपुत्रस्य भृगोर्महर्षेर्वंशे जातः,

है, इसलिये सभ्यताके कारणसे मैंने आपके साथ नम्रताका व्यवहार किया है, फिर आप क्यों मोहवश भय भूल कर कठोर बातें कह रहे हैं ॥ २६ ॥

जनक—अतड़ियों में सुई चुभाता है और नम्रताका नाम लेता है। सुनिये सभासद् गण! यह भृगुकी सन्तान है, तपस्यामें निरत रहा करता है, इसलिये इसके द्वारा द्वेष किये जाने पर भी बहुत दिनों तक हमने क्षमा ही की। जब यह हमलोगों को घास समझ कर अपमान कर रहा है तब तो ब्राह्मण होने पर इसके ऊपर धनुष ही सम्भालना ही होगा, दूसरा मार्ग ही नहीं है ॥ २७ ॥

जामदग्न्यः—(सरोषहासाक्षेपम्) किमात्थ। भो भो धनुर्धनुरिति। अहो आश्चर्यम्।

क्षत्रालोकक्षुभितहुतभुक्प्रस्फुलिङ्गाट्टहासं
हायं पश्यन्नपि रिपुशिरःशाणशातं कुठारम्।
दत्तोत्सेकः प्रलपति मया याज्ञवल्क्यानुरोधा-
न्मिथ्याध्मातः किमपि जरसा जर्जरः क्षत्रबन्धुः॥ २८॥

जनकः—(सावेगम्) किमत्र बहुना।

तपसि संलग्नः, इति हेतो द्विषतोऽप्यस्य विषयेऽस्माभिरियन्तं कालं यावत्क्षमैवाश्रिता। परमतिसर्वत्र वर्जयेत्, यदाऽयं भूयोऽस्मांस्तृणवदवमन्यते तदा धनुर्ग्रहणमतिरिच्य नान्योऽत्र कोऽप्युपाय इति भावः। शिखरिणीवृत्तम्॥ २७॥

क्षत्रालोकेति० याज्ञवल्क्यानुरोधात् याज्ञवल्क्यस्य प्रियशिष्योऽयमिति हेतोः मया दत्तोत्सेकः वितीर्णगर्वावसरः मिथ्याध्मातः मिथ्याभूतगर्जितः जरसा वार्धकेन जर्जरः शीर्णः (हतबुद्धिः) अयम् क्षत्रबन्धुः क्षत्रियाधमः जनकः हा खेदे, क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः आलोकेन दर्शनेन क्षुभितस्य उदीर्णस्य हुतभुजः वह्नेः प्रस्फुलिङ्गाः अग्निकणाः इव अट्टहासा यस्मिंस्तथोक्तम् क्षत्रजातिमालोक्य स्फुलिङ्गकणानिव किरन्तमित्यर्थः, रिपूणां शिरांसि मूर्धान एव शाणाः घर्षणप्रस्तराः तेषु शातम् तीक्ष्णीकृतधारम् अनवरतरिपुशिरच्छेदनेन तीक्ष्णीकृतम् कुठारम् मम परशुम् पश्यन्नपि वीक्षमाणोऽपि किमपि अनर्थकं प्रलपति। याज्ञवल्क्यस्य शिष्योऽयमित्यनुरोधादहमस्मिन्न शस्त्रं व्यापारितवानेतावतैवायमात्मानं वीरं मन्यमानो गर्वं कुर्वन् वृथा गर्जति, मदीयं क्षत्रावलोकेनाग्निकणानिव विकिरन्तं सततशत्रुशिरश्छेदनेन निशितधारं कुठारं पश्यन्नपि च वार्द्धकजर्जरबुद्धिः क्षत्रियाधमोऽयं किमपि मुमूर्षुरिवानर्थकं जल्पति चेति तात्पर्यम्। 'ब्रह्मबन्धुरधिक्षेपे' इत्यमरसिंहवचनं क्षत्रबन्ध्वादेरप्युपलक्षणम्, तेन निन्दा व्यज्यते। मन्दाक्रान्तावृत्तम्॥ २८॥

जामदग्न्य—(रोष, हास और आक्षेपके साथ) क्या कहा जी ? धनुष धनुष ! अहा ! आश्चर्य है—याज्ञवल्क्यके स्मरणसे हमारे द्वारा दत्ताभय होनेसे सगर्व ! मिथ्याभिमानी ! जराजीर्ण यह क्षत्रियाधर्म क्षत्रियोंको देखने से आगकी स्फुलिङ्ग सदृश अट्टहास करनेवाले शत्रुओंके शिररूप शाण पर चढ़े हमारे कुठार को देखकर भी प्रलाप ही कर रहा है ॥२८॥

जनक—(आवेगसे) अधिककी क्या आवश्यता है ?

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत् ।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु चापम् ॥२९॥

(इति धनुरारोपयति)

(नेपथ्ये)

विरम नरपते कथं द्विजेऽस्मिन्नविरतयज्ञवितीर्णगोसहस्रः ।
तव पलितनिरन्तरः पृषत्कं स्पृशति पुराणधनुर्धरस्य पाणिः ॥ ३० ॥

ज्याजिह्वयेति० एतत् मम चापम् धनुः ज्या प्रत्यञ्चा जिह्वेव रसनेव तया वलयिते वेष्टिते उत्कटे भयङ्करे कोटी अग्रभागौ दंष्ट्रे दन्ताविव यत्र तादृशम्, धनुषो मुखेन रूपणात् ज्यायाजिह्वाभावस्तत्कोटयोश्च दंष्ट्राभावो सुरूपः। उद्गारिणः उच्चैः शब्दायमानस्य घोरस्य भीषणस्य घनस्य मेघस्येव घर्घरस्य घोषो यत्र तादृशम्। मेघशब्दानुकारिघोषमिति यावत्। ग्रासे जगत्कवलने प्रसक्तस्य संलग्नस्य हसतः अन्तकस्य यमस्य वक्त्रम् मुखम् एव यन्त्रम् तस्य जृम्भा व्यादानम् तद्विडम्बितद्नुकारि अस्तु नमत्वित्यर्थः। जगत्कवलनप्रवृत्तस्य यमस्य मुखं व्यात्तं यथादृशं भवति तथेदं धनुर्नतं सत्प्रतीयताम्, अस्य कोटी यममुखस्य दंष्ट्रे, ज्या रशना, घोषश्चोभयत्र समः, तदेभी रूपकैर्मृत्योरवश्यंभाविताध्वनिः। रूपकं परम्परितमलङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २९ ॥

अत्र तर्जनरूपा द्युतिर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, तथा चोक्तम्—'तर्जनं द्युतिः' इति।

विरमेति० नरपते जनक ! विरम धनुरारोपणान्निवृत्तो भव। अविरतयज्ञवितीर्णगोहसहस्रःसततानुष्ठितज्योतिष्टोमादियज्ञेषु वितीर्णानि दत्तानि गवाम् धेनूनाम् सहस्राणि येन तादृशः पलितनिरन्तरः जरातिशयप्रयुक्तकेशधावल्यपूर्णः पुराणधनुर्धरस्य चिरन्तनधानुष्कस्य तव पाणिः द्विजे ब्राह्मणं निमित्तीकृत्य पृषत्कं बाणं कथं स्पृशति प्रयोक्तुमारोपयति। 'पृषत्कबाणविशिखाः' इत्यमरः। येन तव दक्षिणपाणिना यज्ञेषु सहस्रं गावः प्रतिपादिता ब्राह्मणेभ्यस्तेनैवाधुना द्विज एव धनुरा-

हमारा यह धनुष केवल ग्रहण करनेके लिये विकृत यमराजके मुखका अनुकरण करने वाला हो जाय जिसकी प्रत्यञ्चारूप जीभसे ऊँची कोटिरूप दन्त लिपटे हैं तथा जिससे घोर मेघका सा शब्द हो रहा है ॥ २९ ॥

(धनुष चढ़ाता है)

(नेपथ्यमें)

पुराने धनुर्धर आपका वह हाथ—जो वार्द्धक चिह्नसे युक्त हो रहा है तथा जिसने सतत विधीयमान यज्ञोंमें हजारों गोदान किये हैं, ब्राह्मण पर बाण कैसे उठावेगा, आप इससे विरत हों ॥ ३० ॥

जनकः—सखे महाराज दशरथ !

अस्मानधिक्षिपतु नाम न किंचिदेतत्कस्य द्विजे परुषवादिनि चित्तभेदः।
वत्सस्य मङ्गलविरुद्धमयं तु पापः कर्णे रटन्कटु कथं नु बटुर्विषह्यः॥३१॥

जामदग्न्यः—आः दुरात्मन् क्षत्रियापसद ! मामेवं बटुरित्यधिक्षिपसि।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ यावद्विशकलितयकृत्क्लोमवक्षोरुहान्त्र-
स्नायुग्रन्थ्यस्थिशल्कव्यतिकरितजरत्कंधरादन्तखण्डः।

रोप्यते सताऽपि पलिताचितेन, नैतच्छोभते, तन्निवर्त्तस्वेति भावः। पुष्पिताग्रा- वृत्तम्, 'अयुजिनयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रे'ति लक्षणम् ॥

अस्मानीति० (अयं परशुरामः) अस्मान् अधिक्षिपतु अस्माद्विषये दुरुक्तानि वदतु एतत् तद्दुरुक्तम् न किञ्चित् लेशतोऽपि नास्मत्खेदावहम्, तत्र हेतुमाह— कस्येति० परुषवादिनि कटुभाषिणि द्विजे कस्य (साधारणजनस्यापि) चित्तभेदः कोपरूपो मनोवृत्तिविशेषः प्रादुर्भवेदिति शेषः। द्विजेऽधिक्षिपति साधारणोऽपि जनो न कुप्यति का कथा तत्र मादृशस्य ब्रह्मनिष्ठस्येत्याशयः। ननु तर्हि किमर्थं कुप्यसि तत्राह—वत्सस्येति० अयम् परशुरामः वत्सस्य रामस्य मङ्गलविरुद्धम् अकल्याणम् कटु कर्णकटु कर्णे श्रोत्रदेशसमीपे रटन् ध्वनन् बटुः बालः (परशुरामः) कथन्नु विषह्यः केन प्रकारेण क्षन्तव्यः न कथमपीति भावः ॥ ३१

अत्र प्रकरणे बहूनां जनकादीनां क्रोधसंरब्धानामन्योन्याक्षेपकथनान्निरोधनं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, तमुक्तम्—'क्रोधसंरब्धानामन्योन्याक्षेपो निरोधनम्'।

क्षत्रियापसद = क्षत्रियाधम ! 'निहीनोऽपसदो जाल्मः' इत्यमरः।

उत्तिष्ठेति० उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ, (क्रोधकृते संरम्भे क्रियाऽऽवृत्तिः) यावत् विशकलिताः खण्डिताः यकृत् कुक्षेर्दक्षिणभागस्थं मांसपिण्डम्, क्लोम—'अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात् क्लोम तिष्ठति। जलवाहि शिरामूलं तृष्णास्थानं मतं बुधैः' इति कृतपरिभाषम्, वक्षोरुहौ स्तनौ, अन्त्रम् देहबन्धनसाधननाडीभेदः, नायुः शरीरावस्थितो वायुवाहिनाडिभेदः, ग्रन्थिः सन्धिः, अस्थिशल्कम् अस्थिशकलम्, तैः व्यतिकरिता संवलिता जरती जीर्णा कन्धरा ग्रीवा दन्तखण्डाश्च येन

जनक—महाराज दशरथ ! यह हमारे ऊपर आक्षेप करे कोई बात नहीं है, ब्राह्मणके कटुवादी होनेसे किसको हृदय में राग होगा ? परन्तु यह बालक जब वत्स राम के लिये अमङ्गल बकने लगता है तब भला कैसे सहा जा सकता है ॥ ३१ ॥

जामदग्न्य—आः दुष्ट ! नीच क्षत्रिय ! मुझे ही बालक बताता है।

उठो उठो, शिरके कट जानेसे धमनियों की शिराओंसे निकलनेवाले शोणितफेनसे

मूर्धच्छेदादुदञ्चद्गलधमनिशिरारक्तडिण्डीरपिण्ड-
प्रायप्राग्भारघोरः पशुमिव परशुः पर्वशस्त्वां शृणातु ॥३२॥

(प्रविश्यान्तरे)

दशरथः—भो भार्गव !

एष नो नरपतिर्यथा स्थितः स्वं शरीरमपि ते स्थितं तथा ।
तत्र वाक्परिभवैः कृतैर्वयं सर्वथैव ननु दुःखमास्महे ॥ ३३ ॥

जामदग्न्यः—ततः किम् ?

तादृशः । इदमेकं पादद्वयव्यापि परशुविशेषणम् । सर्वेषामत्रोक्तानामङ्गानामवखण्डनमेव विवक्षितं येनाग्रे वक्ष्यमाणस्य पर्वशः खण्डनस्य पुष्टिः । मूर्ध्नः शिरसः छेदात् उदञ्चन्ति उद्गच्छन्ति गलस्य कण्ठदेशस्य धमनिशिराभ्यः धमन्याख्यनाडीभ्यः रक्तानि एव हिण्डीरपिण्डानि फेननिचयाः तत्प्रायः गलनिर्यद्रक्तफेनवदवभासमान इत्यर्थः । स च प्राग्भारघोरः विस्तारभयङ्करश्च परशुः कुठारः पशुमिव त्वाम् पर्वशः खण्डशः शृणातु कृन्ततु ।' शल्के शकलवल्कले' 'शिरोधिः कन्धरा ग्रीवा' 'हिण्डरोऽब्धिकफः फेनः' इति सर्वत्रामरः । पशुमिवेत्युपमया प्रतिकर्त्तुमक्षमत्वरूपं कातर्यं तेन चाशक्तत्वं व्यज्यते । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३२ ॥

एष न इति० एषः अस्माकम् सुहृत् नरपतिर्यथाऽक्षतभावेन स्थितः, तथा ते स्वम् आत्मनीनम् शरीरम् अपि स्थितम् अक्षतभावेन वर्त्तमानम् अस्तीति शेषः । तत्र तस्यां स्थितौ वाक्परिभवैः परस्परकटुवाक्प्रयोगैः कृतैः भवद्भ्यां विहितैः वयम् दुःखमास्महे, भवद्भ्यां वचनकलहे क्रियमाणे न तस्य शरीरं छिद्यते न वा भवतः, ब्रह्मनिष्ठतया भवतोर्मनोऽपि न ग्लायति केवलं वयं दुःखिता भवामस्तदलमनेनेति भावः ॥ ३३ ॥

विस्तृत धार हमारा यह कुठार पशुकी तरह तुम्हें टुकड़ा टुकड़ा करके तुम्हारे यकृत, तिलक, स्तन, अँतडी, अस्थि से युक्त अंसदेशको भी खण्ड खण्ड कर देगा ॥ ३२ ॥

(बीचमें आकर)

दशरथ—अयि भार्गव ! ये हमारे राजा जिस तरह अक्षत हैं तुम्हारी देह भी उसी प्रकार अक्षत है, बातों से किसी की भी देह नहीं छिदी, फिर क्यों वाक्कलह कर रहे हो, इससे हम लोगों को पीड़ा होती है ॥ ३३ ॥

जामदग्न्य—इससे क्या ?

दशरथः—ततश्च न क्षम्यते ।

जामदग्न्यः—त्वमप्यपरः प्रभविष्णुरिव मामवस्कन्दयसि । चेतयस्व नित्यनिरवग्रहः प्रकृत्यैव रामोऽस्मि जामदग्न्यः । क्षत्रियश्च भवान् ।

दशरथः—अतः खलु नोपेक्ष्यसे ।

दुर्दान्तानां दमनविधयः क्षत्रियेष्वायतन्ते
दुर्दान्तस्त्वं वयमपि च ते क्षत्रियाः शासितारः ।
सद्यः शान्तो भव किमपरं दम्यसे चाधुनैव
क्व ब्रह्माणः प्रशमनपराः क्षत्रधार्यं क्व शस्त्रम् ॥ ३४ ॥

ततश्च न क्षम्यते = भवद्भ्यां विधीयमानोऽन्योन्याधिक्षेपो दुःखकरत्वान्न क्षम्यतेऽस्माभिरित्यर्थः ।

प्रभविष्णुः = किमपि कर्त्तुं शक्तः । अवस्कन्दयसि = कटूक्त्या सन्तापयसि । चेतयस्व = मनसि भावय । नित्यनिरवग्रहः = सर्वदा निष्प्रतिबन्धः । प्रकृत्या = स्वभावतः । रामोऽस्मि = विवक्षितान्यपरवाच्यतया क्षत्रियान्तकोऽस्मीत्यर्थः पर्यवस्यति । तव क्षत्रियस्य मम क्षत्रियान्तकेन सह यो वध्यघातकभावः सम्बन्धः फलति तं विचारयेत्याशयः ।

अतः खलु नोपेक्ष्यसे = त्वं ब्राह्मणो विमार्गगः क्षत्रियश्चाहमुत्पथजनदमनाधिकृतोऽतो नोपेक्ष्यसे त्वमिति भावः ।

दुर्दान्तानामिति० दुर्दान्तानाम् दुःखेन दमनीयानाम् अत्युद्धतानाम् दमनविधयः शिक्षाविधानानि क्षत्रियेषु राजसु आयतन्ते आयत्ता भवन्ति, दुर्दान्ताः क्षत्रियैर्विनेतव्या इत्यर्थः । त्वं दुर्दान्तः, वयम् अपि च ते तव शासितारः विनेतारः क्षत्रियाः । (अतः) सद्यः एतत्क्षण एव शान्तः निवृत्तवेगः (मर्यादायां स्थितः) भव, अपरम् किम् अन्यत् किम्, अयमेव सारांशो यत्त्वमौद्धत्यं विहाय मर्यादामाश्रयान्यथा क्षत्रियेण मया तव दमनं कर्त्तव्यमेवेति । अधुना एव दम्यसे निगृह्यसे, (तत्र कारणमाह—क्वेति० प्रशमनपराः शान्तिनिष्ठाः ब्रह्माणः ब्राह्मणाः क्व ? क्षत्रधा-

दशरथ—फिर हम नहीं क्षमा करेंगे ।

जामदग्न्य—तुम भी अब दूसरे सामर्थ्यशालीकी तरह मुझे धमकाने लगे, सोच लो, सदासे निष्प्रतिबन्ध मैं जामदग्न्य राम हूँ ।

दशरथ—इसीसे तो उपेक्षा नहीं की जायेगी—

दुर्दान्तों का दमन क्षत्रियों के ऊपर अवलम्बित होता है । तुम दुर्दान्त हो । इसलिये तुम्हारे दमनके अधिकारी हम क्षत्रिय हैं । इसलिये शीघ्र शान्त हो जाओ, नहीं तो अभी दमन किया जायेगा, ब्राह्मण जो शान्तिपरायण होते हैं वे कहां और क्षत्रधारणी यशशस्त्र कहां ? ॥

जामदग्न्यः (विहस्य) चिरस्य खलु कालस्य जामदग्न्यः सनाथो वर्तते यस्य यूयं क्षत्रिया विनेतारः।

दशरथः—अरे ! किमत्र काचिद्भ्रान्तिः।

अज्ञो वा यदि वा विपर्ययगतज्ञानोऽथ संदेहभृ-
द्दृष्टादृष्टविरोधि कर्म कुरुते यस्तस्य गोप्ता गुरुः।
निःसंदेहविपर्यये सति पुनर्ज्ञाने विरुद्धक्रियं
राजा चेत्पुरुषं न शास्ति तदयं प्राप्तः प्रजाविप्लवः ॥३५॥

र्थम् क्षत्रियोचितम् शस्त्रम् क्व ? ब्राह्मणत्वशस्त्रग्राहित्वयोर्विरुद्धत्वेन तथाऽऽचरतस्तव दमनमावश्यकमिति भावः। मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ३४ ॥

चिरस्य खलु कालस्य=चिरकालेनेत्यर्थः। सनाथः=सस्वामिकः शासितृप्रभुपरतन्त्र इत्यर्थः। विनेतारः शिक्षकाः। विपरीतलक्षणया नाहं भवता नाथवान्नापि त्वं विनेतेति ध्वनिः ॥

अत्र=तव विनेयत्वे मम शिक्षकत्वे च। भ्रान्तिः=भ्रमः। निश्चितमहं तव दमक इत्यर्थः।

अज्ञो वेति० यः अज्ञः अनुत्पन्नकर्त्तव्याकर्त्तव्यबुद्धिः, वा अथवा विपर्ययगतज्ञानः विपर्ययं वैपरीत्यं गतं ज्ञानं यस्य तादृशः (ज्ञाने वैपरीत्यं चातद्वति तत्प्रकारत्वेन बोध्यम्) अकर्त्तव्यं कर्त्तव्यतया कर्त्तव्यं चाकर्त्तव्यतयाजानन् इत्यर्थः, अथ पक्षान्तरे सन्देहभृत् इदं कर्त्तव्यमकर्त्तव्यं वेति सन्दिहानो वा जनः यदि दृष्टादृष्टविरोधि दृष्टस्यैहिकफलस्य पुष्टिपुत्रान्नादिलाभकरस्य अदृष्टस्यामुष्मिकफलस्य स्वर्गादेर्वा विरोधि प्रतिकूलं कर्म कुरुते तस्य अज्ञस्य विपरीतज्ञानस्य सन्दिग्धमनसश्च गोप्ता रक्षिता गुरुः भवतीति शेषः, ज्ञानप्रदानेन रक्षणस्य गुर्वेकसाध्यत्वत्तादृशजनरक्षणे नान्यस्य क्षमतेति भावः। पुनः किन्तु ज्ञाने निस्सन्देहविपर्यये असन्दिग्धाविपर्यस्ते सति सन्देहस्य वैपरीत्यस्याज्ञानस्य वाऽभावे सति विरुद्धक्रियं विपथगामिनं पुरुषं चेत् यदि राजा न शास्ति नियमयति तदयं प्रजाविप्लवः प्रकृतावुपद्रवः प्राप्तः समुपस्थितो

जामदग्न्य—(हसकर) चिर कालपर जामदग्न्य सनाथ हुआ जिसे आप क्षत्रिय शासक मिल गये हैं।

दशरथ—अरे ! क्या इसमें कुछ सन्देह है ?

अज्ञ ! विपरीतग्राही अथवा सन्दिहान व्यक्ति यदि विरुद्ध आचरण करता है तो उसकी रक्षाका भार गुरु को होता है और जिसका ज्ञान असन्दिग्ध तथा अविपरीत है वैसा जन यदि विरुद्ध आचरण करता है और उसे राजा शासित नहीं करे तो प्रजाविप्लव उपस्थित हो जाय ॥ ३५ ॥

विश्वामित्रः—युक्तमाह महाराजः ।

अनुत्पन्नं ज्ञानं यदि यदि च संदेहविधुरं
विपर्यस्तं वा स्यात्परिचर वसिष्ठस्य चरणौ ।
ध्रुवं ज्ञाने दोषः कथमपरथा दुर्व्यवहृति-
र्विशुद्धो चेत्पापं चरसि न सहन्ते नृपतयः ॥ ३६ ॥

जामदग्न्यः—कौशिक !

वेद्यः । अतो ज्ञात्वाऽपि विरुद्धाचारो भवान्मया दमनीय एव, अज्ञानकृतपापस्य कथञ्चिदुपेक्ष्यत्वेऽपि ज्ञात्वा पापस्यावश्यदण्डनीयत्वादित्याशयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

अत्र गुरुकीर्त्तनात् प्रसङ्गो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, यथोक्तम्—'गुरुकीर्त्तनं प्रसङ्ग' इति ।

अनुत्पन्नमिति० यदि (तव भार्गवस्य) ज्ञानम् हिताहितकर्त्तव्याकर्त्तव्यबुद्धिः अनुत्पन्नम् अजातपूर्वम्, यदि च सन्देहविधुरम् संशयपराहतम्, वा अथवा विपर्यस्तम् भ्रान्तम् स्यात् भवेत् (तदा) वसिष्ठस्य चरणौ पादौ परिचर आराधय । तव ज्ञानस्याजातत्वम्, संशयग्रस्तत्वम्, भ्रान्तिहतत्वं वा यद्यस्ति तदा त्रिविधायामप्यस्यां स्थितौ ज्ञानप्रदस्य विश्वगुरोर्वसिष्ठस्य चरणौ परिचर स हि तव संशयमपनेष्यति ज्ञानं च विशदीकरिष्यति, येनेदृशेभ्योऽकर्मभ्यस्तव पराङ्मुखत्वं भविष्यतीत्याद्यपादद्वयार्थः । ननु न मम ज्ञाने त्रुटिः किन्तु ज्ञात्वैवाहमेवंकर्मा, तत् किमर्था तवेयं नोदनेत्यत्राह—ज्ञाने दोषः अनुत्पन्नत्वं सन्दिग्धत्वं भ्रान्तत्वं चेत्येष्वन्यतमो दोषो ध्रुवम् आवश्यम् अस्तीति शेषः, अपरथा ज्ञानगतदोषासद्भावे दुर्व्यवहृतिः दुष्टो व्यवहारः कथम्, तव दुर्व्यवहार एव त्वज्ज्ञाने दोषस्य सत्त्वे प्रमाणमित्यर्थः, ननु नमनज्ञाने दोषः, किन्तु जानन्नेवेदृशमाचरामि, तत्राह—'विशुद्धौ ज्ञानस्य पूतत्वे पूर्वोक्तदोषत्रयस्यासत्त्वे पापम् कलुषं कर्म चेत् चरसि नृपतयो न सहन्ते न क्षमन्ते । ज्ञानकृतपापस्याक्षम्यत्वाद्राजा तन्मार्गनाय भवति दण्डं प्रयुञ्जीतैवेति भावः । यथोक्तं मनुना—'राजा त्वशासनात् सत्यं तदेवाप्नोति किल्विषम्' । शिखरिणी वृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ३६ ॥

विश्वामित्र—महाराज ! ठीक कहते हैं ।

यदि तुम्हें ज्ञान हुआ ही नहीं अथवा सन्देह पराहत ज्ञान है या विपरीत ग्रह है तो वसिष्ठके चरण की परिचर्या करो । निश्चय ही तुम्हारे ज्ञान में दोष है अन्यथा ऐसा दुर्व्यवहार क्यों करते हो ? यदि ज्ञान शुद्ध है और फिर भी तुम ऐसा व्यवहार कर रहे हो तब राजा इस आचरणको क्षमा नहीं करेंगे ॥ ३६ ॥

जामदग्न्य—कौशिक !

धर्मे ब्रह्मणि कार्मुके च भगवानीशो हि मे शासिता
सर्वक्षत्रनिबर्हणस्य विनयं कुर्युः कथं क्षत्रियाः ।
संबन्धस्तु वसिष्ठमिश्रविषये मान्यो जरायां न तु
स्पर्धायामधिकः समश्च तपसा ज्ञानेन चान्योऽस्ति कः ॥३७॥

वसिष्ठः—भृगप्रसवात्पराजय इति प्रियं नः । किन्तु—

धर्मे इति० भगवान् ईशः सर्वविधसामर्थ्ययुक्तो महादेवः धर्मे वेदैकसमाधिगम्ये श्रेयःसाधने, ब्रह्मणि मोक्षफलके ब्रह्मात्मैक्यज्ञाने, कार्मुके धनुर्विद्यायाञ्च मे शासिता उपदेष्टा सर्वक्षत्रनिबर्हणस्य समस्तायाः क्षत्रियजातेः निग्रहीतुः (मम) विनयम् शिक्षणं निग्रहमित्यर्थः क्षत्रियाः कथं कुर्युः, (यतोऽहं शिवशिष्टोऽतो वसिष्ठस्य चरणौ परिचरेति यदुक्तं त्वया तन्नोपपद्यते, यच्चापि त्वयोक्तं 'न सहन्ते नृपतयः' इति तदपि न युक्तम्, क्षत्रियजातिसंहारकस्य मम क्षत्रियविनेयत्वानुपपत्तेः) नन्वेवं वसिष्ठस्यापमानकरणाद्गुर्ववमन्तृता पर्यवस्यतीति तत्राह—'सम्बन्धस्तु' इति० वसिष्ठमिश्रविषये पूज्यतमवसिष्ठविषये मम यः सम्बन्धः सगोत्रत्वरूपः स्वजनापत्यत्वरूपो वा स जरायां तस्य वार्धके मान्यः आदरपात्रम्, न तु (वसिष्ठः) स्पर्धायाम् प्रतियोगिभावे (मदपेक्षया) अधिकः तपसा श्रेष्ठः, तत्र सामान्येन समर्थनायाह—अन्यः कः तपसा ज्ञानेन च समः मत्सदृशः अस्ति, न कोपीत्यर्थः,, अन्यस्य कस्यापि तपोज्ञानयोः स्वसादृश्यप्रतिषेधे वशिष्ठस्यापि तत्प्रतिषिद्धं वेदितव्यम् । एवं च त्वदुक्तं सर्वथा व्यर्थमिति विश्वामित्रं प्रत्यनादरो व्यज्यते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

अत्र गुरुतिरस्कृतिरूपो द्रवो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, यथोक्तम्—'गुरुतिरस्कृतिर्द्रवः' इति ।

भृगुप्रसवात् = भृगुसन्तानात् । पराजयः=पराभवोऽवमाननेति यावत् । प्रियम्= इष्टम् । 'सर्वतो जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' इति स्मरणात्सोदरपुत्रात्पराजयस्येष्टत्वमुक्तम् ।

धर्म, अध्यात्म तथा धनुर्वेदकी शिक्षा हमने शिवजीसे पाई है, जब हमने सभी क्षत्रियों का नाश ही कर दिया तो क्षत्रिय हमारा क्या शासन करेंगे । सम्बन्ध तथा वार्धकके कारण वसिष्ठ हमारे आराध्य हैं, परन्तु प्रतिस्पर्द्धामें हमारी समानता या तुलना वह नहीं कर सकते । तपस्या तथा ज्ञानमें हमारे सदृश है ही कौन ? ॥ ३७ ॥

वसिष्ठ—भृगुके पुत्रसे पराजय हमारा आनन्दका विषय है । किन्तु—

अस्माभिरेव पाल्यस्य प्रशस्तत्वात्प्रियस्य नः।
अस्मद्गृहे पुराणस्य पश्याचारस्य विप्लवम् ॥ ३८ ॥

जनकदशरथविश्वामित्राः—अनार्य निर्मर्याद !

जगत्सनातनगुरौ वसिष्ठेऽपि निरङ्कुशः।
व्यालद्विप इवास्माभिरुपकृष्यैव दम्यसे ॥ ३९ ॥

जामदग्न्यः—एवमवधूतोऽस्मि ।

अस्माभिरिति० अस्माभिः एव पाल्यस्य अविच्छेदेन रक्षणीयस्य प्रशस्तत्वात् सर्वजनप्रशंसाविषयत्वात् नः अस्माकं प्रियस्य इष्टस्य पुराणस्य चिरन्तनस्य आचारस्य सदाचारस्य अस्मद्गृह एव विप्लवम् च्युतिम् पश्य। भृगुवसिष्ठयोः सनाभितया परशुरामस्य तत्पौत्रत्वेन तत्कृताचारत्यागो वसिष्ठगृह एव फलित इति तथोक्तिः। भृगुवंश्योऽयं मामधिक्षिपतीति न दूये किन्तु धर्मप्रवर्त्तकानामस्माकं गृह एवेदृशी धर्महानिर्जायत इति दूय इति भावः ॥ ३८ ॥

अनार्य=अशिष्ट, निर्मर्याद=व्यवस्थाभयङ्कर, आभ्यां विशेषणाभ्यां परशुरामं प्रति कोपे कारणमुच्यते, तेन चाग्रेऽभिधेयस्य दमनस्यौचित्यं समर्थ्यत इति बोध्यम्।

जगदिति० जगतां सनातनगुरौ नित्यादरणीये वसिष्ठेऽपि ब्रह्मणोऽपत्येऽपि निरङ्कुशः भिन्नमर्यादतया निर्भयस्त्वम् व्यालद्विपः दुष्टगजः इव उपकृष्य आकृष्य एव दम्यसे निगृह्यसे अस्माभिरिति शेषः, यथा दुष्टः करी हस्तिपकप्रयोजिताङ्कुशादिनियमनममन्यमानो लोकैरयोमयमुखैः कुन्तादिभिराक्रम्य दम्यते तद्वत् त्वमपि शास्त्रमर्यादातिक्रमपरायणतया निरङ्कुशोऽस्माभिर्ब्राह्मं क्षात्रं वा तेजः प्रयुज्य बलान्निगृह्यसे इति भावः। अत्र यद्यपि 'व्यालः सर्पे दुष्टगजे' इति कोशाद् व्यालशब्दस्यैव दुष्टगजपरत्वे द्विपपदमप्रयोजनं तथापि 'विशिष्टवाचकानां पदानां सति विशेष्यवाचकपदसमभिहारे विशेषणमात्रपरत्वा'द्दुष्टमात्रपरत्वेन व्यालशब्दस्य व्यालद्विपपदोपपत्तिः। वसिष्ठस्य सप्तव्याहृतिषु गुरुत्वाज्जगतो गुरुत्वम् ॥ ३९ ॥

अवधूतः=तिरस्कृतः।

जिस आचारका हमने पालन किया, जो प्रशसनीय होनेके कारण हमारा प्रिय रहा तथा जो हमारे घरमें वृद्ध हुआ हमारे ही घरमें उसका ह्रास तो देखो ॥ ३८ ॥

जनक, दशरथ तथा विश्वामित्र—अनार्य ! मर्यादाशून्य !

सनातन जगद्गुरु वसिष्ठका विषय भी तुम्हें सङ्कोच नहीं है, ठहरो, दुष्ट हाथीकी तरह समीप ले आकर तेरा दमन किया जाता है ॥ ३९ ॥

जामदग्न्य—इस तरह अपमान किया गया !

अन्तर्धैर्यभरेण वृद्धवचनात्संपीड्य पिण्डीकृतो
हृन्मर्माश्रितशल्यवत्परिदहन्मन्युश्चिरं यः स्थितः।
स्फूर्जत्येव स एष संप्रति मम न्यक्कारभिन्नस्थितेः
कल्पापायमरुत्प्रकीर्णपयसः सिन्धोरिवौर्वानलः॥ ४०॥

दिष्ट्या—

निकारं प्राप्तोऽयं ज्वलति परशुर्मन्युरिव मे
पृथिव्यां राजानो दशरथबले सन्त्युपगताः।

अन्तरिति० धैर्यभरेण गभीरताऽतिशयेन वृद्धवचनात् च्यवनादिवयोवृद्धजनवाक्यात् सम्पीड्य सङ्कोच्य पिण्डीकृतः सङ्घातभावं गमितः हृन्मर्माश्रितशल्यवत् हृदयरूपमर्मस्थानगतास्त्रभेदवत् परिदहन् दाहं जनयन् यः मन्युः कोपः चिरम् बहुकालपर्यन्तम् स्थितः अक्रियभावेनावर्त्तत, स एषः मम कोपः न्यक्कारभिन्नस्थितेः तिरस्कारपरिवर्तितमनोदशस्य मम कल्पापाये प्रलयकाले मरुता वायुना प्रकीर्णानि विक्षिप्तानि पयांसि जलानि यस्य तादृशस्य सिन्धोः समुद्रस्य और्वानलः इव वडवावह्निः इव स्फूर्जति विस्फुरति एव। पुरा वृद्धवचनान्याहृत्य धैर्यमवलम्बमानस्य मम हृदये क्षत्रियविषयः कोपोऽलब्धावसरत्वान्मर्मवेधी शस्त्रभेद इवान्तर्दाहं जनयन्नवस्थितः, स एव मम क्रोधोऽधुना कोपाधायकतिरस्कारवशादस्तव्यस्तमनोदशस्य—समुद्रे चिरं निलीय स्थितः प्रलयकाले पवनेन पयस्सु विकीर्णेषु प्रकटीभूतो वड़वानल इव विस्फूर्जतीत्यर्थः। उपमालङ्कारः, दुर्निवारवेगवत्त्वादिना च सादृश्यं बोध्यम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ४०॥

निकारमिति० निकारम् जनकादिकृतम् परिभवम् प्राप्तः अयम् मे परशुः कुठारः (मम) मन्युः कोप इव ज्वलति दीप्यते। अपमानेन यथा मे क्रोधः प्रज्वलितस्तथैवायं मम कुठारोऽपि ज्वलतीति भावः। पृथिव्यां राजानः पृथिवीस्थिताश्च भूपतयः

वृद्ध वचनसे धैर्य रखनेके कारण हृदयमें जमा होकर जो क्रोध इतने दिनों तक मर्मस्थल चुभे हुए शल्यके समान कष्ट देता रहा है वह अब इस अपमानसे हमारी स्थितिके परिवर्तन हो जानेसे फूटना चाहता है जैसे प्रलय वात द्वारा जलके छँट जानेसे समुद्रका वड़वानल भभक उठता है॥ ४०॥

भाग्यवश—

अपमान प्राप्तकर क्रोधकी तरह हमारा यह परशु दहक रहा है और दशरथसैन्यमें

पुनर्द्वाविंशोऽपि प्रकुपितकृतान्तोत्सवकर-
श्चिरात्सत्रस्यास्तु प्रलय इव घोरः परिमरः ॥ ४१ ॥

वसिष्ठः—कष्टं भोः !

कामं हि नः स्वजन एष तथापि दर्पा-
द्धोरं व्यवस्यति कथं नु भवेदवश्यः ।
संदूषितेन च मया सकृदीक्षितश्चे-
द्वत्सस्य भार्गवशिशोर्दुरितं हि तत्स्यात् ॥ ४२ ॥

दशरथबले दशरथसैन्ये उपगताः समायाताः सन्ति । (अतः) पुनः प्रकुपितस्य कोपनस्य कृतान्तस्य उत्सवकरः आनन्दवर्धनः प्रलय इव चिरात् दीर्घकालात् परतः द्वाविंशः क्षत्रस्य परिमरः विध्वंसः अस्तु । जनकादिकृतावमानेन कुपितो मम कुठारः, क्षत्रियाश्च सर्वऽत्र दशरथसैन्ये समवेताः, तदस्तु पुनर्द्वाविंशः क्षत्रवधो येन प्रलयकाल इव कृतान्तः प्रसादमुपेयादित्याशयः द्व्यधिका विंशतिः द्वाविंशतिः, 'द्व्यष्टनः संख्यायाम्' इत्यात्वम्, द्वाविंशतेः पूरणो द्वाविंशः, 'तस्य पूरणे डट्' इति डट्, 'तिविंशतेर्डिति' इति तिलोपः । पूर्वमेकविंशतिः क्षत्रियवधा आसन्, अयमन्यो द्वाविंशो जायतामिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४१ ॥

काममिति० एषः परशुरामः नः अस्माकम् कामम् अतिशयेन स्वजनः सपिण्डः, तथापि दर्पात् अहङ्कारात् घोरम् दारुणम् व्यवस्यति आचरति, कथं नु केन प्रकारेण अवश्यः अदम्यः (अनिग्राह्यः) भवेत्, स्वजनत्वेऽपि गर्वोद्धतस्य दारुणव्यवहारस्य चास्य निग्रहः कर्त्तव्यभावं गत इति भावः । तत्र वशीकरणोपायस्तु न तावत्साम स्यादतिदृप्तत्वात्, नापि दानं विरक्तत्वात्, न च भेदो द्वितीयाभावात्, किन्तु दण्डमात्रं परिशिष्यते, तत्राह—संदूषितेनेति० एष परशुरामः सन्दूषितेन मुहुःप्रकोपितेनात एव च । विकारंगतेन मया सकृत् एकवारम् ईक्षितः दृष्टश्चेत् वत्सस्य भ्रातृपौत्रतया लालनीयस्य भार्गवशिशोः परशुरामस्य तत् मत्कृतं सदोषदृष्टिनिरीक्षणं दुरितम् अनिष्टकरं स्यात् । अयं मामधिक्षिपति, सगोत्रेऽस्मिन् यदि प्रतिकरोमि तदा मदीय-

संसारके सभी क्षत्रिय आये ही हैं । क्रुद्ध यमराजके लिये उत्सवस्वरूप यह बाईसवाँ महाप्रलय शीघ्र हो जाय ॥ ४१ ॥

वसिष्ठ—खेद !

यह अवश्य हमारा स्वजन है किन्तु दर्पके कारण कठोर कार्य कर रहा है तो क्यों न निग्रहके योग्य है ? क्रुद्ध दृष्टिसे यदि मैं एक बार ताक दूँगा तो भार्गव शिशुके लिये वह हानिकर होगा ॥ ४२ ॥

विश्वामित्रः—अरे जामदग्न्य ! अब्रह्मवर्चसमिव भ्रंशितशस्त्रसामर्थ्य-मिव जीवलोकं मन्यसे ।

ब्रह्मक्षत्रसमाजमाक्षिपसि यद्वत्से च घोराशय-
स्तेनातिक्रमणेन दुःखयसि नः पाल्योऽपि संबन्धतः ।
आतस्त्वां प्रति कोपनस्य तरलः शापोदकं दक्षिणः
प्राक्संस्कारवशेन चापमितरः पाणिर्ममान्विष्यति ॥ ४३ ॥

तेजोमहिम्ना दृष्टिक्षेपमात्रेणास्यानिष्टं स्यादेव, न प्रतिकरोमि चेत्तदपि नोचितं कृते प्रतिकर्त्तव्यतायाः सनातनधर्मत्वात्तदयं महान् क्षुधावसर इति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

अत्र भगवता वसिष्ठेनापकारिण्यपि तितिक्षुस्वरूपस्वगुणाविष्करणाद्विचलनं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्–यथोक्तम्–'स्वगुणाविष्करणं विचलनम्' इति ।

अब्रह्मवर्चसम् = ब्रह्मतेजोहीनम्, एतेन शापप्रदानायोग्यता ध्वनिता । भ्रंशित-शस्त्रसामर्थ्यम् = समाप्तशस्त्रबलम्, एतेन च बलेन निग्रहासमर्थत्वं प्रतीतम् । न कोपि त्वां शापेन बलेन वा निग्रहीतुमिह जीवलोके क्षम एवं मन्यसे, मा तथा मंस्थाः, एकोऽहमेव त्वामुभयथा वशीकर्त्तुं क्षम इति भावः ।

ब्रह्मक्षत्रेति० त्वम् सम्बन्धतः अस्मद्भागिनेयजमदग्निपुत्रत्वरूपेण सम्बन्धेन पाल्यः अस्मद्रक्षणीयः अपि ब्रह्मक्षत्रसमाजम् ब्रह्मसमूहम् क्षत्रसमूहञ्च आक्षिपसि तपसि वीर्ये च स्वापेक्षयाऽद्यः मन्यमानो निन्दसि, किञ्च त्वम् वत्से रामचन्द्रे घोराशयः क्रूराभिसन्धिः असि, तेन ब्रह्मक्षत्रसमाजाधिक्षेपरामजिघांसोभयस्वरूपेण अतिक्रमणेन मर्यादालङ्घनेन नः अस्मान् दुःखयसि खेदयसि । आतः अतः त्वां प्रति कोपनस्य त्वद्विषयकक्रोधयुक्तस्य मम दक्षिणः सव्येतरः पाणिः हस्तः तरलः चपलः सन् शापोदकम् शापप्रदानायापेक्षितम् जलम् अन्विष्यति मृगयते, इतरः वामः पाणिः प्राक्-संस्कारवशेन पूर्वोपासितधनुर्विद्यावासनानुरोधेन चापम् धनुः अन्विष्यति । यद्यपि

विश्वामित्र—अरे जामदग्न्य ! तुम क्या समझते हो कि संसारमें कोई ब्रह्मवर्चसवाला अथवा शस्त्रसामर्थ्यशाली रह ही नहीं गया है ।

ब्राह्मण और क्षत्रिय समाजपर आक्षेप करते जा रहे हो, रामके प्रति तुम्हारी नीयत बुरी है, इन अपराधोंसे हम लोगोंको पीड़ा दे रहे हो, यद्यपि सम्बन्धसे तुम मेरे लिये पालनीय हो, फिर भी मैं तुमपर रुष्ट हूँ अतः हमारा दहना हाथ शापोदक तथा बायाँ हाथ प्राक्तन संस्कारके अनुरोधसे चापको ढूंढ़ रहा है ॥ ४३ ॥

जामदग्न्यः—ननु भो कौशिक !

त्वं ब्रह्मवर्चसधनो यदि वर्तमानो यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः ।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि पक्षान्तरे च सदृशं परशुः करोतु ॥

(नेपथ्ये)

अयमहं भोः ! कौशिकान्तेवासी रामः प्रणम्य विज्ञापयामि ।
पौलस्त्यविजयोद्दामकार्तवीर्यार्जुनद्विषम् ।

त्वं मम सम्बन्धीति मया पालनीयस्तथापि त्वम् ब्रह्मक्षत्रसमाजातमाननाकर इति हेतोः कोपस्य पात्रमसि तेन त्वयि शापं चापं च प्रयोक्तं क्रमशो मम दक्षिणवामौ बाहू उद्युञ्जात इति भावः। आत इति पदमत इत्यर्थेऽव्ययम्, तथा च पातञ्जलभाष्ये प्रयोगः—'आतश्च विषमीप्सितं यद् भक्षयति ताडनात्' इति । पदप्रकाशिकायामप्युक्तम्—'अतः शब्दवदातःशब्दोऽपि दीर्घादिर्हेत्वर्थकोऽस्ति, 'विषु एकपदे वृत् आत इत्यव्ययेषु पाठात्' इति ॥ ४३ ॥

त्वं ब्रह्मवर्चसेति० यदि त्वम् ब्रह्मवर्चसधरः ब्राह्मतेजोयुतः वर्तमानः असि यद्वा स्वजातिसमयेन स्वजातिसमुचितक्षत्रियाचारेण धनुर्धरःस्याः भवेः, (उभयथाऽपि) भोः, उग्रेण तपसा समिद्धेन स्वतपया तव तपः दहामि व्यर्थं करोमि, पक्षान्तरे तव धनुर्ग्राहित्वरूपायां द्वितीयकोटौ परशुः सदृशम् यथोचितम् करोतु । यदि त्वं ब्राह्मण्याभिमानात् तपो मदनिष्टसाधनायोपयुङ्क्षे तदा निजोग्रतपसा तव तत्तपो नाशयामि, अथ पूर्वतनक्षत्रजातिसमये धनुरादाय मामभियास्यति तदा परशुना तत्प्रतिकरोमित्युभयथाऽपि सज्जे मयि विभीषिकयाऽलमिति भावः ॥ ४४ ॥

अत्र स्वशक्तिप्रशंसाद् व्यवसायो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, यथोक्तम्—'स्वशक्तिप्रशंसनं व्यवसायः' इति । कौशिकान्तेवासी = विश्वामित्रशिष्यः ।

पौलस्त्येति० पौलस्त्यविजयेन रावणपराजयेन उद्दामस्य सगर्वस्य कार्त्तवीर्यस्य

जामदग्न्य—अयि कौशिक !

तुम चाहे ब्रह्मतेज दिखलाओ या जातिकृत नियमवश धनुष धारण करो। उग्र तपस्यासे तुम्हारे ब्रह्मतेजको जलाता हूँ और विकल्प पक्षमें हमारा कुठार उचित कर्त्तव्य करेगा ॥४४॥

(नेपथ्यमें)

यह मैं कौशिकशिष्य राम आपलोगोंको प्रणाम करके निवेदन करता हूँ ।

पौलस्त्यविजयसे दृप्त कार्त्तवीर्यार्जुनके संहारक तथा क्षत्रवीर्यके हन्ता परशुरामपर विजय पाऊँगा, आपलोगोंको नमस्कार है ॥ ४५ ॥

जेतारं क्षत्रवीर्यस्य विजयेय नमोस्तु वः ॥ ४५ ॥

दशरथः—कथं प्राप्तो रामः । कष्टं हि नामैतत् ।

जनकः—हन्त भोः ! प्रशस्तमभ्यनुजानीत । विजयतां रामभद्रः ।

अयं विनेता दृप्तानामेकवीरो जगत्पतिः ।
वयं वसिष्ठधौरेयाः सर्वे प्रतिभुवोऽत्र वः ॥ ४६ ॥

दशरथः—

नन्वद्यैव प्रथितयशसामूढरक्षाव्रतानां

कार्त्तवीर्यार्जुनस्य द्विषम् शत्रुम् क्षत्रवीर्यस्य समग्रक्षत्रियजातेः जेतारम् विजयिनं परशुरामम् विजयेय जेतुं शक्नोमि 'शकि लिङ् च' इति लिङ्। वः युष्मभ्यम् नमः अस्तु । अत्र बालिरावणयोरपि विजयो मया प्रेप्सितः सुकरश्चेति रामाभिप्रायसूचनया शिष्टाङ्कचतुष्टयार्थः सूचितो वेद्यः ॥ ४५ ॥

एतत् = अतिक्रुद्धस्य परशुरामस्य सम्मुख उपस्थानम्, कष्टम् = पीडाप्रदायकम्, तदत्याहितमुपस्थितमिति भावः, हन्तेति हर्षे ।

प्रशस्तम् = सम्यक् । अभ्यनुजानीत = अनुज्ञां कुरुत ।

अयमिति० एकवीरः सजातीयद्वितीयरहितः शूरः जगत्पतिः त्रिभुवनेश्वरः अयम् रामः दृप्तानाम् उद्धतानाम् विनेता दमनेन शिक्षाप्रदः, वशिष्ठधौरेयाः मुख्यभावेन वसिष्ठं पुरस्कृत्य सर्वे वयम् अत्र रामविजये प्रतिभुवः लग्नकाः । रामस्य जये वसिष्ठं पुरस्कृत्य वयं सर्वे लग्ना भवाम इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

नन्वद्यैवेति० यत् यतः ज्ञानज्योतिषा आध्यात्मिकज्ञानप्रकाशेन परिगतानि ज्ञातानि भवद्भूतभव्यानि वर्त्तमानातीतिभविष्यद्रूपाणि यैस्तथाभूताः ब्रह्माणः विश्वामित्रवसिष्ठादयः शिशुके बालेऽपि रामे कमपि प्रभावम् महिमातिशयं संवेदयन्ते सम्भूय विज्ञापयन्ति (अतः) प्रथितयशसाम् ख्यातकीर्त्तिपताकान्तम् ऊढरक्षाव्रतानाम्

दशरथ—राम कैसे आ गया ? यह तो अच्छा नहीं हुआ ।

जनक—सभी लोग अनुज्ञा दें, रामभद्रकी जय हो ।

यह घमण्डियोंका विनेता अद्वितीय वीर तथा जगत्पति है, हम सभी वसिष्ठ आदि इस विषयमें आपको विश्वास दिलाते हैं ॥ ४६ ॥

दशरथ—प्रथितकीर्त्ति तथा रक्षाव्रतको ढोनेवाले हम यजमानोंके घरमें आज ही रामका जन्म हुआ जब आप ज्ञानके प्रकाशमें त्रिकालको देखनेवाले ब्राह्मण इस बालकके विषयमें कुछ आश्वासन दे रहे हैं ॥ ४७ ॥

याज्यानां नो गुणवति गृहे रामभद्रः सुजातः ।
ज्ञानज्योतिःपरिगतभवद्भूतभव्याः प्रभावं
यद्ब्रह्माणः कमपि शिशुकेऽप्यत्र संवेदयन्ते ॥ ४७ ॥

जामदग्न्यः—एहिमन्ये राजपुत्र ! जामदग्न्यं विजेष्यसे । (सस्मितम्) न हि विजेष्यसे । दुर्दान्तो हि रेणुकातनयस्त्वदन्तकः । तथाहि—

कृत्तक्षत्रियकण्ठकंदरसरत्कीलालनिर्वापित-
प्रत्युद्भूतशिखाकलापहुतभुग्झङ्कारिभिर्मार्गणैः ।
एतद्घस्मरकालरुद्रकवलव्यापारमभ्यस्यतु

गृहीतप्रजापालननियमानाम् याज्यानाम् यज्ञकर्मार्हाणाम् नः अस्माकम् गुणवति विशुद्धे गृहे अद्यैव रामभद्रः सुजातः सफलजन्मा जातः । ज्ञानिनो ब्राह्मणा यतोऽस्य कमपि महिमानमाहुरतः ख्याते नः कुले रामस्य जनुः सफलमद्य, कीर्त्तिसम्भावनयैव जन्मसाफल्यादिति भावः । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ४७ ॥

'अत्राद्यैव जातः' इत्यादिनाऽपायाभावतः कार्यनिश्चयरूपनियताप्तिरुक्ता, शतानन्दाद्यव्यापिकथारूपप्रकरी चोक्ता। अतोऽस्मिन्नङ्के समग्राङ्गो विमर्शसन्धिरुक्तो वेद्यः । 'जामदग्न्यं विजेष्यसे' अत्र—'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्चे'ति मध्यमपुरुषः, तेन जामदग्न्यं विजेष्ये इति मन्यसे इत्थं विपर्ययेणार्थः, स चोपहासपर्यवसायी । दुर्दान्तः=अतिभीषणः। रेणुका=परशुरामजननी । त्वदन्तकः=त्वत्संहारकरः ।

कृत्तेति० ब्रह्मस्तम्बः ब्रह्माण्डम् एव निकुञ्जः वनम् तस्मिन् पुञ्जितेन एकत्रीभूतेन घनेन अविरतेन ज्याघोषेण प्रत्यञ्चारवेण घोरम् भयानकम् एतन्मम धनुः कृत्ताः छिन्नाः क्षत्रियकण्ठाः एव कन्दराः गुहाः ततः सरद्भिः प्रवहद्भिः कीलालैः रुधिरैः निर्वापिताः शमिताः पुनः प्रत्युद्भूताः याः शिखाः ज्वालाः तासां कलापः समुदायो यत्र तादृशो यः हुतभुक् वह्निः झाङ्काराः शब्दवन्तो वेगाः सन्ति येषु तादृशैः मार्गणैः घस्मरस्य जगद्भक्षकस्य कालरुद्रस्य प्रलयङ्करहरस्य कवलव्यापारम् ग्रासक्रियाम् अभ्यस्यतु शिक्षताम् । जगत्सु वनेष्विव यस्य धनुषो भयानकः शब्दो व्याप्यावति-

जामदग्न्य—आओ राजपूत ! जामदग्न्यको जीतोगे ? (मुस्कुराकर) नहीं जीतोगे, रेणुकाका पुत्र दुर्दान्त तथा तुम्हारा काल है, क्योंकि—

संसारमें वनकी तरह जिस धनुषका शब्द फैला हुआ है वह मेरा यह भयानक धनुष कटे क्षत्रियोंके कण्ठोंसे निकली हुई रुधिर धारसे शमित शिखावाले अग्निके स्फुलिङ्ग

ब्रह्मस्तम्बनिकुञ्जपुञ्जितघनज्याघोषघोरं धनुः ॥ ४८ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचिते महावीरचरिते तृतीयोऽङ्कः ।

धृते तन्मे भीमं धनुः क्षत्रकण्ठनिर्गतरुधिरधाराशमितोद्भूतशिखाकलापस्य वह्नेः ज्वालानिवहानिव बाणान् विसृजतु ते च बाणाः प्रलयङ्करस्य हरस्यानुकुर्वन्त्वित्याशयः । 'भक्षको घस्मरोऽद्मरः' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । अत्र च कुठारं विहाय धनुषः कीर्त्तनेन कुठारादपि धनुषः प्रियत्वावगमादुत्तराङ्के रामजितेन भार्गवेण प्रीत्या रामाय धनुषः प्रदानं करिष्यमाणं सूचितम् ॥ ४८ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते महावीरचरित'प्रकाशे' तृतीयाङ्क'प्रकाशः' ।



तुल्य बाण बरसावे तथा प्रलयकालका अनुकरण करे ।

(सबका प्रस्थान)

तृतीय अङ्क समाप्त



चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये)

भो भो वैमानिकाः ! प्रवर्तन्तां मङ्गलानि ।

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनिः
सहस्रांशोर्वंशे जयति जगति क्षत्रमधुना ।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधनः
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥ १ ॥

वैमानिकाः=विमानेन चरन्तीति वैमानिकाः, विमानं च व्योमयानम् । मङ्गलानि शुभावहानि पुष्पवर्षादिकर्माणि, प्रवर्त्तन्ताम् = विधीयन्ताम् ।

कृशाश्वेति० कृशाश्वस्य जृम्भकादिदिव्यास्त्राणां प्रथमं द्रष्टुः कृशाश्वनाम्नो ब्रह्मर्षेः अन्तेवासी भगवान् कौशिकमुनिः सर्वसमर्थो विश्वामित्रनामर्षिः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । अधुना सम्प्रति सहस्रांशोर्वंशे सूर्यकुले क्षत्रम् क्षत्रियजातिः जगति संसारे जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । तत्र कारणमाह—विनेतेति० क्षत्रारेः क्षत्रियकुलकानन-धूमकेतोः परशुरामस्य विनेता दमनेन शिक्षयिता, जगदभयदानव्रतधनः जगता-मभयम् भयाभावस्तस्य दानं तदेव व्रतं नियमो धनं यस्य तादृशः भुवनाभयदान-व्रती, लोकानां त्रिलोक्याः शरण्यः रक्षकः दिनकरकुलेन्दुः सूर्यवंशकलाधरः श्रीराम-चन्द्रो विजयते । शरण्य इति भयनिवर्त्तनं मोक्षप्रदानां च सूचयति तेन सुग्रीव-विभीषणाभ्यां किष्किन्धालङ्कैश्वर्यप्रदानं जटायुबालिनोर्मोक्षप्रदानं च सूचितम् । अत्र परशुरामविजयेन दृष्टस्योत्तरत्र वनप्रवासेनादृष्टस्य रामश्रेयो हेतुर्विश्वामित्र-यत्नस्य बीजस्यान्वेषणाद्गर्भसन्धिः, तदुक्तम्—'गर्भो दृष्टस्य नष्टस्य बीजस्यान्वे-षणं मुहुः' इति ।

अत्र च सन्धौ पताकारूपार्थप्रकृतिः प्राप्त्याशारूपा चार्थप्रकृतिर्वक्तव्या, तत्स्व-रूपं तु—'उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशाकार्यसंभवः' । 'प्रतिपाद्यकथाङ्गं स्यात्प-ताका व्यापिनी कथा' इत्युक्तम् । अस्य च गर्भसन्धेरङ्गानि द्वादश—'अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणक्रमाः । संग्रहश्चानुमानञ्च तोटकादिबले तथा । उद्वेगसंभ्रमाक्षेपा द्वादशाङ्गान्यनुक्रमात्' इति । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १ ॥

(नेपथ्यमें)

अरे ओ वैमानिकगण ! मङ्गलकार्य प्रारम्भ करो ।

कृशाश्वके शिष्य विश्वामित्रकी जय हो, सूर्यवंशी क्षत्रियोंकी जय हो, क्षत्रियरिपुके दमन-कर्त्ता संसारको अभय देनेवाले सूर्यवंशके चन्द्रमा, लोगोंके शरण रामकी जय हो ॥ १ ॥

(ततः प्रविशतः संभ्रान्तौ विमानेन शूर्पणखामाल्यवन्तौ)

माल्यवान्—दृष्टस्त्वया दिवौकसामेकायनीभावः, यदिन्द्रादयः स्वतो बन्दित्वमुपागताः।

शूर्पणखा—न हि युष्माभिर्निरूपितं विसंवदति। सांप्रतमुत्कम्पितास्मि। तत्किमत्र कार्यम्। (णहि तुझेहिं णिरूविदं विसंवदइ। संपदं उक्कम्पिदंह्मि। ता किं एत्थ करणिज्जम्)

माल्यवान्—या सा राज्ञा दशरथेन प्राक्प्रतिश्रुतवरद्वया राज्ञी भरतमाता कैकेयी, तया मन्थरा नाम परिचारिका दशरथस्य वार्ताहारिणी मिथिलामयोध्यातः प्रेषिता मिथिलोपकण्ठे वर्तत इति संप्रत्येव मम निवेदितं चारैः। तस्यास्त्वया शरीरमाविश्यैवमेवं च कर्तव्यम्।

संभ्रान्तौ = भीताकृती।

अत्र संभ्रमवचनात्तोटकं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्-यथोक्तम्—'रोषसंभ्रमवचनं तोटकम्' इति।

एकायनीभावः = ऐकमत्यम्। बन्दित्वम् = स्तुतिपाठकत्वम्। रामेण परशुरामे जिते शक्रादयो रामस्य स्तुतिमैकमत्येनाकुर्वन्निदमेव तेषामैकमत्यमत्र शूर्पणखामाल्यवतोर्भयहेतुत्वं गतम्।

निरूपितम् = विचिन्त्य निर्णीतम्, विसंवदति = अन्यथा भवति।

अत्र सञ्चितार्थप्राप्तिरूपः क्रमो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, यथोक्तम्—'सञ्चितार्थप्राप्तिः क्रमः' इति।

प्राक्प्रतिश्रुतवरद्वया = प्राक् पूर्वम् प्रतिश्रुतम् प्रतिज्ञातम् वरद्वयं यस्यै सा तादृशी। कैकेयी = केकयस्यापत्यं स्त्री कैकेयी, 'केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरीयः' इति यादेरीयादेशः। वार्त्ताहारिणी = दूती। मिथिलोपकण्ठे = मिथिलासमीपे। शरीरमा-

---

(सम्भ्रान्त माल्यवान् तथा शूर्पणखा का विमान द्वारा प्रवेश)

माल्यवान्—देवताओंका ऐकमत्य आपने देखा? इन्द्र आदि भी स्वयं रामका यश गा रहे हैं।

शूर्पणखा—आपका अन्दाज गलत नहीं होता है। मैं अब डर गई हूँ। अब क्या करना होगा।

माल्यवान्—दशरथ द्वारा जिसे दो वरदान दिये गये ऐसी रानी भरतकी माता कैकेयीने संवाद लेकर अपनी दासी मन्थराको अयोध्यासे मिथिला भेजा है, वह मिथिलाके पास पहुँची है, यह खबर मुझे चारोंने अभी दी है, तुम उसकी देहमें प्रवेश कर ऐसे कर दो।

(इति कर्णे कथयति)

शूर्पणखा—किमन्यथा करिष्यत्येवं राम इति । (किं अण्णहा करिस्सदि एव्वं रामो त्ति)

माल्यवान्—भिद्यते न सद्वृत्तमिक्ष्वाकुगृहेषु, विशेषतस्तादृशस्य विजिगीषोः ।

शूर्पणखा—ततः किम् । (तदो किम्)

माल्यवान्—ततोऽनेन योगाचारन्यायेन दूरमाकृष्य रक्षसामङ्कमुपनीतस्य विन्ध्यकान्तारेष्वदेशज्ञस्य विचरतः सुकराण्येवावस्कन्दनानि स्युः । विराधदनुकबन्धप्रभृतयस्तीक्ष्णा दण्डकारण्यसत्रेषु चरिष्यन्ति । ते हि

विश्य = तत्तनौ प्रविश्य, परावेशे सति य आविशति स एव स्वाश्रितवपुषा स्वीयं कार्यं करोति, यत्रावेशस्तदात्मा मृत इव भवति, अतोऽत्र शूर्पणखा मन्थरातनुमाविश्य स्वानुरूपं चेष्टिष्यत इति बोध्यम् ।

अत्र प्रस्तुतोपयोगिच्छद्माचरणादभूताहरणं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, यथोक्तम्—अभूताहरणं प्रस्तुतोपयोगिच्छद्माचरणम्' इति ।

अन्यथा करिष्यति = पित्रादिष्टं वनप्रवेशं विहाय स्वयं राज्यं करिष्यति ।

अत्र वितर्कप्रतिपादनाद्रूपं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् , यथोक्तम्—'वितर्कप्रतिपादनं वाक्यं रूपम् ।' सद्वृत्तम् = भ्रातृपितृवाक्यकरणरूपसमीचीनवृत्तम् । न भिद्यते = न त्यक्तं भवति । तादृशस्य=लोकोत्तरस्य । विजिगीषोः = जयेच्छोः सामान्यत ऐक्ष्वाकास्सर्वेऽपि सद्वृत्ता भवन्ति, तादृशो विजिगीषूरामः कथं सद्वृत्तं जह्यादिति भावः ।

अत्र प्रस्तुतोत्कर्षाभिधानादुदाहृतिर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्—'प्रस्तुतोत्कर्षाभिधानमुदाहृतिः' । ततः=पितृवचनपालने रामेण विहिते सति ।

अनेन=मया तव कर्णे कथितपूर्वेण । योगाचारन्यायेन = योगः सामदानदण्डभेदप्रयोगः, तस्याचारः अनुष्ठानम् , तेन न्यायेन । 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यमरः । यद्वा योगाचारन्यायेन = योगाचारो बौद्धभेदस्तदुक्तेन न्यायेन

(कानमें कहता है)

शूर्पणखा—ऐसी स्थितिमें राम क्या अन्यथा करेगा ?

माल्यवान्—इक्ष्वाकुवंशज सद्वृत्त नहीं छोड़ते, विशेषतः रामके समान विजिगीषुजन।

शूर्पणखा—फिर क्या ?

माल्यवान्—इस प्रकार छल प्रयोग करके दूर लाकर उसे राक्षसोंकी गोदमें पहुँचा देंगे, अनजान विन्ध्यप्रदेशमें जब वह घूमते रहेंगे तो आक्रमण सरल होगा, दण्डकारण्यमें

शक्ताः लुप्तप्रभुशक्तेरुत्साहशक्तिं छद्मनातिसन्धातुम् । अनिवर्तनीयश्च रावणस्य सीतास्वीकाराग्रहः । स चैवमीषत्करः सप्रयोजनश्चेति ।

शूर्पणखा—अथ लक्ष्मणसहायत्वे किं प्रयोजनम् ? (अह लक्खणसहाअत्तणे किं पओअणम् ?)

माल्यवान्—

वीरोऽस्त्रपारगश्चिन्त्यो यथा रामस्तथैव सः ।
छद्मदण्डप्रयोगस्तु यथैकस्मिंस्तथा द्वयोः ॥ २ ॥

संवरणाख्येन मायाप्रयोगात्मना। रक्षसामङ्कमुपनीतस्य = राक्षसाधिष्ठितं स्थानं प्रापितस्य । विन्ध्यकान्तारेषु = विन्ध्याटवीषु । आदेशज्ञस्य विचरतः = देशदोषमज्ञात्वा भ्रमतः । अवस्कन्दनानि=पीडनानि । तीक्ष्णाः=क्रूरकर्माणः । दण्डकारण्यसत्रेषु = दण्डकारण्यसंज्ञकवनेषु,—'सत्रं यज्ञे यज्ञभेदे सदादाने वनेऽशुके' इति रत्नमाला । लुप्तप्रभुशक्तेः=राज्यभ्रंशवनवासाभ्यां कोशदण्डजतेजोविहिनस्य । उत्साहशक्तिम्= कायिकं सामर्थ्यम् । छद्मनाऽतिसन्धातुम् = वञ्चनेन नाशयितुम् । अनिवर्त्तनीयः = रोद्धुमशक्यः । सीतास्वीकाराग्रहः = सीतावशीकरणाग्रहः । स च = सीतावशीकाराग्रहश्च । एवम् = वञ्चनप्रयोगे । ईषत्करः = सुसाध्यः । सप्रयोजनः = सफलः ।

लक्ष्मणसहायत्वे किं प्रयोजनम्=लक्ष्मणस्यापि वञ्चनया वनं प्रत्यानयने किं फलम् ।

वीर इति० यथा रामः अस्त्रपरागः अस्त्रवेदनागः वीरः पराक्रमी तथा सः लक्ष्मणोऽपि अस्त्रपारगः धनुर्वेदमर्मज्ञः वीरः चिन्त्यः भयस्थानत्वेन मनसा ध्येयः । छद्मदण्डप्रयोगः वञ्चनम् तु यथा एकस्मिन् रामे तथा द्वयोः रामलक्ष्मणयोः । अयमाशयः—रामवल्लक्ष्मणोऽपि धनुर्वेदपारदृश्वा वीरश्चेति भयस्थानत्वेन चिन्तनीयोऽथ रामस्य छद्मना यथाहरणं क्रियेत तथैव तस्यापीति किमिति लक्ष्मणो हीयेत, यस्मिन् हीयमाने भयस्थानं तिष्ठेदक्षतमतो द्वयोरपि वञ्चनं कर्त्तव्यमिति ॥ २ ॥

हमारे विराध दनुकबन्ध आदि योद्धा हैं ही, रामकी प्रभुशक्ति तो यों ही नष्ट हो गई रहेगी, बची हुई उत्साह शक्तिपर उनका मायाप्रयोग पानी फेर देगा। रावण सीताके लिये जो आग्रह कर रहे हैं, उसे वे नहीं छोड़ेंगे । इस प्रकार वह कार्य भी सुसाध्य हो जायगा ।

शूर्पणखा—रामके साथ लक्ष्मणको रखनेका क्या मतलब ?

माल्यवान्—लक्ष्मण भी रामके ही समान वीर तथा अस्त्रकुशल हैं, जब छलप्रयोग ही करना है तो जैसे एकपर वैसे दोनोंपर, फिर उसे ही क्यों छोड़ें ? ॥ २ ॥

शूर्पणखा—मम तु द्वयमेवैतन्न युक्तं प्रतिभाति। यद्दूरस्थितस्य दाशरथेः संनिधानकरणम्, यच्चानाबद्धवैरस्याप्रतिसमाधेयं स्त्रीवैरमिति। (मम दु दुअं एव्व एदं ण जुत्तं पडिभाइ। जं दूरट्ठिदस्स दासरहिणो संणिहाणकरणं, जं अ अनाबद्धवेरस्स अप्पडिसमाहेअं इत्थियावेरं ति)

माल्यवान्—स तावद्वत्से! भूम्यानन्तर्यतः प्रत्यासन्न एव। सानुचरसुन्दोपसुन्दपुत्रोपप्लवाच्च ताटकारिर्भूम्यनन्तरः कथमनाबद्धवैरः। अप्रतिविधेयं च रामरावणयोरितरथापि वैरम्। पश्य—

सन्निधानकरणम्=समीपे आनयनम्। अनाबद्धवैरस्य=निमित्तान्तरतोऽनुत्पन्नशत्रुभावस्य। अप्रतिसमाधेयम्=प्रकारान्तरेण शमयितुमशक्यम्। स्त्रीवैरम्=स्त्रीप्रयुक्तशत्रुभावः। अयमस्यार्थः—सम्प्रति रामो दूरदेशस्थः स समीपमानीयेत नैतद्युक्तम् नवापि तस्य स्त्रियं हृत्वा तेन सह स्त्रीवैरं जन्येतेति युक्तमिति। वैरं हि पञ्चविधम्—'सापत्नं वस्तुजं स्त्रीजं वाग्जातमपराधजम्। वैरप्रभेदनिपुणैर्वैरं पञ्चविधं स्मृतम्' इति।

सः=रामः। भूम्यानन्तर्यतः=स्वमण्डलसन्निकृष्टमण्डलवर्त्तित्वात्। प्रत्यासन्नः=समीपगः। (अतश्च समीपानयनं न युक्तमिति यदुक्तं तदुत्तरितम्) सानुचरसुन्दोपसुन्दपुत्रविप्लवात्=सानुचरयोः ससहाययोः सुन्दोपसुन्दपुत्रयोः सुबाहुमारीचयोः उपप्लवात् एकस्य वधरूपादुपद्रवात् अन्यस्य समुद्रप्रक्षेपणरूपाच्चोपद्रवात्। ताटकारिः=रामः। भूम्यनन्तरः=स्वमण्डलसमीपमण्डलवर्त्ती। अनाबद्धवैरः=अनुत्पन्नशत्रुभावः। रामः स्वमण्डलसमीपमण्डलवर्त्ती ताटकां हत्वा कृतापकारश्चेति नानुत्पन्नवैरस्तेन तस्यानाबद्धवैरत्वमपि त्वयोच्यमानं न युक्तमिति। उक्तञ्च—'राज्यस्त्रीस्थानदेशानां ज्ञातीनां च धनस्य च। अपहारो मदो मानः' इत्यारभ्य 'एते विग्रहयोनयः' इति। अप्रतिविधेयम्=निवर्त्तयितुमशक्यम्। इतरथा=छद्मप्रयोगं विना। शत्रुषु—चत्वार उपायाः प्रथन्ते—सामदानभेददण्डाः, तत्र चतुर्णामपि नास्ति गतिः, केवलं चतुर्थप्रभेदश्छद्मदण्डः संभाव्यते, तदग्रे स्पष्टयिष्यति॥

शूर्पणखा—मुझे तो ये दोनों ही बातें अच्छी नहीं जंचती हैं कि दूरस्थ रामको समीप ले आवें और जो शत्रु नहीं है उसके साथ स्त्रीवैर करें जिसका कोई प्रतिकार ही नहीं होता।

माल्यवान्—बेटी, हमारा और उनका देश सटा हुआ है तब प्रत्यासन्न तो वह है ही, सुबाहु, मारीच तथा ताटकाके संहारकके साथ वैर भी सिद्ध ही है, दूसरे प्रकारसे भी राम और रावणके वैर का कोई प्रतिकार नहीं है। देखो—

पाल्यं तस्य जगद्वयं तु जगतो नित्यं हठादेशिनः
सामैवं सति कीदृगप्रियकृता शश्वद्विरुद्धात्मना ।
कानर्थान् रघुनन्दनो मृगयते देवैः पतिर्यो वृत-
स्तस्माद्दानमपीह नास्ति न भिदा तस्यैव नः साधनम् ॥३॥
दण्डोऽप्यभ्यधिके शत्रौ न प्रकाशः प्रशस्यते ।
तूष्णींदण्डस्तु कर्तव्यस्तस्य चायमुपक्रमः ॥ ४ ॥

पाल्यमिति० तस्य रामस्य जगत् पाल्यम् रक्षणीयम् , वयम् रावणादयो राक्षसाः तु जगतः नित्यम् हठादेशिनः बलात्कारेण शासितारः । एवं सति रामस्य अस्माकञ्च जगत्सुखदुःखपरत्वे शश्वत् सदा विरुद्धात्मना विपरीतस्वभावेन अप्रियकृता अपकारिणा साम मधुरवाक्यं सान्त्वनं कीदृक् कीदृशम् ? न सम्भवीति भावः । अनेन सामोपायो न वैरप्रतिविधानहेतुरित्युक्तम् । यो रघुनन्दनो रामः देवैरिन्द्रादिभिरपि पतिः स्वामीवृतः निर्वाचितः सः कान् किमभिधेयान् अर्थात् मृगयते अन्विष्यति, न कानपीत्यर्थः । एतेन दानप्रयोगस्याफलत्वमुक्तम् । तदाह–'तस्माद्दानमपीह नास्ति इति । तस्यैव देवैः पतित्वेन वृतस्यैव रामस्य भिदा भेदोपायः नः साधनम् प्रतिविधानहेतुर्न, वेतनेन सैन्यसंग्रहेऽप्यधिकवेतनप्रदानलोभेन सैन्यादीनां पृथक्करणं न घटते, तेषां स्वार्थपरतया स्वारसिकरामपक्षपातेन भेदानुपयुक्तत्वात् । दण्डः परमवशिष्यते, मायोपेक्षयोस्तत्रैवान्तर्भावात्, इन्द्रजालस्य भेदेऽन्तर्भावाच्च, सप्तोपायपक्षप्रतिक्षेपेणोपायचतुष्टयपक्षस्यैवाभ्युपगमात् , तदुक्तं कामन्दकीये–'साम दानञ्च भेदश्च दण्डश्चेति चतुष्टयम्' । सोऽयं दण्डो द्विविधः–प्रकाशदण्डो निभृतदण्डश्च, तत्र प्रकाशदण्डः सेनाभिगमनादिना वधबन्धनादिः, निभृतदण्डस्तु गूढवधादिः, अयमेव छद्मदण्डादिशब्देन व्यवह्रियते । तत्र प्रबले प्रकाशदण्डो न युक्तः, तस्मान्निभृतदण्ड एवोचितस्तदाह—दण्डोऽपीति० अभ्यधिके अत्यन्ताधिके शत्रौ रामे प्रकाशो दण्डः अभियानादिना वधादिरूपो न प्रशस्यते न स्तूयते, किन्तु अभियातुर्दुबलत्वेन स्वरूपोन्मूलनपर्यवसायित्वेन सदोष एव भवति । तूष्णींदण्डः छद्मदण्डस्तु कर्त्तव्यः तस्य च छद्म-

वह जगत्‌का रक्षा करे और हम जबर्दस्ती शासन करें, इस प्रकार विरुद्ध मनोदशामें सामप्रयोग नहीं सफल होगा, जो देवों द्वारा स्वामी माना जा चुका है वह रघुनन्दन कौन सा अर्थ चाहेगा ? इससे दान भी नहीं चलेगा । भेदका प्रयोग भी हमारे द्वारा कार्यकर नहीं बनाया जा सकता है क्योंकि सभी देवों ने एकमत ही रघुनन्दन को स्वामी करारा है ॥ ३ ॥

बलवान् शत्रुपर प्रकाशदण्ड भी सफल नहीं होता, तब तो छद्मदण्ड ही कर्त्तव्य रह जाता है जिसकी यह भूमिका है ॥ ४ ॥

तथा सति सीतापहारतः किमपरं कुर्यात् । ततश्च—

हृतजानिररातिभिः सलज्जो यदि मृत्युः शरणं ततोऽन्यथा तु ।
म्रदितो मृत एव निष्प्रतापः परितप्तो यदि वा घटेत सन्धौ ॥ ५ ॥

उत्तिष्ठेत वधाय नः परिभवप्रेद्धेन चेन्मन्युना
नेष्टे तत्प्रसरं निरोद्धुमुदधिस्तिग्मांशुवीर्यो हि सः ।

दण्डस्यायम् तव मन्थराशरीरप्रवेशादिः उपक्रमः बुद्धिपूर्वकारम्भः । 'ज्ञात्वारम्भ उपक्रमः' इत्यमरः । युग्मकमिदम् ॥ ३-४ ॥

अत्र प्रस्तुतोपयोगिसामदानवचनात्संग्रहो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्—तथोक्तम्-'प्रस्तुतोपयोगिसामदानवचनं संग्रहः' इति ।

तथा सति=वनविप्रवासादौ जाते । किमपरं कुर्यात्=वक्ष्यमाणादन्यत् किं विदध्यात् ? न किमपीत्यर्थः ।

हृतजानिरिति०— अरातिभिः शत्रुभिः हृतजानिः हृता जाया यस्य सः हृतजानिः अपहृतदारः । अतएव सलज्जः जायापहारात्साधुसमाजे स्वं मुखं दर्शयितुमशक्तः यदि मृत्योः शरणं गतः मृतः, अन्यथापि स्वतो मरणशरणीकरणाभावेऽपि म्रदितः मृदुत्वं गमितः कष्टभूम्ना मृदुतां लम्भितः अत एव निष्प्रतापः कोशदण्डजतेजो रहितः मृतः एव मृततुल्य एव भवति । यदि वा अथवा परितप्तः कथमेवं विधैर्मायाविभीराक्षसैर्वैरं जातमिति चेतसाऽनुशयंगतः सन्धौ परस्परानाक्रमणात्मके घटेत सन्धिं कुर्यादित्यर्थः । अत्र शत्रुविषये वृत्तचतुष्टयं नीतिसिद्धमुपन्यस्तम्, तच्च 'उच्छेदनं चापजपः पीडनं कर्शनं तथा' इत्युक्तम् । तत्र सलज्ज इत्यपजयः । मृत्युरित्युच्छेदनम् । मृत एवेति पीडनम् । परितप्त इति कर्शनम् ॥ ५ ॥

उत्तिष्ठेतेति (रामः) परिभवप्रेद्धेन सीतापहरणरूपतिरस्कारप्रदीप्तेन मन्युना कोपेन नः अस्माकम् वधाय विनाशाय उत्तिष्ठेत चेत् उद्योगं कुर्यात् चेत्, उदधिः समुद्रः तत्प्रसरम् रामस्यास्मान्प्रतिप्रस्थानम् निरोद्धुम् निवर्त्तयितुम् न ईष्टे प्रभवति । रामेऽस्मद् वधाय प्रतिष्ठमाने समुद्ररूपमरमज्जलदुर्गं न तन्निरोधकं स्यादित्यर्थः । तत्र कारणमाह—हि यतः सः रामः तिग्मांशुवीर्यः सूर्यसमप्रतापः । सूर्यस्य जलशोषशक्तत्वाद्रामस्यात्र तत्सादृश्यं तेन च रामः समुद्रमपि शोषयेदिति ध्वनिः । एतेन

वनमें जब सीता हरी जायेगी तो इसके अतिरिक्त वह कर क्या सकेगा ?

शत्रु द्वारा सीताके हरण होनेपर उसके लिये मृत्यु ही शरण होगी, यदि ऐसा नहीं हुआ तथापि वह इस अपमानसे इतना निष्प्रताप हो जायगा कि उसे मरा ही समझो, यदि उसे पश्चाताप होगा तो वह सन्धि भी कर ले सकता है ॥ ५ ॥

अपमानजन्य क्रोधसे यदि वह हमें मारनेकी तैयारी करेगा तब उसकी गतिको यह

किन्तु प्राक्प्रतिपन्नरावणसुहृद्भावेन भीमौजसा
शत्रुर्वज्रधरात्मजेन हरिणा घोरेण घानिष्यते ॥ ६ ॥

अनेन प्रसङ्गेन बह्वनुसन्धातव्यम् ।

शूर्पणखा—किमित्र । (किं विश्र)

माल्यवान्—रावणप्रियासि वत्से ! कार्यज्ञा च । ततो निःशङ्कमावेद्यते हृदयखेदः ।

समुद्रे विश्वस्यावस्थानं न क्षेमायेति शूर्पणखां प्रत्युक्तम् । सम्प्रति स्वपक्षमाह—किन्त्विति० शत्रुः रामरूपोऽस्मद्रिपुः प्राक्प्रतिपन्नरावणसुहृद्भावेन पूर्वाङ्गीकृतरावणसख्येन भीमौजसा भयानकपराक्रमेण घोरेण दुर्वारवीर्येण वज्रधरात्मजेन इन्द्रपुत्रेण हरिणा वानरेण बालिना घानिष्यते मारयिष्यते । रावणस्य सुहृद् बाली स च पराक्रमपूर्णो दुर्दान्तश्च रामं हनिष्यति तेन ममैव पक्षो निर्दोष इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

अत्रेष्टार्थोपायानुसरणादाक्षेपो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, यथोक्तम्—'इष्टार्थोपायानुसरणमाक्षेपः' इति ।

बहु = अधिकम्, अनुसन्धातव्यम्=निरूपणीयम् । एतावदेव निरूप्य नावस्थेयं किन्त्वत्र प्रसङ्गे स्वपक्षचिन्ताऽपि कर्त्तव्या, येनात्मीयजना अपि न प्रभूभूत्वाऽवस्कन्दयेयुरिति भावः ।

रावणप्रिया = रावणस्य स्वसृतया प्रीतिपात्रम् । कार्यज्ञा=कर्त्तव्यार्थज्ञानशालिनी । निःशङ्कम् = निर्भयम् । आवेद्यते = विज्ञाप्यते । हृदयखेदः = मनोव्यथा । यदि त्वं कार्यज्ञा केवलमभविष्यस्तदाऽपि कदाचिद्रावणप्रतिकूलतां प्रपद्यानर्थं कुर्यादिति भिया रहस्यं नासूचयिष्यम्, अथ केवलं रावणप्रियैवाभविष्यस्तदापि नाभ्यधास्यं रहस्यं बुद्धिदोषेणास्थाने रहस्यप्रकाशभयादुभयथा तु रहस्याकर्णनपात्रतां भजसे तदावेदयामीति भावः ।

सागर नहीं रोक सकेगा क्योंकि वह सूर्यवंशी तथा अतितेजस्वी है। किन्तु रावणमित्र तथा अतिदुर्दान्त वाली उसे बीचमें ही नाश कर देगा ॥ ६ ॥

इस विषयमें बहुत सोचना है।

शूर्पणखा—क्या ?

माल्यवान्—तुम रावणकी प्रीतिपात्र तथा कार्यज्ञ हो, इसलिये तुमसे हृदयदुःख निश्शङ्क होकर बताया जा सकता है।

क्षितेरानन्तर्यादपकृदपकृत्यश्च सततं
द्विधा रामः शत्रुः प्रकृतिनियतः क्षत्रिय इति ।
तृतीयो मे नप्ता रजनिचरनाथस्य सहजो
रिपुः प्रत्यासत्तेरहिरिव भयं नो जनयति ॥ ७ ॥

कुम्भकर्णस्तु सन्नप्यसत्समः कृत्रिमस्वापव्यसनादविनयाच्च । विभीषणस्त्वाभिगामिकात्मगुणसंपन्न इत्येनमनुरताः प्रकृतयः । खरदूषणप्रभृतयस्तु संघवृत्तयो राजानमुपतिष्ठन्ते, यतस्तेन वत्सेनेव राजानमर्थान्दु-

क्षितेरि॰ क्षत्रियः क्षत्रगोत्रोद्भवः रामः क्षितेः आनन्तर्यात् स्वमण्डलसमीपमण्डलवर्त्तित्वात् हेतोः प्रकृतिनियतः स्वभावसिद्धः शत्रुः, समीपस्थतया सततम् अपकृत् अपकारकरः, अपकृत्यः कृतापकारश्चेति कृत्रिमशत्रुस्तदेवं द्विधा प्रकारद्वयेन शत्रुर्भवति । रजनिचरनाथस्य निशाचरेन्द्रस्य सहजः स्वाभाविकः शत्रुः मे मम नप्ता दुहितृपुत्रः विभीषणः रिपुः प्रत्यासत्तेः सततसमीपस्थायित्वात् अहिः सर्पः इव नः अस्माकं भयं जनयति । रामो द्विधाशत्रु स्तृतीयश्च विभीषणः शत्रुरहिरिव नो भयङ्कर इत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम्—अपकारक्रिया निर्वृत्तः शत्रुः कृत्रिमः, एकशरीरजातः पितृव्यतत्पुत्रादिरूपः सहजशत्रुः, विषयानन्तरः प्राकृतशत्रुः, तत्र रामो रावणस्य न सहजशत्रुः क्षत्रियत्वात् किन्तु विषयानन्तरत्वात् प्राकृतः शत्रुः, अपकारादिना च कृत्रिमशत्रुः, विभीषणस्तु रावणस्य सहजशत्रुः । स च विभीषणः प्रत्यासन्नः—देशतः सम्बन्धतश्च रावणस्य, गुणतश्च रामस्य, अतः स्वपक्षप्रभवं भयमत्र वर्त्तते इति ॥ ७ ॥

अत्र शङ्कात्रासयोरुक्तं सम्भ्रमो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् , यथोक्तम्—'शङ्कात्रासौ च सम्भ्रमः' इति ।

सन्नपि = विद्यमानोऽपि । असत्समः = अविद्यमानकल्पः । कृत्रिमस्वापव्यसनात्= ब्रह्मवरेण सततनिद्रापराधीनत्वात् , अविनयात् = जागरकालेऽपि बह्वाहारमद्योपयोगादिनाऽनुचितव्यवहारित्वात् अतोऽसौ सन्नपि नेव, अतो न ततो भय नापि तत्कृतशत्रुनिबर्हणाशापि । तु शब्दो विभीषणस्य कुम्भकर्णाद्गुणद्वारा व्यवच्छेदाय

समीपस्थ होनेसे अपकार भी करेगा, कभी अपकृत भी होगा, इस प्रकार क्षत्रिय राम हमलोगोंका प्राकृत तथा सहज दोनों प्रकारका शत्रु है । हमारा तीसरा नाती विभीषण भी रावणका सहज शत्रु है और वह समीपस्थ होनेसे साँपकी तरह सर्वदा हमारे भयको जागृत किये रहता है ॥ ६ ॥

कुम्भकर्णका होना और न होना बराबर है क्योंकि वह सदा सोया रहता है और उजड्ड भी है । विभीषणमें आभिगामिक गुण हैं इसलिये प्रकृति उसमें अनुरक्त रहती है । खरदूषण आदि रावणमें इसीलिये मिले हुए रहते हैं कि उनको पैसे मिलते हैं । इस प्रकार

हन्ति। उपजापिताश्च प्रत्युपजपन्ति प्रकृतयः। तदिदमन्तर्भेदजर्जरं राजकुलमभियुक्तमात्रं रामेण भिद्यते। यथोक्तम्—'लघ्वपि व्यसनपदमभियुक्तस्य कृच्छ्रसाध्यं भवति' इति। तत्र विभीषणावग्रहस्य प्रतिविधानं कर्तव्यम्। स तु प्रकाशदण्डस्तूष्णींदण्डः संरोधनमपसारणं वा

पक्षान्तरावतारणार्थः। आभिगामिकात्मगुणसम्पन्नः=अमात्यादीनामभिगमे कारणभूताः ये आत्मगुणास्तैः समृद्धः। प्रकृतयः=अमात्यादयः प्रजाः। अनुरताः=अनुरक्ताः। आभिगामिकगुणवर्गश्च कामन्दकीये दर्शितो यथा—

'सुशीलत्वं वयस्यत्वं दाक्षिण्यं क्षिप्रकारिता। अविसंवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञता। दैवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिवारता। शक्यसामन्तता चैव तथैव दृढभक्तिता॥ दीर्घदर्शित्वमुत्साहः शुचिता स्थूललक्षता। विनीतता धार्मिकता गुणाः साध्वाभिगामिकाः॥ गुणैरेतैरुपेतः सन् सुव्यक्तमभिगम्यते॥

सङ्घवृत्तयः=सङ्घेन वृत्तिर्जीवनं येषां ते तथोक्ताः, प्रत्येकं बुद्धिशून्या इत्यर्थः। उपतिष्ठन्ते—भजन्ति। तेन=सङ्घेन। सङ्घं वत्सं कृत्वा राजानं धेनुमर्थान् पयांसि दुहन्ति गृह्णन्तीति रूपकरहस्यम्। सहजरिपुमिमं विभीषणमेवाधारीकृत्य कदाचित् मे खरदूषणादयः पृथग्भवेयुरिति शङ्कमानाद्रावणाद् यथेच्छं धनमाददते इति भावः॥

उपजापिताः=कृतभेदनीतिप्रयोगाः। उपजयन्ति=भिन्ना भवन्ति। प्रकृतयः=अमात्यादयः। विभीषणस्याभिगामिकगुणसम्पन्नतया तत्पक्षेऽस्माभिः कृत उपजापो व्यर्थः स्यात्परन्तु तत्पक्षेणास्मत् पक्षे उपजापे क्रियमाणे सम्भवति साफल्यमित्याशयः। अन्तर्भेदजर्जरम्=स्वजनवैमत्येन शिथिलम्। अभियुक्तमात्रम्=युद्धायाभियातमात्रम्। लघ्वपि=स्वल्पमपि। व्यसनपदम्=भ्रंशस्थानं कामक्रोधादिदोषस्थानं वा। अभियुक्तस्य=शत्रुणा युद्धायाभियातस्य। कृच्छ्रसाध्यम्=कष्टप्रतिकार्यम्। विभीषणावग्रहस्य=विभीषणकृतस्य पृथग्भावस्य। प्रतिविधानम्=प्रतिकारः। (तत्र न तावज्ज्येष्ठेन कनिष्ठेन सामप्रयोग उचितः, नापि दानं सम्भवति अविभक्तधनत्वात्, भेदस्तु नैव घटते, फलतो दण्डः प्रयोक्तव्यः) स च=दण्डश्च। संरोधनम्=कारागृहे बन्धनम्। अपसारणं नगरान्निर्वासनम्। प्रकाशम्=प्रकाशदण्डं वधताड-

इस राजपरिवारमें इतनी फूट है कि यह जर्जर हो गया है, रामकी चढ़ाई होते ही फूट जायगा, कहा है:—छोटा सा भी छिद्र चढ़ाई हो जानेपर असाध्य हो जाता है। यहाँ विभीषणके पृथग्भावका प्रतिकार करना चाहिये। उसका—प्रकाशदण्ड, छद्मदण्ड, संरोधन, अपसारण इन्हीं चारोंमेंसे कुछ हो सकता है। इनमें प्रकाशदण्डको राक्षस नहीं सहन

स्यात्। तत्र प्रकाशमभिन्नसंबन्धाः कथं राक्षसास्तितिक्षेरन्। तूष्णींदण्डोऽपि प्राज्ञैरनुमीयमानः प्रकृतिकोपको रामेऽभियोक्तरि दुरन्तः स्यात्। संरोधने त्वभिभवाद्विहिते तदैकमत्यात्खरप्रभृतयश्च तथा विकुर्युः। निर्वास्यमानमपि तं परिवारयेयुस्तस्मात्खरप्रभृतयः पुर एव चिन्त्याः॥

शूर्पणखा—अहो अनुजीवित्वस्य गुरुकता, यद्रावणस्य खरप्रमुखानां च तुल्येऽन्योन्यसंबन्ध एवं मातामहश्चिन्तयति। (अहो अनुजीवित्तणस्स गुरु-

नादिम्। अभिन्नसम्बन्धाः = समानरूपेण सम्बन्धिनः। तितिक्षेरन्=सहेरन्। तूष्णींदण्डः = निभृतवधादिरूपः। प्राज्ञैः ऊहापोहकुशलैः। अनुमीयमानः = लिङ्गेन तर्क्यमाणः, प्रकृतिकोपकः = अमात्यादिविरागजनकः। अभियोक्तरि = सेनयाऽभियातरि। दुरन्तः = अप्रतिविधेयः। अधुना विभीषणे प्रकाशं हते राक्षसा न सहेरन्, निभृतं हते लिङ्गादिना तद्वधकारणानुमानकुशलाः प्रकृतयो मयि कुपिताः स्युरतो द्वयमिदमयुक्तमिति भावः।

संरोधने त्विति० संरोधने कारागृहे बन्धने विहिते सति तु अभिभवात् विभीषणस्य परिभवो जात इति हेतोः तदैकमत्यात् तेन विभीषणेन सहाभिन्नमतित्वात् खरप्रभृतयः खरदूषणादयः विकुर्युः क्रोधादिरूपं विकारं प्राप्नुयुः। तथा किञ्च निर्वास्यमानम् नगरात् बहिः क्रियमाणम् अपि तं विभीषणम् खरप्रभृतयः परिवारयेयुः सहयोगिनो भूत्वा मध्ये कुर्युः, तस्मात् (खरादीनां विभीषणविषये प्रकाशदण्डतूष्णींदण्डसंरोधननिर्वासनरूपोपायचतुष्टयस्य परिपन्थित्वात) खरप्रभृतयः पुर एव विभीषणनिग्रहात्पूर्वमेव चिन्त्याः भयस्थानत्वेन शङ्कनीयाः। केनचिदपदेशेन खरादिषु रामेण व्यापादितेषु विभीषणस्यापसारणादिकं सुकरं स्यादतः प्रथममस्माभिरुपायतो रामेण खरप्रभृतयो घातयितव्या इति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ८॥

अत्र खरप्रभृतीष्टजनातिसन्धानादतिबलं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्—यथोक्तम्-'इष्टजनातिसन्धानमतिबलम्'इति, अनुजीवित्वस्य = भृत्यभावस्य। गुरुकता = कुत्सायुतं

करेंगे क्योंकि विभीषण भी उनका समानसम्बन्धी है। छद्मदण्ड करनेपर भी बुद्धिमानोंको उसका पता चल जायगा और उससे आपसमें फूट पड़ जायगी जो रामकी चढ़ाई होनेपर बड़ा दुरन्त निकलेगा।

संरोधन करनेपर उसका अभिभव होगा और उससे मिले हुए खरदूषण आदि भी बिगड़ उठेंगे, उसे निर्वासित कर दिया जायगा तो खर आदि उसके साथ हो लेंगे इसलिये पहले खर प्रभृतिकी ही चिन्ता करनी चाहिये॥ ८॥

शूर्पणखा—सेवा बड़ी चीज है, रावण और खरदूषण आदि मातामहके एकसे नाती हैं फिर भी उनके लिये ये इस प्रकार सोचते हैं।

अदा, जं रावणस्स खरप्पमुहाणं अ तुल्ले अण्णोण्णसंवन्धे एव्वं मादामहो चिन्तेदि)

माल्यवान्—ईदृशः खलु कुलपुत्रकाचारः ।

शूर्पणखा—विना खरप्रमुखैर्विभीषणस्य का प्रतिपत्तिः । (विणा खरप्पमुहेहिं विभीसणस्स का पडिवत्ती)

माल्यवान्—प्राज्ञः खल्वसाववेक्षितविकारः स्वयमेवापसर्पेत्, उपेक्षणीयस्त्वमस्माभिः । न चैवं मन्तव्यमौरसाद्भयमिति । यतः—

बाल्यात्प्रभृत्येव निरूढसख्यं सुग्रीवमेष ध्रुवमाश्रयेत ।
वालिप्रसादीकृतभूमिभागे कुमारभुक्तौ स्थितमृष्यमूके ॥ ९ ॥

गौरवम्, कुत्सायायामत्र कन्, समानेऽपि सम्बन्धे वैषम्यप्रयोजकत्वादनुर्जाविस्वस्य कुत्सितत्वम् । तुल्येऽन्योन्यसम्बन्धे=मातामहदौहित्रादिभात्ररूपे यौनसम्बन्धे समाने । एवम्=छद्मना खरादिवधम् । मातामहः=भवान्माल्यवान् सम्बन्धेन खरादीनां मातामहः ।

कुलपुत्रकाचारः=कुलपुत्रकाणाम् सद्वंशजातानाम् आचारः अनुष्ठानम् ।

प्रतिपत्तिः=कर्त्तव्याध्यवसायः, तेषामभावे विभीषणः किङ्कुर्यादिति चिन्ताविषयः।

प्राज्ञः=ऊहापोहकुशलः । असौ=विभीषणः । अवेक्षितविकारः=अनुमितास्मद्विरुद्धाभिप्रायः, अस्माकमाशयं स्वविरुद्धं मन्यमान इत्याशयः । अपसर्पेत्=अन्यत्र नगराद् गच्छेत् । उपेक्षणीयस्त्वस्माभिः=नगरादपसर्पन् विभीषणोऽस्माभिर्नानुरोध्यः स्थातुं न वा निग्राह्यः किन्तूपेक्षणीय इति । न चैवं मन्तव्यमौरसाद् भयमिति=स्वयमपसर्पतोऽस्माद् विभीषणाद्बन्धुभूतादेकाकिनश्च भयमकिञ्चित्करमिति न मन्तव्यम् ।

बाल्यादिति० एषः विभीषणः बाल्यात्प्रभृति बाल्यावस्थात आरभ्य निरूढसख्यम् प्रवृद्धमैत्रीकम् बालिप्रसादीकृतभूमिभागे बालिनाऽनुग्रहेण दत्ते भूमेरेकदेशे कुमारभुक्तौ ऋष्यमूके तन्नामके स्थाने स्थितम् सुग्रीवम् ध्रुवम् निश्चयेन आश्रयेत शरणीकुर्यात् । कुमारैर्भुज्यत इति कुमारभुक्तिः, कुमाराणां राजभिः कल्पिता वृत्तिः, सुग्रीवस्य बाल्यनुजत्वा'ज्ज्येष्ठभ्राता पितृसमः' इति न्यायेन तं प्रतिकुमारत्वात्तथोक्तिः । ज्येष्ठभ्रात्रा विरोधस्य सुग्रीवविभीषणयोस्तुल्यत्वादाबाल्यमित्रत्वाच्च विभीषणस्य सुग्रीवाश्रयणं नितान्तसम्भावितमित्याशयः ॥ ९ ॥

माल्यवान्—कुलीनोंके आचार ऐसे ही हुआ करते हैं ।

शूर्पणखा—विभीषणके विषयमें क्या होगा जब खर आदि नहीं रहेंगे ।

माल्यवान्—विभीषण बुद्धिमान् है वह देखेगा कि रुख खराब है बस, स्वयं निकल जायगा, ऐसी स्थितिमें बन्धुविग्रहसे डरनेकी कोई बात नहीं होगी क्योंकि—

बाल्यावस्थासे विभीषणका सुग्रीवके साथ मैत्री है, अतः वह सुग्रीवके आश्रयमें अवश्य जायगा, सुग्रीव बालि द्वारा दिये गये ऋष्यमूक पर्वतपर रहा करता है ॥ ९ ॥

तत्रस्थो वालिना घानिष्यते। रामोपाश्रयेण वा रामोपश्लेषेण वा नोपेक्षेत वाली।

शूर्पणखा—अथ परशुराममिव राघवो जनितविरोधं वालिनं व्यापादयति तदा रामविभीषणसंयोगोऽनर्थ इति संभावयामि। (अह परसुरामं विअ राहवो जणिअविरोहं वालिणं वावादेदि, तदो रामविभीसणसंओओ अणत्थो त्ति संभावेमि।)

माल्यवान्—ननु वत्से!

यो वालिनं हन्ति हता वयं च तेन ध्रुवं तत्र तु सर्वनाशे।
एकः स जीव्यात्कुलतन्तुरस्मै रामः श्रियं धर्ममयो ददातु॥ १०॥

तत्रस्थः = ऋष्यमूकावस्थितः, रामोपाश्रयेण = साक्षाद्रामाश्रयणेन। रामोपश्लेषेण = सुग्रीवद्वारा तदाश्रयणेन। उपाश्रयः साक्षादाश्रयणम्, उपश्लेषः आश्रेयजनान्तरङ्गजनाश्रयणद्वारकमाश्रयणमिति विवेकः। नोपेक्षेत = न त्यजेत् किन्तु हन्यादेवेत्यर्थः। अयमर्थः—रामो हतभार्यः स्वमित्रसुग्रीवगृहानागच्छेत्, ततश्च सुग्रीवद्वारको विभीषणस्य रामाश्रयविधिरत्र रामोपश्लेषः, साक्षादाश्रयश्च रामोपाश्रयः, उभयथापि वाली विभीषणं हन्यादेव, स्वमित्ररावणारित्वात्, स्वशत्रुसुग्रीवमित्रत्वात्, स्वमित्ररावणशत्रुराममित्रत्वाच्च, एवं च तदपसर्पणे न कापि क्षतिरिति॥

यो वालिनमिति० यः वालिनम् हन्ति तेन च वयं रावणादयः हताः मारिताः। इति ध्रुवम् निश्चितम्। अत्र 'यो हन्ति तेन हताः' इति सामान्योक्त्या रामो रावणादीनस्मान् हनिष्यति रावणविजेतृवालिहन्तृत्वादित्यनुमानं विवक्षितं बोध्यम्। तत्र तस्यां स्थितौ सर्वनाशे सर्वेषामपाये एकः सः विभीषणः कुलतन्तुः नश्यतो वंशस्यावलम्बनभूतं सूत्रम् जीव्यात् जीवतु, अस्मै विभीषणाय धर्ममयः धर्मात्मा रामः श्रियं लङ्कैश्वर्यम् ददातु अर्पयतु॥ १०॥

वहाँ रहता हुआ विभीषण बालिके हाथोंसे मरेगा। साक्षात् वा सुग्रीव द्वारा रामके आश्रयमें जानेपर भी बालि विभीषणको नहीं छोड़ेगा।

शूर्पणखा—रामने परशुरामकी तरह यदि विरोध करनेपर बाली को भी परास्त कर दिया तब तो राम और विभीषणका संयोग बड़ा बुरा होगा, ऐसी शङ्का करती हूँ।

माल्यवान्—बेटी, जिसने बालीको मारा उससे हम भी मारे जायेंगे ही, तब सर्वनाश निश्चित समझो। ऐसी स्थितिमें वंशकी रक्षा करनेवाला विभीषण ही एकमात्र जीता रहे, धर्मात्मा राम उसको राज्य दे॥ १०॥

शूर्पणखा—(सास्रम्) एवमपि तावद्भवतु । (एव्वं वि दाव होदु ।)

माल्यवान्—गम्यतामिदानीं यत्र प्रेषितासि । सुकरं चैतत्प्रयोजनं यदि जनकदशरथान्तिके वसिष्ठविश्वामित्रौ न स्याताम् । अहमपि लङ्कामेव गच्छामि ।

शूर्पणखा—हा अम्ब ! त्वयापि दुःखं प्रेक्षितव्यम् । (हा अम्ब ! तुएवि दुक्खं पेक्खिदव्वम् ।)

माल्यवान्—

हा वत्साः खरदूषणत्रिशिरसो वध्याः स्थ पापस्य मे

हा हा वत्सविभीषण त्वमपि मे कार्येण हेयः स्थितः ।

हा मद्वत्सल वत्स रावण महत्पश्यामि ते संकटं

अत्र तत्त्वार्थानुकीर्त्तनान्मार्गो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, यथोक्तम्—'तत्त्वार्थानुकीर्त्तनं मार्गः' इति । एवमपि तावद्भवतु = यदि रावणो म्रियत एव तदा विभीषणो जीवतु, अनुकल्परूपमिदं वचनम्, रावणजीवितं मुख्यः कल्पस्तदलाभे विभीषणस्य जीवितमनुकल्प इति बोध्यम् । यत्र = मिथिलायाम् । प्रयोजनम् = मन्थराशरीरावेशरूपम् । न स्याताम् = जनकस्य दशरथस्य च समीपे तु तयोरुपस्थितौ दिव्यचक्षुषोस्तयोर्दर्शोः प्रतिभाया एव तव तत्प्रवेशरूपो व्यापारस्तदाऽयमारम्भो वृथा स्यादिति भावः ।

अनेन चोत्तराङ्के प्रवेक्ष्यतां जनकादीनां चतुर्णां मध्ये वसिष्ठविश्वामित्रयोर्निर्गमः सूचितः, अत्राङ्कमुखमुक्तमिति विभावनीयम् ।

दुःखम् = विभीषणमात्रावशेषस्य कुलस्य दुःखप्रदत्वादित्थमुक्तम् ।

हा वत्सा इति० हा वत्साः खरदूषणत्रिशिरसः, (यूयम्) पापस्य बन्धुक्षयकरनीतिप्रयोक्तृतया पापाचारस्य मे मम वध्याः मारणीयाः स्थ । हा हा वत्स प्रिय विभीषण ! त्वमपि मे मम कार्येण कर्त्तव्येन हेयः परित्याज्यः स्थितः, मदीयेनैव कुकर्मणा तवापि त्यागः समजनीति भावः । हा मद्वत्सल मत्प्रेमपात्र रावण ! ते तव महत्

शूर्पणखा—(रोती हुई) ऐसा भी तो होवे ।

माल्यवान्—अब जहाँ भेजा है जाओ । यह कार्य सरल है यदि जनक और दशरथके पास विश्वामित्र तथा वसिष्ठ नहीं होंगे । मैं भी लङ्का ही जा रहा हूं ।

शूर्पणखा—हा अम्ब ! तुमको यह भी देखना है ।

माल्यवान्— हा वत्स खरदूषण आदि ! मैं पापी तुम्हारे मरणकी ही बात सोचा करता हूं, हा वत्स विभीषण ! कार्यवश तुम्हें भी छोड़ देना पड़ रहा है । हा मेरे स्नेही

वत्से केकसि हा हतासि नचिरात्त्रीन्पुत्रकान्द्रक्ष्यसि ॥ ११ ॥

(इति निष्क्रान्तौ)

मिश्रविष्कम्भः ।

(ततः प्रविशतो वसिष्ठविश्वामित्राभ्यां सह दशरथजनकौ)

(राजानावन्योन्यं परिष्वज्य)

जनकः—राजन् ! दिष्ट्या वर्धसे यदीदृशस्ते वत्सो रामभद्रः ।

अप्राकृतानि च गुणैश्च निरन्तराणि

लोकोत्तराणि च फलैश्च महोदयानि ।

दीर्घं सङ्कटं कष्टम् पश्यामि भाविदृष्ट्याऽवलोकयामि । वत्से केकसि रावणादीनां जननि ! नचिरात् शीघ्रमेव त्रीन् पुत्रकान् खरकुम्भकर्णरावणान् द्रक्ष्यसि । रामेण हतान्प्रेत्य स्वर्गे स्वसमीपमागतान् खरादीन् त्रीन् पुत्रानचिरादेव वीक्षिष्यसे इत्यर्थः ॥

विष्कम्भकः—'वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।

संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥

मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।

शुद्धः स्यात्स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः' ॥

स चायं मिश्रविष्कम्भकः, सङ्कीर्ण इत्यर्थः, अत्र नीचपात्रं शूर्पणखा या प्राकृतं भाषते मध्यमश्च संस्कृतभाषी माल्यवानिति बोध्यम् ॥

राजानौ = जनकदशरथौ ।

दिष्ट्या = आनन्दद्योतकमव्ययमिदम् । वर्धसे = समृद्धिभाग् भवसि । ईदृशः = परशुरामस्यापि जेता ।

अप्राकृतानीति० अप्राकृतानि दिव्यानि गुणैः ज्ञानविनयसौन्दर्यादिभिः निरन्तराणि निविडानि लोकोत्तराणि सर्वातिशायीनि फलैश्च महोदयानि महाफलजनकानि वीरस्य

रावण ! तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ा सङ्कट देख रहा हूं । हा बेटी केकसि ! तुम थोड़े ही दिनोंमें अपने तीन पुत्रोंसे हाथ धो बैठोगी ॥ ११ ॥

(दोनोंका प्रस्थान)

मिश्रविष्कम्भक समाप्त

(वसिष्ठ विश्वामित्रके साथ राजा दशरथ तथा जनका प्रवेश)

(दोनों राजा गले लगकर)

जनक—आपका भाग्य है कि आपके रामभद्र ऐसे हैं ।

उस वीर तथा महान् रामचन्द्रके चरित केवल हमारे ही लिये नहीं तीनों लोकके लिये

वीरस्य तस्य महतश्चरिताद्भुतानि
नास्माकमेव जगतामपि मङ्गलानि ॥ १२ ॥

वसिष्ठः—(विश्वामित्रं परिष्वज्य) सखे कुशिकनन्दन !

अस्माभिरप्यनाशास्यो रामस्य महिमान्वयः ।
यत्कृतास्तेन कृतिनो वयं च भुवनानि च ॥ १३ ॥

विश्वामित्रः—प्रकृष्टपुण्यपरिपाकोपादान एष महिमा । के वयमेतावतः प्रकर्षस्य ।

दशरथः—भगवन् कुशिकनन्दन ! मा मैवम् ।

महतः तस्य रामस्य चरिताद्भूतानि आश्चर्यकराणि चरितानि न अस्माकमेव मङ्गलानि कल्याणाधायकानि अपितु जगतामपि त्रिलोक्या अपि मङ्गलानि कल्याणकराणि सन्तीति शेषः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १२ ॥

अस्माभिरिति० **रामस्य महिमान्वयः विभूतिगुणादेर्महिम्नः सम्बन्धः अस्माभिः अपि अनाशास्यः आशाविषयतातिगः, यत् यतः तेन रामेण वयं कृतिनः कृतार्थाः कृताः, भुवनानि जगन्ति च कृतार्थानि कृतानि । अयमर्थः—रामे यो महिमातिशयः सोऽस्माभिरपि पूर्वं मनसि न कृतो यतस्तेन वयं यज्ञविध्वंसिशमनात् कृतार्थाः कृताः भुवनान्यपि प्रतिपदोपद्रवपरायणताटकादिवधेन सुस्थानि कृतानि ॥ १३ ॥**

एष महिमा = रामस्य प्रकर्षः । प्रकृष्टपुण्यपरिपाकोपादानः = महता पुण्यपरिपाकेन जनितः । प्रकृष्टः पुण्यपरिपाक उपादानं कारणं यस्येति बहुव्रीहिः । एतावतः= परशुरामपराजयपर्यन्तस्य । के वयम् = आशामपि कर्त्तुमितः पूर्वमशक्ता इत्यर्थः । मा मैवम् = नैवं वक्तुं युक्तम् ।

मङ्गलकारक हैं, वे चरित गुणसे युक्त तथा अलौकिक होनेके कारण फलांशमें लोकोत्तर और महोदय हैं ॥ १२ ॥

वसिष्ठ—(विश्वामित्रको गले लगाकर) सखे विश्वामित्र !

इस तरह रामकी महिमा होगी हमने भी ऐसी आशा नहीं की थी, उसने तो हमें और त्रिभुवनको भी कृतार्थ कर दिया ॥ १३ ॥

विश्वामित्र—प्रकृष्ट पुण्यके परिपाकसे ही ऐसी महिमा प्राप्त होती है, इस तरहके प्रकर्षको हम क्या जानें ।

दशरथ—महाराज विश्वामित्र !

आदित्याः कुलदेवतामिव नृपाः पूर्वे दिलीपादय-
स्तेजोराशिमरुन्धतीपतिमृषिं भक्त्या यदाराधयन् ।
पाकस्तस्य च याश्च भूरितपसां सत्याशिषामाशिष-
स्तासामप्ययमेव मङ्गलनिधिर्यन्नः प्रसन्नो भवान् ॥ १४ ॥

वसिष्ठः—सत्यमीदृशो विश्वामित्रः ।

यद्वाचां विषयमतीत्य चेतसां वा पर्यायात्परमतिशायनस्य वा यत् ।
ब्रह्मर्षौ तदिह दुरासदे समिद्धं तेजोभिर्ज्वलति महत्त्वमप्रमेयम् ॥ १५ ॥

आदित्या इति० पूर्वे मदपेक्षया प्राचीना दिलीपादयः आदित्याः सूर्यवंशोद्भवाः नृपाः राजानः कुलदेवताम् इव यत् तेजोराशिम् तेजःपुञ्जायमानम् ऋषिम् मन्त्रद्रष्टारम् अरुन्धतीपतिम् वसिष्ठम् भक्त्या प्रश्रयेण आराधयन् आराधितवन्तः, तस्य अयमेव पाकः परिणामः, याश्च भूरितपसाम् समधिकतपःशालिनाम् सत्याशिषाम् अमृषाभाषिणाम् तत्तन्महात्मनाम् आशिषः आशीर्वचनानि तासामप्ययमेव पाकः यत् मङ्गलनिधिः सकलकल्याणराशिः भवान् विश्वामित्रः नः अस्माकम् प्रसन्नः कृतप्रसादः । अद्यपर्यन्तं मत्पूर्वजा भक्त्या यद्वसिष्ठस्य पादौ पर्यचरन् ,सत्यवाचो महात्मानश्च या आशिषोऽस्मासु प्रायुञ्जत सर्वस्यापि तस्यायं परिपाको यद्भवानस्मासु प्रसद्य रामस्येममुत्कर्षमाविर्भावितवन्तस्तदयं सर्वोऽपि भवतः प्रभाव इति भावः ॥

ईदृशः = दशरथोक्तमाहात्म्ययुक्तः ।

यद्वाचामिति० यत् महत्त्वम् वाचाम् गिराम् चेतसाम् मनसाम् वा विषयम् गोचरम् अतीत्य अतिक्रम्य पर्यायात् क्रमशः अतिशायनस्य विश्वाधिकप्रकर्षस्य परम् अतिशयितम् तत् महत्त्वम् इह अस्मिन् दुरासदे दुर्धर्षे महसाऽऽनास्कन्दनीये ब्रह्मर्षौ विश्वामित्रे तेजोभिः प्रभावैः अप्रमेयम् इयत्तया परिच्छेत्तुमशक्यम् समिद्धम् दीप्तम् ज्वलति दीप्यते । अयमर्थः, यन्महत्त्वं क्रमशः प्रथमं मनसो वचसश्च विषयमतिक्रम्य सर्वाधिकप्रकर्षस्याप्यतिशयिजातं तदतिदीप्तं तेजोऽत्र विश्वामित्रे प्रकाशत इति । प्रहर्षिणीवृत्तम्, 'म्नाशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' इति च तल्लक्षणम् ॥ १५ ॥

हमारे पूर्वज सूर्यवंशी दिलीपादि राजागण कुलदेवताकी तरह वसिष्ठकी जो आराधना करते थे और तपस्विजनोंने जो आशीर्वाद प्रदान किये थे, उन्हीं सबका यह फल है कि मङ्गलके निधान आप हमपर आज प्रसन्न हैं ॥ १४ ॥

वसिष्ठ—ठीक ही विश्वामित्र ऐसे हैं—

जो महत्त्व मनोवागगोचर है, क्रमशः जिस महत्त्वने पराकाष्ठासे आगेका पद प्राप्त किया है, ब्रह्मतेजसे दीप्त वह महत्त्व इस दुर्धर्ष विश्वामित्रमें वर्त्तमान है ॥ १५ ॥

विश्वामित्रः—भगवन् मैत्रावरुण !

सनत्कुमाराङ्गिरसोर्गुरुर्विद्यातपोमयः ।
स्तौषि चेत्स्तुत्य एवास्मि सत्यशुद्धा हि ते गिरः ॥ १६ ॥

रामभद्रे तु नाश्चर्यमेतत् । महाराजदशरथो हि तस्य जनयिता ।

साक्षात्पुण्यसमुच्छ्रया इव मनोर्वैवस्वतस्यान्वये
राजानस्त्वदपेक्षितेन विधिना गोपायितारः प्रजाः ।

मैत्रावरुण = मित्रावरुणयोरयं मैत्रावरुणः वसिष्ठस्तत्सम्बुद्धौ ।

सनत्कुमारेति० सनत्कुमाराङ्गिरसोः सनत्कुमारः अङ्गिराश्च ब्रह्मणो मानसौ पुत्रौ तयोः गुरुः उपदेशकः ब्रह्मभावनाविशिष्टस्य सनत्कुमारस्य विद्योपदेष्टा कर्मभावनानिष्ठस्य चाङ्गिरसस्तपसामुपदेष्टेत्यर्थः, विद्यातपोमयः विद्यामूर्त्तिस्तपोमूर्त्तिश्च त्वम् (यदि माम्) स्तौषि यथोक्तगुणशालितया प्रशंससि तदा स्तुत्यः प्रशंसापात्रम् अस्म्येव, यतस्ते तव वसिष्ठस्य गिरः सत्यशुद्धाः सत्याः अमोघाः शुद्धाः पूताः अयथार्थताख्यदोषशून्या इति । गुणिनिष्ठगुणाभिधानं हि स्तुतिः सा यद्यपि गुणशून्ये मयि न घटते तथापि स्तोतुस्तवोक्तेरमोघतया मम ब्रह्मर्षित्वमिव तादृशगुणाधिष्ठानत्वमपि युज्यत एवेति भावः ॥ १६ ॥

एतत् = यथोक्तमाहात्म्यम् । नाश्चर्यम्=नापूर्वत्वेन विस्मयजनकम् । तत्र कारणमाह—महाराजेति० राममाहात्म्यं हि दशरथमाहात्म्यजन्यमेव, कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते इत्युक्तेर्दशरथमाहात्म्यं च प्रसिद्धमेवातो न राममाहात्म्यमाश्चर्यमिति बोध्यम् ।

साक्षादिति० वैवस्वतस्य सूर्यपुत्रस्य मनोः अन्वये वंशे साक्षात्पुण्यसमुच्छ्रया इव मूर्त्तिधराः सुकृतराशय इव त्वदपेक्षितेन त्वयाऽभिमतेन विधिना प्रकारेण प्रजाः प्रकृतीः गोपायितारः रक्षकाः पवित्रचरिताः निर्दोषाचाराः प्रथमे पूर्वे ये राजानः भूताः उत्पन्नाः अयम् (दशरथः) तेषाम् पूर्वेषाम् राज्ञाम् धूर्धरः तदुद्बाह्य भारवोढा वीरः शूरः क्षत्रियपुङ्गवः क्षत्रियश्रेष्ठः धरित्र्याः पृथिव्याः श्लाघ्यः प्रशंसनीयः पतिः दशरथो नाम गुणनिधिः गुणानां राममाहात्म्यहेतुभूतानां निधिः आश्रयः अस्तीति

विश्वामित्र—भगवन् मैत्रावरुणे !

आप सनत्कुमार और अङ्गिराके गुरु तथा विद्या और तपस्याके निधान हैं, आप जब हमारी प्रशंसा करते हैं तब मैं अवश्य प्रशंसनीय हूं क्योंकि आपके वचन सदा सत्यसे पवित्र ही हुआ करते हैं ॥ १६ ॥

रामभद्रके लिये यह आश्चर्यकी बात नहीं है, महाराज दशरथने उसे जन्म दिया है। वैवस्वत मनुके वंशमें पुण्योच्चयके समान तथा मनूक्तपद्धतिसे प्रजापालन करनेवाले जो

ये भूताः प्रथमे पवित्रचरितास्तेषामयं धूर्धरो
वीरः क्षत्रियपुंगवो गुणनिधिः श्लाघ्यो धरित्र्याः पतिः ॥ १७ ॥

अपि च—

अरिष्टस्त्वाष्ट्रस्य प्रशमनविधौ जम्भदमनः
स विश्वेषामीशः पतिरपि निकायस्य मरुताम् ।
विनेतारं सेनां सततमपहन्तारमसुरा-
नमुं वीरं वव्रे बहुषु समनीकेषु मघवा ॥ १८ ॥

सोऽयमीदृशः कथमनीदृशं प्रसूते । कथमत्राश्चर्यं नाम ।

शेषः । सूर्यवंशे पुण्यसमुदया इव मूर्त्तिमन्तस्त्वदिष्टवर्त्मना भुवः शासकाः पूतचरित्रा ये पूर्वे राजानोऽभूवंस्तेषामुत्तराधिकारे स्थितोऽयं दशरथोऽतिप्रशस्यः पृथिवीपतिर्गुणानां निधिश्च विद्यतेऽतस्तदपत्ये रामे गुणानां सञ्चयो नामूलको नवाऽऽकस्मिक इत्यर्थः । पुङ्गवशब्दः श्रेष्ठवचनः, तदुक्तम्—'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः' । 'साक्षात्पुण्यसमुच्छ्रया' इत्युत्प्रेक्षा ॥ १७ ॥

अरिष्ट इति० त्वष्ट्रा विश्वकर्मा तस्यापत्यं पुमान् त्वाष्ट्रः वृत्रासुरः तस्य प्रशमनविधौ शमने अरिष्टः मृत्युरूपः नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टमिति वैद्यकविदः । जम्भदमनः जम्भासुरसूदनः, विश्वेषाम् जगताम् ईशः स्वामी, मरुताम् देवानाम् निकायस्य समुदायस्य पतिः स्वामी सः प्रसिद्धः मघवा इन्द्रः बहुषु एकाधिकेषु समनीकेषु संग्रामेषु सेनाः असुरसैन्यानि विजेतारम् विजयकरम् असुरान् अपहन्तारम् विनाशयितारम् अमुम् वीरम् दशरथं वव्रे प्रार्थयामास। अयमाशयः—यो मघवा वृत्रासुरं शमितवान् जम्भासुरं समापितवान्, विश्वस्य सकलस्य देवानाञ्च पतित्वं निरवहत्सः प्रसिद्धोऽपि देवाधिपोऽसुरसेनापराभवाय विजयाय चानन्यगतिकतया दशरथं प्रार्थयामासेति देवाधिपाधिकपराक्रमोऽयमिति । 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । 'स्यान्निकायः पुञ्जराशी' इति च । 'जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः । वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः' इति भागवतमत्रानुसन्धेयम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥

सोऽयम्=दशरथः, ईदृशः=एतादृशवीरः, अनीदृशम्=स्वाननुरूपम्, अतादृशवीरम् ।

राजागण हो चुके हैं उनके उपयुक्त उत्तराधिकारी वीर क्षत्रियपुङ्गव तथा पृथिवीके प्रशंसनीय पति राजा दशरथ हैं ॥ १७ ॥

और—वृत्रासुर तथा जम्भके मारनेवाले सर्वाधीश देवेश्वर इन्द्र जिस दशरथको बहुतसे युद्धोंमें असुर संहार करनेके लिये सर्वदा सेनापति बनाते रहते हैं ॥ १८ ॥

ऐसे ये दशरथ अस्वसदृशको किस प्रकार उत्पन्न करते ? इसमें आश्चर्य क्या है ?

मरुत्वन्तं देवं य इह भगवन्तं विजयते
विजिग्ये तं राजा युधि दशमुखं हैहयपतिः ।
निहन्तारं तस्य प्रथितमहिमानं त्रिभुवने
महावीरं जित्वा किमिव तव वत्सेन न जितम् ॥ १९ ॥

दशरथः—तत्किमित्यद्य द्विधा विभज्यते लोकः ।

विश्वामित्रः—एष वत्सो रामभद्रः सजामदग्न्य इत एवाभिवर्तते ।

य एषः—

वीरश्रिया च विनयेन च शोभमानो मान्ये मुनाववनतश्च गुणोन्नतश्च ।

मरुत्वन्तमिति० यो दशमुखः इह भुवने भगवन्तं सर्वसामर्थ्यवन्तं देवम् मरुत्वन्तम् इन्द्रम् विजयते पराभवति तं दशमुखम् हैहयपतिः कार्त्तवीर्यार्जुनो राजा युधि युद्धे विजिग्ये परास्तं चकार । तस्य रावणविजयिनः कार्तवीर्यस्य निहन्तारम् मारयितारम् प्रथितमहिमानम् एकविंशतिकृत्वः क्षत्रजातिकदनेन प्रख्यातमाहात्म्यम् त्रिभुवने लोकत्रये महावीरम् सर्वाधिकपराक्रमम् परशुरामम् जित्वा तव वत्सेन लालनीयेन रामेण किमिव न जितम्, सर्वमेव जितमित्यर्थः । 'इन्द्रो मरुत्वान्मघवा' इत्यमरः । सर्वाधिकबलत्वेन ख्यात इन्द्रो रावणेन जितस्तमपि कार्त्तवीर्यो जिगाय सोऽपि परशुरामेण जितस्तस्यापि पराजयो रामेण विहितस्तदा रामेण सर्वमेव जितमित्यर्थः फलितः ॥ शिखरिण्येव वृत्तम् ॥ १९ ॥

द्विधा विभज्यते = पार्श्वयोः स्थित्वा मार्गप्रदानेन द्विधा भिद्यते, कोऽयमायाति यस्य कृते मार्गप्रदानाय लोको द्विधा भवति, एतदत्र पृष्टं बोध्यम् ।

वीरश्रियेति० वीरश्रिया शौर्यसमृद्ध्या विनयेन नम्रतया च शोभमानः शोभायुक्तः मान्ये ब्राह्मणत्वाद् वृद्धत्वाज्ज्ञानित्वाच्चादरणीये मुनौ परशुरामे अवनतः भक्त्या नम्रः गुणैः पराक्रमादिभिः उन्नतः उत्कृष्टश्च गुरौ विद्यादातरि कृतप्रथमापचारः प्राग्विहितापराधः शिष्यः इव हृतवीरदर्पे दूरीकृतपराक्रममदे भृगुपतौ परशुरामे

जिस रावणने देवाधीश इन्द्रको परास्त कर दिया, उसे हैहयाधीश कार्त्तवीर्यार्जुनने जीत लिया और उसको मारकर पृथिवी पर अपना महत्त्व विस्तार करनेवाले महावीर परशुरामको जीतकर तुम्हारे पुत्रने किसे नहीं जीत लिया है ? ॥ १९ ॥

दशरथ—आज यह पृथिवी फटी क्यों जारही है ?

विश्वामित्र—जामदग्न्यके साथ वह रामचन्द्र इधर ही आरहे हैं, जो—

वीरलक्ष्मी तथा नम्रतासे शोभित, मान्य मुनिके प्रति आदरावनत तथा गुणोंसे उन्नत

लज्जां वहन्भृगुपतौ हृतवीरदर्पे शिष्यो गुराविव कृतप्रथमापचारः ॥२०॥

(ततः प्रविशतो रामजामदग्न्यौ)

रामः—

यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात्कृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते॥२१॥

जामदग्न्यः—अपराद्धं किं त्वया जामदग्न्यस्य । ननूपकृतम् ।

पुण्या ब्राह्मणजातिरन्वयगुणः श्लाघ्यं चरित्रं च मे
येनैकेन हृतान्यमूनि हरता चैतन्यमात्रामपि ।

(तद्विषये) लज्जां शालीनतां वहन् धारयन् (राम इतः अभिवर्त्तत इति शेषः) राम इत आगच्छति यो वीरलक्ष्म्या नम्रतया च सनाथः परशुरामविषये नम्रो गुणैश्च कम्रः, शिष्यो यथा गुरौ प्राग् विहितापराधः सन् गुरोर्लज्जते तद्वदयमपि परशुरामवीर-दर्पहरणाद्धेतोस्तद्विषये लज्जां दधदिव प्रतीयत इत्याशयः ॥ २० ॥

यद्ब्रह्मेति० ब्रह्मवादिभिः वेदान्तवेद्यपरमात्मविषयकज्ञानशालिभिः उपासितौ परिचारितौ वन्द्यौ प्रणामार्हौ पदौ चरणौ यस्य तादृशे विद्यातपोव्रतनिधौ ज्ञान-तपस्यानियमानामक्षयाधारे त्वयि परशुरामे दैवात् विधिवशात् मया रामेण विनया-पचारः अविनयः कृतः, तत्र तद्विषये प्रसीद ममाविनयं क्षमस्व, अयम् ते तुभ्यम् अञ्जलिः । 'अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी' इत्युक्तेरिदं समर्थ्यम् ॥ २१ ॥

अपराद्धम् किम् ? = कोऽपराधः कृतः ? न कोऽपीत्यर्थः । ननूपकृतम् = प्रत्युतो-पकार एव कृतः । उपकार एव कृतो नापकार इत्युक्तं समर्थयितुं पुण्येत्यादि-श्लोकमभिधास्यति ।

पुण्येति० वत्स ! राम ! चैतन्यमात्राम् सम्यग्ज्ञानस्य लेशम् अपि हरता नाशयता येन एकेन असहायेन दर्पामयेन गर्वरूपेण व्याधिना—पुण्या पवित्रा ब्राह्मणजातिः,

---

हैं, स्वद्वारा पराजित परशुरामके प्रति उसके हृदयमें वैसा ही सङ्कोच है, जैसे शिष्यको गुरुके साथ अभद्रता करनेपर शिष्यके हृदयमें होता है ॥ २० ॥

(राम तथा परशुरामका प्रवेश)

राम—ब्रह्मवादी ऋषिगण आपके चरणोंकी वन्दना किया करते हैं, आप विद्या तथा तपस्यामें वरिष्ठ हैं, भाग्यवश मैंने आपके प्रति जो अविनय व्यवहार किया, उसके लिये मैं करबद्ध क्षमा याचना करता हूँ, आप क्षमा करें और प्रसन्न हों ॥ २१ ॥

जामदग्न्य—आपने परशुरामका बिगाड़ा क्या है ? प्रत्युत आपने तो उपकार किया है—हमारे चैतन्यका हरण करके—ब्राह्मणजातिकी पवित्रता, वंशगौरव तथा श्लाघ्य

एकः सन्नपि भूरिदोषगहनः सोऽयं त्वया प्रेयसा
वत्स ब्राह्मणवत्सलेन शमितः क्षेमाय दर्पामयः ॥ २२ ॥

रामः—कथं नापराद्धं मया? यदायुधपरिग्रहं यावदारूढो दुर्योगः।

जामदग्न्यः—एष एव न्याय्यः।

असाध्यमन्यथा दोषं परिच्छिद्य शरीरिणः।
यथा वैद्यस्तथा राजा शस्त्रपाणिर्भविष्यति ॥ २३ ॥

अन्वयगुणः वंशपरम्परायातोऽमानित्वादिगुणः, मे मम श्लाघ्यम् दोषास्पृष्टतया स्तुत्यम् चरित्रम्, अमूनि जातिगुणचरित्राणि—हृतानि नाशितानि। सोऽयम् दर्पामयः एकः सन्नपि भूरिदोषगहनः नानाविधक्रोधमात्सर्यादिभिर्दोषैर्दुरासदः, ब्राह्मणवत्सलेन विप्रजातिशुभचिन्तकेन प्रेयसा मम प्रियतरेण त्वया शमितः नाशितः। अयम्मम महानुपकारो विहितो यद्दर्पो नाशितः, स हि दर्पो व्याधिरिव मम चेतनामेव प्रागहरत्, ततश्च जातिगुणचरित्राण्यहरत्, एकोऽप्यसौ दर्पव्याधिः स्वजन्यैः क्रोधादिभिर्दोषैरत्यन्तदुरासदत्वभितोऽतस्तन्नाशो मम महानुपकार इति रोगोऽपि प्राक् चेतनां विघटयति ततो वातपित्तकफान् विश्रृङ्खलयति स्वोत्पाद्यविकारैरधृष्यत्वं च भजत इति बोध्यम्। असौ जातिः, असौ गुणः, अदः चरित्रम् इतीमानि अमूनि 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इत्येकशेषः, 'त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि' इति नपुंसकैकशेषः। 'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२ ॥

कथं नापराद्धम्=अपराधः कथं न कृतः, आयुधपरिग्रहम्=शस्त्रग्रहणम्। दुर्योगः=दुर्भाग्यम्। दुर्भाग्यवशाद् भवादृशे पूज्येऽपि मयाऽऽयुधपरिग्रहः कृतस्तदवश्यं मयाऽपराधः कृत इति भावः।

एषः=आयुधपरिग्रहः। न्याय्यः युक्तः। प्रकारेणान्येन मम दर्पामयस्य शमयितुमशक्यतया भवदस्त्रग्रहणं युक्तमेवेत्याशयः।

असाध्यमिति० यथा वैद्यः चिकित्सकः शरीरिणः देहिनः दोषम् कायिकदोषोपचितम् व्रणादि अन्यथा शस्त्रग्रहणातिरिक्तमार्गेण असाध्यम् निर्हर्तुमशक्यम् परिच्छिद्य निश्चित्य शास्त्रपाणिः व्रणशोधकच्छेदकाद्यस्त्रयुतकरः भविष्यति तथा राजा शरीरिणः

आचरणको—अकेले होकर भी अनन्त दोषोंसे पूर्ण जिस दर्पव्याधिने छीन लिया था, ब्राह्मणप्रिय होनेके कारण आपने हमारी भलाईके लिये उसे शान्त किया ॥ २२ ॥

राम—अपराध कैसे नहीं किया जब कि अस्त्र तक उठानेकी दुश्चेष्टा की।

जामदग्न्य—यही उचित था—

शरीरियोंमें जब दोषका शमन किसी अन्य प्रकारसे नहीं होता दीख पड़ता है तब राजाको वैद्यकी तरह अस्त्रप्रयोग करना ही होता है ॥ २३ ॥

रामः—कोऽहमुक्तिप्रत्युक्तिकायां भगवता। तस्मादित इतो भगवन्!

जामदग्न्यः—क्व पुनर्मया वत्स! गन्तव्यम्।

रामः—यत्र तातश्च तातजनकश्च। अथवा शान्तम्। यत्र भगवन्तौ मैत्रावरुणकौशिकौ।

जामदग्न्यः—इदमिदानीमशक्यम्। अनतिक्रमणीयो रामनिदेशः। (परिक्रम्य)

स एष रामः सौम्यत्वादचण्डश्चण्डशासनः।
यस्य प्रतिष्ठितं जैत्रं जामदग्न्येऽपि शासनम्॥ २४॥

दोषम् अकृत्यकरणकृत्याकरणरूपमविवेकम् अन्यथा शस्त्रग्रहणातिरिक्तहितोपदेशादिना असाध्यम् अनपाकृत्यम् परिच्छिद्य निर्धार्य शस्त्रपाणिः दमनार्थमुद्यतायुधो भविष्यति। उपमालङ्कारः। स्पष्टमन्यत्॥ २३॥

उक्तिप्रत्युक्तिकायाम्=वाकोवाक्ये। उक्तिश्च प्रत्युक्तिश्च यस्यां क्रियायां सा उक्तिप्रत्युक्तिका। मयूरव्यंसकादित्वात्समासः। उत्तरप्रत्युत्तरकरणे भवता सदृशो नाहं भवामीति भावः।

तातः=दशरथः। तातजनकश्च=जनकरूपः पिता च। जनकस्य भार्यां सीतां प्रतिजनकत्वाद्रामताततत्वम्। शान्तम्=अनुचितमुक्तं निवर्त्तताम्। क्षत्रिययोर्जनकदशरथयोर्ब्रह्मर्षिणोपगमनस्यायुक्ततया पूर्वोक्तस्यानुचितत्वमनुसन्धाय शान्तमित्युक्तम्। मैत्रावरुणकौशिकौ=वसिष्ठविश्वामित्रौ। अनयोर्विद्यातपोऽधिकत्वाद् वृद्धत्वाद् ब्राह्मणत्वाच्चोपगम्य नोचितेति भावः।

इदमिदानीमशक्यम् =पूर्वम्मयाऽधिक्षिप्तयोर्जनकदशरथयोर्वसिष्ठविश्वामित्रयोर्वा समीपगमनम् इदानीं मम परिभवकालेऽशक्यम्, दुष्करमिति भावः। रामनिदेशः= रामाज्ञा। अनतिक्रमणीयः=अलङ्घनीयः।

स एष इति० सौम्यत्वात् सुकुमारदर्शनत्वात् अचण्डः अनुद्वेगकरः (किन्तु) चण्डविक्रमः प्रचण्डपराक्रमः स एष रामः दाशरथिः, यस्य जैत्रम् जयशीलम् शासनम्

राम—मैं आपके साथ शास्त्रार्थ कैसे कर सकता हूं। आप इधर चलें।

जामदग्न्य—मुझे कहाँ चलना होगा?

राम—जहाँ पिताजी तथा जनक हैं अथवा नहीं-नहीं, जहाँ भगवान् वसिष्ठ तथा विश्वामित्र हैं।

जामदग्न्य—अब यह असम्भव है, रामकी आज्ञा टाली नहीं जा सकती (घूमकर)।

यह राम सौम्य होनेके कारण अनुग्र होकर भी अतिकठोर शासनवाला है, जिनका विजयी शासन आज जामदग्न्यपर भी लागू हो रहा है॥ २४॥

राजानौ—अतिगम्भीरः सौजन्योद्गारः ।

रामः—एष वो रामशिरसा प्रणामपर्यायः ।

सर्वे—एह्येहि वत्स ! (इति परिष्वजन्ते)

जामदग्न्यः—भगवन् मैत्रावरुण ! एष जमदग्निपुत्रः प्रणम्य कौशिकेन सार्धमत्रभवतो विज्ञापयति ।

वृद्धातिक्रमसंभृतस्य महतो निर्णिक्तये पाप्मनः
प्रायश्चेतनमादिशन्तु गुरवो रामेण दान्तस्य मे ।
प्राग्धर्मस्य भवन्त एव हि परं द्रष्टार आसन् गुरो
र्लब्ध्वा ज्ञानमनेकधा प्रवचनैर्मन्वादयः प्राणयन् ॥ २५ ॥

सामर्थ्यम् जामदग्न्ये मादृशे परानवस्कन्दनीये परशुरामेऽपि प्रतिष्ठितम् विरूढम् । अन्येषु तच्छासनस्याप्रतिहतत्वे किं वक्तव्यमित्यर्थापत्तिलभ्यम् ॥ २४ ॥

अतिगम्भीरः = अक्षोभ्यसौहार्दमूलकः । सौजन्योद्गारः सुशीलताऽऽविष्करणम् ।

कौशिकेन सार्द्धम्=विश्वामित्रेण सह इयं कर्मसहोक्तिः, 'जमदग्निपुत्रः' इति पितृनामग्रहणं मयि दुष्टेऽपि मत्पिता भवद्भिरनुरोध्य इति भवतामनुग्रहःस मुचित इति व्यञ्जयति ।

वृद्धातिक्रमेति० हि यतः मन्वादयः मनुप्रभृतयो भवन्त एव गुरवः उपदेष्टारः प्राक् पुराकाले धर्मस्य कर्त्तव्यताऽकर्त्तव्यतानिर्णयस्य परम् तत्त्वम् ·द्रष्टारः साक्षात्कारकाः आसन् अभवन्, गुरोः ब्रह्मणः अनेकधा नानाप्रकारकम् ज्ञानम् लब्ध्वा प्रवचनैः संहितारूपैः प्राणयन् धर्मस्य तत्त्वं निबद्धवन्तश्च अतः रामेण दाशरथिना दान्तस्य निगृहीतस्य मे मम वृद्धातिक्रमसंभृतस्य भवादृशज्येष्ठजनावमाननासमुद्भूतस्य महतः चिरभोग्यस्य पाप्मनः पापस्य निर्णिक्तये शुद्धये प्रायश्चेतनम् प्रायश्चित्ताख्यम् शुद्धिकरं कर्म आदिशन्तु आज्ञापयन्तु । यतो मन्वादयो भवन्त एव सर्गादौ धर्मस्य तत्त्वं साक्षात्कृतवन्तः, यतश्च भवन्त एव मन्वादयो ब्रह्मणः सकाशाद्धर्मं ज्ञात्वा

राजगण—यह सौजन्यप्रकाशन अतिगम्भीर है ।

राम—राम आपको बार-बार प्रणाम करता है ।

सभी—आओ बेटा ! आओ । (गले लगते हैं)

जामदग्न्य—महाराज वसिष्ठ ! जमग्निपुत्र मैं प्रणामोपरान्त विश्वामित्रके साथ आपसे प्रार्थना करता हूं—

वृद्धोंके अनादरसे उत्पन्न पापकी शुद्धिके लिये आप प्रायश्चित्तका उपदेश कर, रामने हमारा निग्रह कर दिया है । पहले पहल आप ही धर्मके द्रष्टा हुए थे, आप ही से ज्ञान पाकर मनु आदिने अनेक प्रकारकी स्मृतियाँ बनाईं ॥ २५ ॥

वसिष्ठः—वत्स ! अद्य नः श्रोत्रियाणां कुले जातोऽसि ।

दुर्विनीते त्वयि वयं दुःखिताः सुखिनोऽन्यथा ।
निसर्गो ह्येष वृद्धानां यत्तु श्रेयस्तथैव तत् ॥ २६ ॥

तत्परिपूत एवासि ।

विश्वामित्रः—वत्स ! अपहतं ते विद्मः पाप्मानं रामभद्रेण । यतः प्राय-

लोकानुजिघृक्षया संहिताः प्राणयन्, अतो रामेण निगृहीतस्य मम वृद्धातिक्रमजन्य-विशालपापस्य प्रायश्चित्तमादेष्टुं भवन्त एव क्षमा इत्याशयः । द्रष्टार इत्यस्य तृन्नन्ततया परमित्यत्र द्वितीयैव न षष्ठी । 'निर्णिक्तये' इत्यत्र 'णिजिर् शौचे' इत्यतो भावे क्तिन् । 'प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम्' इति प्रसिद्धम् । यद्यपि 'प्रायस्य चित्तिचित्तयोः' इति सुट् चित्तचित्त्योरेव विहितः तथापि पारस्करादेराकृतिगणत्वात् तत्समानार्थकचेतनशब्देऽपि सुडागम उपपाद्यः । अतएव मुरारिरपि प्रायुङ्क्त—'प्रायश्चेतयाञ्चक्रे' । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २५ ॥

अद्य = अनुतापेन प्रायश्चित्तान्वेषणकाले । श्रोत्रियाणाम् = वेदाध्यायिनाम्, तादृशानां कुले गृहीतजन्माना नोद्धतमाचरन्ति, कृत्वापि वा पश्चात्तपन्ति, तदद्य तथाचरतस्तव श्रोत्रियकुलजातत्वं सिद्ध्यतीति तात्पर्यम् ।

दुर्विनीत इति० त्वयि दुर्विनीते सति सज्जनोचिताचारत्यागेन समुद्धते सति वयम् कुलवृद्धाः दुःखिताः, अन्यथा त्वयि विनीते सुखिनः प्रसन्नाः जाताः स्म इति शेषः । एषः स्ववंश्येषु दुर्विनीतेषु दुःखित्वं विनीतेषु सुखित्वं च वृद्धानाम् ज्ञानवयःशीलैः प्रकृष्टानां निसर्गः स्वभावः । यत्तु श्रेयः तत्तथैव, त्वदुक्तरीत्या सानुतापस्य तव प्रायश्चित्तं सुसाध्यमेवेत्याशयः ॥ २६ ॥

ते = तव जामदग्न्यस्य । पाप्मानम् = पापम् । अपहृतम्=विनाशितम् । एनसः= पापस्य । निष्क्रयम् = शुद्धिम् । आमनन्ति = बहुशो वदन्ति । धर्माचार्याः = धर्मस्य व्याख्यातारः । यथा चान्द्रायणादिरूपप्रायश्चित्तेन पापं नश्यति तद्वद्राजदण्डेनापि पापं नश्यति तत्तव पापं राजदण्डेन नाशितमतो नास्ति प्रायश्चितस्य प्रयोजनमिति भावः । अत्र मनुः—'राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्ग-

वसिष्ठ—बेटा ! आज ही तुम हम श्रोत्रियोंके कुलमें वस्तुतः उत्पन्न हुए हो ।

तुम्हारे अविनयसे हम दुःखी थे, आज सुखी हैं, यह वृद्धोंका स्वभाव है, जो कल्याणकर होगा वह वैसा ही रहेगा ॥ २६ ॥

तुम पवित्र ही हो, प्रायश्चित्तकी कोई आवश्यकता नहीं ।

विश्वामित्र—भाई ! मैं समझता हूँ तुम्हारे पापको रामभद्रने दूरकर दिया, क्योंकि

श्चित्त इव राजदण्डेऽप्येनसो निष्क्रयमामनन्ति धर्माचार्याः, किं पुनरत्रभवान् वसिष्ठः प्रजापालसन्निधौ प्रशास्ति।

रामः—एतानि भगवतां साक्षात्कृतब्रह्मणामृषीणां प्रसन्नगम्भीरपावनानि वचनानि।

दशरथः—भगवञ्जामदग्न्य !

निसर्गतः पवित्रस्य किमन्यत्पावनं तव।
तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥ २७॥

जामदग्न्यः—भगवति वसुंधरे ! प्रसीद रन्ध्रदानेन।

मायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा' इति। अत्रभवान् = पूज्यः। प्रजापालसन्निधौ = राजसमीपे। राजनि धृतदण्डे वसिष्ठकर्तृकप्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थक इति भावः।

एतानि = परिपूत एवासीत्यादीनि। भगवताम् = सामर्थ्ययुक्तानाम्। साक्षात्कृतब्रह्मणाम् = विदितपरमात्मतत्त्वानाम्। ऋषीणाम्=मन्त्रद्रष्टृणामतश्च सत्यवचसाम्। प्रसन्नगम्भीरपावनानि = प्रसन्नानि=संशयच्छेदकानि, गम्भीराणि = अक्षोभ्याणि अदूषणीयानि, पावनानि = श्रवणमात्रेणापि पापहराणि।

निसर्गत इति॰ निसर्गतः स्वभावतः पवित्रस्य विशुद्धस्य तव अन्यत् अपरम् पावनम् प्रायश्चित्तादि किम् ? न किमपि शुद्धिकृतेऽपेक्ष्यत इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह—तीर्थोदकमिति॰ तीर्थोदकञ्च पुण्यक्षेत्रवारि च वह्निश्च अन्यतः अपरस्मात् न शुद्धिम् पवित्रताम् अर्हतः लभेते, यथा तीर्थोदकपावकयोः पवित्रता स्वाभाविकी तथा तवापि, नातः शोधकान्तरमपेक्ष्यमिति यावत्॥ २७॥

वसुन्धरे = पृथिवि। प्रसीद = दयां कुरु। रन्ध्रदानेन=विवरप्रदानेन। यद्यप्यहं विगतपापस्तथापि कार्याभावात् क्वचन विविक्ते स्थले स्थातुमिच्छामि, तदर्थं स्वान्तर्विवरप्रदानकृपां कुरुष्वेति भावः।

प्रायश्चित्तकी तरह राजदण्डको भी धर्माचार्योंने शुद्धिका कारण कहा है। फिर यहाँ तो राजाके पास ही भगवान् वसिष्ठ भी धर्मोपदेश कर रहे हैं।

राम—ये ब्रह्मज्ञानी ऋषियोंके प्रसन्न गम्भीर तथा पवित्र वचन हैं।

दशरथ—भगवन् परशुराम !

आप स्वभावतः पवित्र हैं, आपको दूसरी शुद्धियोंकी क्या आवश्यकता है, तीर्थजल तथा आगकी शुद्धि दूसरी चीजसे नहीं हुआ करती है॥ २७॥

जामदग्न्य—भगवति पृथ्वि ! विवरप्रदान कर कृपा करो।

जनकः—भगवन्! यदि प्रसन्नोऽसि तद्विस्रब्धोपवेशनात्परिपुनीहि नो गृहान् एतत्पूतमासनं भगवतः।

जामदग्न्यः—यदभिरुचितं सूर्यशिष्यान्तेवासिने राजन्यश्रोत्रियाय।

(सर्वे उपविशन्ति)

दशरथः—

जनपदबहिर्निष्ठा यूयं गृहस्य परिग्रहा-
द्वयमपि निजैर्व्यग्राः कार्यैस्ततो न बभूव यः।
स इह भवतामाद्यास्माभिर्मनोरथवाञ्छितः
सुचरितपरीपाकात्प्राप्तश्चिरस्य समागमः॥ २८॥

प्रसन्नः = अस्मासु कृतप्रसादः। विस्रब्धोपवेशनात् = विश्वस्तभावेनासनग्रहणात्। परिपुनीहि = पवित्रीकुरु।

सूर्यशिष्यान्तेवासिने = याज्ञवल्क्यशिष्याय। राजन्यश्रोत्रियाय = क्षत्रजातयेऽपि वेदविदे राजर्षये इति यावत्।

जनपदेति० यूयं जनपदबहिर्निष्ठाः लोकालयबहिर्भूतारण्यवासिनः, वयमपि गृहस्य परिग्रहात् गृहमेधित्वात् निजैः स्वीयैः कार्यैः प्रजापालनादिभिः व्यग्राः अलब्धावकाशाः इति हेतोः ततः यः (समागमः) न बभूव न जातः, सः अस्माभिः मनोरथैः उत्कण्ठाभिः वाञ्छितः अभिलषितः भवताम् अस्माभिः समागमः सुचरितपरीपाकात् पुण्योदयात् चिरस्य चिरकालानन्तरम् अद्य प्राप्तः लब्धः। 'व्यग्रो व्यासक्त आकुले' इत्यमरः। भवन्तो वनवासप्रियाः प्रजापालनादिस्वकार्यव्यग्राश्च वयमिति हेतोर्यो भवता सहास्माभिः समागमोऽद्यावधि नाभवदद्य नः सुकृतोद्रेकात् चिरकालप्रतीक्षितः सः समागमः प्राप्त इति भावः। हरिणीवृत्तम् ॥ २८ ॥

जनक—महाराज! यदि आप हमपर प्रसन्न हैं तो कृपया स्थिरसे बैठकर हमारे घरको पवित्र करें, यह आपका पवित्र आसन है।

जामदग्न्य—याज्ञवल्क्यके शिष्य राजर्षिकी जैसी आज्ञा।

(सभी बैठते हैं)

दशरथ—आप वनमें रहा करते हैं और हम घरवारी होनेके कारण अपने कार्योंमें व्यस्त रहते हैं, इसलिये आपके समागमसे हम वञ्चित रहे, आज हमारे पुण्य परिपाकसे चिर प्रतीक्षित और वाञ्छित वह आपका समागम प्राप्त हुआ॥ २८॥

अत्र च—

का ते स्तुतिः स्तुतिपथादतिवृत्तधाम्नः किं दीयतामविकलक्षितिदायिनस्ते।
शान्तस्य किं परिजनेन मुनेस्तथापि पुत्रैः समं दशरथोऽद्य वशंवदस्ते॥

जामदग्न्यः—यूयमीदृशा इति किमाश्चर्यम्।

प्रेद्धं धाम यमामनन्ति मुनयः सोऽयं निधिर्ज्योतिषां
देवो वः सविता कुलस्य किमतो भूत्यै प्रशंसापदम्।
यज्वानः परमार्थराजऋषयस्ते यूयमिक्ष्वाकवो
येषां वेद इवाप्रमेयमहिमा धर्मे वसिष्ठो गुरुः॥ ३०॥

का ते स्तुतिरिति० स्तुतिपथात् स्तवनपद्धतेः अतिवृत्तम् अतीतम् धाम तेजो यस्य तस्य स्तुतिवर्त्मबहिर्गततेजसः ते तव का स्तुतिः? अविकलक्षितिदायिनस्ते समग्रधरामण्डलदातुस्तव किं दीयताम्? त्वं न स्तुतेर्योग्यो नापि दानस्य पात्रम्, आद्येऽशक्यत्वादन्त्ये च स्वयमेव सर्वाधिकदातृत्वादित्यर्थः। मुनेः मननशीलस्य शान्तस्य तव नियमितमनस्कतया वैषयिकसुखपराङ्मुखत्वे परिजनेन किम् न किमपि फलम्। तथापि स्तुतिदानपरिजनानपेक्षत्वेऽपि पुत्रैः समम् सपुत्रः दशरथः अद्य ते तव दासः आज्ञाकरः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ २९॥

ईदृशाः = इत्थं ब्राह्मणभक्ता नम्राश्च। किमाश्चर्यम् = नाश्चर्यं किन्तु सर्वथा सम्भावितमित्यर्थः।

प्रेद्धमिति० मुनयः तत्त्वानुशीलानपराः यम् सूर्यम् प्रेद्धम् दीप्तम् धाम तेजः आमनन्ति समधिकश्रद्धयाऽधीयते सोऽयम् ज्योतिषाम् तेजसाम् निधिः अक्षयाधारः देवः भास्करः वः कुलस्य युष्मद्वंशस्य सविता जनयिता, अतः अस्मादधिकम् भूत्यै सम्पदे किं प्रशंसापदम् स्तुतिस्थानम्। सूर्यो वः कुलस्य जनयितेत्येव युष्माकं सम्पदे परमं प्रशंसास्थानं नातः परमवेक्ष्यते किमपि प्रशंसापदमित्यर्थः। येषाम् युष्माकम् वेदः इव अप्रमेयमहिमा निरवधिमहत्त्वः वसिष्ठः धर्मे नित्यनैमित्तिकाद्य-

स्तुतिपथातीत तेज होनेके कारण आपकी क्या स्तुति की जाय? आप जब समस्त पृथ्वीका दानकर चुके हैं तब आपको क्या दिया जाय? आप शान्त हैं इसलिये आपको परिजनकी भी आवश्यकता नहीं है, फिर भी पुत्रोंके साथ यह दशरथ आज आपका दास है॥ २९॥

जामदग्न्य—आप ऐसे हैं इसमें आश्चर्य क्या है?

मुनिजन जिसे दीप्त तेज बताते हैं वह सूर्य आपके कुलके प्रवर्त्तक हैं इससे बढ़कर प्रशंसा क्या हो सकती है? इक्ष्वाकु सदासे यज्वा तथा वास्तविक राजर्षि होते आए हैं जिनके धर्मोपदेशक वेदोपम वसिष्ठ हैं॥ ३०॥

अपि च—

सङ्ग्रामेष्वभयप्रदं दिविषदां भर्तुर्धनुः शासनं
सप्तद्वीपनिविष्टयूपयजनश्रेण्यङ्किता भूमयः।
शश्वत्कीर्तिनिबन्धनं भगवती भागीरथी सागरः
प्रख्यातानि च तानि तानि भवतां भूमानमाचक्षते॥ ३१ ॥

वसिष्ठविश्वामित्रौ—(अपवार्य) एतद्धि शिक्षितं वत्सेन।

जामदग्न्यः—रामभद्र ! अनुमोदस्व मामरण्यगमनाय।

लौकिकश्रेयःसाधने गुरुः उपदेशकः ते तथाभूताः परमार्थराजऋषयः यथार्थराजर्षित्वयुता इक्ष्वाकवो यूयम्। इक्ष्वाकुवंश्यानां युष्माकं सूर्यो जन्मना गुरुः विद्यया च वसिष्ठो गुरुस्तदुभयविधशुद्धिसमृद्धानां युष्माकं ब्राह्मणवशंवदत्वं नाश्चर्यमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ३० ॥

सङ्ग्रामेष्विति० **दिविषदाम् देवानाम् भर्तुः इन्द्रस्य संग्रामेषु युद्धेषु अभयप्रदम् अभीतिजननम् धनुः चापम्, शासनम् केनाप्यनुल्लङ्घनीया आज्ञा, सप्तसु द्वीपेषु जम्बूद्वीपादिषु निविष्टाः स्थिताः ये यूपाः पशुनियोजनार्थदारूणि त एव यजनानि अनुष्ठानस्थलानि तैः अङ्किताः चिह्निताः भूमयः, शश्वत्कीर्तिनिबन्धनम् सनातनकीर्त्तिहेतुः भगवती पूज्या भागीरथी, सागरः सगरवंश्यैः खातः समुद्रश्च। प्रख्यातानि प्रसिद्धानि तानि तानि नानाविधान्याश्चर्यकार्याणि भवताम् इक्ष्वाकुवंश्यानाम् भूमानम् महत्त्वम् आचक्षते कथयन्ति। येन भवान् युद्धेषु शक्रमुपकुरुते तद्धनुर्भवतां महत्त्वमाह, क्वचिदप्यस्खलिता भवदाज्ञा भवतां महत्त्वमाह, भवद्भिर्विहितानां यागानां यूपपरम्परा सप्तसु द्वीपेषु प्रसृता भवतां कीर्त्तिमाह, भवद्वंश्येन भगीरथेन धरण्यामानीता भगवती भागीरथी भवतां महत्त्वमाह, भवत्पूर्वजैः सगरैः खातश्च सागरो भवतां कीर्त्तिमाहेत्याशयः॥ ३१ ॥**

एतत् = क्षत्रियान्तकस्य क्षत्रियगुणश्लाघनम्। वत्सेन = रामेण। शिक्षितम् = परशुरामाय ज्ञापितम्। रामस्यायं प्रभावो यत्परशुराम एवं क्षत्रियान् स्तौतीत्याशयः। अनुमोदस्व = अनुमतिप्रदानेन प्रीयस्व।

युद्धमें इन्द्रको अभय देनेवाला धनुष, अप्रतिहत शासन, यज्ञयूपसे चिह्नित सप्तद्वीप भूमि, कीर्त्तिपताकारूप गङ्गा तथा सागर ये प्रख्यात वस्तुगण आपकी महत्ताके बतानेवाले हैं॥ ३१ ॥

वसिष्ठ-विश्वामित्र—(छिपाकर) इतना रामने सिखा दिया।

जामदग्न्य—रामभद्र ! मुझे वन जानेकी आज्ञा दो।

विश्वामित्रः—मामप्यधुना भवन्तोऽनुजानन्तु ।

रघुजनकगृहेषु गर्भरूपव्यतिकरमङ्गलवृद्धयोऽनुभूताः ।
भृगुपतिविजयोन्नतं च वत्सं प्रियमभिनन्द्य सुखी गृहानुपेयाम् ॥३२॥

दशरथः—वत्स रामभद्र ! प्रस्थितस्ते भगवान् कौशिकः ।

विश्वामित्रः—(सास्रं राममालिङ्ग्य) अहमेव सौम्य ! न त्वां मोक्तुमुत्सहे ।

किं त्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यमपकर्षति ।
संकटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता ॥ ३३ ॥

रघुजनकेति० रघुजनकगृहेषु रघुवंश्यानां जनकानां च भवनेषु गर्भरूपाणाम् पुत्रकन्यानाम् व्यतिकराः अन्योन्यसंबन्धाः विवाहाः त एव मङ्गलानि शुभकर्माणि तैः वृद्धयः अभ्युदयाः अनुभूताः सुखजनकसाक्षात्कारविषयीकृताः । भृगुपतिविजयोन्नतं परशुरामजयेन समृद्धं प्रियं च वत्सं रामम् अभिनन्द्य आशीर्भिरभिवर्ध्य सुखी निरतिशयसुखयुक्तः सन् गृहान् सिद्धाश्रमान् उपेयाम् प्राप्नुयाम् । प्रार्थनायां लिङ्, तेनानुज्ञा याचना व्यज्यते । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

सौम्य = सोमवत्प्रियदर्शन । न त्वां मोक्तुमुत्सहे = त्वां विहाय गन्तुं नेच्छामि ।

किन्त्विति० किन्तु अनुष्ठानस्य सायंप्रातःसम्पादनीयाग्निहोत्रादिरूपविधेः नित्यत्वम् उभयोः सन्ध्ययोरवश्यसम्पादनीयत्वम् अकरणे प्रत्यवायजनकत्वञ्च स्वातन्त्र्यम् स्वेच्छया यत्रकुत्रचिदवस्थानम् अपकर्षति प्रतिषेधति । हि यतः आहिताग्नीनाम् अग्निहोत्रिणाम् गृहस्थता गृहेष्ववस्थानम् प्रत्यवायैः विघ्नैः सङ्कटा आकुला । सततं गृहकार्यव्यापृततयाऽग्निहोत्रव्याघातेन गृहस्थानामग्निहोत्रं विघ्नपूर्णमित्यर्थः । आहिताग्नयो हि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती'ति विधिनाग्नीनादधतेऽतस्ते तत्परतन्त्राः क्वचिदन्यत्र स्थातुमक्षमा अतो मयापि गन्तव्यं मनस्तु त्वां नैवोज्झतीति तात्पर्यम् ॥ ३३ ॥

विश्वामित्र—मुझे भी अब आप जाने दें ।

रघुकुल तथा जनक गृहमें बच्चोंका मङ्गलमय अभ्युदय देख लिया, अब परशुरामके विजयसे समृद्ध रामको आशीर्वाद देकर आनन्दपूर्वक घर चला जाऊँ ॥ ३२ ॥

दशरथ—बेटा राम ! तुम्हारे विश्वामित्र अब चले ।

विश्वामित्र—(रोकर रामको गले लगाकर) मैं तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता ।

किन्तु अनुष्ठानका बखेड़ा स्वातन्त्र्यका हरण कर लेता है । आहिताग्नियोंके लिये गृहस्थ होना विघ्नोंसे परिपूर्ण हुआ करता है ॥ ३३ ॥

वसिष्ठः—स्वगृहात्स्वगृहं गन्तुमागन्तुं च कामचारः।

विश्वामित्रः—भगवन्! यद्यनुरुध्यसे तदेहि सिद्धाश्रमपदमुभौ गच्छावः। त्वां पुरस्कृत्य गच्छन्मधुच्छन्दसो मातुः सत्कार्यो भविष्यामि।

वसिष्ठः—किमेतावत्यपि भवानस्मासु न प्रभवति।

राजानौ—रमणीयः पावनो ब्रह्मर्षिसंगमः।

अन्योन्यमाहात्म्यविदोरन्यैरविदितात्मनोः।
विभ्राजते विरोधोऽपि नाम स्नेहे तु का कथा॥ ३४॥

(नेपथ्ये)

एषा रामवधूर्गुरून् वन्दते।

अनुरुध्यसे = मदर्थनयाऽङ्गीकरोषि। उभौ = अहं त्वञ्च। मधुच्छन्दसो मातुः = मधुच्छन्दा विश्वामित्रपुत्रस्तस्य मातुः स्वगृहिण्याः। पूर्वं बहुशो विप्रकृतस्यानन्तरं शान्तविरोधस्य विश्वामित्रस्य ब्रह्मर्षित्वं स्वीकृतवतः पूज्यस्य वसिष्ठस्यातिथेर्लाभात्तस्याः प्रीत्यतिशयो भावी, तेन सा समधिकं मां सत्करिष्यतीति भावः॥

एतावत्यपि = सिद्धाश्रयमागमनप्रार्थनायाम्। अहं सिद्धाश्रमं चलेयमत्र प्रार्थना या भवता क्रियते सा भवदधिकार एव, अहं गन्तुं शक्नोमीति हृदयम्।

रमणीयः = मनोहरः, पावनः=पापहरः, ब्रह्मर्षिसङ्गमः=वसिष्ठविश्वामित्रमिलनम्।

अन्योन्येति० अन्योन्यमाहात्म्यविदोः इतरेतरप्रभावाभिज्ञयोः अन्यैः स्वभिन्नैः अविदितात्मनोः अज्ञातस्वरूपयोः (अनयोः वसिष्ठविश्वामित्रयोः) विरोधः विद्वेषः अपि विभ्राजते शोभते, स्नेहे परस्परानुरागे तु का कथा किं वक्तव्यम्, ययोर्विरोधोऽपि वरं तयोः स्नेहस्य शोभनत्वे किं वक्तव्यमिति भावः॥ ३४॥

वसिष्ठ—अपने घरसे अपने ही घर जाने आने में कामचार हुआ करता है।

विश्वामित्र—यदि आप कृपा करें तो सिद्धाश्रम तक हम दोनों साथ ही चलें, आपके साथ रहनेसे मधुच्छन्दसकी मांका अधिक सत्कार कर सकूंगा।

वसिष्ठ—क्या आपका मुझपर इतना भी अधिकार नहीं है?

राजगण—रमणीय तथा पावन यह ब्रह्मर्षियोंका सङ्गम है—

अन्योन्य माहात्म्य जाननेवाले तथा अन्योन्य परिचयवाले ऐसे लोगोंका विरोध भी बड़ा भला लगता है विरोधकी तो बात ही क्या? ॥ ३४॥

(नेपथ्यमें)

यह रामकी बहू आपको प्रणाम करती है।

ऋषयः—वत्से जानकि !

वीरेण ते विजयमाङ्गलिकेन पत्या वृत्रद्रुहः प्रशमितेषु महाहवेषु ।
क्षत्रप्रकाण्डगृहिणीबहुमानपूजामूर्जस्वलामपि शची मनसा करोतु ॥३५॥

रामः—(स्वगतम्) अचिरात्समूलककाषं कषितेषु राक्षसेष्वेवं स्यात् ।

ऋषयः—स्वस्त्येवमेवासतां भगवन्तः । (इत्युत्तिष्ठन्ति)

इतरे—(उत्थाय) नमो नमो वः ।

जामदग्न्यः—भगवन्तौ ! जामदग्न्योऽभिवादयते ।

वसिष्ठविश्वामित्रौ—

स्थिरस्ते प्रशमो भूयात्प्रत्यग्ज्योतिः प्रकाशताम् ।

वीरेणेति० **वीरेण असाधारणशूरेण विनयमाङ्गलिकेन विनयमङ्गलाभ्यामलङ्कृते ते तव पत्या स्वामिना रामेण वृत्रद्रुहः इन्द्रस्य महाभयेषु शत्रुकृततत्तद्भयस्थानेषु प्रशमितेषु विनाशितेषु शची इन्द्रपत्नी अपि मनसा हृदयेन तव क्षत्रप्रकाण्डगृहिणी-बहुमानपूजाम् क्षत्रियपरिवृढस्य पत्नीति हेतोरादरातिशयसंभृतां सपर्याम् ऊर्जस्व-लाम् आत्यन्तिकीम् (स्थिराम् सार्वदिकीम्) करोतु विदधातु । इन्द्रोपकारे कृते तत्पत्नी, या जगति पूज्यते, साऽपि त्वदादरं वीरपत्नीत्वेन सदा करिष्यति, इदमेवा-स्माकमाशीर्वचनमित्यर्थः ॥ ३५ ॥**

समूलकाषं कषितेषु = मूलेन सहनाशितेषु । 'निर्मूलसमूलयोः कषः' इति समूलशब्दे उपपदे कषतेर्णमुल् ।

एवमेवासताम् = प्रत्युद्गमनादिक्लेशं न कुर्वन्त्वित्यर्थः ।

स्थिर इति० **ते तव प्रशमः मनोनिग्रहः स्थिरः कारणभूयस्त्वेऽप्यप्रकम्प्यः भूयात् अस्तु, प्रत्यग्ज्योतिः स्वयंप्रकाशमात्मरूपं तेजः प्रकाशताम् । ते तव अन्तः-**

ऋषिगण—बेटी जानकी !

विजयी वीर तुम्हारे पति द्वारा इन्द्रके सभी युद्धोंके मिटा दिये जानेपर क्षत्रियश्रेष्ठकी स्त्री होनेके कारण इन्द्राणी भी तुम्हारी पूजा अपने हृदयमें करें ॥ ३५ ॥

राम—(स्वगत) शीघ्र ही सभी राक्षसोंके मारे जानेपर ऐसा हो सकेगा ।

ऋषिगण—स्वस्ति, आप लोग इसी प्रकार रहें । (उठते हैं)

और लोग—(उठकर) आप लोगको नमस्कार ।

जामदग्न्य—महाराज ! आप दोनोंको जामदग्न्य प्रमाण करता है ।

वसिष्ठ-विश्वामित्र—तुम्हारी शान्ति अचल हो, अन्तर्ज्योति प्रकाशित हो, तुम्हारे हृदयमें स्थिर शिवसङ्कल्पका उदय होवे ॥ ३६ ॥

अभिन्नशिवसंकल्पमन्तःकरणमस्तु ते ॥ ३६ ॥

(इति निष्क्रान्तौ)

जामदग्न्यः—(किंचित्परिक्रम्य स्थित्वा च) वत्स रामभद्र ! इतस्तावत् ।

रामः—(उपसृज्य) आज्ञापय ।

जामदग्न्यः—

यन्मया क्षत्रविच्छेदविश्रान्तेनापि धारितम् ।
तदेतदधुना धत्ते धनुः कारणशून्यताम् ॥ ३७ ॥

इध्मादिव्रश्चनप्रयोजनस्तु परशुः ।

पुण्यानामृषयस्तटेषु सरितां ये दण्डकायां वने
भूयांसो निवसन्ति तेषु सततं लङ्कासदो राक्षसाः ।

करणम् मनः अभिन्नशिवसङ्कल्पम् अविनाशिमङ्गलकर्विचारम् अस्तु । आशिषि लोट् लिङ् च । प्रत्यग्ज्योतिः पदं स्वयं प्रकाशात्मतत्त्वपरम् ॥ ३६ ॥

यदिति० क्षत्रविच्छेदात् क्षत्रियजातिध्वंसात् विश्रान्तेन विरतेन अपि मया यत् धनुः शरासनम् धारितम् अवलम्बितम् तत् एतत् धनुः अधुना त्वया मम दमने कृते सति कारणशून्यताम् युद्धात्मकस्य प्रयोजनस्य निवृत्तौ व्यर्थताम् धत्ते । क्षत्रियजातिवधाद्विरतोऽप्यहं भविष्यति किञ्चित्कदाचिदनेन प्रयोजनमित्यभिसन्धिमात्रेण धनुरधारयं परमधुना दान्तस्य मम बुद्धेरेव युद्धविमुखतया सर्वथा व्यर्थं तज्जातमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

इध्मादिव्रश्चनप्रयोजनः = इध्मसमित्काष्ठानां छेदनेन सार्थकः । परशुः = कुठारः ।

पुण्यानामिति० दण्डकायां वने पुण्यानाम् पावनीनां सरिताम् नदीनां तटेषु तीरेषु भूयांसः बहुतराः ये ऋषयो निवसन्ति तेषु ऋषिषु लङ्कासदः लङ्कावासिनो

(दोनों जाते हैं)

जामदग्न्य—(थोड़ा चलकर, रुककर) रामभद्र ! जरा इधर तो आना ।

राम—(समीप आकर) आज्ञा दें ।

जामदग्न्य—क्षत्रियोंके वधसे निवृत्त-सा होकर जिस धनुषको मैं लिये रहा, वह यह धनुप अब मेरे पास व्यर्थ पड़ा है ॥ ३७ ॥

कुठारसे तो लकड़ी आदि भी काटी जायगी ।

पुण्य सरोवरोंके तटपर दण्डकारण्यमें जो बहुतसे ऋषि रहते हैं उन्हें मारने, सतानेके लिये वहाँ लङ्काके राक्षस घूमा करते हैं, उनके विनाशमें इस धनुषका उपयोग हो सकता है, अतः इस धनुषके साथ इसका भार भी अब तुम्हींको सौंपता हूँ ॥ ३८ ॥

विध्वंसाय चरन्ति तत्प्रमथने त्वस्योपयोगो भवे-
त्संप्रत्येष सहामुनैव धनुषा वत्सेऽधिकारः स्थितः ॥ ३८ ॥

(इति धनुरर्पयति)

रामः—(प्रणम्य) गृहीतेयमाज्ञा ।

जामदग्न्यः—(सास्रं परिक्रम्य) आयुष्मन् ! प्रतिनिवर्तस्व ।

(इति निष्क्रान्तः)

रामः—(सबाष्पम्) गतो भगवान् भार्गवः । (विचिन्त्य) अपि नामान्येन केनचिदुपायेन दण्डकारण्यं प्रतिष्ठेय । कथं च रामप्रियाद्गुरुजनादेवं स्यात् ।

न्यस्तशस्त्रे भृगुपतौ परतन्त्रे तथा मयि ।

राक्षसाः दैत्याः विध्वंसाय विध्वंसम् कर्तुम् चरन्ति भ्राम्यन्ति, राक्षसानां वधे मारणे तु अस्य धनुषः उपयोगः उपकारकता भवेत् । (अतः) सम्प्रति अमुना धनुषा सह एषः अधिकारः राक्षसवधकर्तृत्वभारः वत्से त्वयि एव स्थितः । दण्डकारण्यप्रवाहिपुण्यसरित्तटेषु ये बहवो मुनयो वसन्ति तान् घातयितुं लङ्कावासिनो राक्षसा भ्रमन्ति, तेषां वधेऽस्य धनुषः कृतकार्यता स्यादिति हेतोस्तुभ्यं तेषां रक्षसां वधस्य भारेण सहैव धनुरिदमर्पयामि तद्गृहाणेदमिति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३८ ॥

इयमाज्ञा = राक्षसवधार्थं आदेशः । एष सञ्चितार्थप्राप्तिरूपः क्रम उक्तः ॥

अन्येन = भार्गवानुगमनातिरिक्तेन । प्रतिष्ठेय = गच्छेयम् । रामप्रियात् = रामे प्रेमयुतात् । मम गुरुजनो मयि संभृतस्नेहोऽतो मम दण्डकारण्यगमनं नानुमोदयिष्यतीति भावः । अत्र वितर्कप्रतिपादकवाक्यात्मकं रूपं नाम सन्ध्यङ्गम्, लिङ्गादभ्यूहनात्मकमनुमानं नाम च सन्ध्यङ्गमुक्तम् ।

न्यस्तेति० भृगुपतौ परशुरामे न्यस्तशस्त्रे त्यक्तायुधे तथा मयि परतन्त्रे गुरुजना-

---

(धनुष देते हैं)

राम—(प्रणाम करके) आपकी आज्ञा शिरोधार्य है ।

जामदग्न्य—(रोता हुआ चलकर) आयुष्मन् ! लौटो । (जाता है)

राम—(रोकर) भगवान् भार्गव चले गये । (सोचकर) किसी और उपायसे दण्डकारण्य जा पाता । किन्तु रामप्रिय गुरुजन ऐसा क्यों होने देंगे ।

भृगुपतिने अस्त्र त्याग दिये, मैं परतन्त्र ही ठहरा, यह क्रूर राक्षस तपस्वियोंको खूब सतावेंगे हाय ! ॥ ३९ ॥

कष्टमुत्सारिताः क्रूरैर्यातुधानैस्तपोधनाः ॥ ३९ ॥

(नेपथ्ये)

आर्य !

मध्यमायाः प्रियसखी मातुर्नो मन्थरेति या ।
सा प्राप्तेयमयोध्यायास्तत्र राम दिदृक्षया ॥ ४० ॥

रामः—साधु यदीदमस्यां प्रवृत्त्यां शिशुप्रवासदौर्मनस्यं विच्छिद्येत । तद्वत्स लक्ष्मण ! समुपसर्पय ।

(ततः प्रविशति लक्ष्मणः शूर्पणखा च)

शूर्पणखा—(स्वगतम्) आविष्टास्मि मन्थराशरीरे शूर्पणखा । वसिष्ठ-विश्वामित्रगमनेन सुसमाहितम् । अहो एष परशुरामविजयी क्षत्रियकुमारो

धीने सति क्रूरौ दारुणैः यातुधानैः राक्षसैः तपोधनाः तपस्विनो मुनयः उत्सारिताः निष्कासिताः (भवन्तीति) कष्टम् खेदावहम् । इयं चिन्ता रामस्य धर्मरक्षोत्सुकतां द्योतयति । स्पष्टमन्यत् ॥ ३९ ॥

मध्यमाया इति० हे राम ! नः अस्माकम् मध्यमाया अम्बायाः कैकेय्या मन्थरेति मन्थरा नाम या प्रियसखी सा इयम् मध्यमाम्बासखी मन्थरा तव दिदृक्षया त्वां द्रष्टुम् अयोध्यायाः प्राप्ता आगता ॥ ४० ॥

अस्यां प्रवृत्त्याम् = मन्थराऽऽहृतायां वार्त्तायाम् । शिशुप्रवासदौर्मनस्यम् = बालानां परदेशवासप्रयुक्तं दुर्मनायमानत्वम् । विच्छिद्येत = न्यूनीभवेत् । यदि मन्थराऽऽहृताभिर्वार्त्ताभिः मातॄणां सकलोऽपि समाचारोऽन्यो वा गृहवृत्तान्तो ज्ञायेत तदाऽऽवयोर्बालकयोश्चिरप्रवासजन्यं विमनायमानत्वं हीयेत, तदैवाऽस्या आगमनं साधुमन्येव हीति तात्पर्यम् ।

आविष्टा = आत्मना प्रविष्टा कृतावेशेत्यर्थः । सुसमाहितम् = कार्यं सिद्धम् ।

(नेपथ्यमें)

आर्य ! मझली मांकी प्रियसखी मन्थरा आपको देखने अयोध्यासे यहाँ आई है ॥ ४० ॥

राम—लक्ष्मण ! यदि इसके द्वारा लाई गई संदेश से यह पता चल जाय कि हमारे प्रवाससे मातायें घबड़ाती नहीं हैं तो अच्छा हो । बुलाओ ।

(लक्ष्मण तथा शूर्पणखाका प्रवेश)

शूर्पणखा—(स्वगत) मन्थराके शरीरमें प्रविष्ट हुई शूर्पणखा हूँ । वसिष्ठ तथा विश्वामित्रका चला जाना अच्छा हुआ ।

रामः । (निर्वर्ण्य) अहो समग्रसौभाग्यलक्ष्मीपरिग्रहेण लोचनरसायनं सौम्यमस्य शरीरनिर्माणम् , यदिदानीं चिरकालवैधव्यदुःखप्रमुषितसंसारसौख्यस्यापि जनस्य चारित्रं हृदये समाक्षिपति । (आविट्ठह्मि मन्थरासरीरे सुप्पणहा । वसिट्ठविस्सामित्तगमणेण सुसमाहिदम् । अह्मो एसे परसुरामविअई खत्तिअकुमारो रामो । अह्मो समग्गसोभग्गलच्छीपरिग्गहेण लोअणरसाअणं सोम्मं से सरीरणिम्माणम् , जं दाणिं चिरआलवेहव्वदुक्खप्पमुसिदसंसारसोक्खस्य वि जणस्स चारित्तं हिअए समक्खिवेदि ।)

रामः—(उपसृत्य) अयि मन्थरे ! अपि कुशलमम्बायाः ।

शूर्पणखा—कुशलं सुखं च । वत्स ! सा सदा प्रस्नुतस्तनी मध्यमा ते माता परिष्वज्याज्ञापयति—'पुत्रक ! पुरा प्रतिज्ञातौ द्वौ वरौ महाराजं ज्ञापयामि । तत्र मे विज्ञप्तिहारको भव' । एष ते तातस्य कार्यलेखः । (कुसलं सुहं अ । वच्छ ! सा सदा पण्णुदत्थणी मज्झमा दे मादा परिसज्जिअ आणवेदि—'पुत्तअ ! पुरा पडिण्णादे दुवे वरे महाराजं जाणावेमि । तत्थ मे विण्णत्तिहारओ होहि' । एसो दे तादस्स कज्जलेहो ।) (इति लेखमर्पयति)

समग्रसौभाग्यलक्ष्मीपरिग्रहेण = समस्तसौन्दर्यसमाश्रयेण । सौम्यम् = सोमवत् प्रियदर्शनम् । शरीरनिर्माणम् = वपुःसङ्गठनम् । चिरकालवैधव्यदुःखप्रमुषितसंसारसौख्यस्य = बहुकालानुवृत्तभर्तृमरणखेदेन प्रमुषितं नाशितं संसारसौख्यम् योषित्पुरुषसंसर्गकृत आनन्दो यस्य तस्य चिरलुप्तयौवनसुखस्य । चारित्रं हृदये समाक्षिपति=हृदयावस्थितं पातिव्रत्यं चालयति हृदयं कामाकुलं करोतीत्याशयः । अहो अस्य रूपं यन्मम वृद्धाया विधवायाश्च मनश्चलं करोतीत्यर्थः ।

कुशलम् = मनःप्रियम् , सुखम् = आत्मपियम् । प्रस्नुतस्तनी = पुत्रस्नेहेन

अहा ! यही परशुरामविजयी क्षत्रियकुमार राम है । अहो ! समस्त सुन्दरताका सारभाग लेकर बनाया गया आँखोंको भला लगनेवाला तथा इसका शरीर सौम्य है । इसे देखकर हमारा चरित्र डगमगाने लग गया यद्यपि चिरकालकी विधवा होनेके कारण हमारा संसार सुख खो गया है ।

राम—(समीप जाकर) अरी मन्थरा ! माताएँ अच्छी हैं ?

शूर्पणखा—हाँ अच्छी हैं, सुखसे हैं । बेटा ! स्तनोंमें दूध भरकर तथा गले लगाकर तुम्हारी मध्यमा माताने कहा है-'बेटा ! पूर्व प्रतिज्ञात दो वर महाराजसे निवेदन करना है, उसमें मेरी विज्ञप्ति महाराज तक पहुँचाना ।' तुम्हारे पिताका यही आज्ञापत्र है ।

(लेख अर्पित करती है)

लक्ष्मणः—(गृहीत्वा वाचयति)
'अस्त्वेकेन वरेण वत्सभरतो भोक्ताधिराज्यस्य ते
यात्वन्येकेन विहाय कालहरणं रामो वनं दण्डकाम्।
तस्यां चीरधरश्चतुर्दशसमास्तिष्ठत्वसौ तं पुनः
सीतालक्ष्मणमात्रकात्परिजनादन्यो न चानुव्रजेत्॥ ४१॥
रामः—अहो प्रसादोत्कर्षः!
तत्रैव गमनादेशो यत्र पर्युत्सुकं मनः।
न चेष्टविरहो जातः स च वत्सोऽनुजोऽनुगः॥ ४२॥

चारप्रस्नवयुक्तकुचा। परिष्वज्य = आलिङ्ग्य। सर्वमिदं स्नेहद्योतनार्थम्। विज्ञप्तिहारकः = विज्ञापनाप्रापकः। कार्यलेखः = कार्यज्ञापको लेखः।

अस्त्वेकेनेति० एकेन पुरा दत्तयोर्द्वयोर्वरयोः प्रथमेन वरेण वत्सभरतः पुत्रो भरतः ते तव अधिराज्यश्रियः राजलक्ष्म्याः भोक्ता अधिकारी अस्तु जायताम्। अन्येन द्वितीयेन वरेण कालहरणं विहाय कालक्षेपमकृत्वा शीघ्रम् रामः दण्डकां वनम् दण्डकाख्यमरण्यं यातु गच्छतु। तस्यां दण्डकायां चीरधरः वल्कलपरिधानः असौ रामः चतुर्दशवर्षाणि तिष्ठतु। पुनः तं रामम् सीतालक्ष्मणमात्रकात् परिजनात् अन्यः सीतालक्ष्मणौ विहाय तृतीयः कोऽपि परिजनश्च नानुव्रजेत् नानुगच्छेत्। एको वरः—भरतः पितृदत्तराज्याधिकारी स्यादिति द्वितीयश्च रामो दण्डकारण्ये चीरवासाश्चतुर्दशवर्षाणि तिष्ठतु सीतालक्ष्मणभिन्नश्च परिजनस्तं नानुगच्छेदिति। 'समाः स्त्रीवत्सरे'इति रत्नमाला॥ ४१॥

प्रसादोत्कर्षः = अनुग्रहातिशयः।

तत्रैवेति० यत्र दण्डकायाम् मनः पर्युत्सुकम् राक्षसकृतमुनिजनपीडाऽपहाराय गन्तुं बद्धोत्कण्ठम् तत्रैव दण्डकायाम् गमनादेशः गन्तुमाज्ञा। इष्टविरहः प्रियजनवियोगश्च न यतः वत्सः प्रियः अनुजः लक्ष्मणः अनुगः अनुगामी आदिष्ट इति शेषः। अहो प्रसादो मातुर्यदिष्टजनानुगतस्य ममोत्कण्ठास्थाने दण्डकारण्ये गमनायादेशो दत्त इति भावः॥ ४२॥

लक्ष्मण—(लेकर पढ़ता है) एक वरसे भरत राज्यका अधिकारी होवे तथा दूसरे वरसे राम अविलम्ब दण्डकारण्य जावे। वहाँ जटाधारण करके वल्कल पहनकर चौदह वर्षों तक वास करें और सीता तथा लक्ष्मणके अतिरिक्त कोई उनके साथ न रहे॥ ४१॥

राम—बड़ी प्रसन्नता है, वहीं जानेकी आज्ञा हो रही है जहाँ जानेके लिये दिल तड़प रहा था, इष्टजन का वियोग भी नहीं हुआ और लक्ष्मण भी साथ बने रहे॥ ४२॥

लक्ष्मणः—दिष्ट्यानुमोदितोऽहमार्येण ।

रामः—आर्ये मन्थरे! प्रस्थितोऽस्मि ।

शूर्पणखा—नम इदानीं भगवते संसाराय, यस्मिन्नीदृशा अपि कल्पद्रुमाः प्ररोहन्ति । (णमो दाणिं भअवदो संसारस्स जस्सिं ईदिसा वि कप्पद्दुमा परोहन्दि ।

(इति निष्क्रान्ता)

लक्ष्मणः—आर्य ! मातुलो युधाजिदार्यभरतसहचरस्तातमुपसर्पति ।

रामः—दिष्ट्या । कष्टं च—

अपरिष्वज्य भरतं नास्ति मे गच्छतो धृतिः ।
अस्मत्प्रवासदुःखार्तं न त्वेनं द्रष्टुमुत्सहे ॥ ४३ ॥

अनुमोदितः = स्वेन सह गन्तुं समर्थितः ।

प्रस्थितः = चलितः, वनायेति शेषः ।

ईदृशाः = पितुरिच्छामात्रेण राज्यत्यागपूर्वकवनवासस्वीकारे तत्पराः रामसदृशाः पुत्राः । कल्पद्रुमाः = कल्पवृक्षाः, सकलेच्छापूरकत्वेन तथारूपणम् ।

आर्यभरतसहचरः = पूज्यभरतसहितः । तातमुपसर्पति = पितृपादानां समीपमेति । दिष्ट्या = आनन्दे ।

अपरिष्वज्येति० भरतम् अपरिष्वज्य अनालिङ्ग्य गच्छतः दण्डकारण्यं प्रति प्रतिष्ठमानस्य मम धृतिः धैर्यं नास्ति, तु किन्तु अस्मत्प्रवासदुःखार्त्तम् अस्माकं प्रवासेन दूरगमनेन भाविना यद्दुःखं तेनार्त्तम् पीडितम् एनम् भरतं न द्रष्टुमुत्सहे दिदृक्षे । प्रयाणकाले भरतालिङ्गनादानन्दः अस्मत्प्रयाणजन्यभरतसमवेतखेददर्शनाद् दुःखं चेत्यहो सुखदुःखयोर्यौगपद्येन कर्त्तव्यानिश्चय इति भावः ॥ ४३ ॥

लक्ष्मण—भाग्यवश आर्यने हमारे जानेका भी समर्थन किया ।

राम—आर्ये मन्थरे ! मैं चला ।

शूर्पणखा—इस संसारको नमस्कार है जिसमें इस तरहके कल्पवृक्ष भी उत्पन्न होते हैं ।

(जाती है)

लक्ष्मण—आर्य ! मामा युधाजित् भरतके साथ पिताजीके पास जारहे हैं ।

राम—अहो भाग्य ! खेद है—

भरतसे बिना मिले जानेमें उत्साह नहीं हो रहा है, किन्तु हमारे प्रवासके दुःखसे व्यथित भरतको देखने की इच्छा नहीं हो रही है ॥ ४३ ॥

(प्रविश्य)

युधाजिद्भरतौ—(दशरथमुपसृत्य) देव ! श्रूयताम् । यदेकायनीभूय सर्वाः प्रकृतयस्त्वां विज्ञापयन्ति—

'त्रय्यास्त्राता यस्तवायं तनूजस्तेनाद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात् ।
राजन्वन्तो रामभद्रेण राज्ञा लोकाः सर्वे पूर्णकामाश्च सन्तु ॥ ४४ ॥'

दशरथः—सखे जनक !

प्रियं कल्याणकामाभिः प्रजाभिश्चोदिता वयम् ।
किन्तु रामप्रियौ नेह मैत्रावरुणकौशिकौ ॥ ४५ ॥

जनकः—

परोक्षे सुकृतं कर्म तयोः प्रीतिं करिष्यति ।

त्रय्या इति० यः तव अयम् त्रय्याः वेदत्रयस्य त्राता रक्षकः तनूजः पुत्रः तेन तव पुत्रेण रामेण राज्ञा प्राप्तराज्याधिकारेण सर्वे लोका अद्य राजन्वन्तः प्रशस्तराजयुक्ताः पूर्णकामाः लब्धमनोरथाश्च स्वामिनः रक्षकस्य ते प्रसादात् सन्तु । त्वं लोकानां स्वामीति हेतोस्तथाऽनुग्रहं कुरु यथा सर्वे जनाः वेदानां पालकं तव तनयं रामं राजानं लब्ध्वा राजन्वतः सिद्धाभिलाषाश्च भवेयुः, रामो राज्येऽभिषिच्यतामित्याशयः ॥

प्रियमिति० कल्याणकामाभिः सदाशुभानुध्यानपराभिः प्रजाभिः वयम् प्रियम् लोकैरिष्टम् रामाभिषेकम् चोदिताः अनुशिष्टाः कर्त्तुमनुरुद्धाः, किन्तु रामराज्याभिषेकस्य सर्वप्रियतया कर्त्तुमिष्टत्वेऽपि रामप्रियौ मैत्रावरुणकौशिकौ वसिष्ठविश्वामित्रौ इह अस्मिन् स्थाने न विद्येते इति शेषः । तयोरत्रानुपस्थितिरेव विलम्बहेतुर्नान्यः कोऽपीत्यर्थः ॥

परोक्ष इति० परोक्षे वसिष्ठविश्वामित्रयोरसन्निधौ सुकृतम् साधुविहितम् कर्म रामराज्याभिषेकरूपमनुष्ठानम् तयोः वसिष्ठविश्वामित्रयोः प्रीतिम् आनन्दातिशयम् करिष्यति—अतस्तयोरनुपस्थित्या विलम्बो नोपयुक्त इति भावः । नन्वस्तु तयोः

(प्रवेश करके)

युधाजित् और भरत—(दशरथके पास जाकर) महाराज ! आपकी समस्त प्रजा एकमत होकर आपसे कुछ निवेदन करती है, उसे आप सुनें—

वेदोंके रक्षक आपके पुत्र रामके राजा होनेसे समस्त लोक प्रसन्न तथा पूर्णकाम होनेकी इच्छा रखते हैं, आप वैसा करदें ॥ ४४ ॥

दशरथ—सखे जनकजी ! कल्याणकामना करनेवाली प्रजासे अच्छी बात कही गई है, किन्तु रामके स्नेही वसिष्ठ तथा विश्वामित्र यहाँ नहीं हैं ॥ ४५ ॥

जनक—उनकी अनुपस्थितिमें भी किया गया यह कार्य उन्हें आनन्द देगा, मन्त्र

मन्त्रज्ञो वामदेवस्तु भगवानास्त एव हि ॥ ४६ ॥

दशरथः—यद्येवं तदयं जामदग्न्यविजयोत्सवः प्रसज्यतामभिषेकमहोत्सवेन। यो यदर्थी महोत्सवेऽस्मिंस्तत्तस्मै दीयताम्।

रामः—(उपसृत्य प्रणम्य च) अहं तावदर्थी।

दशरथः—वत्स ! केन ?

रामः—

योऽसौ वरद्वयन्यासस्तं माता मेऽद्य मध्यमा।
यथेष्टं नाथते तात तत्प्रसादार्थिनो वयम् ॥ ४७ ॥

परोक्षेऽपि क्रियमाणेन रामाभिषेकेण तयोः प्रीतिः परं पौरोहित्यादिकं कः कुर्यादतस्तयोरागमनं प्रतीक्षणीयं तत्राह—मन्त्रज्ञ इति० मन्त्रज्ञः अभिषेकरूपानुष्ठेयार्थं प्रकाशकवेदभागज्ञाता भगवान् वामदेव आस्त एव हि विद्यत एव अतस्साऽपि त्रुटिर्नास्ति तदविलम्बसम्पाद्यो रामाभिषेक इति भावः ॥ ४६ ॥

यद्येवम् = यदि रामाभिषेकः कर्त्तव्यः। प्रसज्यताम्=आङ्गीविधीयताम्, परशुरामविजयोत्सवमेव प्रधानीकृत्य रामाभिषेकरूपमङ्गकार्यं सम्पाद्यताम्, परशुरामविजयोत्सवप्रसङ्गे रामोऽभिषिच्यतामित्याशयः। यदर्थी–यद्विषयकप्रार्थनापरः।

अर्थी = प्रार्थनापरः, कस्याप्यर्थस्येति शेषोऽनुसन्धेयः।

योऽसाविति० तात ! यः असौ वरद्वयन्यासः त्वद्दत्तवरद्वयरूपः देयत्वेन प्रतिश्रुतः निक्षेपः तम् अद्य मे मम मध्यमा माता कैकेयी नाथते प्रार्थयते, वयम् तत्प्रसादार्थिनः तद्वरद्वयप्रदानरूपत्वदनुग्रहयाचकाः। मम मध्यमाम्बायास्त्वत्पार्श्वे यो वरद्वयन्यासस्तमद्य सा नाथते, तत्प्रदानेन तस्याः प्रसादः क्रियतामिति वयमर्थयामह इति भावः॥

जाननेवाले वामदेव तो यहाँ ही हैं ॥ ४६ ॥

दशरथ—यदि यही बात है तो यह जामदग्न्य विजयोत्सव राज्याभिषेकोत्सवमें परिणत हो जाय। इस उत्सवावसरमें जिसे जो चाहिये दिया जाय।

राम—(समीप जा प्रणाम कर) मैं अर्थी हूं।

दशरथ—बेटा ! किस लिये ?

राम—हमारी मझली मांने जो दो वरदान न्यासरूपमें आपके पास रक्खे थे, उसे वह अपनी इच्छानुसार मांगती हैं, उनकी इच्छा पूरी की जाय यही हमारी याचना है ॥ ४७ ॥

दशरथः—

सत्यसन्धा हि रघवः किं वत्स विचिकित्ससि।
त्वयि दूतेऽपि कस्तस्याः प्राणानपि धनायति ॥ ४८ ॥

रामः—वत्स ! वाच्यताम्।

(लक्ष्मणः 'अस्त्वेकेन' (५।४१) इत्यादि वाचयति)

सर्वे—कथमन्यदेव किमपि। हा हताः स्मः।

(राजा मूर्च्छति)

रामलक्ष्मणौ—तात ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

जनकः—

इक्ष्वाकुवंशतिलकस्य नृपस्य पत्नी तस्मिन् विशुद्धिमति राजकुले प्रसूता।

सत्यसन्धा इति० हे वत्स ! रघवः रघुवंशजाः सत्यसन्धाः यथार्थप्रतिज्ञाः (तत्) किं विचिकित्ससि संशयं करोषि, कैकेय्या वरद्वयं मया दास्यते न वेति सन्देहमाचरसीति भावः। (एवमेव सत्यसन्धा रघवो भवन्ति) त्वयि मम प्राणेभ्योऽपि प्रिये त्वयि तस्याः कैकेय्याः दूते सन्देशहरे वरद्वयदानार्थमाग्रहपरे कः प्राणान् अपि धनायति अदेयत्वेनाभिलषति। त्वं तस्याः सन्देशहर इति प्राणा अपि देयाः किं पुनर्वरद्वयन्त-दलं संशयेनेति भावः॥ 'विचिकित्सा तु संशयः' इत्यमरः॥ ४८॥

अन्यदेव किमपि = प्रकृतरामाभिषेकादन्यदेव तद्वनगमनं चिन्तयितुमप्यनर्ह-मापतितमित्यर्थः।

इक्ष्वाकुवंशेति० इक्ष्वाकुवंशतिलकस्य इक्ष्वाकुवंशमूर्धन्यस्य नृपस्य पत्नी भार्या तस्मिन् प्रसिद्धे विशुद्धिमति सर्वथा शुद्धे केकयराजकुले प्रसूता लब्धजन्मा आर्या

दशरथ—रघुवंशी सदासे सत्यप्रतिज्ञ होते आये हैं, बेटा ! तुमको संशय क्यों होता है ? उसके दूतके रूपमें फिर जब तुम आये हो तब कौन अपने प्राणोंका भी लोभ करेगा ? ॥४८॥

राम—भाई ! पढ़ो तो। (लक्ष्मण 'अस्त्वेकेन' इत्यादि पढ़ता है)

सभी—आश्चर्य से अहो, यह क्या दूसरा ही (राज्याभिषेक के बदले रामवनगमन का समाचार) उपस्थित हो गया, हाय, हम लोगोंका मनोरथ मारा गया।

(राजा मूर्च्छित होते हैं)

राम-लक्ष्मण—पिताजी ! आप धीरज धरें, धीरज धरें।

जनक—इक्ष्वाकुवंशतिलक राजाकी पत्नी तथा पवित्र वंशमें प्रसूत होकर भी कैकेयी

अत्याहितं किमपि राक्षसकर्म कुर्यादार्या सती कथमहो महदद्भुतं नः ॥

रामः—तातपादाः !

सत्यसन्धाः स्थ यदि वा रामो वा यदि वः प्रियः ।
तत्प्रसीदत मे माता पूर्णकामास्तु मध्यमा ॥ ५० ॥

दशरथः—एवमस्तु । का गतिः ?

जनकः—हा वत्स रामभद्र ! हा लक्ष्मण !

पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद्वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम् ।
त्वया तत्क्षीरकण्ठेन प्राप्तमारण्यकव्रतम् ॥ ५१ ॥

पूज्या सती साध्वी कैकेयी अत्याहितम् लोकभयङ्करम् किमपि वाचा वर्णयितुमशक्यम् राक्षसकर्म रक्षोजनविधेयं कार्यम् कथम् कुर्यात् विदध्यात् (इदम्) नः अस्माकम् महदद्भुतम् अत्याश्चर्यजनकम् । दशरथस्य पत्नीति केकयवंशजातेति च कुलद्वय-गौरवं व्यञ्जयितुम् । आर्या सतीति च स्वगौरवं ध्वनयितुम् । एतादृश्यपि सा राक्षसो-चितमाचरतीति चन्दनादनलोद्भव इवाश्चर्यकर इति भावः ॥ ४९ ॥

सत्यसन्धाः स्थ इति० यदि यूयम् सत्यसन्धाः सत्यप्रतिज्ञाः स्थ, यदि वा रामः वः प्रियः, तत्प्रसीदत मे मध्यमा माता कैकेयी पूर्णकामा लब्धमनोरथा अस्तु । भवन्तः सत्याभिसन्धाः इति प्रतिज्ञातं वरं दत्त्वा मम मध्यमाम्बायाः कामः पूर्यताम्, अत्यसन्धत्वे भवतां यदर्थं भवन्तः प्रतिज्ञाभङ्गं करिष्यन्ति स राम एव प्राणान्न धार-यिष्यति तेन यदि रामे वः प्रियस्तथापि तदनुरोध्यः पाल्यतामिति भावः ॥ ५० ॥

पुत्रसंक्रान्तेति० पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकः अपत्यार्पितराज्यैः वृद्धेक्ष्वाकुभिः जराजीर्णै-रिक्ष्वाकुवंश्यैः यत् आरण्यकव्रतम् वानप्रस्थोपयुक्तं वनवासित्वं धृतम् अवलम्बितम्, तत् आरण्यकव्रतम् क्षीरकण्ठेन दुग्धपायिना बालेन त्वया धृतम् । पूर्वेषां त्वद्वंश्यानां पुत्रवत्त्वमुपभुक्तराज्यकत्वं वार्द्धकं चेति समुदितमारण्यकव्रतग्रहणकारणमभूत्तव तेषु किमपि नास्ति तथाप्यारण्यकव्रतधारणं जातमिति महद्वैलक्षण्यमित्याशयः ॥५१॥

इस तरहका कार्य कर सकती है, मुझे तो अति आश्चर्य हो रहा है ॥ ४९ ॥

राम—पिताजी ! यदि आप अपनी प्रतिज्ञाको निभाना चाहते हैं और यदि आप रामको प्यार करते हैं तो मझली मां की मांग पूरी कीजिये ॥ ५० ॥

दशरथ—एवमस्तु, क्या उपाय है ?

जनक—हाय वत्स रामचन्द्र ! हा लक्ष्मण !

पुत्रको राजगद्दी पर बिठानेके बाद वृद्ध इक्ष्वाकु जो कार्य करते थे, तुमलोगोंको वह वनवासव्रत बाल्यावस्थामें ही करना पड़ा ॥ ५१ ॥

वत्से धन्यासि यस्यास्ते गुरुनियोगत एव भर्तुरनुगमनं जातम् ।

दशरथः—हा वत्से जानकि ! कङ्कणधरैव रक्षसामुपहारीकृतासि ।

(इत्युभौ मूर्च्छतः)

रामः—वत्स लक्ष्मण ! अत्यापन्नो गुरुजनः । कथं नामैतत् ?

लक्ष्मणः—ईदृशोऽयमापातकरुणस्नेहसंवेगः । किमत्र क्रियते ? प्रतिषिद्धं च नः कालहरणमम्बया । तदलमतिस्नेहकातर्येण ।

रामः—साध्वाचारनिष्ठ ! साधु । अमनुष्यसदृशस्ते चित्तसारः । तद्वत्स ! वैदेहीमानय ।

वत्से = लालनीये जानकि । धन्यासि = प्रशंसनीयासि । गुरुनियोगतः = श्वसुरादेशात् । श्वशुरादेशाभावेऽपि पत्युरनुगमनं तव धर्मप्राप्तमासीदिदानीं तु तद्गुर्वादेशानुगतं द्विगुणो धर्म इति भावः । कङ्कणधरा वैवाहिकमङ्गलसूत्रयुक्तकरा । रक्षसामुपहारीकृता रक्षोभ्यो दत्ताः, तदध्युषिते देशे प्रेषिता । एतच्चातिनूतनपरिणयोपलक्षकमतो द्वितीयाङ्क उक्तेन 'कङ्कणमोचनाय देव्यो मिलिताः' इत्यनेन न विरोध इत्यूहनीयम् ।

अत्यापन्नः = अतिशयविपन्नः । कथन्नामैतत् = किमत्र कार्यम् ।

ईदृशः = एतादृग्दशाकरः । आपातकरुणस्नेहसंवेगः = तत्कालिकप्रियवियोगजन्यखेदस्नेहयोः संभ्रमः । प्रिये प्रस्थिते तद्वियोगदुःखस्य स्नेहस्य च वेगेनेदृश्येव दशा भवतीत्यर्थः । किमत्र क्रियते = प्रतीकारं न पश्यामि । कालहरणम् = समयातिक्षेपः । स्नेहकातर्येण = प्रेमकृतेनाधीरत्वेन । मध्यमाम्बया विलम्बो नानुमतः, किञ्चिद्विलम्ब्यापि किमपि कर्त्तुं न शक्यं प्रेम्णश्चेयमेव दशा–तदलङ्कातरतया–प्रतिष्ठामहे तूर्णमिति भावः । आचारनिष्ठ = मात्रादेशपालक । साधु साधु = सत्यमुक्तं त्वया । अमनुष्यसदृशः = मनुष्यविसदृशः, लोकोत्तरः । चित्तसारः = हृदयस्थैर्यम् । यदेतादृश्यपि स्थितौ न क्षुभ्यसि तदतिमानवं तव चित्तबलमिति भावः ।

बेटा ! तुम धन्य हो, तुम्हें गुरुजनकी आज्ञासे ही स्वामीके साथ जाना पड़ा ।

दशरथ—हा जानकि ! वैवाहिक कङ्कणके साथ ही तुम्हें राक्षसोंका उपहार कर दिया गया ?

(दोनों मूर्च्छित हो जाते हैं)

राम—भाई लक्ष्मण ! गुरुजन तो अतिविपन्न हैं, कैसे क्या होगा ?

लक्ष्मण—स्वाभाविक करुणा और स्नेहका वेग ऐसा ही हुआ करता है । इसका क्या करना है ? माँने हम लोगोंको विलम्ब नहीं करनेको कहा है, स्नेहसे अधीर होना व्यर्थ है ।

राम—साधु, तुम बड़े आचारनिष्ठ हो, तुम्हारा हृदयबल अमानुष है, भाई! सीताको बुलालो ।

(लक्ष्मणो निष्क्रान्तः)

भरतः—मातुल मातुल ! युक्तं सदृशमेतद्वो गृहस्य ।

युधाजित्—उद्भ्रान्तः संप्रमुग्धोऽस्मि वत्स !

पतिर्मृत्योर्वक्त्रं व्रजति वनमेतत्सुतयुगं
वधूटी रक्षोभ्यो बलिरिव वराकी प्रणिहिता ।
निरालम्बो लोकः कुलमयशसा नः परिवृतं
स्वसुर्मे दौरात्म्यं जगदविकलं विक्लवयति ॥ ५२ ॥

(ततः प्रविशति लक्ष्मणः सीता च)

युक्तं सदृशमेतद्वो गृहस्य = अनुरूपमिदं तव कुलस्य यन्मध्यमाम्बया कृतमित्याशयः । आक्षेपोक्तिरियम् ।

उद्भ्रान्तः = अस्थिरमतिः । संप्रमुग्धः = मूर्च्छितः ।

पतिरिति० **पतिः स्वामी दशरथः मृत्योर्वक्त्रं मृत्युमुखं व्रजति गच्छति म्रियत इत्यर्थः । एतत् रामलक्ष्मणरूपम् सुतयुगम् पुत्रयुगलम् वनम् व्रजतीति योजनीयम् । वराकी दयापात्रं वधूटी युवत्वारम्भवती पुत्रवधूः सीता बलिरिव उपहार इव रक्षोभ्यः राक्षसेभ्यः प्रणिहिता दत्ता । लोकः निरालम्बः दशरथमरणरामवनगमनाभ्यां निराधारः कृत इति शेषः । नः अस्माकम् केकयानाम् प्रसिद्धम् कुलम् अयशसा एतादृशस्वार्थान्धकन्याजननजन्यकुख्यात्या परिवृतः आवृतः, (तदित्थम्) मे मम स्वसुः भगिन्याः कैकेय्याः दौरात्म्यम् दुष्टभावः अविकलम् समग्रम् जगत् विक्लवयति विह्वलयति । दशरथमरणरामवनगमनसीतारक्षोभयस्वकुलकलङ्कभुवनावलम्बहरणैरात्मकृत्यैः कैकेयी निखिलमपि जगदाकुलयतीति तात्पर्यम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥५२॥**

(लक्ष्मण जाता है)

भरत—मामा ! मामा ! यह आपके वंशके योग्य ही है ।

युधाजित्—मैं उद्भ्रान्त तथा पागल हो रहा हूँ ।

स्वामी मृत्युके मुखमें तथा दो लड़के वनमें चले जारहे हैं, पतोहू राक्षसोंके आगे उपहार की तरह रखदी गई । लोक निराश्रय हो रहा है, हमारे कुलको अयश ढक रहा है, हाय ! हमारी बहनकी दुष्टताने समस्त जगत्को विह्वल कर दिया है ॥ ५२ ॥

(लक्ष्मण तथा सीताका प्रवेश)

सीता—दिष्ट्यानुमोदिताऽस्म्यार्येण । (दिट्ठिआ अणुमोदिदं ह्मि अज्जेण ।)

लक्ष्मणः—इयमार्या ।

रामः—इत इतः । (सीतालक्ष्मणाभ्यां सह गुरुं प्रदक्षिणीकृत्य) मातुल !

एष तातश्च तातश्च प्रियापत्याश्च मातरः ।
आश्वासनीयाः शोकेऽस्मिन् भवतैव गता वयम् ॥ ५३ ॥

(इति परिक्रामति)

युधाजित्—(सावेगम्) कथं वोऽरण्ये त्यजामि । (उत्थायानुगच्छति)

भरतः—(अनुगच्छन्) मातुल मातुल ! ब्रूहि किमिदानीं करोमि ?

युधाजित्—रामभद्र ! अवेक्षस्व पादपरिचारकमरण्यानुगतं भरतम् ।

रामः—नन्वस्यापि वर्णाश्रमरक्षणे गुरुनियोगः ।

एष तातश्चेति० **अस्मिन् शोके अस्मद्वियोगदुःखे एषः प्रत्यक्षदृश्यदौःस्थ्यः तातः पिता दशरथः, तातः श्रेष्ठः पितृस्थानीयो जनकः, प्रियापत्याः सन्तानस्नेहसंभृताः मातरश्च भवता एव आश्वासनीयाः लघूकृतशोकवेगाः कर्त्तव्याः, वयम् गताः चलिताः ॥**

किमिदानीं करोमि = राममनुगच्छामि, किमप्यन्यदेव वा करोमीति सन्देहे निर्णयं ब्रूहीत्यर्थः । अवेक्षस्व = आज्ञाप्रदानसूचकदृक्पातेन सम्भावय । पादपरिचारकम् = चरणसेविनम् । वर्णाश्रमरक्षणे=राजकर्त्तव्ये वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां गार्हस्थादीनां च पालने । गुरुनियोगः = पितुरादेशः । यथा वयं पितुरादेशेन वनं व्रजामस्तथायमपि तदादेशमेवानुरुध्य प्रजाः पालयतु किमत्र कर्त्तव्यान्वेषणेनेति भावः ।

तत् = प्रजापालनाधिकृतत्वम् ।

सीता—भाग्यसे स्वामीने हमारे जानेकी अनुमति दी ।

लक्ष्मण—ये ही आर्या हैं ।

राम—इधर चलो इधर । (राम-लक्ष्मण और सीताके साथ पिताको प्रणामकर) मामाजी ! ये ही पिताजी तथा जनक हैं, सन्तानप्रिय मातायें हैं, इन्हें इस शोकमें आप ही धीरज बंधावें, हमलोग अब चलते हैं ॥ ५३ ॥

(प्रस्थान)

युधाजित्—(आवेगसे) तुम लोगोंको वनमें कैसे छोड़ दूं ? (उठकर पीछे हो लेते हैं)

भरत—(पीछे चलता हुआ) मामा ! बताइये अब मैं क्या करूं ?

युधाजित्—रामभद्र ! चरणसेवक तथा वनानुगामी भरतकी ओर देखो ।

राम—इनको भी पिताजीने वर्णाश्रमकी रक्षाका भार सौंपा है ।

भरतः—लक्ष्मणस्य वा शत्रुघ्नस्य वा तद्भवतु ।

रामः—किमत्र कस्यचित्स्वरुचिः ?

भरतः—एतावत्येव मे स्वरुचिः ।

रामः—शक्यं नाम मयि तिष्ठति त्वयान्येन वा पितृनियुक्तमुल्लङ्घयितुम् ।

भरतः—हा हा ! कथं परित्यक्तोऽस्मि मन्दभाग्यः ? (इति मूर्च्छति)

युधाजित्—वत्स ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

भरतः—(आश्वस्य) मातुल ! उद्धर माम् ।

युधाजित्—वत्स ! एवं तावत् । (इति भरतस्य कर्णे कथयित्वा) रामभद्र ! एवमयं विज्ञापयति—'यदेतद्भगवता शरभङ्गेण प्रेषितं तपनीयोपानद्युगं तदार्यः प्रसादीकरोतु' इति ।

रामः—(तदुन्मुच्य) गृहाणैतद्वत्स !

भरतः—(शिरस्यारोप्य) हा आर्य !

कस्यचित्स्वरुचिः = सर्वोऽपि ताताज्ञापालने वाध्योऽतो नात्र कार्यपरिवर्त्तनं युक्तमिति । एतावती = एतन्मात्रा । अन्यत्र सर्वं यथोक्तं केवलं लक्ष्मणस्थानेऽहं भवन्तमनुगच्छेयमियती मम रुचिरत्र रक्षणीयेत्याशयः ।

पितृनियुक्तम् = तदादिष्टम् । मयि वर्त्तमाने पित्रादेशे मात्रवर्णविपर्यासोऽपि न साध्यः, पात्रपरिवर्त्तनस्य का कथा, तस्माद्यथोक्तमाचरतेति भावः ।

परित्यक्तः = वनंगन्तुमनानुमतः ।

तपनीयोपानद्युगलम् = सुवर्णनिर्मितं पादुकाद्वयम् । प्रसादीकरोतु = अनुगृह्य

भरत—वह कार्य लक्ष्मण या शत्रुघ्न करें ।

राम—इसमें क्या किसीको स्वतन्त्रता प्राप्त है ?

भरत—इतना भी तो हमारी रुचिसे हो ।

राम—हमारे रहते तुम या और कोई पिताजी की आज्ञाका उलङ्घन नहीं कर पावेगा ।

भरत—मैं अभागा क्यों छोड़ दिया गया ? (मूर्च्छित होता है)

युधाजित्—वत्स ! धीरज धरो, धीरज धरो ।

भरत—(सचेत होकर) मामा ! मुझे बचाइए ।

युधाजित्—वत्स ! तब ऐसे (भरतके कानमें कहकर) रामभद्र ! भरतका कहना है कि शरभङ्गने आपके लिये जो सोनेके जूते जोड़े भेजे थे वही मुझे देनेकी कृपा करें ।

राम—(उतारकर) यह लो भाई !

भरत—(शिरपर रख कर) हा आर्य !

रामः—(परिष्वज्य) वत्स ! मत्पादस्पृष्टिकया प्रतिनिवर्तस्व । सपदि संभावय चिरप्रमूढौ तातौ ।

भरतः—अयमिदानीमहम् ।

नन्दिग्रामे जटां बिभ्रदभिषिच्यार्यपादुके ।
पालयिष्यामि पृथिवीं यावदार्यो निवर्तते ॥ ५४ ॥

(इति सीतारामौ प्रदक्षिणीकरोति)

लक्ष्मणः—आर्य भरत ! लक्ष्मणः प्रणमति ।

(भरतः परिष्वज्य बाष्पस्तम्भं नाटयति)

रामः—वत्स ! तातौ संभावय ।

भरतः—कष्टम् । अद्यापि नोच्छ्वसितः । (इति वीजयति)

जनकः—(समुच्छ्वस्य सर्वतोऽवलोक्य च) हा हा ! मुषितोऽस्मि ।

ददातु । मत्पादस्पृष्टिकया = मत्पादुकया । मदीयौ पादौ स्पृष्ट्वेति, मदीयपादौ स्पृष्ट्वा शपथं कृत्वेति वार्थः, स च न हृदयंगमः । चिरप्रमूढौ=बहोः कालान्मूर्च्छितौ । तातौ= दशरथजनकौ ।

नन्दिग्राम इति० आर्ये रामो यावत् निवर्त्तते वनवासकालं समाप्य प्रत्यागच्छति (तावत्) जटाम् बिभ्रत् जटाधरः सन् अहम् आर्यपादुके रामोपनाहौ नन्दिग्रामे अभिषिच्य राजासने स्थापयित्वा पृथिवीं पालयिष्यामि ॥ ५४ ॥

तातौ संभावय = दशरथजनकौ मूर्च्छितौ लब्धासंज्ञौ यथा स्यातां तथा कुरु ।

उच्छ्वसितः = प्राणसूचकनासावायुं विसृजतः ।

राम—(गले लगाकर) भाई ! मेरा पैर छूकर लौट जाओ, अब जाकर देरसे मूर्च्छित पिताजी तथा जनकजीकी सेवा करो ।

भरत—अब मैं—

जटा बढ़ाकर इसी नन्दिग्राममें आर्यकी पादुकाओंका अभिषेक करके, जब तक आर्य लौटेंगे, इस पृथ्वीका पालन करता रहूंगा ।

(सीता तथा रामकी प्रदक्षिणा करता है)

लक्ष्मण—आर्य भरत ! लक्ष्मण प्रणाम करता है ।

(भरत गले लगाकर रो पड़ता है)

राम—भरत ! पिताजी आदिको सँभालो ।

भरत—हाय ! अभी भी सचेत नहीं होरहे हैं । (हवा करता है)

जनक—(सचेत होकर, चारों ओर देखकर) हाय ! लुट गया हूँ ।

दशरथः—(उच्छ्वस्य) वत्स रामचद्र ! न गन्तव्यं न गन्तव्यम् ।

प्राणाः प्रयान्ति परितस्तमसावृतोऽस्मि
मार्मच्छिदो मम रुजः प्रसरन्त्यपूर्वाः ।
अक्ष्णोर्मुखेन्दुमुपधेहि गिरं च देहि
हा पुत्र मय्यकरुणः सहसैव मा भूः ॥ ५५ ॥

(सोन्मादमिव) भोः ! क विशामीदानीं मन्दभागधेयः । (इति विक्लवो भरतजनकाभ्यां नीयमानो निष्क्रान्तः)

युधाजित्—वत्स रामभद्र ! पश्य—

एकीभूय शनैरनेकरसमप्युत्सन्नमेकक्रियो-

प्राणाः प्रयान्तीति० प्राणाः प्रयान्ति वहिर्गच्छन्ति, परितः समन्तात् तमसा ज्ञानावरकेणान्धकारेण वृतः व्याप्तः अस्मि, मम अपूर्वाः प्रागननुभूताः मर्मच्छिदः हृदयविदारिकाः रुजः पीडाः प्रसरन्ति देहं व्याप्नुवन्ति । अक्ष्णोः नयनयोः समीपे मुखेन्दुम् स्वमुखचन्द्रम् उपधेहि स्थापय मुखं दर्शय, गिरम् वाचम् च देहि व्याहर, हा पुत्र ! सहसा हठात् एव मयि अकरुणः निर्दयः माभूः न भव । अतिकष्टपतिते मयि निर्दय त्वां तव नोचितमतो मुखं दर्शय व्याहार चेति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

मन्दभागधेयः = हतभाग्यः । विक्लवः = विह्वलः ।

एकीभूयेति० (प्राग्) अनेकरसम् भिन्नरुचि सदपि (सम्प्रति त्वद्गमनवृत्तान्ताकर्णनेन) एकीभूय एकरुचितां समासाद्य उत्सन्नम् खेदयुक्तम्, एकक्रियोन्मुक्ताक्रन्दम् एकक्रियया एकव्यापारेण व्यापारान्तरत्यागेनेत्यर्थः, उन्मुक्तः उच्चारितः

दशरथ—(सचेत होकर) बेटा ! राम ! मत जाओ, मत जाओ ।

हमारे प्राण निकले जारहे हैं, चारो ओर अंधेरा छारहा है, मर्मवेधी पीडा होरही है जैसी कभी नहीं हुई थी, आंखोंके सामने मुखचन्द्र लाओ, कुछ बोलो । बेटा ! सहसा मुझपर निर्दय मत हो जा ॥ ५५ ॥

(पागलकी तरह) मैं अभागा अब कहाँ जाऊं ?

(मूर्च्छित तथा विह्वल भरत-जनकद्वारा नीयमान जाता है)

युधाजित्—वत्स राम ! देखो-सभी एकमति होकर सभी काम छोड़कर जोरोंसे हाहाकार कर रहे हैं, यह क्या हुआ ऐसा कहते हुए नारी नर इधर उधर दौड़ रहे हैं,

न्मुक्ताक्रन्दमितस्ततः किमिदमित्युद्भ्रान्तनारीनरम् ।
एतत्त्वत्पुरमन्यथेव सहसा संजातमापद्यते
यस्मिन् कर्दमितेषु वर्त्मसु घनैर्बाष्पाम्बुभिर्दुर्दिनम् ॥ ५६ ॥

रामः—मातुल मातुल ! प्रतिनिवर्तस्व । अयं च वो हस्ते भरतः ।

युधाजित्—वत्स ! अनुरुध्यस्व मामनुगच्छन्तम् ।

रामः—शान्तं पापम् ! शान्तं पापम् !! गुरवो यूयमनुगन्तव्या नानुगन्तारः । आत्मना तृतीयेन गन्तव्यमित्यम्बादेशः ।

युधाजित्—किमहमेकोऽनुगच्छामि । अपि तु सबालवृद्धाः प्रकृतयः किं न पश्यसि ?

स्कन्धारोपितयज्ञपात्रनिचयाः स्वैर्वाजपेयार्जितै-

आक्रन्दः रोदनध्वनिर्यन तादृशम् , किमिति किमिदमापन्नमिति उद्भ्रान्तनारीनरम् एतत्किमिति निश्चयशून्यस्त्रीपुरुषम् , एतत् त्वत्पुरम् तव नगरम् सहसा हठात् अन्यथा इव भिन्नप्रकारकमिव सञ्जातम् अन्यविधत्वमिव प्राप्तम् आपद्यते निपद्यते, यस्मिन् त्वत्पुरे घनैः सान्द्रैः वाष्पाम्बुभिः वर्त्मसु कर्दमितेषु पङ्किलतांगतेषु दुर्दिनम् भवतीति । अत्र तव नगरे प्राग्लोकाः स्वस्वव्यापारसंलग्नतया भिन्नरुचयोऽपि सम्प्रत्युज्झितसकलव्यापारं त्वद्विषये शोचन्तीत्येतन्नगरमेकरसं सरसखेदम् , एकव्यापारेण रोदनपरम् , इतस्ततः किमिदमिति निश्चतुमशक्तस्त्रीपुरुषं च सदिदं तव नगरमन्यनगरमिव जातं विपद्यते यस्मिन्नत्र पुरेऽश्रुप्रवाहेण पन्थानः पङ्किलाः सञ्जाताः सन्ति दुर्दिनञ्च प्रतीयते इति भावः । नृशब्दस्य नारीति रूपं तेन भिन्नप्रकृतिकतया नारीनरमित्यत्र नैकशेषशङ्का । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५६ ॥

स्कन्धारोपितेति० ते ते साकेताः अयोध्यावासिनः इमे महाब्राह्मणाः पूज्या विप्राः वृद्धाः ज्ञानेन वयसा तेजसा च श्रेष्ठाः सन्तोऽपि स्कन्धारोपितयज्ञपात्रनिचयाः अंशदेशावस्थापितस्रुक्स्रुवचमसादयः अनुपतत्पत्नीगृहीताग्नयः अनुगच्छन्नार्योह्यमान-

---

यह पूरी तुम्हारी नगरी अन्यप्रकारकी हो रही है, जिसमें लोगोंके रोनेसे बरसा तथा पङ्क उत्पन्न हो गया है ॥ ५६ ॥

राम—मामा ! आप लौट जांय, भरतको मैं आपके हाथमें सौंपता हूँ ।

युधाजित्—वत्स ! मुझे पीछे चलनेकी अनुमति दो ।

राम—शान्त ! शान्त !! आप गुरुजन हैं, मैं आपके पीछे चलूंगा, आप पीछे नहीं चलेंगे । किन्तु दो ही जनोंको साथ जानेकी आज्ञा है ।

युधाजित्—क्या मैं ही पीछे चल रहा हूं, इन आबालवृद्ध प्रजाओंको क्यों नहीं देखते ?

शस्त्रैर्वारयितुं तवार्ककिरणांस्ते ते महाब्राह्मणाः ।
साकेताः सह मैथिलैरनुपतत्पत्नीगृहीताग्नयः
प्राक्प्रस्थापितहोमधेनव इमे धावन्ति वृद्धा अपि ॥ ५७ ॥

रामः—मातुल मातुल ! गुरुभिरेव शिशवो धर्मलोपात्पालयितव्याः । तत्प्रसीद नः । प्रतिनिवर्त्यतामयं महाजनः । (इति प्रणमति)

युधाजित्—वत्स ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । बोधयित्वा प्रजाः क्वापि मन्दभाग्यो गच्छामि ।

त्वां लक्ष्मण महाबाहो त्वां च वैदेहनन्दिनि ।
आमन्त्रये निवृत्तोऽस्मि पापः कल्याणमस्तु वाम् ॥ ५८ ॥

गार्हपत्यादिवह्नयः प्राक्प्रस्थापितहोमधेनवः पूर्वप्रेषितहोमार्थदधिपयोघृतामिक्षादि-साधनधेनवश्च सन्तः वाजपेयार्जितैः वाजपेयनामकयज्ञानुष्ठानासादितैः स्वैश्छत्रैः तव अर्ककिरणान् सूर्यकरभाविसन्तापान् वारयितुम् दूरीकर्तुम् मैथिलैः सह धावन्ति द्रुतपदमुपसर्पन्ति । मैथिलैः सहिताः साकेता महापूज्या विप्राः स्वैर्वाजपेयप्रसाद-लब्धैश्छत्रैस्तवातपं वारयितुं द्रुतपदं समायान्ति ये स्वस्कन्धेषु यज्ञपात्राणि बिभ्रति, येषां भार्याश्चानुव्रजन्त्यो गार्हपत्यादिवह्नीन् वहन्ति, येषां होमधेनवश्च मन्दगतितया निश्चितसमये समुपस्थितिमुद्दिश्य प्रागेव प्रातिष्ठन्त ये ज्ञानेन वयसा तेजसा च वृद्धा-स्सन्तीति तात्पर्यम् । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ ५७ ॥

गुरुभिः = श्रेष्ठैः पितृमातुलभ्रात्रादिभिः । धर्मलोपात्पालयितव्याः = धर्मनाशाद्रक्ष-णीयाः । नः प्रसीद = मयि कृपां कुरु । प्रतिनिवर्त्यताम् = परावर्त्यताम् । महाजनः = श्रेष्ठजनः जनसङ्घो वा ।

त्वामिति० महाबाहो विशालभुज लक्ष्मण ! त्वाम् , वैदेहनन्दिनि सीते, त्वाम् च आमन्त्रये यथेच्छमनुगन्तुं राममनुजाने । आमन्त्रणं कामचारानुज्ञेति शाब्दिकाः ।

ये, बूढ़े साकेतवासी ब्राह्मण वाजपेय यज्ञमें लब्ध अपने छत्रसे तुम्हें धूपसे बचानेके लिये दौड़े आरहे हैं, ये कन्धों पर यज्ञके पात्र लादे हैं इनकी स्त्रियां यज्ञाग्नि ढो रही हैं, इनकी होमधेनुएं आगे ही हांक दी गई हैं, इनके साथ मिथिलावासी भी हैं ॥ ५७ ॥

राम—मामा ! गुरुजन ही धर्मलोपसे बच्चोंकी रक्षा करते हैं । प्रसन्न हों, इन लोगोंको लौटादें । (प्रणाम करता है)

युधाजित्—वत्स ! उठो उठो, प्रजाओंको समझा बुझाकर मैं कहीं चला आऊंगा ।

(रुदन्प्रतिनिवृत्य) अहो नु खलु भोः !

प्रतिमन्वन्तरं भूतैर्गीयमाना चरिष्यति ।
प्रायः पवित्रा लोकानामियं चारित्रपञ्चिका ॥ ५६ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

लक्ष्मणः—कथितमार्यस्य शृङ्गिबेरपुरवास्तव्येन निषादपतिना गुहेन तत्प्रदेशपर्यन्तावस्कन्दिनो विराधराक्षसस्य दुर्विलसितम् ।

रामः—तेन हि विराधहतकोन्मथनाय संनिकृष्टप्रयागमनुषक्तमन्दाकिनीपवित्रमेखलं चित्रकूटाचलमुपेत्य—

पापः अपुण्यकर्मा अहम् निवृत्तः परावृत्तः, वाम् युवयोः कल्याणम् मङ्गलम् अस्तु ॥ ५८ ॥

प्रतिमन्वन्तरमिति० लोकानाम् समस्तजगताम् पवित्रा पावनी इयम् रामसम्बन्धिनी चारित्रपञ्चिका पितृवचनपालनप्रभृतिसद्वृत्तविस्तारः, प्रायः सम्भाव्यते, भूतैः प्राणिमात्रैः गीयमाना सादरं कीर्त्यमाना सती चरिष्यति सर्वत्र व्याप्ता भविष्यति । 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायः' सर्वेऽपीमे सम्भावनायाम् । 'मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः' इत्यमरः ।

आर्यस्य कथितम् = भवते निवेदितम् । तत्प्रदेशपर्यन्तावस्कन्दिनः = तं देशं यावदुपद्रवेण पूरयतः, तत्र पर्यन्तमागत्य लोकानुपद्रवत इत्यर्थः । दुर्विलसितम् = दुश्चेष्टितम् । विराधहतकोन्मथनाय = नीचविराधवधाय । सन्निकृष्टप्रयागम् = प्रयागसमीपस्थम् । अनुषक्तमन्दाकिनीपवित्रमेखलम् = समीपप्रवाहिगङ्गापूतोपत्यकम् ।

महाबाहु लक्ष्मण ! वैदेहनन्दिनि ! तुम दोनोंको जानेकी आज्ञा देता हूँ, तुम्हारा कल्याण हो ॥ ५८ ॥

(रोता हुआ, लौटकर) अयि ओ लोगों !

प्रतिमन्वन्तरमें प्राणी इस गाथाको गायेंगे तथा यह पावन चरितावली प्रचार पायेगी ॥ ५९ ॥

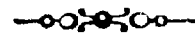
लक्ष्मण—आर्यसे शृङ्गबेरपुरवासी निषादराज गुहने कहा था कि उस प्रान्तसे विराध राक्षस उपद्रव मचाए हुए हैं ।

राम—तब पापी विराधको मारने प्रयागपार्श्ववर्त्ती गङ्गाके पावनतटोंपर अवस्थित चित्रकूट पर्वतको जाकर,

ऋषिभिरुपजुष्टतीर्थां हन्तुं रक्षांसि दण्डकां प्राप्य ।
संनिहितगृध्रराजं क्रमेण यायां जनस्थानम् ॥ ६० ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचिते महावीरचरिते
चतुर्थोऽङ्कः ।



ऋषिभिरिति० रक्षांसि राक्षसान् हन्तुम् संहर्त्तुम् ऋषिभिः मुनिभिः उपजुष्टतीर्थाम् सेवितजलाम् दण्डकाम् प्राप्य सन्निहितगृध्रराजम् जटायुवासस्थलसमीपस्थम् जनस्थानम् क्रमेण क्रमशो यायाम् गच्छेयम् । प्राग्रक्षसां वधाय मुनिसेवितर्तीर्थं दण्डकारण्यं ततश्च जटायुवाससनाथजनपदं क्रमशो गच्छेयमिति भावः ।

अत्र पूर्वाङ्कान्तपात्रेणोत्तराङ्कादौ प्रवेक्ष्यतो गृध्रराजरूपपात्रस्य सूचनादङ्कमुखम् ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते महावीरचरित'प्रकाशे'
चतुर्थाङ्क'प्रकाशः' ।



ऋषियोंसे सेवित तीर्थोंवाली दण्डकाको राक्षसोंके मारनेके लिये प्राप्तकर क्रमशः उस वनमें चलें जहाँ गृध्रराज रहते हैं ॥ ६० ॥

(सबका प्रस्थान)

चतुर्थ अङ्क समाप्त



पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति संपातिः)

संपातिः—नूनमद्य वत्सो जटायुरभिवादनाय मलयकन्दरकुलायमुपासीदति । तथा हि—

पर्यायात्क्षणदृष्टनष्टककुभः संवर्तविस्तारयो-
र्नीहारीकृतमेघमोचितधुतव्यक्तस्फुरद्विद्युतः ।
आरात्कीर्णकणात्कणीकृतगुरुग्रावोच्चयश्रेणयः
श्यैनेयस्य बृहत्पतत्रधुतयः प्रख्यापयन्त्यागमम् ॥ १ ॥

अभिवादनाय = मां प्रणन्तुम् । मलयकन्दरकुलायम् = मलयाचलपर्वतगुहारूपं मम नीडम् । उपसीदति = उपागच्छति । पक्षरवाकर्णनादिनाऽनुमीयते यन्मम वत्सो जटायुर्मामभिवादयितुं मलयाचलकन्दररूपं मम नीडमासन्नदेशे आयातीत्यर्थः । 'गुहा तु कन्दरो वा स्त्री' 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इति चोभयत्रामरः ।

पर्याय दिति० पर्यायात् क्रमशः संवर्त्तविस्तारयोः सङ्कोचनप्रसारणयोः क्रियमाणयोः क्षणदृष्टनष्टककुभः किञ्चित्कालदृश्यपुनस्तिरोहितदिग्भागाः, (सङ्कोचे क्षणदृश्यत्वं विकासक्षणनष्टता, 'पतत्राणां गृध्रपतेर्दिशा'मिति प्रचीनोक्त्या यदा पतत्राणां सङ्कोचस्तदा दिशां दृश्यत्वं विकासश्च यदा तदा दिश आच्छादिता भवन्ति विशालैः पक्षैरिति तासामदृश्यतेति बोध्यम्) किञ्च नीहारीकृतेभ्यः हिमकणवत्तुच्छभावं गमितेभ्यः मेघेभ्यः मोचिताः पृथक्कृत्य स्थापिताः धुताः कम्पयुताः व्यक्तम् स्फुटम् स्फुरन्त्यः प्रकाशमानाः विद्युतः याभिस्ताः तथोक्ताः । अतिकर्कशविशालपक्षविनिपातेन घना अपि मेघाश्चूर्णिताः सन्तो हिमकणवत्तुच्छा जायन्तेऽतस्तडितां प्रकाशीभावो भवति सति तु घनीभावे मेघे लीयन्ते विद्युतस्तत्र भवति, मेघानां घनीभावस्यापायादिति ध्येयम् । आरात् दूरम् कीर्णाः क्षिप्ताः कणात्कणीकृताः कणादपि कणभावम् अतिलघुकणत्वम् प्रापिताः गुरूणाम् महताम् ग्रावोच्चयानाम् पर्वतानाम् श्रेणयः पङ्क्तयो याभिः तास्तथोक्ताः, पर्वताद्दूरं क्षिप्यमाणा वेगातिशय-

---

(सम्पातिका प्रवेश)

सम्पाति—निश्चय आज वत्स जटायु प्रणाम करनेके लिये मन्दराचल की गुहारूप इस हमारी कन्दरामें आरहा है, क्योंकि—

पांखोंके समेटने और फैलानेके कारण दिशाएं कभी दीखती और कभी लुप्त हो जाती है, मेघ चूरचूर होकर पालेकी स्थितिमें पहुँचा दिया गया है जिससे बिजली स्थिर तथा स्थायिनी बन गई है, सामने आनेवाली शिलायें चकनाचूर होती हैं, इस प्रकार जटायुके पंख चल रहे हैं, जिससे उसका आना ज्ञात हो रहा है ॥ १ ॥

अपि च—

दूरोद्वेल्लितवाडवस्य जलधेरुल्लोलभिन्नाम्भसो
रन्ध्रैरापतितेन वेगमरुता पातालमाध्मायते।
यद्वैकुण्ठवराहकण्ठकुहरस्फारोच्चलद्भैरव-
ध्वानोच्चण्डमकाण्डकालरजनीपर्जन्यवद्गर्जति ॥ २ ॥

वशात्कणशो विशीर्णा जायन्ते, तदत्र विवक्षितमवसेयम्। बृहत्पतत्रधुतयः विशालपक्षकम्पाः श्यैनेयस्य श्येनीतनयस्य जटायोः आगमम् आगमनम् प्रख्यापयन्ति गमयन्ति। वेगपक्षविशालत्वातिशयोक्तिः। 'श्येनाश्च गृध्राश्च व्यजायन्त सुतेजसः। तस्माज्जातोऽहमरुणात्सम्पातिस्तु ममाग्रजः। जटायुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रमरिन्दम' इति रामायणवचनमत्र ध्यातव्यम्। 'गरुत्पक्षच्छदाः पत्रं पतत्रं च तनूरुहम्' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

अत्र लिङ्गादभ्यूहमनुमानं नाम गर्भसन्ध्यङ्गमुक्तम्।

दूरोद्वेल्लितवाडवस्येति० (वेगमरुता) जटायुपतत्रवेगोद्भूतेन वायुना उल्लोलभिन्नाम्भसः उल्लोलानि अत्यन्तचलानि भिन्नानि स्थानादपसृतानि च अम्भांसि जलानि यस्य तथोक्तस्य दूरोद्वेल्लितवाडवस्य समधिकप्रचलितवड़वाग्नेः जलधेः समुद्रस्य रन्ध्रैः छिद्रैः जलापसरणकृतैः पातालम् वेगमारुता सम्भ्रमवायुना आध्मायते पूर्यते यत् पातालम् वैकुण्ठवराहस्य विष्णोरवतारत्वेन प्रथितस्य आदिवराहस्य कण्ठकुहरात् गलरूपाद्बिलात् स्फारम् अधिकम् उच्चलन् निर्गच्छन् भैरवः दारुणः ध्वानः शब्दस्तद्वत् उच्चण्डम् क्रूरम् यथा स्यात्तथा अकाण्डकालरजनीपर्जन्यवत् अनवसरापतितप्रलयरात्रिमेघवत् गर्जति शब्दायते। अतिभयानको जटायुवेगमारुतः समुद्रे कम्पमुत्पाद्य तज्जलं च चालयित्वाऽपसार्य च वडवाग्निं दीपयति समुद्रे छिद्रवदवकाशं च विरचयति येन छिद्रेण प्रविशन् वायुः पातालं पूरयति। अथ वायुपूरिते पाताले तादृशो भयङ्करो ध्वनिरुत्पद्यते येन लोकानां मनसि महावराहस्याकालप्रलयनिशामेघध्वनिगभीरः शब्दः स्मृतिमारोहतीति भावः। 'कुहरं विवरं बिलम्' इति 'भैरवं भीषणं भीष्मम्' इति चामरः। पूर्वोक्तमेव वृत्तम्। उपमाद्वयं भयानकतातिशयद्योतनार्थम् ॥ २ ॥

और—समुद्रका जल पक्षवेगसे हटा दिया गया है वड़वानल दूर फेंक दिया गया है, उसी छिद्रसे प्रविष्ट होनेवाली वायुसे पाताल भर गया है, वह पाताल अकालप्रलय रात्रिकी तरह शब्द कर रहा है, मालूम पड़ता है आदिवराहके कण्ठकी गुर्राहट हो रही है ॥ २ ॥

(प्रविश्य)

जटायुः—

काबेरीवलयितमेखलस्य सानावेतस्मिन् मलयगिरेर्दिवः पतामि ।
यत्रार्यो निवसति काश्यपः शकुन्तः शैलेन्द्रोऽपर इव विप्रयुक्तपक्षः ॥
विस्रंसयन्ती परिगृह्य पक्षौ जाता ममाप्युत्पतनश्रमार्तिः ।
शक्तिर्हि कालस्य विभोर्जराख्या शक्त्यन्तराणां प्रतिबन्धहेतुः ॥ ४ ॥

तदयमार्यो मन्वन्तरपुराणो गृध्रराजः संपातिः । अहो भ्रातृस्नेहः—

कावेरीति० कावेर्या तन्नामख्यातया नद्या वलयिता वेष्टिता मेखला नितम्बभागो यस्य तस्य तथोक्तस्य मलयगिरेः मलयाचलस्य एतस्मिन् पुरोदृश्ये सानौ शिखरे दिवः अन्तरिक्षात् पतामि अवरोहामि यत्र मलयाचलसानौ आर्यो मम पूज्यो भ्राता काश्यपः कश्यपपौत्रः शकुन्तः पक्षी सम्पातिः विप्रयुक्तपक्षः छिन्नपक्षः अपरः शैलेन्द्र इव गिरिरिव निवसति तिष्ठति । अत्र मलयाचलसानौ मम भ्राता सम्पातिर्निवसति यश्छिन्नपक्षः पर्वत इव प्रतिभासते, अतोऽत्र कावेरीप्रवाहपूतोपत्यकस्य गिरेरस्य शिखरेऽवरोहामीत्यर्थः । 'मेखला खड्गबन्धेऽपि काञ्चीशैलनितम्बयोः' इति रत्नमाला। प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ ३ ॥

विस्रंसयन्तीति० पक्षौ पक्षती परिगृह्य आश्रित्य विस्रंसयन्ती शिथिलतां नयन्ती उत्पतनश्रमार्त्तिः उत्पतनप्रयासभवा पीडा मम जटायोः (अविश्रमविश्वगस्य सम्पाति-सहचरस्य) अपि जाता । विभोः समर्थस्य कालस्य जराख्या वयोहानिरूपा शक्तिः शक्त्यन्तराणाम् अन्यासां कायिकमानसिकशक्तीनाम् प्रतिबन्धहेतुः कार्यजनना-समर्थतासम्पादिका भवतीति शेषः । वार्धकेन सर्वस्यापि सर्वविधापि च शक्तिर-पचीयते यतोऽहमपि कियतैवानेनोत्पतनेन श्रममिवानुभवामि मम पक्षौ च त्रुट्यत इवेत्याशयः ॥ ४ ॥

मन्वन्तरपुराणः = मन्वन्तरवृद्धः । 'मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः' इत्यमरः । अहो = आश्चर्यकरः । अस्या मयि प्रेमा विस्मयावह इत्यर्थः ।

(प्रवेश करके)

जटायु—कावेरी नदीसे वेष्टित इस मलयाचलकी चोटी पर उतरता हूँ जहाँ हमारे पूज्य काश्यप शकुन्त पक्षहीन पर्वतकी तरह रहा करते हैं ॥ ३ ॥

हम भी उड़ते उड़ते थक गये हैं क्योंकि पंख ढीले पड़ रहे हैं, सर्वसमर्थ कालकी शक्ति बुढ़ापा सभी शक्तियोंकी प्रतिबन्धिका होती है ॥ ४ ॥

यही तो कल्पादि उम्रवाले बूढ़े गृध्रराज हैं । धन्य है भ्रातृप्रेम !

पुराकल्पे दूरोत्पतनखुरलीकेलिजनिता-
दतिप्रत्यासङ्गात्परितपति गात्राणि तपने।
अवष्टभ्यासौ मामुपरि ततपक्षः शिशुरिति
स्वपक्षाभ्यां प्लोषादविकलमरक्षत्करुणया॥ ५॥

(उपसृत्य) आर्य काश्यप ! त्वां जटायुरभिवादयते।

संपातिः—एह्येहि वत्स !

त्वया पुत्रवती श्येनी गृध्राणां चक्रवर्तिना।
गरुत्मतेव वीरेण विनता नः पितामही॥ ६॥

पुराकल्पे इति० **असौ ममाग्रजः सम्पातिः पुराकल्पे पूर्वस्मिन् ब्रह्मदिने दूरोत्पतनस्य सुदूरोड्डयनस्य खुरली लक्ष्यबन्धः सैव केलिः क्रीडा ततो जनितात् सञ्जातात् अतिप्रत्यासङ्गात् नितान्तसामीप्यात् तपने सूर्ये गात्राणि मम शरीरावयवान् परितपति दहति सति शिशुरिति बालोऽयमिति करुणया दयया माम् स्वपक्षाभ्याम् अवष्टभ्य आलम्ब्य मदुपरि विस्तारितस्वपक्षः सन् स्वपक्षाभ्याम् माम् अविकलम् सम्पूर्णभावेन प्लोषात् सूर्यकरकृतात् दाहात् अरक्षत् रक्षितवान्। पुराकल्पे बालावावां दूरोत्पतनस्पर्धायां सूर्यमण्डलं लक्ष्यमकृष्वहि, तत्रोत्पतनेनातिप्रत्यासत्तौ सूर्यकरैर्मम देहे ताप्यमाने बालोऽयं मा सूर्यकरोऽमुं धाक्षीदिति करुणया मम भ्रातायं ममोपरि स्वं पक्षद्वयं प्रसार्य मां पूर्णतयाऽरक्षत्, तत्रैव च तस्य पक्षौ दग्धाविति विस्मयावहोऽस्य भ्रातृस्नेह इति भावः। 'कल्पस्तु प्रलये न्याये शास्त्रे ब्रह्मदिने विधौ' 'खुरली लक्ष्यबन्धनम्' इति रत्नमालाकेशवौ। शिखरिणीवृत्तम्॥ ५॥**

अभिवादयते = प्रणमति।

एहि = आगच्छ। सम्भ्रमे द्विरुक्तिस्तेन च प्रीत्यतिशयो व्यज्यते।

त्वयेति० **वीरेण गरुत्मता गरुडेन नः अस्माकम् पितामही विनता इव त्वया**

पुराने जमानेमें उड़नेकी प्रतियोगितामें सूर्य छूनेकी बाजी लगी, इसी प्रसङ्गमें सूर्य जब अतिसमीप आगये तो हमारी देह जलने लगी, इस दशामें इन्होंने अपने पंखोंमें छिपाकर जलनेसे अविकल भावमें बचानेकी दया की थी॥ ५॥

(समीप आकर)

आर्य ! काश्यप ! जटायु आपको प्रणाम करता है।

सम्पाति—आओ भाई आओ,

जिस प्रकार गरुड़से हमारी पितामही विनता पुत्रवाली कहलाती है उसी प्रकार तुम्हारे समान गृध्रराज पुत्ररत्नसे श्येनी भी पुत्रवती कहलाती है॥ ६॥

(परिष्वज्य) वत्स जटायो! कालविप्रकर्षान्मन्दीभूतपितृशोको रामभद्रः।

जटायुः—

तस्य विद्यातपोवृद्धसंयोगः स्वा च धीरता।
न्याय्यो रक्षाधिकारश्च दौर्मनस्यं व्यपोहति ॥ ७ ॥

संपातिः—

तृप्तैर्विराधमांसानां गृध्रैरावेदितं हि मे।
चित्रकूटाद्यदा रामः शरभङ्गाश्रमं गतः ॥ ८ ॥
तथा च शरभङ्गेण हव्यवाहे हुता तनुः।
अथोपसेदिवान् रामः सुतीक्ष्णाद्यानृषीनिति ॥ ९ ॥

(नो माता) श्येनी पुत्रवती प्रशस्तपुत्रा भवतीति शेषः। प्रशंसायां मतुप्। 'द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च। तस्माज्जातोऽहमरुणात् सम्पातिस्तु ममाग्रजः' इति रामायणे जटायुवचनमत्रानुसन्धेयम् ॥ ६ ॥

कालविप्रकर्षात् = त्रयोदशवर्षात्मककालातिपातात्। मन्दीभूतपितृशोकः = न्यूनतापन्नपितृमरणशोकः।

तस्येति० तस्य रामस्य विद्या शास्त्रज्ञानम्, तपः नियमव्रतादि, वृद्धसंयोगः ज्ञानवयोवृद्धपुरुषसंसर्गः, स्वा स्वीया धीरता धैर्यम्, न्याय्यः न्यायप्राप्तः रक्षाधिकारः लोकरक्षणव्यस्तता च दौर्मनस्यं पितृमरणजन्यम् वैक्लव्यम् व्यपोहति नाशयति। वाक्यभेदेन क्रियापदस्यैकवचनमुपपाद्यम् ॥ ७ ॥

तृप्तैरिति० विराधमांसानां विराधाख्यदानवदेहमांसानाम् तृप्तैः सन्तुष्टैः (करणस्य शेषत्वविवक्षायां मांसैरित्यस्य स्थाने मांसानामिति षष्ठी) गृध्रैः मे मह्यम् आवेदितम् उक्तम्—यदा रामश्चित्रकूटात् शरभङ्गाश्रमङ्गत इति। तथा च शरभङ्गेण रामोपस्थितौ हव्यवाहे वह्नौ तनुः हुता क्षिप्ता, अथ रामः सुतीक्ष्णाद्यान् सुतीक्ष्णप्रभृतीन् ऋषीन् उपसेदिवान् समीपगमनादिना सम्भावितवान् इति। सर्वोऽप्ययं वृत्तान्तनिवहो विराधमांसभोजनतृप्तगृध्रा मह्यं न्यवेदयन्निति। युग्मकमिदमेकत्रैव व्याख्यातम्॥

(गले लगाकर) भाई जटायु! समयके बीतनेसे रामका पितृशोक तो मन्द हो गया न?

जटायु—रामचन्द्र बड़े बूढ़ोंके संसर्गमें रहते हैं, स्वयं धीर हैं, उनके ऊपर संसारकी रक्षकका भार है, अतः उनको शोकका अवसर ही नहीं होता ॥ ७ ॥

सम्पाति—विराधके मांससे तृप्त गृध्रोंने मुझसे कहा था जब राम चित्रकूटसे शरभङ्गाश्रमको गये ॥ ८ ॥

अनन्तर शरभङ्गने आगमें अपनी देह डाल दी और राम सुतीक्ष्ण प्रभृति ऋषियोंसे जाकर मिले ॥ ९ ॥

जटायुः—बाढम् । अधुनागस्त्यवचनाद्रामः पञ्चवट्यां प्रतिवसति ।

संपातिः—(चिरं स्मृत्वा) अस्ति जनस्थाने पञ्चवटी नाम गोदावरीतटोद्देशः । वत्स जटायो ! विषयबाहुल्यं कालविप्रकर्षश्च स्मृतिं प्रमुष्णाति ।

कल्पस्यादौ मम परिचयस्तावदासीदुदस्था-
द्यावद्विष्णोरुपरि चरणश्चारुगङ्गापताकः ।
पर्यन्तेष्वप्यवधिवलयस्तेजसां यावदद्रि-
र्लोकालोकः परिसरगतः सप्तमस्याम्बुराशेः ॥ १० ॥

बाढम् = परोक्तस्य श्रुतावनुमोदनेऽव्ययमिदम्, सम्पातिवचनं मयाश्रुतमनुमोद्यते चेत्याशयः ।

पञ्चवटी = पञ्चानां वटानां समाहारः । गोदावरीतटोद्देशः = गोदावर्यास्तीरप्रदेशः । विषयबाहुल्यम् = स्मृतिविषयवस्तुभूयस्त्वम्, ज्ञानस्य बृहत्त्वम्, कालविप्रकर्षः = अनुभवस्य चिरवृत्तम् । स्मृतिम् = स्मृतिजनकं संस्कारम् । प्रमुष्णाति = फलजननवन्ध्यं करोति । यदा ज्ञाता बहूनर्थाननुभवति तदा स्मरणं न जायते, काले बहुतिथे जातेऽपि स्मरणं न जायते इत्याशयः ।

कल्पस्येति० कल्पस्य ब्रह्मदिवसस्य आदौ प्रारम्भकाले चारुगङ्गापताकः गङ्गात्मकेन सुन्दरेण ध्वजपटेन युतः विष्णोः चरणः वामनावतारस्य हरेः पादः यावत् यावद्दूरपर्यन्तम् उपरि उदस्थात् ऊर्ध्वं गतः, सप्तमस्याम्बुराशेः स्वादूदकस्य सागरस्य पर्यन्तेषु प्रान्तेषु परिसरगतः समीपस्थः तेजसाम् अवधिवलयः प्रकाशानां सीमानिर्धारणरूपः लोकालोकः चक्रवालो नाम अद्रिः यावत् तावन्मम परिचय आसीत् । अयमर्थः—कल्पादौ विष्णुर्गङ्गारूपताकयोपलक्षितचरणो यावद्दूरं वियति विचक्रमे तावत्, यावच्च समुद्रस्य तीरे प्रकाशावधिभूतो लोकालोकः स्थितस्तावत् मम ज्ञानमासीत् अतो बहुज्ञस्यातिचिरवृत्तज्ञानस्य च मम स्मरणं न जायत इति । अत्र विष्णोश्चरणस्य यावदूर्ध्वगतिस्तावन्मम परिचय इत्युक्त्या समस्तखगोलज्ञानम्, लोकालोकपर्वतपर्यन्तपरिचयोक्त्या च समस्तभूमण्डलज्ञानं प्रत्याय्यते । लोक्यते

जटायु—ठीक है, इस समय अगस्त्यके आदेशसे राम पञ्चवटीमें हैं ।

सम्पाति—वनमें गोदावरीके किनारे पञ्चवटी नामका स्थान है, भाई जटायु ! बहुत बातें और कालातिपात स्मरणको लुप्त कर देते हैं ।

सृष्टिके आदिमें हमको आकाशके उस भागतकका परिचय था जहाँ तक विष्णुका गङ्गारूप ध्वजावाला चरण पहुँचा था और सप्तम समुद्रके पार्श्ववर्त्ती लोकालोक पर्वतका मुझे परिचय था ॥ १० ॥

जटायुः—तत्रैकदा रघुवृषं वृषस्यन्ती शूर्पणखा प्राप्ता ।

संपातिः—अहो निर्मर्यादता !

अनेकयुगजीविन्यास्त्रेता यस्यास्त्रयोदशी ।
सा क्षीरकण्ठकं वत्सं वृषस्यन्ती न लज्जिता ॥ ११ ॥

जटायुः—

तस्यां च कर्णनासोष्ठकर्तनेन न्यवीविशत् ।
दशाननतिरस्कारप्रशस्तिमिव लक्ष्मणः ॥ १२ ॥

एकस्मिन् पार्श्वे दृश्यते न लोक्यते अपरस्मिन् पार्श्वे न दृश्यत इत्यलोकः लोकश्चालोकश्चेति लोकालोकः-एकत्र भागे सूर्यसञ्चाराद् दृश्योऽपरभागे सूर्यगत्यभावाददृश्योऽन्धकारमय इति भावः । उक्तञ्च—'स्वादूदकस्य परतो दृश्यते लोकसंस्थितिः । द्विगुणा काञ्चनीभूमिः सर्वजन्तुविवर्जिता । लोकालोकस्तथा शैलो योजनायुतविस्तृतः' ॥ पूर्वमहमदग्धपक्षः जगत्सूर्ध्वमधश्च सञ्चरणशील आसं तेन ममाविदितं न किमप्यस्तीति परमार्थः ॥ १० ॥

वृषस्यन्ती = रतये कामयमाना । 'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमरः, वृषशब्दात्क्यचि 'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' इति सुगागमः ।

अनेकेति० अनेकानि युगानि जवति तच्छीलाऽनेकयुगजीविनी तस्याः यस्या इयम् वर्त्तमाना त्रेता त्रयोदशी त्रेता, (या द्वादश पूर्वतनीस्त्रेता गमयित्वा त्रयोदशीमिमां त्रेतां गमयति) सा क्षीरकण्ठम् स्तन्यपायिनम् अतिशिशुम् रामम् वृषस्यन्ती रतये कामयमाना न लज्जिता ? उचिता तु तस्या लज्जेति भावः । किञ्चिदधिकद्वादशयुगवयस्कायास्तस्याः त्रिंशद्वर्षवयस्करामकामना धर्मशास्त्रकामशास्त्रयोर्दृष्ट्या नितान्तनिन्द्येति सारांशः ॥ ११ ॥

तस्यां चेति० लक्ष्मणः तस्याम् शूर्पणखायाम् कर्णनासौष्ठकर्त्तनेन कर्णयोर्नासायाः ओष्ठस्य च च्छेदनेन दशाननतिरस्कारप्रशस्तिम् रावणावमाननागाथाम् इव न्यवीविशत् स्थापयामास । शूर्पणखायास्तत्तदङ्गच्छेदो न च्छेदः किन्तु रावणावमानप्रशस्तिरेवेति भावः ॥ १२ ॥

जटायु—वहाँ रामचन्द्रके साथ रतिकी इच्छासे राक्षसी शूर्पणखा पहुँची ।

सम्पाति—आश्चर्य है उसकी मर्यादा हीनतापर ।

वह शूर्पणखा बहुतसे युग देख चुकी, उसके जीवनकी तेरहवीं त्रेता बीत रही है, फिर भी उसको दुधमुहे रामसे ऐसी बात करते लज्जा नहीं आई ? ॥ ११ ॥

जटायु—उसकी नाक, ओठ और कान काटकर लक्ष्मणने दशानन तिरस्कार पद्धति सी लिख दी ॥ १२ ॥

संपातिः—तन्निमित्तस्तर्हि कश्चिदनुबद्धः परैरभियोगः।

जटायुः—बाढम्। एकेनैव रामभद्रेण—

चतुर्दशसहस्राणि चतुर्दश च राक्षसाः।
त्रयश्च दूषणखरत्रिमूर्धानो रणे हताः॥ १३॥

संपातिः—आश्चर्यमाश्चर्यम्। अथवा नाश्चर्यमेतद्दाशरथौ। महत्पुनरपावृतं वैरद्वारमिति मन्यमानः संप्रमुग्धोऽस्मि। तद्वत्स जटायो! नास्मिन्नवसरे सीतारामलक्ष्मणास्त्वया क्षणमपि मोक्तव्याः।

स्वसुः सोदर्यायाः कथमिव निकारं दशमुख-
स्तथा भूयोभूयः स्वजनविनिपातं च सहते।

तन्निमित्तः=शूर्पणखाङ्गभङ्गहेतुकः। अभियोगः=वैरहेतुरभिग्रहः। अनुबद्धः=कृतः, तत्प्रतिकाराय ते परे किमपि कृतवन्तो न वेति जिज्ञासा।

चतुर्दशेति० रणे युद्धे चतुर्दशसहस्राणि चतुर्दश च राक्षसाः त्रयः खरदूषणत्रिमूर्धानः हताः एकेन रामेणैव मारिता इत्यन्वयः। त्रिमूर्धा=त्रिशिराः॥ १३॥

आश्चर्यम्=अतिविस्मयजनकमेतद्यद्रामोऽसहाय एव तावतो राक्षसानवधीदिति। विचार्य पक्षान्तरमाह—नाश्चर्यमिति०। अपावृतम्=उद्घाटितम्। संप्रमुग्धः=कृत्याकृत्यविवेकशून्यः। रामस्तथा कृतवानिति न ममाश्चर्यस्य कारणं यतोऽसौ दशरथजन्मा, वैरं तु महदुन्मुक्तद्वारं जातं, तदेव चिन्तयामीत्याशयः। अस्मिन्नवसरे=रावणेन सह विरोधे। मोक्तव्याः=त्याज्याः, सततावधानेन रक्षणीया इत्यर्थः।

स्वसुरिति० मदान्धः गर्वलुप्तदृष्टिः मायावी वञ्चनातुरः प्रभुः कोशदण्डादिशक्तियुतः अमितवीर्यः अपरिच्छेद्यपराक्रमः अन्तिकचरः सपत्नः समीपस्थदेशवर्त्ती शत्रुः दशमुखः रावणः सोदर्यायाः समानोदरजातयाः स्वसुः भगिन्याः शूर्पणखायाः निकारम् वैरूप्यकृतं तिरस्कारम् तथा भूयोभूयः पौनःपुन्येन स्वजनविनिपातम् स्वबन्धु-

सम्पाति—इसपर उन लोगोंने कुछ आक्रमण आदि किया?

जटायु—हाँ। किन्तु अकेले रामभद्रने—

चौदह हजार चौदह राक्षस और तीन खर, दूषण और त्रिशिरा इतनेको लड़ाईमें मौतके घाट उतार दिया॥ १३॥

सम्पाति—आश्चर्य है, अथवा रामके विषयमें यह क्या आश्चर्य है? फिर भी बहुत भारी शत्रुताका द्वार खुल गया इसीसे मूढ़ हो रहा हूँ। इसलिये भाई जटायु! इस आड़े समयमें क्षणभर भी तुम राम, सीता और लक्ष्मणको मत छोड़ना।

सोदर बहिन शूर्पणखाके अपमानको दशमुख क्यों और कैसे सहेगा? बार-बार

मदान्धो मायावी प्रभुरमितवीर्योऽन्तिकचरः
सपत्नः कष्टं नो निपुणमनुपाल्या हि शिशवः ॥ १४ ॥

अहमपि समुद्रे कृताह्निकः शिवतातिमनुसंधास्यामि । (इति निष्क्रान्तः)

जटायुः—(गगनगमनमभिनीय)

एषोऽस्मि प्रलयमरुत्प्रचण्डरंहःसंक्षिप्तप्रथिम पिबन्निवान्तरिक्षम् ।
क्षेपीयो मलयगिरेर्निवासभूभृत्संसक्तक्षितिरुहजालमभ्युपेतः ॥ १५ ॥

सुबाहुविराधखरदूषणादिवधम् च कथं सहते उपेक्षते, न कथमपीत्यर्थः । वञ्चनया प्रभुशक्त्या पराक्रमेण समीपवर्त्तितयाऽवसरलाभसंभवेन सोदरतयात्यभिप्रेतायाः स्वसुर्निकारं बन्धुवधं च रामेण भूयोभूयो विधीयमानं दशमुखः कथमपि नोपेक्षेता-तोऽवश्यभाविनि विरोधे रावणकृतादुपद्रवाद्रामादयो रक्ष्या इत्याशयः। तदाह–कष्टम् दुःखमुपस्थितम् , शिशिवो बालाः रामादयः नः अस्माकम् नियतम् निश्चयेन अनुपाल्याः रक्षणीयाः । सोदर्यपदे 'सोदराद्यत्' इति यत् । 'निकारो विप्रकारः स्यात्' 'बन्धुस्वस्वजनाः स्मृताः' इत्युभयत्रामरः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १४ ॥

अत्रोपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा स्फुटा । अत्रैव च तत्त्वानुकीर्त्तनरूपो मार्गः, वितर्कप्रतिपादकवाक्यात्मकं रूपम् , अपकारिजनाद्भयरूप उद्वेगः, शङ्कात्रासरूपसंभ्रमश्च सन्ध्यङ्गानि सूचितानि बोध्यानि ।

कृताह्निकः = विहितस्नानादिदिनकृत्यः । शिवतातिम् = शिवङ्करम् । 'शिवतातिः शिवङ्करः' इत्यमरः, अनुसन्धास्यामि = चिन्तयिष्यामि ।

एषोऽस्मीति० एषः अहम् प्रलयमरुतः कल्पावसानसमयवातात् प्रचण्डेन भयङ्करेण रंहसा वेगेन संक्षिप्तः सङ्कोचितः प्रथिमा विस्तारो यस्य तत्तथोक्तम् (कल्पावसानवात्यावदतिभीषणवेगवशादाकाशस्य विस्तारं लघूकुर्वन् अहम्) अन्तरिक्षम् पिबन्निव आचामन्निव मलयगिरेः मलयपर्वतात् क्षेपीयः द्रुतम् निवासभूभृत्संसक्तक्षितिरुहजालम् वासाचलसंयुक्तमहीरुहसमूहम् अभ्युपेतः आगतः अस्मि । अहं

अपने बन्धुवधको वह कैसे उपेक्षा कर देगा ? वह मदान्ध, मायावी, प्रभु, पराक्रमी तथा समीपस्थ शत्रु है इसीको हमें पीडा हो रही है, देखना, बच्चोंकी रक्षा ठीकसे करना ॥ १४ ॥

मैं भी समुद्रमें स्नान करके उनकी मङ्गलकामना करूँगा ।

(जाता है)

जटायु—(आकाशमें उड़कर) हमारे प्रलयकालिक वातके समान वेगसे जिसका विस्तार संक्षिप्त हो गया है, इस तरहके आकाशको पीता हुआ मैं शीघ्र ही मलयाचलसे अपने निवास पर्वतपर स्थित वृक्षसमूहपर आ गया हूँ ॥ १५ ॥

अयमविरलानोकहनिवहनिरन्तरस्निग्धनीलपरिसरारण्यपरिणद्धगोदावरीमुखकन्दरः सततमभिष्यन्दमानमेघमेदुरितनीलिमा जनस्थानमध्यगो गिरिः प्रस्रवणो नाम । इयं च पञ्चवटी । (विभाव्य) अये !

दूरं हृतश्चित्रमृगेण रामस्तया दिशा गच्छति लक्ष्मणोऽपि ।
ततः परिव्राडुटजं प्रविष्टो धिग्व्यक्तरूपो दशकंधरोऽयम् ॥ १६ ॥

अहो प्रमादः प्रमादः !

तावता वेगेन प्रस्थितो यदाकाशविस्तारो मया पीयमान इव न्यलीयत, शीघ्रं चाहं मलयात्स्वावासाचलमायात इति भावः, प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ १५ ॥

अयम् = पुरोदृश्यः । अविरलानाम् = घनानाम् , अनोकहानाम् = वृक्षाणाम् , निवहैः = समूहैः, निरन्तरः = व्याप्तान्तरालः, स्निग्धः = मनोरमः, नीलः = नीलवर्णः, परिसरः = प्रान्तभूमिः येषां तथाविधैः अरण्यैः = वनैः, परिणद्धा = संश्लिष्टा, गोदावरी मुखेषु येषां ते तथोक्ताः कन्दराः गुहाः यस्य तथोक्तः । निबिडवृक्षावलीस्निग्धः, नीलवर्णपरिसरारण्यव्याप्तगोदावरीसमीपस्थगुहायुत इत्यर्थः । अभिष्यन्दमानमेघमेदुरितनीलिमाः वर्षद्घनद्विगुणश्यामभावः । जनस्थानमध्यगः = वनमध्यवर्त्ती ।

दूरमिति० चित्रमृगेण = नानावर्णयुतेन हरिणेन रामः दूरम् हृतः आकृष्य नीतः । तया रामश्रितया दिशा लक्ष्मणोऽपि गच्छति । ततः लक्ष्मणगमनानन्तरम् परिव्राट् कोऽपि संन्यासी उटजम् रामनिवासपर्णशालाम् प्रविष्टः । (अयम् परिव्राट्) व्यक्तरूपः प्रकटीकृतनिजस्वरूपः रावणः । धिक् अस्य विवेकमिति शेषः । 'धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोः' 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इति चामरः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १६ ॥

प्रमादः = मम रामस्य लक्ष्मणस्य चानवधानता । अवश्यमेकेनोटजे स्थातव्यमासीत्तदकरणात्प्रमाद इति भावः ।

अत्र प्रस्तुतोपयोगिच्छद्माचरणादभूताहरणं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् ।

यही है प्रस्रवण नामक वनमध्यस्थ पर्वत, जिसकी कन्दरायें सटे हुए वृक्षकी निरन्तर छायासे हरी वनावलीसे युक्त गोदावरी द्वारा मुखरित की जाती हैं, और जिसपर सर्वदा बरसते हुए मेघ श्यामल छाया फैलाते रहते हैं । यही तो पञ्चवटी है । (देखकर) अरे—

चित्र मृगपर आकृष्ट होकर राम बड़ी दूर चले गये, लक्ष्मण भी उधर ही जा रहे हैं, यह संन्यासी पर्णशालामें पैठ रहा है, अरे—यह तो रावणके रूपमें प्रकट हो रहा है ॥१६॥

हाय, धोखा हुआ धोखा !

परःसहस्रैरायुक्तं पिशाचवदनैः खरैः ।
रथं वधूटीमारोप्य पापः क्वाप्येष गच्छति ॥ १७ ॥

पौलस्त्य पौलस्त्य !

धर्तारः प्रलयेषु ये भगवतो वेदस्य विद्येश्वरा-
स्तेषामन्वयकेतनस्य भवतः स्नातस्य वेदव्रतैः ।
जेतुर्वैतलसद्मनोऽपि तपसा दीप्तस्य राज्ञः सतो
निन्द्या दुश्चरितावतारजननी जाता कथं दुर्मतिः ॥१८॥

परःसहस्रैरिति० सहस्रेभ्यः परे परःसहस्राणि तैः पिशाचानां वदनानीव वदनानि येषां पिशाचवदनैः खरैः गर्दभैः आयुक्तम् उह्यमानम् रथम् वधूटीम् अपांसुलाम् सीताम् आरोप्य एषः पापः जघन्याचारः रावणः क्वापि गच्छति। 'जीवद्भर्त्री कुलस्था या वधूटी सा स्यपांसिनी' इति त्रिकाण्डशेषः ॥ १७ ॥

पौलस्त्य = पुलस्त्यवंशजात, साभिप्रायमिदं विशेषणमकर्त्तव्यप्रवृत्तेरनौचित्यं कुलकलङ्कतां च गमयति ।

धर्त्तार इति० ये पुलस्त्यादयः विद्येश्वराः सर्वविधविद्यासमृद्धाः प्रलयेषु कल्पापाय-समयेषु भगवतः पूज्यस्य वेदस्य सर्वपुरुषार्थतत्साधनज्ञापकस्याम्नायस्य धर्त्तारः (सृष्टिकाले प्रवर्त्तनार्थमात्मनि) रक्षकाः, तेषाम् पुलस्त्यादीनाम् अन्वयकेतनस्य वंशध्वजस्य वेदव्रतैः वेदोक्तनियमैः स्नातस्य व्रतान्तविहितावभृथस्नानं कृतवतः, वैतलसद्मनः वितलाख्याधोभुवनवासिनः अपि कालकेयादीन् जेतुः जितवतः, तपसा तपस्यया दीप्तस्य प्रकाशितस्य राज्ञः प्रजापालकस्य सतस्ते निन्द्या दुश्चरितावतार-जननी दुष्कर्मकारणभूता दुर्मतिः दुष्टा बुद्धिः कथम् जाता । प्रलये वेदरक्षकाः पुल-स्त्यादयस्ते पूर्वजाः, त्वया व्रतादीनि कृतानि, कालकेयादयः पातालवासिनस्त्वया जिताः, तपोऽपि त्वयाऽऽचरितम् , राजपदमपि साधु निरूढं त्वयाऽस्यां सुमति-सामग्र्यां सर्वथोपस्थितायामपीदृशदुष्कर्मकरी तव दुर्मतिः कथमुत्पन्नेति प्रश्नार्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

यह पापी रावण पिशाचमुख गदहोंके सहस्रसे युक्त रथपर सीताको बैठाकर कहीं लिये जा रहा है ॥ १७ ॥

पौलस्त्य ! पौलस्त्य !

तुम्हारे पूर्वजोंने प्रलयकालमें वेदोंकी रक्षा की थी, उन्हींके वंशमें तुम पैदा हुए, तुमने वेदों को पढ़ा, तुमने कालकेयादिको परास्त किया, तपस्या की, तुम्हारी बुद्धि इतनी नीच और इस दुश्चरितमें प्रवृत्त कैसे हुई ? ॥ १८ ॥

कथमवज्ञया न शृणोतीव । आः दुरात्मन् राक्षसापसद ! तिष्ठ तिष्ठ ।

तुण्डप्रोतशिरःकरोटिविवराकृष्टस्फुरत्त्वग्वसा-
क्लोमप्लीहयकृद्द्रुतोष्णरुधिरस्नाय्वान्त्रमालस्य ते ।
अत्युग्रक्रकचप्रचण्डनखरोत्कर्तक्वणत्कीकसै-
रङ्गैः खण्डितकंधराधमनिभिः श्येनीसुतस्तृप्यतु ॥१९॥

अत्र प्रस्तुतोपयोगिसामवचनात् संग्रहो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् ।

अवज्ञया = मम पक्षित्वमालोक्याकिञ्चित्करोऽयमिति तिरस्कारेण । राक्षसापसद = राक्षसाधम ।

तुण्डप्रोतेति० तुण्डेन मद्वक्त्रेण प्रोतानाम् सच्छिद्रीकृतानाम् शिरसाम् मस्तकानाम् करोटेः अस्थ्नः विवरेभ्यः छिद्रेभ्यः आकृष्टाः बहिरानीताः स्फुरन्त्यः चलन्त्यः, त्वचः असृग्धराः, वसाः मेदांसि, क्लोम निलकम् , प्लीहा गुल्मः, यकृत् कालखण्डम् , द्रुतोष्णरुधिरम् युद्धक्रोधवशादुष्णरक्तम् , स्नायवः वस्नसाः, अन्त्रमाला पुरीतत्समुदयः, यस्य तथोक्तस्य ते तव रावणस्य अत्युग्रैः अतितीक्ष्णैः क्रकचप्रचण्डैः करपत्रवद्दारुणैः (मम) नखरैः नखैः उत्कर्त्तन भेदनेन क्वणन्ति शब्दायमानि कीकसानि अस्थीनि यस्य तादृशस्य च तव खण्डितकन्धराधमनिभिः छिन्नग्रीवाशिरैः अङ्गैः (करणैः) श्येनीसुतः जटायुः तृप्यतु तुष्यतु । अहं तुण्डेन तव शिरांसि पाटयामि, तद्विवरात्तव त्वचः, वसाः, क्लोम, प्लीहा, यकृत् , उष्णरक्तम् , स्नायुः, अन्त्रमाला च बहिर्भाविष्यन्ति, अत्युग्रेण क्रकचोपमेन मम नखरेण तवाङ्गानि भिद्यन्ते, ततश्च पुनर्नखरप्रहारेऽस्थीनि शब्दं करिष्यन्ति, छिन्नशिरसश्च तवाङ्गानि श्येनीसुतस्य मम तृप्तिं करिष्यन्तीत्यर्थः । 'शिरोऽस्थि तु करोटिः स्त्री' 'स्त्रियां त्वसृग्धरा' 'निलकं क्लोम' 'गुल्मस्तु प्लीहा पुंसि' 'कालखण्डयकृती तु समे इमे' 'अथ वस्नसा–स्नायुः स्त्रियाम्' 'आन्त्रं पुरीतत्' 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्' 'नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' 'कीकसं कुल्यमस्थि च' 'ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इति सर्वत्रामरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

अत्र रोषसम्भ्रमवचनरूपं तोटकं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् ।

क्यों, यह तो तिरस्कारसे सुन ही नहीं रहा है, आः नीच राक्षस ! ठहर, ठहर,— मैं चोंचसे तुम्हारी खोपड़ी फोड़कर तथा अङ्गोंको क्षतविक्षत करके तुम्हारी चमड़ी, अँतड़ियाँ, प्लीहा, यकृत् , उधेड़ देता हूँ, उससे गरम रक्त तथा आँतोंकी माला निकल आयेगी और भयानक आरेके समान नखोंसे तुम्हारे शेष अङ्गोंको चीरकर धमनियोंको नोंचनोंचकर मैं श्येनीसुत तृप्तिका अनुभव करता हूँ ॥ १९ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

शुद्धविष्कम्भः ।

(प्रविश्य)

लक्ष्मणः—हा आर्ये ! क्वासि । कष्टं दशापरिणाममनुभवत्यार्यो मारीचशत्रुः ।

एष मूर्त इव क्रोधः शोकाग्निरिव जङ्गमः ।
कृच्छ्राद् बिभर्ति हृल्लेखलज्जासंवेगिनीं तनुम् ॥ २० ॥

तथा हि—

आभुग्नभ्रुकुटीविटङ्कघटनासंसूचितान्तःस्फुर-
द्धैर्यस्तम्भितदुर्व्यवस्थविततप्रोच्चण्डकोपानलः ।

शुद्धविष्कम्भकः = केवलसंस्कृतात्मकत्वाच्छुद्धत्वम् , वृत्तानां विराधखरदूषणादिवधकथांशानां वक्ष्यमाणानां जटायुकथांशानाञ्च संक्षेपेण कथनाद्विष्कम्भलक्षणसङ्गतिः ।

कष्टम् = दुःखरूपम् । दशापरिणामम्=क्रोधरूपावस्थायाः फलम् । अनुभवन्ति= भुङ्क्ते ।

एष इति० मूर्त्तः कायधरः क्रोध इव स्थितः जङ्गमः सञ्चरणक्षमः शोकाग्निः शत्रुकृतापकारखेदज्वाला इव स्थितः एषः आर्यो रामः हृल्लेखः भार्यापहरणाज्जुगुप्सा लज्जा संकोचस्ताभ्यां संवेगिनीम् सम्भ्रमवतीम् तनुम् शरीरम् कृच्छ्रात् बिभर्त्ति न तु सुखं जीवति । क्रोधशोकाभ्यां परीतस्य जुगुप्सालज्जाभ्यां च विचलितस्य रामस्य जीवितमधुना कष्टमयमित्याशयः ॥ २० ॥

आभुग्नेति० आभुग्नयोः कुटिलयोः भ्रुकुटीविटङ्कयोः विटङ्कः कपोतपालिका तत्तु-

(जाता है)

(शुद्ध विष्कम्भक)

लक्ष्मण—हा आर्ये ! कहाँ हो ? बड़े कष्टमें हैं पूज्य मारीचशत्रु ।

यह हमारे आर्य आजकल शरीरधारी क्रोधके सदृश तथा जङ्गम शोकाग्निके तुल्य होकर कष्टसे जुगुप्सा और लज्जासे युक्त देहको धारण कर रहे हैं ॥ २० ॥

टेढ़ी भ्रुकुटियोंसे आन्तरिक धैर्यसे दबाये गये कोपकी व्यञ्जना हो रही है, जो कोप अतिप्रचण्ड है, इस प्रकार इन दिनों आर्यकी स्थिति ऊपर धूमसे आवृत भीतर उदरमें

उद्धूमावलिरम्भसामिव निधिर्मध्यज्वलद्वाडवो
विद्युद्व्यञ्जितवज्रगर्भजलदच्छायां समालम्बते ॥ २१ ॥

(ततः प्रविशति रामः)

रामः—न्यक्कारो हृदि वज्रकील इव मे तीव्रः परिस्पन्दते
घोरान्धे तमसीव मज्जति मनः संमीलितं लज्जया ।
शोकस्तातविपत्तिजो दहति मां नास्त्येव यस्मिन् क्रिया
मर्माणीव पुनश्छिनत्ति करुणा सीतां वराकीं प्रति ॥ २२ ॥

स्ययोः भ्रुकुट्योः घटना मेलनम् तेन सूचितः, अन्तःस्फुरता हृदये वर्त्तमानेन धैर्येण अक्षोभ्यत्वलक्षणगभीरभावेन स्तम्भितः निरुद्धप्रसरः अत एव च दुर्व्यवस्थः कष्टनिरोध्यः विततः प्रसृतः प्रोच्चण्डः अतितीव्रः कोपानलः क्रोधवह्निः यस्य तादृशः कुटिले भ्रुवौ परस्परं मिलतस्तेन कोपः सूच्यते, स चान्तर्वर्त्तिना धैर्येण नियमित इति हेतोर्विस्तृतिं भजते, तादृशं कोपानलं धारयन्नित्यर्थः। दृष्टान्तमाह–मध्यज्वलद्वाडवः अन्तः प्रदीप्तवड़वानलः उद्धूमावलिरुद्गतधूमपङ्क्तिरम्भसां निधिः सागर इव (स एष रामः) विद्युता व्यञ्जितः प्रतीतः वज्रः दम्भोलिर्गर्भे यस्य तादृशस्य जलदस्य मेघस्य च्छायां तुलनां समालम्बते धारयति । यथा समुद्रेऽन्तर्वडवानलस्तदुत्थश्च धूमो बहिर्यथा वा मेघे विद्युदनुमाप्यो वज्रोऽन्तस्तद्वदयमपि कोपमन्तर्धत्ते इत्याशयः। अत्र भ्रुकुटीधूमावल्योः कोपानलवाडवयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावेनाभिन्नयोः साधारणधर्मत्वादुपमा, एवं भ्रुकुटीविद्युतोः कोपानलवज्रयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावेनाभिन्नतयाप्युपमेति वीरराघवः। 'आभुग्नं कुटिलं समम्' 'कपोतपालिकायां तु विटङ्कं पुंनपुंसकम्' इत्युभयत्रामरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २१ ॥

अत्र कोपोत्कर्षाभिधानात्प्रस्तुतोत्कर्षाभिधानमुदाहृतिर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् ।

न्यक्कार इति० न्यक्कारः भार्यापहरणपरिभवः वज्रकीलः दुर्भेदवज्रशङ्कुः इव मे हृदि तीव्रः दुःसहः सन् परिस्पन्दते प्रतिकर्त्तव्यताराहित्येन चलति । मे मम मनः (कर्तृ) लज्जया ईदृशस्थितिसङ्कोचेन सम्मीलितं समावृतं सद्घोरान्धे भयङ्करे नेत्रशक्तिहरे तमसि अज्ञाने मज्जतीव । कर्त्तव्यं नावधारयतीत्यर्थः। तातस्य पितृसखत्वात्पूज्यस्य जटायोः विपत्तिजः तादृशमरणजन्मा शोकः खेदः मां दहति ताप-

वड़वानलको दबाये हुए समुद्रके समान हो रहा है या बिजलीसे व्यञ्जित वज्रसे युक्त मेघकी सी हो रही है ॥ २१ ॥

राम—वज्रकीलकी तरह यह शिकायत हमारे भीतर बैठी हुई है, मन घोर अन्धकारमें डूबा हुआ तथा लज्जासे आच्छन्न हो रहा है। जटायुकी मृत्युकी पीड़ा मुझे कचोट रही है जिसकी अब कोई औषधि ही नहीं है, बेचारी सीताके लिये करुणा मर्मच्छेद अलग कर रही है ॥ २२ ॥

लक्ष्मणः—आर्य आर्य ! न खलु लोकोत्तरकर्माणस्त्वादृशाः कृच्छ्रेषु प्रमुह्यन्ति ।

रामः—वत्स ! लोकोत्तराणि रामस्य कर्माणि ।

यैर्गुप्तान्यकुतोभयानि भुवनान्यासन्महाभीषव-
स्ते सूर्यान्वयकेतवो नृपतयः पूर्वे तिरस्कारिताः ।
कल्पान्तेष्वपि यः स्थिरः स गमितः साधुर्जटायुर्दिवं
पत्नीं हारयता वने यदकृतं लोकैः कृतं तन्मया ॥ २३ ॥

यति यस्मिन् याद्विषये क्रियाप्रतिकारो नास्त्येव । अपमानलज्जयोः प्रतिक्रिययाऽपि शक्यते विस्मृतिः कर्तुं परं जटायुमृत्युरप्रतिकार्य एवेति दुःसह इति भावः । पुनः वराकीं दयनीयां सीतां प्रतिकरुणा दया मर्माणि मर्मस्थलानि छिनत्ति कृन्ततीव, यथा मर्मच्छेदोऽधिककष्टाय तथा सीताविषयकदयापीति तात्पर्यम् । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् । 'कीलः शङ्कुशङ्कुलयोः पुमान्' इत्यमरः ॥ २२ ॥

लोकोत्तरकर्माणः = लोकातीतचरित्राः । कृच्छ्रेषु = कष्टेषु । प्रमुह्यन्ति = कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकविधुरा भवन्तीत्यर्थः ।

अत्राप्युदाहृतिर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् ।

'लोकोत्तराणि' = अलोकसामान्यानि । लक्ष्मणश्रेष्ठत्वाभिप्रायेण 'रामस्य कर्माणि लोकोत्तराण्याह स्म, रामस्तु तदन्यथा योजयति, तदग्रे स्पष्टीभविष्यति यैरित्यत्र ।

यैर्गुप्तानीति० यैः नृपतिभिः गुप्तानि रक्षितानि भुवनानि जगन्ति अकुतो भयानि सर्वतो निर्भयानि आसन्, सूर्यान्वयकेतवः पताकावत्सूर्यवंशप्रख्यातिकराः महाभीषवः महाप्रकाशाः ते पूर्वे पूर्वजाताः नृपतयः तिरस्कारिताः, वंशे कलङ्कजननेन लाञ्छिता अपमानिता वा । (किञ्च) यः जटायुः कल्पान्तेषु ब्रह्मदिवसावसानेष्वपि स्थिरः अनश्वरः स साधुः परोपकर्त्ता जटायुः दिवं लोकान्तरं गमितः प्रेषितः वने कानने पत्नीं स्त्रियं हारयता हरणं प्रयोजयता मया तत्कृतं यत् लोकेऽकृतम् अविहितपूर्वम् । पूर्वजावमानना साधुमरणाङ्गनाहरणादि मदीयमवश्यं लोकातिशायिकार्यं जातमित्याशयः । स्पष्टमन्यत । पूर्वोक्ताविपरीतं वृत्तम् ॥ २३ ॥

लक्ष्मण—आर्य ! आर्य ! आपके समान लोकोत्तर पराक्रमी जन कष्टमें भी अधीर नहीं होते ।

राम—भाई ! ठीक ही रामके कार्य लोकोत्तर हैं—

जिन सूर्यवंशियोंने समस्त संसारपर शासन किया तथा अभय स्थापित किया उनको मैंने तिरस्कारका पात्र बनाया, जो जटायु प्रलयमें स्थिर रहा उसे मौतकी घाट उतरवाया, वनमें आकर पत्नी गँवाई, इस प्रकार जो औरोंने नहीं किया था वह मैंने कर दिया ॥ २३ ॥

हा तात काश्यप शकुन्तराज ! क पुनस्त्वादृशस्य महतस्तीर्थभूतस्य साधोः संभवः ।

लक्ष्मणः—पश्यामीव तां पश्चिमावस्थां तातस्य जटायुषः ।

यामोषधिमिवायुष्मन् विचिनोषि महावने ।
सा सीता मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ॥ २४ ॥

इत्येतदभिधाय वीरलोकानधिष्ठितवांस्तातः ।

रामः—वत्स ! हृदयमर्माविधः खल्वमी कथोद्घाताः ।

लक्ष्मणः—अथ किम् ?

रामः—किं हि नाम तत्करिष्यते यदेतावतः परिभवातिप्रसङ्गस्य तुल्यं स्यात् ।

तीर्थभूतस्य = उपाध्यायवद्धितोपदेष्टुः । 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्वः । सम्भवः = उत्पत्तिः ।

पश्चिमावस्थाम् = अन्तिमां दशाम् ।

यामोषधिमिति० **आयुष्मन् ! आशास्यदीर्घजीवित ! यां सीताम् ओषधिमिव भेषजवल्लीमिव महावने विचिनोषि अन्विष्यसि, सा सीता मम प्राणाश्च एतद्द्वयं रावणेन हृतम् ॥ २४ ॥**

वीरलोकान् = वीरगम्यं देशम् , स्वर्गमित्यर्थः । अधिष्ठितवान् = प्राप्तवान् ।

हृदयमर्माविधः = हृदयव्यथकाः । कथोद्घाताः = कथाप्रस्तावाः ।

परिभवातिप्रसङ्गस्य = अनादरातिशयस्य । एतादृशस्य महतः पराभवस्य प्रतिकारः कीदृशः कार्यः स्याद्येन प्रतिशोधः पूर्णतया कृतो भवेदिति प्रश्नाशयः ।

हाय ! तात काश्यप शकुन्तराज ! तुम्हारे सदृश तीर्थोपम साधु फिर कहाँ मिलेंगे ?

लक्ष्मण—जटायुकी अन्तिम घड़ियाँ हमारी आँखोंमें नाच सी रही हैं ।

जिस सीताको ओषधिकी तरह तुम वनमें ढूँढ़ रहे हो, उस सीताको तथा हमारे प्राणोंको रावणने हर लिया है ॥ २४ ॥

इतना कहकर जटायु वीरगतिको प्राप्त हुए ।

राम—इन बातोंसे छाती फटने लगती है ।

लक्ष्मण—और क्या ?

राम—क्या किया जाय जो इस अपमानके बराबर बदला हो सके ।

प्रागेव राक्षसवधाय मतिः कृता मे
वध्या हि ते बहुभिरेव यतो निमित्तैः।
तन्मात्रके त्विह कृतेऽपि कुतः शमो मे
कृत्यं कुलस्य शमनात्परतश्च नान्यत् ॥ २५ ॥

तथा हि वत्स !

प्रचण्डपरिपिण्डितः स्तिमितवृत्तिरन्तर्मुखः
पिबन्निव मुहुर्मुहुर्झटिति मन्युरुच्चैर्ज्वलन्।
शिखाभिरिव निश्चरन्ननुपलभ्य दाह्यान्तरं
पयोधिमिव वाडवो दहति मामतस्त्रायताम् ॥ २६ ॥

प्रागेवेति० प्रागेव सीतापहारादिरूपायमानात्पूर्वमेव मे मम मतिरिच्छा राक्षसवधाय कृता निरूढा, यतस्ते राक्षसाः बहुभिः मुनिजनकदनादिभिः निमित्तैः कारणैः वध्याः हन्तव्या एव। तन्मात्रके केवले राक्षसवधे कृतेऽपि इह मे मम शमः हृदयनिर्वृतिः कुतः ? न सम्भवीति भावः। कुलस्य राक्षसवंशस्य शमनात् मारणात् परतश्च अन्यत् कृत्यन्न अस्तीति शेषः। अतो मया राक्षसकुलमेव क्षपयित्वा शान्तिराश्रयणीया, गत्यन्तराभावात्, पर्याप्तिस्तु न तावतापि प्रतिकारस्य स्यात्परमप्युपायाभावात्तावतैव सन्तोष्टव्यं स्यादिति तात्पर्यम् ॥ २५ ॥

प्रचण्डेति० प्रचण्डोऽत्यन्ततीव्रः परिपिण्डितः सङ्घातभावंगतश्चेति प्रचण्डपरिपिण्डितः स्तिमितवृत्तिः स्तब्धः अन्तर्मुखः गूढप्रसारः मुहुर्मुहुः पौनःपुन्येन (माम् आश्रयभूतम्) पिबन् कवलयन् इव झटिति शीघ्रम् उच्चैः ज्वलन् शिखाभिः ज्वालाभिः निश्चरन् बहिः प्रसरन् इव मन्युः क्रोधः दाह्यान्तरम् मदन्यं दग्धव्यम् अनुपलभ्य अनासाद्य वाडवः पयोधिमिव दहति, अतः (भवान्) माम् त्रायताम् रक्षतु। यथा वडवानलः प्रखरज्वालः संहतश्च सर्वतः पयसाऽऽवृतत्वात्स्तब्धोऽन्तर्मुखश्च सागरं पिबन्निवोच्चैर्ज्वलन् शिखाभिर्बहिर्भवश्च दाह्यान्तरानुपलब्ध्या पयोधिमेव दहति तद्वदेष मम क्रोधः प्रचण्डः पिण्डीभावंगतश्च निरुद्धवेगोऽत एव चान्तर्मुखो मामेव व्यथयन् ज्वालाभिरंशतः प्रकटश्च हन्तव्यजनान्तरानुपलब्ध्याऽकृतार्थत्वेन मामेव दहतीत्याशयः। श्लिष्टविशेषणतया पूर्णोपमा। पृथिवीवृत्तम् ॥ २६ ॥

राक्षसोंको मारनेकी बात पहलेसे स्थिर है, क्योंकि उन्हें बहुत कारण से मारना ही है, उतने भरसे हमको शान्ति कहाँ ? वंशोच्छेदसे अधिक कर ही क्या सकते हैं ? ॥ २५ ॥

भाई ! प्रचण्ड तथा एकत्रीभूत, भीतर ही भीतर सुलगनेवाला गूढ यह कोप मुझे निगलता जा रहा है, उसे जलानेको और कुछ नहीं मिलता है अतः वह मुझे ही जलाता है, जैसे वड़वानल सागरको, इससे मुझे बचाओ ॥ २६ ॥

लक्ष्मणः—एतान्यतिसंभ्रान्तविविधमृगयूथान्युन्मत्तश्वापदकुलाक्रान्तविकटगिरिगह्वराण्यरण्यानि दक्षिणां दिशमभि प्रवर्तन्ते। तदेभिरेव पथिभिर्विभावयामः।

रामः—वत्स ! अदृष्टपूर्वाः खल्वमी जनस्थानविभागाः।

लक्ष्मणः—ननु तदैव तातमारुणिं गृध्रराजमग्निसात्कृत्य निर्गतयोः पञ्चवट्याश्रमादावयोः कोऽपि कालो वर्तते। यतो दूरविच्छिन्नाः संप्रति जनस्थानसीमानः। यथा चेमान्यग्रतः प्रतिभयं जनयन्त्यरण्यानि तथा नूनमयमसौ जनस्थानपश्चिमः कुञ्जरवान्नाम दनुकबन्धाधिष्ठितो दण्डकारण्यभागः।

रामः—द्रष्टव्य एव स दुरात्मा कान्तारमण्डूकः।

अतिसम्भ्रान्तविविधमृगयूथानि = भीतहरिणानि। उन्मत्तश्वापदकुलाक्रान्तविकटगिरिगह्वराणि = पर्वतकन्दरेषु दुष्टसत्त्ववन्ति। अरण्यानि = वनानि। दक्षिणां दिशमभि = दक्षिणदिशाभिमुखानि। प्रवर्त्तन्ते = पारम्पर्येण स्थितानि। विभावयामः = किमपि सीताऽभिज्ञानं तदुद्धारोपायं वा चिन्तयामः।

अदृष्टपूर्वाः = कदापि न दृष्टाः। जनस्थानविभागाः = वनप्रान्तानि।

तातम् पितृसखत्वात् पूज्यम्। आरुणिम् = अरुणपुत्रं जटायुम्। अग्निसात्कृत्य = दग्ध्वा। दूरविच्छिन्नाः = दूरत्यक्ताः। जनस्थानसीमानः = वनावधयः। प्रतिभयम् = भयम्। जनस्थानपश्चिमः = वनस्य पश्चिमो भागः। दनुकबन्धाधिष्ठितः = दनुनामकदैत्यस्य शिरोरहितदेहभागयुक्तः।

दुरात्मा = दुष्टः। कान्तारमण्डूकः = वनाद्बहिरनिर्गतः, यथा मण्डूकः कूपमेव जगन्मन्यते तद्वदयमपि वनमेव जगन्मन्यते, बहिःस्थं च सर्वमवमन्यत इति भावः।

लक्ष्मण—यह वन—जिसमें बड़े-बड़े नाना प्रकारके मृग हैं, उमत्त बाघ हैं, बड़ी-बड़ी कन्दरायें हैं—दक्षिणकी ओर गया है, इसी मार्ग से ढूंढें।

राम—इधरका वन कभी देखा नहीं है।

लक्ष्मण—उस समय जटायु का अग्निसंस्कार करके पञ्चवटी आश्रमसे हम लोग चले, उसे बहुत समय हुआ, वनकी सीमा बहुत पहले छूट चुकी, आगेके वन भयावने प्रतीत हो रहे हैं, इससे मालूम होता है वनके पश्चिम भागका कुञ्जरवान् नामक यह भाग है, जिस दण्डकारण्य भागमें कबन्ध रहता है।

राम—वह वनमण्डूक दुरात्मा तो देखा ही जायगा।

(नेपथ्ये)

कः कोऽत्र भोः। परित्रायतामनेन दुरात्मना राक्षसकबन्धेनाकृष्यमाणामरण्ये स्त्रियम्।

अहं हि श्रमणा नाम सिद्धा शबरतापसी।
मतङ्गाश्रमवास्तव्या रामान्वेषिण्युपागता ॥ २७ ॥

रामः—वत्स लक्ष्मण ! गच्छ गच्छ।

लक्ष्मणः—एष गतोऽस्मि। (इति निष्क्रान्तः)

रामः—

प्रिये हा हा क्वासि प्रकिर मधुरां वाचमथवा
पराभूतैरित्थं विलपनविनोदोऽप्यसुलभः।
अनिन्द्यः पौलस्त्यो व्रजति परिवादो मयि पुन-
र्यतो वैरे रूढे बहुगुणमनेन प्रतिकृतम् ॥ २८ ॥

आकृष्यमाणाम् = नीयमानाम्।

अहमिति० शवरी चासौ तापसी शवरतापसी। मतङ्गाश्रमवास्तव्या = मतङ्गनामकमुनेराश्रमे वसन्ती। सिद्धा = तपःसिद्धिमती ॥ २७ ॥

प्रिय इति० हा प्रिये सीते हा क्वासि कुत्र विद्यसे, मधुराम् श्रुतिप्रियाम् वाचम् एकामपि गिरम् प्रकिर व्याहर। अथवा पराभूतैः हृतभार्यत्वेनावमतैः अस्माभिः विलपनविनोदः विलापेनात्मसन्तोषः अपि असुलभः दुरापः, अधीरोऽयं विलपति प्राकृतजनवदिति निन्दा भयान्मादृशाः परिभूता जना विलापेनाप्यात्मसन्तोषं कर्त्तुं नार्हन्तीत्यर्थः। पौलस्त्यः रावणः अनिन्द्यः अनपवाद्यः सन् व्रजति गच्छति न तेन मम क्षतिः, यतः अनेन रावणेन वैरे रूढे ताटकावधादिना बद्धमूले मयि बहुगुणं

(नेपथ्यमें)

कोई है जी ? मुझ स्त्रीको कबन्धराक्षस लिये जा रहा है, बचाओ मुझे।

मैं सिद्ध शबर तपस्विनी श्रमणा हूँ, मतङ्गाश्रममें रहती हूँ, रामको ढूंढ़ती हुई इधर आ गई हूँ ॥ २७ ॥

राम—भाई लक्ष्मण ! जाओ-जाओ।

लक्ष्मण—यह गया (जाता है)

राम—हा प्रिये ! कहाँ हो ? मीठी बाणी तो सुनाओ अथवा हमारे सदृश कलङ्कीके लिये वार्त्तासुख भी दुर्लभ ही है। रावण प्रशंसनीय तथा मैं निन्दनीय हूँ क्योंकि उसने बढ़े हुए वैरका उचित बदला लिया है ॥ २८ ॥

(ततः प्रविशति लक्ष्मणः श्रमणा च)

लक्ष्मणः—

तत्क्रूरदन्तकरपत्रनिकृत्तसत्त्वसंघातनिःसरदसृक्प्लुतकूर्चगुच्छम् ।
वक्त्रं वपुश्च विकृताकृति दीर्घबाहोरार्येण राक्षसकुतूहलिना न दृष्टम् ॥

आर्ये श्रमणे ! अयमार्यः ।

श्रमणा—जयतु जयतु देवः ।

रामः—अथास्मत्पर्यन्वेषणे किं प्रयोजनम् ?

श्रमणा—शृणोषि रावणानुजं विभीषणम् ।

रामः—कस्तं न शृणोति ?

भूरि प्रतिकृतम् प्रतिहिंसितम् । रावणस्यात्र नास्ति दोषस्तेन हि ताटकावधादिद्वारा मया कृतस्य वैरस्य प्रतिशोधार्थमेव मदीया भार्या हृतेति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥

तदिति० राक्षसेषु कुतूहलम् कौतुकम् किम्भूतः किमाकारश्च राक्षस इत्येवमौत्सुक्यं विद्यतेऽस्य तेन राक्षसकुतूहलिना आर्येण भवता रामेण तत् प्रसिद्धम् क्रूराः दारुणाः दन्ताः एव करपत्रम् क्रकचम् तेन निकृत्तानां खण्डितानां चर्वितानामित्यर्थः सत्त्वानां प्राणिनां सङ्घातात् समूहात् निःसरद्भिः च्यवमानैः असृग्भिः शोणितैः प्लुतः व्याप्तः कूर्चगुच्छः श्मश्रुराजिर्यस्य तादृशम् अत एव विकृताकृति विकटाकारम् दीर्घबाहोः योजनबाहोः कबन्धस्य वक्त्रं वदनं वपुः शरीरञ्च न दृष्टम् । भवान् राक्षसदर्शनकौतुकी सन्नपि क्रकचाकारदन्तचर्वितप्राणिजातक्षरद्रुधिरव्याप्तश्मश्रुजालं विकटाकारं योजनबाहोः कबन्धस्य मुखं शरीरं च नाद्राक्षीत्, तद्वधस्य मया कृतत्वादित्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् । 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्' इत्यमरः ॥ २९ ॥

अस्मत्पर्यन्वेषणे = मदन्वेषणे ।

कस्तं न शृणोति ? = सर्वोऽपि तं शृणोति, अतिप्रसिद्धोऽसावित्यर्थः ।

(लक्ष्मण और श्रमणका प्रवेश)

लक्ष्मण—भयावह आराके सदृश दांतोंसे चीरे गये प्राणियोंके रक्तसे सिक्त दाढ़ी मूँछोंवाला मुंह और देह, दीर्घबाहुके आपने नहीं देखे, (यदि देखते तो आपको बड़ी खुशी होती, क्योंकि) आप राक्षसोंको देखनेको उत्सुक रहा करते हैं ॥ २९ ॥

आर्ये श्रमणे ! ये ही आर्य हैं ।

श्रमणा— जय हो जय हो महाराजकी ।

राम—हमें तुम क्यों ढूंढ़ती हो ?

श्रमणा—रावणानुज विभीषणको आपने सुना होगा ।

राम—कौन उनको नहीं जानता ?

श्रमणा—स च यदैव दैवात्खरदूषणत्रिशिरसो विनिहतास्तदैव बन्धुभ्यः कस्यापि हेतोरवगृह्य सुग्रीवसख्यादृष्यमूके वर्तते। तस्यायमात्मसमर्पको लेखः। (इति लेखमर्पयति)

लक्ष्मणः—(गृहीत्वा वाचयति) स्वस्ति। रामदेवं प्रणम्य विभीषणो विज्ञापयति—

विशिष्टभागधेयानां द्वयी नः परमा गतिः।
धर्मः प्रकृष्यमाणो वा गोप्ता धर्मस्य वा भवान्॥ ३०॥

रामः—वत्स ! ब्रूहि किं संदिश्यतामेवंवादिनः प्रियसुहृदो लङ्केश्वरस्य महाराजविभीषणस्य ?

दैवात् = भाग्यदोषात्। कस्यापि हेतोः = केनापि कारणेन। बन्धुभ्यः अवगृह्य = रावणादिस्वबान्धवेभ्यो वियुज्य। सुग्रीवसख्यात् = सुग्रीवस्य मित्रत्वात्। आत्मसमर्पकः = अहं तवायत्तो मम भारस्तवोपरीति ज्ञापकः। अयमेव सन्ध्यादिषु षट्सु चरमः समाश्रयनाम्ना व्यपदिश्यते, यथोक्तम्—'अरिणा विध्यमानस्य बलवदाश्रयणं समाश्रयः' इति।

विश्लिष्टेति० विश्लिष्टभागधेयानाम् विपर्यस्तभाग्यानाम् प्रतिकूलदैवानामित्यर्थः द्वयी द्विविधा परमा उत्कृष्टा गतिः आश्रयः, प्रकृष्यमाणः आचर्यमाणः सततसेवितो धर्मः, वा अथवा धर्मस्य गोप्ता रक्षिता भवान्। एतादृशप्रतिकूलदैवे बान्धवत्यागं कृतवतो ममारण्ये तपश्चरणरूपो धर्मो भवान् वा शरणमित्याशयः। तत्रोत्तरत्रैव विभीषणस्य सङ्केतः प्रतीयते उक्तिस्वरसात्। स्पष्टमन्यत्॥ ३०॥

किं सन्दिश्यताम् ? = किं प्रत्युत्तरं प्रेष्यताम्। एवंवादिनः = तव शरणागतोऽस्मीति कथयतः। लङ्केश्वरः=लङ्काधिपतिः, भवान् विभीषणस्य लङ्केश्वरः प्रियसुहृदिति विशेषणद्वयमुक्तवाँस्तावतैव सन्देशः कथितः, त्वं लङ्कायाः स्वामी करिष्यसे त्वया सह मम मैत्री च भवेदिति नातःपरं संदेष्टव्यमवशिष्यत इत्याशयः।

श्रमणा—जब उसने सुना कि भाग्यवश खरदूषण और त्रिशिरा मारे गये तभी अपने बन्धुओंको छोड़कर मित्र सुग्रीवके पास ऋष्यमूकमें रहता है, उसका यह आत्मसमर्पण पत्र है (लेख अर्पित करती है)

लक्ष्मण—(लेकर पढ़ता है) स्वस्ति ! महाराज रामको प्रणाम करके विभीषण विज्ञप्ति करता है—जिनका भाग्य बिगड़ गया है वैसे लोगोंकी दो ही शरण हैं, खूब अच्छी तरह परिचरित धर्म अथवा धर्मके रक्षक आप॥ ३०॥

राम—भाई ! बताओ—इस तरह सन्देश देनेवाले प्रियमित्र लङ्केश्वर विभीषणको क्या उत्तर दें ?

लक्ष्मणः—यदा लङ्केश्वरः प्रियसुहृदित्युक्तमार्येण तत्किमवशिष्यते संदेशस्य ।

रामः—यथाह सौमित्रिः ।

श्रमणा—अनुगृहीतास्मि ।

लक्ष्मणः—आर्ये श्रमणे ! अपि विभीषणसंपर्कादस्ति काचिदार्यायाः प्रवृत्तिः ।

श्रमणा—वर्तमाने नास्ति । यत्तदा दुरात्मनापह्रियमाणायाः स्रस्तमनसूयानामाङ्कमुत्तरीयम् , तच्च तैर्गृहीतम् ।

रामः—हा प्रिये ! महारण्यवासप्रियसखि ! विदेहराजपुत्रि !

(इति संवरणं नाटयति)

लक्ष्मणः—आर्ये ! केन वा कस्य वा हेतोस्तद्गृहीतम् ?

अनुगृहीतास्मि = विभीषणाय तादृशं सन्देशं दत्वा कृतप्रसादास्मीत्यर्थः ।

विभीषणसम्पर्कात् = विभीषणागमनात् । आर्यायाः = सीतायाः । काचित् प्रवृत्तिः = कोऽपि वृत्तान्तः । वर्त्तमाने = सम्प्रति । दुरात्मना = दुष्टेन रावणेन । स्रस्तम् = अधःपतितम् । अनसूयानामाङ्कम् = अनसूयानामचिह्नितम् , तथात्वं च तस्योत्तरीयस्यानसूयादत्तत्वाद् बोध्यम् । महारण्यवासप्रियसखि = वनवासप्रियसखि । संवरणम् = मोहम् ।

आर्ये पूज्ये श्रमणे ! वयोज्येष्ठत्वात्तपोऽधिकत्वाच्चार्यापदप्रयोगः ।

रामगुणपक्षपातात् = रामगतगुणेषु स्वाभाविकप्रीत्या ।

लक्ष्मण—आपने जब प्रियमित्र तथा लङ्केश्वर कह दिया तब और क्या सन्देश बाकी रह गया ?

राम—सौमित्रि जो कहें ।

श्रमणा—बड़ी कृपा हुई ।

लक्ष्मण—विभीषणसे सीताके विषयमें कुछ पता चला है ?

श्रमणा—अभी तो नहीं । पहले जब पापी रावण उन्हें हरकर दिये जा रहा था उस समय उनकी अनसूया नामाङ्कित चादर गिर गई थी, जिसे उन लोगोंने पाया था ।

राम—हा प्रिये ! वनमें साथ रहनेवाली, विदेहराजपुत्रि !

(मूर्च्छित होते हैं)

लक्ष्मण—आर्ये ! किसने और क्यों वह चादर ली थी ?

श्रमणा—ऋष्यमूके रामगुणपक्षपातात्सुग्रीवविभीषणहनूमत्प्रभृतिभिः।

रामः—वत्स ! द्रष्टव्या हि निष्कारणप्रियकारिणो भुवनमहनीयमहिमानस्ते महात्मानः। तद्वत्स ! तस्याः संस्तुतमभिज्ञानं द्रष्टमृष्यमूकमभिसंधाय तावद्गच्छावः।

श्रमणा—इत इतस्तर्हि देवः।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

लक्ष्मणः—हनूमान्हनूमानिति महानयं वीरवादः। अत्रभवतो जातमात्रस्य सततपरिभ्रान्तदेवासुराण्याश्चर्याणि श्रूयन्ते। अपि च किल।

यद्वज्रलक्षणे वीर्यं यद्वायौ वा समुन्नतम्।
यद्वालिनी महाबाहौ तच्च वीरे हनूमति ॥ ३१ ॥

निष्कारणप्रियकारिणः = मत्तः किञ्चित्फलाभिसन्धिमन्तरैव मत्प्रियङ्कराः। भुवनमहनीयमहिमानः = संसारस्तुत्यगौरवाः। संस्तुतम् = परिचितम्। अभिज्ञानम् = परिचयप्रदम्। अभिसन्धाय = लक्ष्यीकृत्य।

वीरवादः = वीरप्रशस्तिः। तत्रभवतः = पूज्यस्य। जातमात्रस्य = सद्योजातस्य, अतिबालस्येत्यर्थः। सततपरिभ्रान्तदेवासुराणि = भयातिशयेन देवानामसुराणाञ्च सम्भ्रमकराणि। आश्चर्याणि विस्मयावहानि।

यद्वज्रेति० वज्रं लक्षणं परिचायकं यस्य तत्र वज्रलक्षणे देवेन्द्रे यद्वीर्यम् बलम्, यत् समुन्नतम् परमोत्कृष्टम् वीर्यम् वायौ, तद् देवेन्द्रवीर्यं बालिनि तस्य तत्पुत्रत्वात्, तच्च वायुवीर्यं च हनूमति वीरे, तस्यापि वायुपुत्रत्वात्, पित्रानुगुण्यं पितुरित्यभिमानेनेदम् ॥ ३१ ॥

श्रमणा—ऋष्यमूकपर रामपक्षपातसे सुग्रीव विभीषण तथा हनुमान् आदिने ली थी।

राम—भाई ! अकारणप्रियकारी संसारप्रसिद्ध महिमावाले वे लोग द्रष्टव्य हैं। इसलिये और सीताके अभिज्ञानको देखनेके लिये ऋष्यमूक जाते हैं।

श्रमणा—महाराज ! इधर चलें।

(सबका प्रस्थान)

लक्ष्मण—हनूमान् यह शब्द वीरोंमें अतिप्रसिद्ध है। इनके जन्म समयकी आश्चर्यकर घटनायें सुनी जाती हैं जिससे देवदानव सभी चकित हो गये थे और-जो बल इन्द्रमें तथा वायुमें है वही बल महाबाहु बालि तथा हनुमान्में है ॥ ३१ ॥

श्रमणा—एवमीदृशो हेमगिरिवास्तव्यस्य तत्रभवतः प्लवङ्गपुंगवानीकवृद्धयूथपतेः केसरिणः क्षेत्रसम्भवः सूनुराञ्जनेयो हनूमान्नाम। यस्य रेतोधा भगवान्मातरिश्वा तत्किं हनूमतैकेन।

अम्भोधेर्नारिकेलीरसमिव चुलकैरुद्विलुम्पन्त्यपो ये
येषामुत्क्षेपहेलः शिखरिषु लिकुचोदुम्बरप्राय एव।
ब्रह्मस्तम्बं निवासद्रुममिव रभसाद्विप्रकर्तुं क्षमा ये
तेषां कोट्योऽप्यसंख्याः सुतममरपतेर्वानराणां नमन्ति ॥३२॥

रामः—आर्ये! हन्तद् क्षिणेनास्थिसञ्चयः सुमहान्। तत्किमेतत्?

एवमीदृशः = एतादृशगुणः। प्लवङ्गपुङ्गवानीकवृद्धयूथपतेः = प्लवङ्गपुङ्गवानाम् वानरश्रेष्ठानाम् अनीकेषु सेनासु वृद्धः प्राचीनः यूथपतिः सेनापतिस्तस्य। क्षेत्रसम्भवः = क्षेत्रजः, केसरिणः स्त्री अञ्जना तस्यां वायुना जनितः 'क्षेत्रिणो न तु बीजिनः' इति धर्मशास्त्राद् हनूमान् केसरिण एव पुत्रस्स च क्षेत्रज इति बोध्यम्। रेतोधाः = जन्मप्रयोजकवीर्यप्रदः। पितेत्यर्थः। मातरिश्वा = वायुः।

अम्भोधेरिति० ये वानराः अम्भोधेः समुद्रस्य अपः जलानि नारिकेलिरसम् नारिकेलफलान्तर्गतजलम् इव चुलकैः प्रसृतिभिः उद्विलुम्पन्ति समापयन्ति—यथा छित्रा पुरुषा नारिकेलान्तर्गतं जलं प्रसृतिष्वादाय पीत्वा च समापयन्ति तथैव ये वानराः समुद्रमप्यम्भः पीत्वा समापयन्तीत्यर्थः। एतेन दीर्घकायता बहुसंख्याकता च व्यञ्जिता। येषाम् वानराणाम् शिखरिषु पर्वतेषु उत्क्षेपहेलः उत्प्लवनानास्था लिकुचोदुम्बरप्रायः। पर्वतोत्प्लवनं यैर्लिकुचोदुम्बरफलप्लवनमिव नात्यायाससाध्यं मन्यन्त इत्यर्थः। ये वानराः ब्रह्मस्तम्बं ब्रह्माण्डं निवासद्रुममिव स्वावासवृक्षमिव रभसात् वेगात् विप्रकर्त्तुम् धूननभञ्जनादिना विरूपयितुं क्षमा समर्थाः, एतेन समस्तजगत्परिचयो व्यङ्ग्यः। तेषां वानराणाम् असङ्ख्याः कोट्यः अपि अमरपतेः देवेन्द्रस्य सुतम् बालिनाम् नमन्ति वदन्ते। एतेन बालिसामर्थ्यातिशय उक्तः। स्रग्धराच्छन्दः, स्पष्टमन्यत् ॥ ३२ ॥

दक्षिणेन = दक्षिणस्यां दिशि। अस्थिसञ्चयः = अस्थिसमूहः।

श्रमणा—हेमगिरिवासी वानरोंके यूथप वृद्ध केसरीके क्षेत्रज पुत्र हनूमान् इस तरहके ही हैं, जिनके जन्ममें वीर्यप्रद वायुदेव थे। केवल हनुमान् ही क्यों—

जो वानर समुद्रजलको नारिकेल जलके समान पी सकते हैं, जो पर्वतोंको फांदना गूलर फलके फांदनेके समान समझते हैं, वासवृक्षकी तरह जो ब्रह्माण्डको तोड़ मरोड़ सकते हैं, वैसे असंख्य वानर बालीकी सेवामें हैं॥ ३२ ॥

राम—आर्ये! दक्षिणकी ओर जो यह अस्थिकूट दीख रहा है, वह क्या है?

श्रमणा—लक्ष्मणेन योजनबाहोश्चितेयमभिसृष्टा ।

रामः—साधु कृतम् ।

लक्ष्मणः—आर्य ! पश्य पश्य—

सौहित्यात्पृथवः क्वथन्ति रुधिरोत्सेकाश्चमत्कारिण-
    ष्टङ्कारोत्कटमुच्चरन्ति नलकास्त्वङ्मांसविस्रंसनात् ।
उत्सर्पन्त्यथ मेदसां विलयनादुद्बुद्बुदा वीचय-
    श्चित्रं चित्रमुदेति कोऽप्ययमितो दिव्यः श्मशानानलात् ॥३३॥

(प्रविश्य)

दिव्यपुरुषः—जयतु देवः ।

योजनबाहोः = कबन्धस्य । अभिसृष्टा = निर्मिता ।

सौहित्यादिति० सुहितः तृप्तः सत्त्वसङ्घातसततभक्षणेन नित्यतृप्त इत्यर्थस्तस्य भावस्तस्मात् पृथवः स्थूलाः रुधिरोत्सेकाः रक्तप्रवाहाः चमत्कारिणः दर्शककुतूहलहेतवः सन्तः क्वथन्ति पच्यन्ते, नलकाः शङ्खास्थीनि त्वङ्मांसविस्रंसनात् त्वचां मांसानाञ्चाग्निस्पर्शेन बन्धविगलनात् टङ्कारोत्कटम् सटङ्कारशब्दम् उच्चरन्ति स्फुटन्ति । अथ विलयनात् अग्निसंयोगेन कात्स्न्र्येन द्रवीभावात् उद्बुद्बुदाः बुद्बुदयुक्ताः मेदसाम् वसानां वीचयः पङ्क्तयः उत्सर्पयन्ति प्रसरन्ति । इतः श्मशानानलात् कोऽपि दिव्यः दिव्यपुरुषः उदेति प्रकटीभवति (चित्रं चित्रम् अत्याश्चर्यमिदम् । कबन्धोऽनेकप्राणिभक्षणात्तृप्तस्तस्यमृतस्य चितायामारोपितस्य च तनोरुधिरप्रवाहाः पच्यन्त इव, पच्यमानयोस्त्वङ्मांसयोरधःपातजन्माटङ्कारध्वनिरस्थिभिः प्रवर्त्यते, द्रुतमेदसो बुद्बुदानाविर्भावयन्ति, चित्रं यदितः श्मशानवह्नेः कोऽपि दिव्यः पुमान् प्रकटीभवतीति भावार्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । स्पष्टमन्यत् । 'शङ्खास्थि नलकम्' इति हलायुधः ॥ ३३ ॥

श्रमणा—लक्ष्मणने योजनबाहुकी यह चिता सजा दी है ।

राम—अच्छा किया ।

लक्ष्मण—आर्य ! देखिये, देखिये—

तृप्तिसे स्थूल रुधिरकी धार पक रही है, त्वचा और मांस अलग हो रहे हैं, सन्धिस्थल चटचट कर रहे हैं, मेदाके नष्ट होनेसे बुलबुले छूट रहे हैं, आश्चर्यकी बात है कि श्मशानानलमेंसे कोई दिव्य पुरुष प्रकट हो रहा है ॥ ३३ ॥

(प्रवेश करके)

दिव्यपुरुष—जय हो महाराजकी ।

दनुर्नाम श्रियः पुत्रः शापाद्राक्षसतां गतः ।
इन्द्रास्त्रकृतकाबन्ध्यः पूतोऽस्मि भवदाश्रयात् ॥ ३४ ॥

रामः—प्रियं नः प्रियं नः ।

दनुः—माल्यवत्प्रयुक्तेन च मया युष्मदास्कन्दनाय दूषितमरण्यमासीत् । अलं वा कश्मलस्मरणेन । सम्प्रति युष्मत्प्रभावात्प्रादुर्भूतसहजज्योतिषोऽपरोक्षमिव मे वस्तु किञ्चित्प्रतिभाति । तच्च वः प्रतिविधानाय कृतमहोपकारेभ्यः कथ्यते ।

दनुरिति० श्रियः श्रीनाम्न्याः अप्सरसः पुत्रः । दनुरिति पितृप्रयुक्तं नाम । इन्द्रास्त्रकृतकाबन्ध्यः इन्द्रेण कबन्धभावंगमितः । भवदाश्रयात् भवत्सम्बन्धात् पूतः शुद्धोऽस्मि । अद्य भवत्संसर्गाद्राक्षसत्वं विहाय दिव्यं वपुरवापमिति भावः । उक्तञ्च रामायणे—

'श्रियो मां मध्यमं पुत्रं दनुं नाम्ना च मध्यमम् ।
इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तवन्तमवेहि माम् ॥
अहं हि तपसोग्रेण पितामहमतोषयम् ।
दीर्घमायुःसमे प्रादात्ततोऽहं पूर्णमानसः ॥
..........रणे शक्रमधर्षयम् । तस्य बाहुप्रयुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा ॥
सक्थिनी मे शिरश्चैव शरीरे सन्निवेशितम्' । इति ॥ ३४ ॥

माल्यवत्प्रयुक्तेन = माल्यवता रावणामात्येन प्रेरितेन । युष्मदास्कन्दनाय = युवयोराक्रमणाय । दूषितम् = जीवहिंसादिना सदोषं कृतम् । कश्मलस्मरणेन = मलावहकर्मानुध्यानेन । युष्मत्प्रभावात् = भवन्माहात्म्यात् । प्रादुर्भूतसहजज्योतिषः = प्रकाशितज्ञानस्य । अपरोक्षम् = प्रत्यक्षम् । प्रतिविधानाय = प्रतिकाराय ।

मैं श्रीनामक अप्सराका पुत्र दनु हूं, शापवश राक्षस हो गया । इन्द्रके वज्रसे कबन्ध बनाया गया और आज आपकी कृपासे पवित्र हो गया हूं ॥ ३४ ॥

राम—बड़ी आनन्दकी बात है ।

दनु—माल्यवान्‌की प्रेरणासे आपपर आक्रमण करनेके लिये मैंने दण्डकारण्यको दूषित कर रक्खा था, अब आपकी कृपासे हमारी आंखोंकी स्वभाविक रोशनी लौट आई है । इसलिये मुझे कुछ मालूम पड़ रहा है वह मैं आपसे कह देना चाहता हूँ आप उसका उपाय करें ।

प्रार्थ्य माल्यवता वाली युष्मद्धाते नियुज्यते ।
तेनापि रावणे मैत्रीमनुरुध्याभ्युपेयते ॥ ३५ ॥

रामः—एष एव पन्थाश्चारित्रस्य ।

न तादृशः सुहृत्कार्ये माध्यस्थ्यमवलम्बते ।
ममाप्यस्मिन्महावीरे सोत्कण्ठमिव मानसम् ॥ ३६ ॥

इतरे—कान्यत्र रामदेवादमून्यक्षराणि ?

रामः—भद्र ! कृतं सौजन्यम् । अधुना नन्दतु महाभागः स्वेषु लोकेषु ।

(दनुर्निष्क्रान्तः)

लक्ष्मणः—आर्ये ! वालिरावणयोः किंनिबन्धना मैत्री ?

प्रार्थ्येति० माल्यवता रावणमन्त्रिरागप्रार्थ्यास्मत्प्रार्थमेवं कुरुष्वेति विनयं कृत्वा वाली युष्मद्घाते युवयोर्वधे नियुज्यते अधिक्रियते । तेन वालिना अपि रावणे मैत्रीम् रावणेन सह स्वस्य सख्यमनुरुध्य विचार्य अभ्युपेयते माल्यवतोऽनुरोधस्त्वद्वधरूपः स्वीक्रियते ॥ ३५ ॥

चरित्रस्य = सुचरित्रतायाः, सुचरित्रा एवमेव मित्रकार्यं कर्तुं यतन्त इति भावः ।

न तादृश इति० तादृशः महावीरः महाशूरः वाली सुहृत्कार्ये मित्रार्थे कर्त्तव्ये माध्यस्थ्यम् औदासीन्यं नावलम्बते नाश्रयति, महावीरेऽस्मिन् वालिनि मम रामस्य अपि मानसम् हृदयम् सोत्कण्ठम् उत्कण्ठायुक्तम् (युद्धेच्छासहितम्) इव । अस्तीति शेषः ॥ ३६ ॥

कान्यत्र रामदेवादमून्यक्षराणि = रामादन्यस्मिन् कस्मिन्पुरुषे स्वविरोधिनोऽपि गुणवर्णनपराणि 'न तादृश' इत्यादिश्लोकाक्षराणि (सम्भवन्ति) । रामादन्यः कोऽपि नैवं वदेदिति भावः । नन्दतु=समृद्ध्यतु । स्वेषु लोकेषु = स्ववस्तव्यस्थानेषु ।

किन्निबन्धना = किंमूला । मैत्री = सख्यम् ।

माल्यवान्‌ने बालीको कह सुनकर आपको मारनेके लिये नियुक्त किया है, उसने रावणके साथ मैत्री होनेके कारण उसकी इस प्रार्थनाकी स्वीकृति दे दी है ॥ ३५ ॥

राम—यही तो चरित्रका मार्ग है ।

वैसा आदमी मित्रकार्यमें तटस्थताका अवलम्बन नहीं कर सकता है । मेरे मनमें भी उस महावीरको देखनेकी उत्कण्ठा है ॥ ३६ ॥

और लोग—रामके सिवा कौन दूसरा इस तरहकी बातें कहेगा ?

राम—महाशय ! आपने बड़ी सुजनता दिखाई, अब आप अपने लोकमें विहार करें ।

(दनुका प्रस्थान)

लक्ष्मण—आर्ये ! बालि और रावणकी मैत्री किंमूलक है ?

श्रमणा—

कैलासे तुलिते जिते त्रिभुवने दृप्यन्तमभ्युद्यतं
दोर्युद्धाय दशास्यमिन्द्रतनयः प्रक्षिप्य कक्षान्तरे।
सान्ध्यं कर्म समाप्य सप्तसु नदीनाथेष्वथो मुक्तवा-
नुन्मुक्ताय नताय नाथितवते सख्यं च तस्मै ददौ ॥ ३७ ॥

लक्ष्मणः—दुरात्मन् पौलस्त्यकुलपांसन! एष ते क्षत्रियपरितापिनो वीर्यस्योत्कर्षः।

रामः—एवमुत्तरोत्तरवीरभावश्चित्रीयते वीरलोकः।

कैलासे इति० कैलासे हराचले तुलिते तोलनकर्मतांगते उत्थापित इति पर्यवासितोऽर्थः। त्रिभुवने लोकत्रये जिते वशीकृते सति दृप्यन्तम् दर्पयुतम् दोर्युद्धाय बाहुयुद्धाय अभ्युद्यतम् प्रयतमानम् दशास्यम् रावणम् इन्द्रतनयः वाली कक्षान्तरे बाहुमूलविवरे प्रक्षिप्य निवेश्य सप्तसु नदीनाथेषु समुद्रेषु सान्ध्यम् सन्ध्याकालिकम् कर्म अर्घ्यदानादिकम् समाप्य कृत्वा अथो अनन्तरम् उन्मुक्तवान् कक्षान्तरात् त्यक्तवान्। उन्मुक्ताय स्वेन विसृष्टाय नताय नम्राय नाथितवते प्रार्थनया मैत्रीं याचितवते तस्मै दशास्याय सख्यम् मैत्रीम् ददौ दत्तवान्। अतो रावणायाज्ञानिबन्धनावालिरावणयोर्मैत्रीति प्रत्युत्तरं दीयमानवगन्तव्यम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

पौलस्त्यकुलपांसन = पुलस्त्यवंशकलङ्कभूत, क्षत्रियपरितापिनः = अनरण्यप्रभृतिक्षत्रियपीडकस्य। एष ते वीर्यस्योत्कर्षः = अयमेव तव पराक्रमप्रकर्षः, यद्वालिना-जितः सम्प्रार्थनया तत्सख्यं प्राप्तवानसीति भावः।

उत्तरोत्तरवीरभावः = एकस्मादेकोऽधिकवीरः, उत्तरोत्तरपचीयमानपराक्रम इति भावः। चित्रीयते = विस्मयं जनयति। रावणोऽपि वीरः, वाली ततोऽपि वीरः, एवमेव वीरत्वमुत्तरोत्तरमुपचीयते, तन्मात्रानास्थां कृथा इति भावः।

श्रमणा—रावणने कैलास उठाकर त्रिभुवनको जीतकर, घमण्डसे बालीके साथ लड़नेकी तैयारी की, बालीने रावणको बगलमें दबाकर सातों समुद्रोंमें स्नान सन्ध्या सम्पन्न करके छोड़ दिया, छूटनेपर रावणने मित्रताकी प्रार्थना की! और बालीने इसे स्वीकार किया ॥३७॥

लक्ष्मण—दुरात्मा पुलस्त्यवंशकलङ्क! यही तुम्हारा पराक्रम है जिसके बलपर क्षत्रियोंको सताता है।

राम—वीरोंमें इसी तरह एक दूसरेसे नीच ऊँच हुआ करते हैं, जिससे लोग आश्चर्य करते हैं।

लक्ष्मणः—आर्ये! पुरत एष शुभ्रो गिरिः किंनामधेयः?

श्रमणा—

नायं गिरिर्यशोराशिरिव वीरस्य वालिनः।
एष दुन्दुभिदैत्येन्द्रमहिषस्यास्थिसञ्चयः॥ ३८॥

लक्ष्मणः—उपरुद्धान्यनेन वर्त्मानि। तत्परिहृत्य गच्छामः।

रामः—नन्वेहि। (पादाङ्गुष्ठेन क्षिपति।)

श्रमणा—आश्चर्यमाश्चर्यम्!

यत्संक्रन्दननन्दनः कपिवृषा निर्मथ्य दोःस्तम्भयो-
र्व्यापारेण निरास्थदस्थिगिरिवद्देवद्विषो दुन्दुभेः।

शुभ्रः = धवलः। किन्नामधेयः = किन्नामकः।

नायमिति० अयम् शुभ्रः पदार्थः न गिरिः पर्वतः किन्तु वीरस्य वालिनः यशोराशिः कीर्त्तिसमूह इव स्थितः दुन्दुभिनाम्नः दैत्येन्द्रमहिषस्य महिषाकृते राक्षसस्य आस्थिसञ्चयः अस्थिसमूहः। यं शुभ्रं पुरोवर्त्तिपदार्थं त्वं गिरितयोत्प्रेक्षसे नासौ तथा किन्तु वालिनाहतस्य महिषाकृतेर्दुन्दुभिनाम्नः राक्षसस्यास्थिनिकरः, स चातिदुर्दान्तदुन्दुभिमारणाद्वालिनः कीर्त्तिसमूह इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा। सुगममन्यत्॥ ३८॥

उपरुद्धानि = सर्वतो व्याप्त्याऽऽक्रान्तानि। वर्त्मानि = मार्गाः। परिहृत्य = तदुपरुद्धं वर्त्म विहायान्यतः।

यत्सङ्क्रन्दनेति० संक्रन्दननन्दनः इन्द्रात्मजः कपिवृषा कपीन्द्रः देवद्विषः असुरस्य दुन्दुभिनाम्नः यत् गिरिवत् पर्वतसदृशम् अस्थि दोः स्तम्भयोः स्तम्भसदृशयोर्भुजयोः व्यापारेण प्रयासेन निर्मथ्य आलोड्य प्रतिघातपूर्वकम् निरास्थत् दूरीकृतवान्, अयम् रामः नभः आकाशदेशम् रुन्धत् व्याप्नुवत् अकालपाण्डुरघनप्रस्पर्धि शारद-

लक्ष्मण—आर्ये! आगेवाले पहाड़का क्या नाम है?

श्रमणा—यह पहाड़ नहीं है, यह तो वीर बालीके यशरूपमें स्थित दुन्दुभि नामक दैत्यमहिषकी हड्डियोंकी ढेर है॥ ३८॥

लक्ष्मण—इसने तो मार्ग ही घेर लिया है, बचकर चलें।

राम—आओ, (पैरके अंगूठेसे हटा देते हैं)

श्रमणा—आश्चर्य है आश्चर्य!

बालीने स्तम्भतुल्य अपने दोनों हाथोंसे प्रयत्न करके दुन्दुभिके जिस अस्थिकूटको हटाया था उसी शारदमेघके समान धवलवर्ण अस्थिकूटको रामचन्द्रने पैरके अंगूठेको हिलाकर विन्ध्यसे दूर देशमें फेंक दिया॥ ३९॥

तत्कङ्कालमकालपाण्डुरघनप्रस्पर्धि रुन्धन्नभः
पादाङ्गुष्ठविवर्तनादयमितो निर्विन्ध्यमाविध्यति ॥ ३९ ॥

लक्ष्मणः—प्रशान्तगम्भीरनीलविपुलश्रीररण्यगिरिभूमिः प्रसज्यते।

श्रमणा—ऋष्यमूकपम्पापर्यन्तभूमयः खल्वेता। तथा चाग्रतो मतङ्गाश्रमपदम्। यत्र चिरशून्येऽपि संनिहितसोमचमसादिविविधपात्रपरिकर आस्तीर्णबर्हिरिध्मवानाज्यगन्धिरद्यापि भगवान्वैश्वानरः समिध्यते।

घनवत् पाण्डुवर्णं विशालोन्नतञ्च तत् कङ्कालं शरीरास्थि पादस्य न तु चादयोः बाहुस्तम्भयोर्वा अङ्गुष्ठस्य-न त्वङ्गुष्ठयोः-विवर्त्तनात् यादृच्छिकव्यापारात्-न तु प्रयत्नपूर्वकसंरम्भात्-इतोऽस्मात् स्थानात् निर्विन्ध्यम् विन्ध्याभाववति देशे-न तु स्वल्पदूरे-आविध्यति क्षिपति। वाली यस्यास्थिसञ्चयस्य क्षेपणे बाहू आयास्य साफल्यमलभत, रामस्तत्र पादाङ्गुष्ठविवर्त्तनेन ततः शतसहस्रगुणमधिकमकृतेति ततोऽस्य सामर्थ्यातिशयः सूचितः। 'संक्रन्दनो दुश्च्यवनस्तुराषाण् मेघवाहनः' 'स्याच्छरीरास्थिकङ्कालम्' 'आविद्धौ कुटिलक्षिप्तौ' इति सर्वत्रामरकोशः। शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ३९ ॥

प्रशान्तगम्भीरनीलविपुलश्रीः = प्रशान्तालोकसञ्चाररराहित्यादकोलाहलाऽतः सौम्या, गम्भीराऽक्षोभ्या, नीला तद्वर्णा, विपुला महती, श्रीः शोभा यस्याः सा तादृशी। अरण्यगिरिभूमिः = वनवर्त्तिपर्वतद्वयान्तरालस्थली। प्रसज्यते = समीपमायाति।

ऋष्यमूकपम्पापर्यन्तभूमयः = ऋष्यमूकपर्वतस्य पम्पानामसरसश्च पर्यन्तभूमयः प्रान्तदेशाः। मतङ्गाश्रमपदम् = मतङ्गनाम्नो मुनेराश्रमस्थानम्। चिरशून्ये = बहोः कालाल्लोकरहिते। सन्निहितसोमचमसादिविविधपात्रपरिकरः = सन्निहिताः समीपस्थिताः, सोमचमसाः = सोमभक्षणपात्रविशेषाः, आदिपदम्-ग्रहध्रुवोपभृज्जुहूप्रभृतिपात्रपरिग्राहकम्। परिकरः = समुदयः। आस्तीर्णबर्हिः = परिस्तीर्णकुशः। इध्मवान् = समित्समेतः। आज्यगन्धिः = घृतगन्धवान्, वैश्वानरः = अग्निः, समिध्यते = दीप्यते। यद्यप्यत्रत्या मुनयस्तत्परिजनशिष्याश्च रक्षोभिर्व्यापादिता इति रिक्तमाश्रमपदं तथापि तत्प्रणीतो वह्निरधुनापि दीप्यते, यस्यैकदेशे यज्ञपात्राणि स्थितानि सन्ति यतश्चाज्यगन्धः प्रकटीभवति, यश्चेध्मयुक्तो विद्यत इत्यर्थः।

लक्ष्मण—प्रशान्त गम्भीर तथा हरी वन पर्वकी भूमि मिल रही है।

श्रमणा—यह ऋष्यमूकका पम्पा सरोवर प्रान्त है। इसके आगे मतङ्ग मुनिका आश्रम है, जो बहुत दिनोंसे खाली पड़ा है फिर भी वहाँ यज्ञाग्नि जल रही है जिसके पास सोमपात्र चमस आदि रक्खे हुए हैं, कुश आस्तृत है और जिससे आज्यकी गन्ध आ रही है।

रामः—अचिन्तनीयार्थास्तपसां विशेषाः।

श्रमणा—देव ! पश्य—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्तप्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः॥

अपि च—

दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूना-
मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि।

अचिन्तनीयार्थाः=अप्रतर्क्यप्रयोजनाः । तपसां विशेषाः=तपस्यातिशयाः । यद्यप्यत्रस्थैस्तपस्विभिः स्वतपोमहिम्ना शापादिना शक्यते स्म कर्तुमात्मरक्षा रक्षोभ्यस्तथापि ते तत्र स्वंतपो न न्ययुञ्जत, तदप्रतर्क्यं तत्र कारणमिति रामस्याशयः।

इहेति० इह अस्मिन् वनप्रान्ते समदैः सहर्षैः शकुन्तैः पक्षिभिः आक्रान्तेभ्यः अध्यासितेभ्यः वानीरेभ्यः वेतसवृक्षेभ्यः मुक्तैः प्रहीणैः (पक्षिणामाक्रमणेन च्युतैरित्यर्थः) प्रसवैः वेतसतरुपुष्पैः सुरभीणि सगन्धानि शीतानि शीतलानि स्वच्छानि निर्मलानि तोयानि जलानि यासां तास्तथोक्ताः, फलभराणाम् फलसमूहानाम् परिणामेन पाकावस्थया श्यामाः श्यामलवर्णाः जम्बूनिकुञ्जाः जम्बूवनानि तेषु स्खलनेन वेगभङ्गेन मुखराणि सशब्दानि भूरीणि बहूनि स्रोतांसि प्रवाहाः यासां तादृश्यश्च निर्झरिण्यः नद्यः वहन्ति प्रवहन्ति। अत्र वनभागे नद्यो वहन्ति यासां तटेषु वेतसवृक्षावलिस्थितानि कुसुमानि पक्षिभिः स्वाक्रमणादिना जले निपात्यन्ते तदुत्थो गन्धो व्याप्नोति सर्वतः, यासाञ्च नदीनां प्रवाहो जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयतया समधिकसशब्द इति भावः। मेघे कालिदासोऽप्याह—'जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः' इति। 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवः' इति 'कूलङ्कषा निर्झरिणी' इति चामरः। मालिनीवृत्तम्॥

दधतीति० अत्र अस्मिन् वनोद्देशे अनुरसितगुरूणि प्रतिध्वनिदीर्घाणि कुहरभाजाम् कन्दरावर्त्तिनाम् भल्लूकयूनाम् तरुणर्क्षाणाम् अम्बूकृतानि सनिष्ठीवनशब्दविशेषाः स्त्यानम् सङ्घातभावम् बहिर्निस्सरणनिलम्बादतिशयमित्यर्थः दधति धारयन्ति।

राम—तपस्याकी विशेषताएँ अचिन्त्य हुआ करती हैं।

श्रमणा—देव ! देखिये—यहाँ झरने बह रहे हैं, जिनके किनारेपर अवस्थित वेत्रवृक्ष मत्त पक्षियोंसे आक्रान्त होनेके कारण फूल गिरा रहे हैं, जिनसे इनका स्वच्छ जल वासित हुआ करता है और जम्बू वनके पके फलोंके गिरनेसे टपटप शब्द भी निर्झरोंके जलमें उठ रहा है॥ ४०॥

और—यहाँ युवा भालुओंकी गुर्राहट जो प्रतिध्वनित होनेसे और भयावह मालूम

शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीना-
मिभदलितविशीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः ॥ ४१ ॥

लक्ष्मणः—किमभित एव प्रवृत्तपौरस्त्यमारुतवितन्यमानकदम्बानि काननानि संगलितबाष्पपटलया दृशा परिक्षिप्य धनुरवष्टम्भधीरधारितशरीरेणार्येण संप्रति स्थीयते

रामः—वत्स ! किं न पश्यति ।

स्थितमुपनतजृम्भारम्भबिम्बैः कदम्बैः
कृतमतिकलकण्ठैस्ताण्डवं नीलकण्ठैः ।
अपि च विघटमानप्रौढतापिच्छनीलः
श्रयति शिखरमद्रेर्नूतनस्तोयवाहः ॥ ४२ ॥

सल्लकीनां गजभक्ष्यवृक्षविशेषाणाम् शिशिरकटुकषायः तत्तदुक्तरसपूर्णः इभदलितविशीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः हस्तिभग्नत्वाद्वायुविशकलितपर्वनिर्गतस्वरसगन्धः स्त्यायते एकत्रीभूयाधिकायते । 'गजभक्ष्या तु सुवहा सल्लकी ह्लादिनीति च' इति रत्नमाला । 'ग्रन्थिः पर्वगदान्तरे' इति च । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ ४१ ॥

प्रवृत्तः प्रवहमानः यः पौरस्त्यमारुतः पुरोवातः तेन वितन्यमानानि विकासितानि कदम्बानि कदम्बपुष्पाणि यत्र तानि । काननानि = वनानि । संगलितबाष्पपटलया = च्युताश्रुधारया । परिक्षिप्य = समन्ततो दृष्टिन्यासं कृत्वा । धनुरवष्टम्भधीरधारितशरीरेण = धनुरालम्ब्य धीरतयाऽवलम्बितदेहेन ।

स्थितमिति० उपनतम् प्राप्तम् जृम्भारम्भस्य विकासाद्यावस्थायाः बिम्बं चिह्नं येषु तथाभूतैः कदम्बैः स्थितम् । अतिकलकण्ठैः अतिमधुरशब्दयुक्तकण्ठैः नीलकण्ठैः मयूरैः ताण्डवम् मेघालोकनिमित्तं नृत्यम् कृतम् । विघटमानानि प्रौढानि प्राप्तकालानि यानि तापिच्छानि तमालकुसुमानि तद्वन्नीलः श्यामलः नूतनः सद्यः सम्भृतसलिलः तोयवाहो मेघः अद्रेः पर्वतस्य शिखरम् शृङ्गं श्रयति (अत एवाहं शून्यमन-

पड़ती है, उनमें आती है और सल्लकी—जिसे हाथीने खाकर छोड़ दिया है तथा जो शीतल तथा कषाय रसकी है, उसकी गन्ध फैल रही है ॥ ४१ ॥

लक्ष्मण—आर्य ! आप पूर्वसे आनेवाली हवासे विकसित कदम्बयुक्त वनको इन अश्रुपूर्ण नयनोंसे देखते हुए धनुषपर देहका भार रखकर क्यों खड़े हैं ।

राम—भाई ! क्या तुम नहीं देखते हो ?

कदम्ब विकासोन्मुख हो रहे हैं, मधुर स्वरवाले नीलकण्ठ नाच कर रहे हैं, विकसित तथा प्रौढ़ तमाल वृक्षकी तरह श्यामवर्ण नया मेघ पर्वतकी चोटीपर आ रहे हैं ॥ ४२ ॥

लक्ष्मणः—(स्वागतम्) अपि नामार्यः केनचिद्रसान्तरेण विक्षिप्यते ?

(नेपथ्ये)

मातामह मातामह ! प्रतिनिवर्तस्व ।

त्वन्नियोगादयुक्तोऽपि वधः साधोः करिष्यते ।
पूज्योऽसि ननु मित्रस्य यो गुरुर्गुरुरेव सः ॥ ४३ ॥

लक्ष्मणः—आर्य ! कोऽयम् ।

श्रमणा—देव ! पश्य पश्य !

बिभ्राणश्चारुचामीकरकमलमयं दाम दत्तं मघोना
पिङ्गेनाङ्गेन सन्ध्याच्छुरित इव महानम्बुवाहस्तडित्वान् ।

स्कतया धनुषि देहभारमारोप्य कथञ्चित् स्थितोऽस्मीति लक्ष्मणप्रश्नस्योत्तरं रामेण दत्तम् इति बोध्यम् ॥ ४२ ॥

केनचिद्रसान्तरेण = विप्रलम्भश्रृङ्गारेण । **विक्षिप्यते**=अन्यथास्थितचित्तः क्रियते ।

त्वन्नियोगादिति० **त्वन्नियोगात्** मित्रमातामहतया पूज्यस्य तवादेशात् **अयुक्तः** कर्त्तुमनर्हः **अपि साधोः** न्यायपथप्रवृत्तस्य रामस्य **वधः करिष्यते**, तत्र कारणमाह—'पूज्योऽसि' इति । यतस्त्वं मित्रस्य गुरुरतो ममापि गुरुर्मातामहोऽतश्च पूज्योऽत एव चानुल्लङ्घ्यादेश इत्याशयः ॥ ४३ ॥

बिभ्राण इति० **मघोना** इन्द्रेण पुत्रस्नेहेन **दत्तम् चारु** मनोहरम् **चामीकरकमलमयं** काञ्चनपद्मनिर्मितं **दाम** माल्यम् **बिभ्राणः** धारयन्, (अत एव माल्ययुक्ततया) **पिङ्गेन** पिञ्जरवर्णेन **अङ्गेन** देहावयवेन **सन्ध्याच्छुरितः** सान्ध्यरागयुतः **महान् तडित्वान्** विद्युद्युक्तः **अम्बुवाहः** मेघ **इव** । अत्र सन्ध्यारागच्छुरितत्वेन घनस्य पिशङ्गता गात्रस्य सा स्वतः, मेघे विद्युत्, काञ्चनपद्ममाल्यं च तत्स्थाने वालितनाविति विभा-

---

लक्ष्मण—(स्वगत) मालूम पड़ता है आर्य इस समय किसी अन्य भावनासे विक्षिप्त हो रहे हैं ।

(नेपथ्यमें)

मातामह ! मातामह ! तुम लौट जाओ ।

तुम्हारी आज्ञासे उस साधुका भी मैं वध करूँगा, तुम मेरे पूज्य हो, जो मित्रका गुरु है वह हमारा भी गुरु ही हुआ ॥ ४३ ॥

लक्ष्मण—आर्य ! यह क्या है ?

श्रमणा—देव ! देखिये देखिये ।

पिङ्गल देहमें इन्द्र द्वारा दत्त सोनेकी माला पहने, सन्ध्यारागयुक्त विद्युत्सङ्गत मेघके

उत्पाताविद्धमूर्तेर्दधदुपरि गिरेर्गैरिकाङ्कस्य लक्ष्मी-
मन्तःसीमन्तरेखामिव वियति जवादिन्द्रसूनुस्तनोति ॥ ४४ ॥

लक्ष्मणः—आर्य ! आर्य ! दिष्ट्या प्राप्तः स वीरगोष्ठीविनोदप्रदानप्रियसुहृन्माघवतः ।

राम—(स्वगतम्) महावीरः सः ।

(ततः प्रविशति वाली)

वाली—

लोकालोकालवालस्खलनपरिपतत्सप्तमाम्भोधिपूरं
विश्लिष्यत्पर्वकल्पत्रिभुवनमखिलोत्खातपातालमूलम् ।

ध्यम् । उत्पाताविद्धमूर्त्तेः अग्न्युत्पातावृताङ्गस्य गैरिकाङ्कस्य गैरिकधातुरक्तस्य गिरेः पर्वतस्य लक्ष्मीम् शोभाम् उपरि दधत् बिभ्रत् यथाऽग्न्युत्पातेन पर्वतो गैरिकरक्तः शोभते तद्वदयम्, अत्र गैरिकरक्तपर्वततुलना वालिदेहेऽग्न्युत्पाततुलना च स्वर्णमाल्य इति बोध्यम् । सोऽयमिन्द्रसूनुः वालीजवात् उत्पतनवेगात् वियति आकाशे अन्तः-सीमन्तरेखामिव मध्यवर्त्तिकेशपाशविभाजगसिन्दूराधाररेखामिव तनोति । नीले नभसि तद्देहरक्तप्रभा सीमन्तरेखेव प्रतिभातीति तात्पर्यम् । उत्प्रेक्षात्रालङ्कारः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ४४ ॥

वीरगोष्ठीविनोदप्रदानप्रियसुहृत् = वीराणां गोष्ठी सभा तस्यां विनोदः क्रीडा संग्रामस्तस्य प्रदाने प्रियसुहृत्–युद्धदानप्रिय इति यावत् । माघवतः = मघवत इन्द्रस्यापत्यं माघवतः, इन्द्रपुत्रो वालीत्यर्थः ।

लोकालोकेति० लोकालोकः सप्तमद्वीपान्तस्थितजलधिपारवर्त्ती चक्रवालाचलः एव आलबालः वृक्षमूलस्थजलरोधकोवेष्टनविशेषः तस्य स्खलनेन ब्रह्माण्डवृक्षोत्पाटनवेगवशाद्विपर्यासेन परिपतन्तः उच्छलिताः सन्तो विकीर्यमाणाः सप्तमाम्भोधिपूराः स्वादूदकसमुद्रप्रवाहाः यस्मिन् कर्मणि तत्, विश्लिष्यन्ति वियुज्यमानानि पर्वक-

---

समान, उत्पातयुक्त गैरिकधातु पूर्ण पर्वतकी उपमा धारण करनेवाला आकाशमें सीमन्तरेखा सदृश लकीरसी खींचता हुआ वाली वेगसे चला आ रहा है ॥ ४४ ॥

लक्ष्मण—आर्य ! आर्य ! भाग्यवश युद्धविद्याका विनोद प्राप्त करानेवाला मित्र वाली आ गया ।

राम—(स्वगत) वस्तुतः वह महान् वीर है ।

(वालीका प्रवेश)

वाली—मैं ब्रह्माण्डस्वरूप इस झाड़ीको उलटपुलट कर सकता हूँ, जिससे लोकालोक पर्वतरूप आलबाल स्खलित हो जायगा, सप्तम समुद्रका पानी गिरने लगेगा, पोरके स्थानीय

पर्यस्तादित्यचन्द्रस्तबकमवपतद्भूरिताराप्रसूनं
ब्रह्मस्तम्बं धुनीयामिह तु मम विधावस्ति तीव्रो विषादः॥ ४५॥

एवं नामायुक्तमनुरुध्यमानाः पुमांसो महत्ययुक्तगह्वरे निपात्यन्ते। यदनेन माल्यवता पौलस्त्यमैत्रीप्रतिश्रवमनुस्मार्य तत्रभवतो रघूद्वहस्य निधने नियुक्तोऽस्मि। अहो ग्रहः। प्रातरारभ्य मामनुबध्नन्किष्किन्धायाः प्रस्थाप्य प्रतिनिवृत्तः। कष्टं भोः, कष्टम्।

रूपाणि ग्रन्थिस्थानीयानि त्रिभुवनानि यत्र तादृशम्, अखिलम् समग्रम् उत्खातम् उत्पाटितम् पातालम् अधोभुवनम् एव मूलम् यत्र तत्, पर्यस्तौ परितो विकीर्णौ आदित्यचन्द्रौ सूर्याचन्द्रमसौ एव स्तवकौ गुच्छौ यत्र तथा, अवपतन्ति भ्रश्यमानानि भूरिताराप्रसूनानि अनन्तनक्षत्रकुसुमानि यत्र तादृशम् यथा स्यात्तथा ब्रह्मस्तम्बम् ब्रह्माण्डरूपं गुल्मम् धुनीयाम् कम्पयितुं शिक्नुयाम्, इह माल्यवता निर्दिष्टे रामवधरूपे तु विधौ कार्ये मम तीव्रः घोरः विषादः खेदः अस्ति तद्वधस्य निरपराधदण्डतयाऽकर्त्तव्यतया न ममास्ति तत्र प्रवृत्तिरित्याशयः। अहं ब्रह्माण्डरूपं गुल्मं कम्पयितुं क्षमः, यस्मिन् कर्मणि लोकालोकचालनेन सप्तमसमुद्रस्य प्रवाहोऽत्र प्रसरेत् पर्वाणि इव भुवनानि भज्येरन्, पातालं मूलमिवोत्पाटितं भवेत्, स्तबकाविव सूर्यचन्द्रौ निपतेताम्, ताराकुसुमानि पृथक् पतेयुरिति सारांशः। स्रग्धरा वृत्तम्। 'लोकालोकश्चक्रवालः' 'स्यादालवालमावालमावापः' इत्युभयत्रामरः। धुनीयामित्यत्र 'शकिलिङ् चे'ति लिङ्॥ ४५॥

अयुक्तम् = अन्याय्यम्। अनुरुध्यमानाः=अनुरोधेन कार्यमाणाः। महति=दुस्तरे। अयुक्तगह्वरे = नरके। मैत्री प्रतिश्रवम् = सख्यप्रतिज्ञाम्। अनुस्मार्य = स्मारयित्वा। रघूद्वहस्य = रघुवंशतिलकस्य। निधने = वधे। अहो ग्रहः = विस्मयनीयो माल्यवतः स्वकार्यनिर्बन्धः। प्रातरारभ्य = प्रातःकालात्। मामनुबध्नयन् = अनुनयन्। प्रस्थाप्य = प्रेष्य। प्रतिनिवृत्तः = परावृत्तः।

त्रिभुवन ढीले पड़ जायेंगे, पातालरूप जड़ उखड़ जायगी चन्द्रसूर्यरूप पुष्पगुच्छ बिखर जायेंगे और तारामण्डलरूप फूल गिरने लगेंगे, परन्तु इस रामवधरूप कार्यमें मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है॥ ४५॥

इस तरह अनुचित अनुरोध करनेवाले पुरुष खाईमें ला गिराते हैं। इस माल्यवान्ने रावणकी मैत्रीकी याद दिलाकर मुझे रघुनन्दनके वधमें नियुक्त कर दिया। बड़ा भारी ग्रह है वह। सवेरेसे लेकर मेरा पीछा करता रहा और मुझे किष्किन्धासे हांककर ही वहाँ से टला। बड़ी कष्ट की बात है:—

दौरात्म्याद्‌रिभिर्निजार्जशुचौ मायाविभिर्वञ्चिते
धर्मात्मन्यतिथौ निजानपि जगत्पूज्ये गृहानागते ।
एतस्मिन्नुचितं न नाम विहितं वाचापि नोक्तं प्रियं
धिक्पापेन मया रिपाविव कथं बद्धो वधायोद्यमः ॥ ४६ ॥

कथितं च सम्प्रत्येवमेव चारकैः—'विभीषणेन सुग्रीवस्याप्यनाख्याय रामान्तिकं श्रमणा प्रेषिता । प्रतिपन्नलङ्काधिपत्यश्च तस्य दाशरथिरस्मिन्मतङ्गाश्रमोपकण्टे वर्तते' इति । भवतु । अवतरामि । (तथा नाटयति) कः कोऽत्र भोः ?

विजितपरशुरामं सत्यधर्माभिरामं गुणनिधिमभिरामं द्रष्टुमभ्यागतोऽस्मि।

दौरात्म्यादिति० मायाविभिः मायानिपुणैः अरिभिः शत्रुभिः दौरात्म्यात् दुष्टत्वात् वञ्चिते प्रतारिते (हृतभार्ये) निजार्जवशुचौ स्वसारल्यपूते धर्मात्मनि धर्माचरणपरायणे निरागसि निरपराधे जगत्पूज्ये अतिथौ गृहानागते एतस्मिन् रामे उचितम् तदीयगुणगणानुरूपम् अर्हणम् न विहितम् नाम, वाचाऽपि नावेदितम् न स्वागतं कृतम् । प्रत्युत वैपरीत्येन दारुणम् पापम् मारणोद्यमरूपं व्यवसितं कर्तुमुद्दिष्टम् । किं सख्यमेतादृशम् ईदृशाकर्त्तव्यकारि । स्वसारल्यपूतो धर्मात्मा निरपराधो विश्ववन्द्यः रामो मायाविभिर्दौरात्म्याद्धृतभार्यः सन्मदीयान् गृहानागतस्तस्य स्वागतादि न कृतं, वाचापि स्वागतं न व्याहृतं, प्रत्युत तद्वधायोद्युक्तं पापेन मया, किमीदृशं मित्रत्वं यदेतादृश्यकर्त्तव्ये नियोजयेत्, तन्मां धिगिति भावः ॥ ४६ ॥

सुग्रीवस्याप्यनाख्याय = सुग्रीवादपि गोपयित्वा । रामान्तिकम् रामसमीपम् । प्रतिपन्नलङ्काधिपत्यः = अङ्गीकृतलङ्काराजपदः ।

विजितपरशुराममिति० विजितपरशुरामम् भार्गवमपि जितवन्तम् सत्यधर्माभिरामम् सत्यधर्मनिष्ठम् गुणनिधिम् शौर्यौदार्यादिगुणगणाश्रयम् अभिरामम् रमणीया-

---

अपनी सरलतासे पवित्र धर्मात्मा अतिथि गृहागत रामके विषयमें—जिसे दुरात्मा रिपुओंने धोखा देकर कष्ट दिया है—मैंने जो ऐसा सङ्कल्प किया वह ठीक नहीं किया, उसपर भी वचनसे सूचित भी नहीं करके मैंने शत्रु-सा व्यवहार किया मुझ पापीको धिक्कार है ॥ ४६ ॥

अभी-अभी चारोंने बताया है कि 'विभीषणने सुग्रीवसे बिना पूछे श्रमणाको रामके पास भेजा है । रामने विभीषणको लङ्काधिपत्य देना स्वीकार कर लिया है और वह इस समय मतङ्गाश्रमके पास हैं' । अच्छी बात है । उतरता हूँ । (वैसा करता है) कोई है यहाँ ?

जिन्होंने परशुरामको जीता, जो गुणनिधि तथा सत्यधर्मयुक्त हैं, मैं उन्हीं रामको

भवति च फलवत्ता चक्षुषस्तत्र दृष्टे भवति च रमणीयो दर्पकण्डूनिकाषः ॥

रामः—वत्स सौमित्रे ! मामिहस्थमावेदय महाभागाय ।

लक्ष्मणः—(उपसृत्य) अयमार्यस्तिष्ठति । तदुपसर्पतु महाभागः ।

वाली—अपि त्वं पुनरसौ लक्ष्मणः ।

लक्ष्मणः—अथ किम् ?

(उभावुपसर्पतः)

वाली—(स्वगतम् ।)

स एष रामश्चरिताभिरामो धर्मैकवीरः पुरुषप्रकाण्डः ।
स्वान्येव पूर्वाणि परैश्चरित्रैर्योऽत्यद्भुतैरप्रतिमोऽतिशेते ॥ ४८ ॥

कृतिम् रामम् द्रष्टुम् विलोकयितुम् अभ्यागतः समायातः अस्मि । तत्र रामे दृष्टे चक्षुषः नेत्रस्य फलवत्ता साफल्यं भवति जायते, रमणीयः चेतोऽभिमतः दर्पकण्डूनिकाषः गर्वकण्डूतिनिरासश्च भवति । योऽतिसुन्दरोऽतिवीरतया युद्धाभिलाषपूरकश्चास्तीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

इहस्थम् = अत्र वर्त्तमानम् । निवेदय = कथय । महाभागाय=महात्मने वालिने ।

स एष इति० चरिताभिरामः सुन्दरचरित्रः धर्मैकवीरः अद्वितीयधार्मिकः पुरुषप्रकाण्डः प्रशस्तः पुरुषः स एष रामः अप्रतिमः अद्वितीयः, (अतश्च) यः स्वानि निजानि एव (चरितानि) परैश्चरित्रैः अत्यद्भुतैः अतिशेते जयति । यादृगद्भुतं तस्याद्यचरितं श्वस्तदपेक्षयाप्यधिकमद्भुतमद्य तदपेक्षयापि परश्वोऽधिकमद्भुतं तदयं स्वान्येव पूर्वाणि चरितानि परैश्चरितैर्विजयते, तेनानुपमेयोऽयमिति भावः ॥

देखने आया हूँ । उनके देखनेसे आँखोंको सफलता प्राप्त होती है तथा बाहुओंकी रणलिप्सा भी पूरी होती है जिससे घमण्डरूप खुजली दूर हो जाती है ॥ ४७ ॥

राम—भाई लक्ष्मण ! महाभाग बालीसे मेरा यहाँ होना कह दो ।

लक्ष्मण—(समीप जाकर) यही तो आर्य हैं ।

वाली—क्या तुम लक्ष्मण हो ?

लक्ष्मण—और क्या ?

(दोनों समीप आते हैं)

वाली—(स्वगत) ये ही हैं सुन्दरचरित्र, धर्मवीर, पुरुषश्रेष्ठ, राम जो अपने पूर्व चरित्रोंको उत्तरचरित्रसे जीतते रहते हैं, (दिनानुदिन जिनका चरित्र उत्तम होता जाता है) ॥ ४८ ॥

(प्रकाशम्) राम !
आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं तु ममापि सम्प्रति कुतस्त्वद्दर्शने चक्षुषः ।
त्वत्सांगत्यसुखस्य नास्मि विषयस्तत्किं वृथा व्याहृतै-
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यदमने पाणौ धनुर्जृम्भताम् ॥ ४९ ॥
रामः—दिष्ट्या यदद्य दृष्टस्त्वं सत्यमेतच्च युज्यते ।
किं त्वशस्त्रेषु युष्मासु कथं रामोऽस्तु सायुधः ॥ ५० ॥
वाली—(विहस्य) भो महाक्षत्रिय ! किमित्यननुकम्पनीयानप्येवमस्माननुकम्पसे ।

आनन्दायेति० आनन्दाय प्रीतये, विस्मयाय लोकोत्तरचरितरूपदर्शनजनितचमत्कारार्थम्, वा पक्षे दुःखाय (एतादृशोऽपि हन्तव्य इति) विषादाय सम्प्रति दृष्टोऽसि । तु पुनः त्वद्दर्शने तवालोकने मम चक्षुषः वैतृष्ण्यम् अपि तृप्तिः अपि कुतः ? न कुतोऽपीत्यर्थः । त्वत्साङ्गत्यसुखस्य त्वत्सङ्गजन्यानन्दस्य विषयः पात्रम् न अस्मि (अहं तव मैत्रीं लब्धुं ना यातोऽस्मीत्यर्थः) तत् वृथाव्याहृतैः व्यर्थालापैः किम् न किमपि फलम् । विश्रुतजामदग्न्यदमने भार्गवविजयप्रसिद्धे अस्मिन् तव पाणौ हस्ते धनुः जृम्भताम् । धनुर्गृहाणेति भावः । यद्यपि मम त्वदालोकने प्रीतिरुत्पद्यते परमहं यदर्थमागतोऽस्मि तत्प्रयोजनं युद्धमतो युद्धाय सज्जो भवेति तात्पर्यम् ॥ ४९ ॥

दिष्ट्येति० अद्य त्वम् यद् दृष्टः तद् दिष्ट्या आनन्ददम् । एतत्सत्यम् युज्यते च भवद्दर्शनस्यानन्दप्रदत्वं मयोक्तं सत्यम् युक्तियुक्तञ्च । अन्यथा भवदुक्तं सत्यं युक्तञ्चेत्यर्थः । किन्तु युष्मासु अशस्त्रेषु अधृतशस्त्रेषु रामः कथम् सायुधः अस्तु धृतास्त्रो जायताम् । अतः मां शस्त्रग्रहणाया गृह्णन् त्वं प्राक् स्वयं शस्त्रं गृहाणेति भावः ॥५०॥

अननुकम्पनीयान् = आततायित्वेन दयास्थानानि । अनुकम्पसे = शस्त्रग्रहणार्थमागृह्य दयां दर्शयसि ।

(प्रगटमें) राम ! आनन्द आश्चर्य और दुःखके साथ आज मैं तुझे देख रहा हूं फिर भी तुम्हें देखनेसे आंखे तृप्त नहीं हो रही हैं । तुम्हारी सङ्गति पानेका दावा मैं नहीं कर सकता हूँ । परशुरामविजयसे ख्यात अपने इन हाथोंमें धनुष ग्रहण करो ॥ ४९ ॥

राम—भाग्यवश आज तुम्हें देख सका, यह ठीक भी है और युक्त भी है । परन्तु जब तक तुम खाली हाथ हो तब तक मैं राम कैसे सायुध हो जाऊँ ? ॥ ५० ॥

वाली—(हँसकर) अजी महाक्षत्रिय ! मैं दयाका पात्र नहीं हूँ, व्यर्थ मुझपर दया क्यों कर रहे हो ?

ज्ञाता एव वयं जगत्सु चरितैर्वाग्भिः किमाख्यायते
संयत्तो भव सत्यमस्ति भवतः सत्यं मनुष्यो भवान्।
शस्त्रैरव्यवधीयमानविजयाः प्रायो वयं तेषु चे-
द्ग्राहस्ते सुखमाश्वसन्ति गिरयो यैर्वानराः शस्त्रिणः ॥ ५१ ॥

तदितः स्थलीमधितिष्ठाव।

लक्ष्मणः—आर्य ! यथाह महाभागः स्वजातिसमयव्यवस्थिता युद्धधर्मा इति।

वालिरामौ—(अन्योन्यमुद्दिश्य)

कामं त्वया सह श्लाघ्यो वीरगोष्ठीमहोत्सवः।
किं त्विदानीमतिक्रान्ते त्वय्यवीरा वसुन्धरा॥ ५२ ॥

ज्ञाता एवेति० वयम् चरितैः स्वैः कृत्यैः जगत्सु भुवनेषु ज्ञाताः परिचिताः एव, वाग्भिः किमाख्यायते वचनैः स्वं गौरवं किमर्थमुद्घोष्यते, नास्ति तदावश्यकतेति भावः। संयत्तः युद्धार्थं सन्नद्धः भव, भवतः सत्यम् सत्यव्यवहारपरत्वमस्ति अतः भवान् सत्यः सत्यादनपेतः मनुष्यः। वयम् प्रायः शस्त्रैः अव्यवधीयमानविजयाः शस्त्राण्यस्माकं विजयं न प्रतिबध्नन्ति। तेषु शस्त्रेषु ते तव ग्राहः आग्रहातिशयश्चे-त्तदा गिरयः पर्वताः सुखम् अक्लेशम् आश्वसन्ति जीवन्ति तिष्ठन्तीत्यर्थः। यैः गिरिभिः वानराः शस्त्रिणो भवन्तीति शेषः। वयं वानराः पर्वतानेव शस्त्रभावेनोपयु-ञ्ज्महे ते च सुखेन लभ्या अतस्त्वाग्रहोऽपि रक्षयितुं शक्योऽतोऽलं मच्छस्त्रग्रहप्रती-क्षया त्वरितं युद्धाय सन्नद्धो भवेति तात्पर्यम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ॥ ५१ ॥

स्थलीम् = अकृत्रिमां भूमिम्, विमर्दक्षमां भूमित्यर्थः, अधितिष्ठाव = आश्रयाव। स्वजातिसमयव्यवस्थिताः = निजजातिव्यवस्थानुसारिणः। युद्धधर्माः=युद्धनियमाः। वानराः शस्त्रव्यवहारं पर्वतेष्वेव कुर्वन्त्यतोऽमीषां त एव शस्त्राणीति भावः।

कामंमिति० त्वया वालिना सह वीरगोष्ठीमहोत्सवः संग्रामानुष्ठानानन्दः कामम्

मेरा चरित संसार विख्यात है, वचनोंसे क्या प्रकट किया जाय ? युद्धके लिये तैयार हो जाओ, तुम सत्यप्रिय तथा सच्चे मनुष्य हो। शस्त्रोंका नहीं होना मेरी विजयमें बाधक नहीं होता है और यदि तुम शस्त्रके लिये आग्रह करो तो यह पहाड़ तो हैं ही, वानर इन्हें ही शस्त्र मानते हैं ॥ ५१ ॥

तब यहाँसे हम युद्धयोग्य भूमिमें चलें।

लक्ष्मण—यह महानुभाव ठीक कहते हैं। युद्धधर्म जाति व्यवस्थित होते हैं।

बालि तथा राम—(एक दूसरेसे)

तुम्हारे साथ लड़ना प्रशंसनीय है, परन्तु अब तुम्हारे मिट जानेपर पृथिवी वीरशून्या हो जायगी ॥ ५२ ॥

(परिक्रम्य निष्क्रान्तौ)

लक्ष्मणः—कथमास्फालिते धनुषि कुपितः सांक्रन्दनिः। तथा हि—

गर्जत्पर्जन्यघोरस्तनितमविरतं तिग्मगम्भीरमन्त-
गुञ्जन्गुञ्जाभजृम्भाविवृतमुखविशद्विश्वदिक्चक्रवालः।
संरम्भोत्तम्भतुङ्गस्थिततविततडित्पिङ्गलाङ्गूलकेतु-
र्व्यस्तं विस्तार्य दर्पादपिहितगगनोत्सङ्गमङ्गं धुनोति ॥ ५३ ॥

(नेपथ्ये)

विभीषण विभीषण !

यथेच्छं श्लाघ्यः प्रशस्यः, किन्तु इदानीम् सम्प्रति त्वयि अतिक्रान्ते वीरभावंगते मृते वसुन्धरा पृथिवी अवीरा वीरशून्या भविष्यतीति शेषः ॥ ५२ ॥

आस्फालिते = मौर्वीसंयोगेन टंकारिते। कुपितः = क्रुद्धः। साङ्क्रन्दनिः = संक्रन्दन इन्द्रस्तस्यापत्यं साङ्क्रन्दनिः वालीत्यर्थः।

गजदिति० गर्जन् सशब्दः यः पर्जन्यः मेघः तस्येव घोरम् भयानकम् स्तनितम् गर्जितं यत्र कर्मणि तत्तथा, अविरतम् सततम् तिग्मगम्भीरम् तीक्ष्णधीरम् गुञ्जन् हुङ्कुर्वन्, गुञ्जाभे गुञ्जाफलसदृशे जृम्भाविवृते व्यादानमुक्तद्वारे मुखे विशत् प्रवेशं कुर्वत् विश्वासां समस्तानां दिशाम् चक्रवालं मण्डलम् यस्य तादृशः। संरम्भस्य क्रोधस्य उत्तम्भेन उदयेन तुङ्गम् उन्नतम् यथा तथा स्थितः, वितता विस्तृता तडित् विद्युत् इव पिङ्गः पिङ्गलः लाङ्गूल एव केतुर्ध्वजो यस्य तादृशः, दर्पात् वीर्यगर्वात् अपिहितः आच्छादितः गगनोत्सङ्गः आकाशाभोगः येन तथाभूतमङ्गम् व्यस्तम् विपरीतं यथा तथा विस्तार्य धुनोति कम्पयति। मेघगर्जितमिव गभीरं गर्जनं कुर्वन् गुञ्जाभे जृम्भाव्यात्ते च मुखे दिक्चक्रवालं प्रवेशयन्, क्रोधोत्थितविद्युत्पिङ्गललाङ्गूलपताकः पराक्रमगर्वादङ्गं गगनोत्सङ्गे विस्तारयन् वाली स्वं कायं कम्पयतीत्यर्थः। स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५३ ॥

(दोनोंका प्रस्थान)

लक्ष्मण—क्यों धनुष चढ़ते ही बालि कुपित हो उठा? क्योंकि—

मेघके गर्जनकी तरह शब्द हो रहा है जो बहुत गम्भीर है, गुञ्जाफल सदृश रक्त तथा विवृत उसके मुंहमें दिङ्मण्डल प्रविष्ट-सा हो रहा है, वेगसे उठी हुई पूँछके देखनेसे बिजलीका भ्रम हो आता है, वह पूँछ पताका-सी दीखती है, आकाशको वह व्याप्तकर कँपा-सा रहा है ॥ ५३ ॥

(नेपथ्यमें)

विभीषण ! विभीषण !

आर्यस्य वालिन इव ध्वनिरेष नूनं तस्येव नूतनघनस्तनितप्रचण्डः।
मौर्वीरवश्च कुत एष भयानकः स्याद्व्यापारितं किमु हरेण धनुः पिनाकम्॥

लक्ष्मणः—आर्ये! अयं नु कः?

श्रमणा—स एष खलु विभीषणसखः सुग्रीवः सविमर्शसंरम्भं सम्प्रहारमनुसरति। सर्वे च यूथपतयो गिरिगह्वरेभ्यः सम्पतन्ति।

लक्ष्मणः—तेन हि सम्प्रति मयाप्यारोपयितव्यं धनुः।

श्रमणा—एष वालिकायदुन्दुभिकरङ्कसप्ततालगिरिमहीतलान्यवदार्य रामतूणीरमधिशयितः शरः।

आर्यस्येति० नूनम् निश्चयेन आर्यस्य वालिनः इव एषः ध्वनिः सिंहनादः। तस्येव वालिन इव नूतनघनस्तनितप्रचण्डः नवोदितमेघगर्जितोत्कटः मौर्वीरवः धनुष्टङ्कारश्च कुतः स्यात्। नान्यतस्तादृशः शब्दः संभवतीति भावः। किमु किम् हरेण पिनाकम् तन्नामकम् धनुर्व्यापारितम् आस्फालितम्? महादेवधनुषोऽन्यतः तादृशः शब्दो वालिन एव धनुषः संभवतीति भावः॥ ५४॥

विभीषणसखः = विभीषणेन सहितः। सविमर्शसंरम्भम् = वितर्केण क्रोधेन च सह। सम्प्रहारम् युद्धम्। यूथपतयः = वानरसेनापतयः। गिरिगह्वरेभ्यः = पर्वतकन्दराभ्यः। सम्पतन्ति = परापतन्ति। वालिनमाक्रान्तमनुमाय तत्साहाय्यकायाहमहमिकया परापतन्तीति भावः। आरोपयितव्यम् = आस्फालनीयम्।

वालिकायः = वालिशरीरम्, दुन्दुभिकरङ्कः = दुन्दुभिनाम्नो महिषाकारदैत्यस्यास्थिकूटम्, सप्ततालाः = सप्तसङ्ख्याकास्तालतरवः, गिरिः = पर्वतः, महीतलञ्च तानि। अवदार्य = विपाट्य। रामतूणीरम् = रामनिषङ्गम् (सर्वमपि प्रागुक्तं भित्त्वा पुनः स्वस्थानम् आगतः) अधिशयितः = आगतः।

यह आर्य वालिका ही शब्द सुननेमें आ रहा है, जो मेघगर्जनके तुल्य है। यह भयावह प्रत्यञ्चा का शब्द किधरसे आया, क्या महादेवने अपना धनुष पिनाक तो नहीं व्यापारित कर दिया?॥ ५४॥

लक्ष्मण—आर्ये! यह कौन है?

श्रमणा—यह विभीषणके साथ सुग्रीव वितर्क और वेगके साथ युद्धभूमि की ओर बढ़े आ रहे हैं और यूथपति भी कन्दराओं से निकल रहे हैं।

लक्ष्मण—तब तो अब हमको भी धनुष चढ़ाना चाहिये।

श्रमणा—यह रामका बाण वालिकी देह सात तालवृक्ष तथा दुन्दुभिकी हड्डीके पहाड़को भेदकर रामकी तूणीमें आ गया।

(नेपथ्ये)

मद्द्रोहाच्छपथात्प्रसीदतु मतिः पौलस्त्यसुग्रीवयो-
र्हे वीराः कपयः शमोऽस्तु भवतामीशः स एवास्मि चेत्।
रामात्प्राप्तमहार्घ्यवीरमरणस्याशास्तिरेषाद्य मे
योऽहं सूर्यसुतः स एव भवतां योऽयं स वत्सोऽङ्गदः ॥५५॥

लक्ष्मणः—तदयमनुचराज्ञानियन्त्रणोन्मुक्तवीरसमयमङ्गलसदसह्यदुःखनिभृतैर्यूथपतिभिरार्येण च सपक्षपातबाष्पेण वीक्ष्यमाणः स्वद्रोहशपथयन्त्रितसशोकविभीषणेन याच्यमानशरीरसौष्ठवः प्रयत्ननिरुद्धनिष्ठुरप्रहार-

मद्द्रोहादिति० पौलस्त्यसुग्रीवयोः विभीषणसुग्रीवयोः मतिः बुद्धिः मद्द्रोहात् रामकृतात् मद्वधात्–शपथात् शपथं कृत्वा–यदा रामेण वालीहतस्तदा वयं के इति विचार्य न कदापि रामेणवैरं कर्त्तव्यं यदि क्रियते तदास्माकमीदृशं पातकं भवेदित्येवं दिव्यमाश्रित्येत्यर्थः–प्रसीदतु अकलुषा जायताम् । हे वीराः कपयः, चेत् अहम् भवताम् सः एव ईशः स्वामी, यदि भवन्तो मामधुनापि स्वस्वामित्वेनाङ्गीकुर्वन्ति तदा मदादेशात् शमः रामेण सहाविद्वेषः अस्तु मद्वधप्रतिचिकीर्षया रामं वोपद्रवतेति यावत् । अद्य रामात् प्राप्तमहार्घ्यवीरमरणस्य रामादासादितवीरोचितरणमृत्योः मम एषा आशास्ति प्रार्थना—भवताम् योऽहम् स एषः सूर्यसुतः सुग्रीवः, यः अयम् सुग्रीवः सः वत्सोऽङ्गदः, भवद्भिः सुग्रीवोऽहमिव वत्सश्चाङ्गदः सुग्रीव इव दृश्य इति यावत्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

अनुचराज्ञा = वालिकृतः सैनिकेष्वादेशो रामविद्वेषत्यागरूपः, नियन्त्रणम् = संग्रामावतारणान्निरोधः, उन्मुक्तः = त्यक्तः, वीरसमयः = वीराचारः युद्धरूपोऽत्र सः। लसदसह्यदुःखनिभृतैः = युद्धनिरोधेन दुःखितैः । सपक्षपातबाष्पेण = सस्नेहाश्रुणा। याच्यमानशरीरसौष्ठवः=रामशरव्यथा कीदृशीति पृच्छ्यमानः। प्रयत्ननिरुद्धनिष्ठुरप्रहा-

(नेपथ्यमें)

मेरी शपथ है—विभीषण और सुग्रीव शान्त हों, वानरो ! यदि तुम मुझे अपना स्वामी मानते हो तो धीरज धरो, मैंने रामके हाथसे बहुमूल्य मृत्यु पाई है अब मेरी आप लोगोंसे यही कमना है कि आप हमारी जगह सुग्रीवको तथा सुग्रीवकी जगह अंगद को दें ॥ ५५ ॥

लक्ष्मण—सभी यूथपति तथा आर्य इस समय वालीको आंखोंमें स्नेहकी आंसू लिये देख रहे हैं, अनुचरोंपर आदेश देना उसने छोड़ दिया है, वीरकी तरह वह मर रहा है, उसने शपथ देकर विभीषण तथा सुग्रीवको शान्त कर दिया है वह उसकी देहका समाचार

मर्मच्छेदवेदनावेगः परिष्वङ्गव्याजविधृतसुग्रीवकण्ठपरिधीकृतस्वकण्ठकनककमलमालागुणः शक्रसूनुरस्यामपि दशायां वीरश्रिया प्रदीप्यते ।

(ततः प्रविशतः सुग्रीवविभीषणौ वाली रामश्च)

रामः—

अप्राकृताभिजनवीर्ययशश्चरित्रा-
न्पुण्यश्रियः कुलमहीधरभूरिसारान् ।
एवंविधानपि निपात्य कटुर्विपाकः
सर्वंकषः कषति हा विषमः कृतान्तः ॥ ५६ ॥

वाली—वत्स विभीषण ! पश्य पश्य । सुष्ठु शोभते वत्ससुग्रीवस्य वर्त्तति सहस्रपुष्करमालागुणः ।

रमर्मच्छेदवेदनावेगः = यत्नगोपितरामशरपीडाकष्टः । परिष्वङ्गव्याजः = आलिङ्गनच्छलम् । सुग्रीवकण्ठपरिधीकृतस्वकण्ठकनकमलमालागुणः = सुग्रीवकण्ठपरिधापितस्वकण्ठवर्त्तिस्वर्णकमलस्रक् । शक्रसुनुः = वाली ।

अप्राकृतेति० **अप्राकृतानि अलोकसामान्यानि-अभिजनो वंशः, वीर्यम् पराक्रमः, यशः कीर्त्तिः, चरित्रम् आचरणम् , तानि येषाम् तान् पुण्यश्रियः पवित्रलक्ष्मीकान् कुलमहीधरभूरिसारान् कुलपर्वततुल्यदृढान् एवंविधान् वालिसदृशान् अपि सर्वङ्कषः सर्वसंहर्ता कटुररुन्तुदः विपाकः (सर्वस्यापि जगतः) परिणामः अन्त्यावस्थारूपः विषमः भयानकः कृतान्तः यमराजः निपात्य हत्वा कषति सूदयति । अलौकिसामर्थ्यानपि वालितुल्यान् संहरन्नतिविषमो यम इति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम्॥५६॥**

सहस्रपुष्करमालागुणः = दशशतसंख्याकस्वर्णकमलमाल्यम् ।

पूछ रहे हैं, वह बलपूर्वक प्रहारके कष्टको दबाये हुए हैं, गले लगनेके वहाने सुग्रीवको पकड़कर उसके कण्ठमें अपने कण्ठकी स्वर्णमाला पहना रहा है । वालि इस दशामें भी वीर लक्ष्मीसे चमक ही रहा है ॥

(सुग्रीव विभीषण राम तथा वालीका प्रवेश)

राम—असाधारण वंश, पराक्रम, यश तथा चरित्रसे युक्त कुलपर्वतके समान सारवाले ऐसे लोगोंको भी यह दुरन्तकाल समाप्तकर देता है, यह बड़ा ही विषम है ॥ ५६ ॥

वाली—भाई विभीषण ! देखो, सुग्रीवके गलेमें यह स्वर्णकमलकी माला खूब भली लग रही है ।

सुग्रीवविभीषणौ—(अपवार्य)

अकाण्डशुष्काशनिपातरौद्रः क एष धातुर्विषमो विवर्तः ।
अस्माभिरार्यः शपथैर्निरुद्धैः कथं विलङ्घ्यः कथमासितव्यम् ॥ ५७ ॥

वाली—रामभद्र रामभद्र !

रामः—आर्य ! अयमस्मि ।

वाली—

यदासक्तं दैवादनभिमतसख्येऽपि हि जने
मया सख्यं प्राणैरनृण इव तस्याहमधुना ।
यदन्यत्साधूनां तव च गुणराशेः समुचितं
प्रहाणे प्राणानां तदपि हि यथाशक्ति विदधे ॥ ५८ ॥

अकाण्डेति० **अकाण्डे सहसा यः शुष्कः वृष्ट्यम्बुवर्जितः अशनिपातः वज्रप्रहारः तद्वद्रौद्रः भयङ्करः, धातुः क एष विवर्त्तः कृत्यपरिणामः ? किमिदं विधाताऽसमये वज्रप्रहारवत् कृतमिति भावः । शपथैः अनेकैः शपथप्रदानैः निरुद्धैः प्रतिशोधाद्वारितैः अस्माभिः आर्यः वाली कथं विलङ्घ्यः केन प्रकारेणाज्ञाभङ्गेनातिक्रमणीयः, कथमासितव्यम् वैरशोधनमकृत्वा वा कथं स्थेयमिति सेयमुपभयतः पाशा रज्जुरेकतस्तदाज्ञाभङ्गोऽपरतश्च भ्रातृवधाप्रतिकार इति बोध्यम् । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ५७ ॥**

यदासक्तमिति० **दैवात् भाग्यवशात् अनमितसख्ये मैत्र्यनर्हेऽपि जने रावणे यत् सख्यम् मया आसक्तम् स्थापितम् अहम् अधुना प्राणैः प्राणान्दत्त्वा तस्य सख्यस्य अनृणः दायित्वरहितः इव जात इति । अनुचितमित्रभावेऽपि रावणे मया यत्सख्यं स्वीकृतं सम्प्रति प्राणदानेन तत्परिशोधितमित्यर्थः । यत् अन्यत् साधूनाम् सज्जनानाम् गुणराशेः गुणनिधेः तव च समुचितं युक्तम् अभिलषितं वा तदपि प्राणानाम् प्रहाणे प्राणत्यागकाले यथाशक्ति सामर्थ्यानुसारेण विदधे कुर्वे । साधवो भवन्तश्चापि यत्सख्यमभिष्टं मन्यन्ते तदपि भवादृशजनसख्यमधुना मृत्युकाले करोमीत्याशयः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५८ ॥**

सुग्रीव-विभीषण—(छिपाकर) असमयमें वज्रप्रहार की तरह विधाताका यह कैसा कार्य है ? हमें आर्यने शपथोंसे बांध दिया है उसे कैसे तोड़े और योहीं कैसे छोड़ दें ॥ ५७ ॥

वाली—रामभद्र ! रामभद्र !

राम—आर्य ! यही तो हूं ।

वाली—मित्रताके लिये अयोग्य रावणके साथ भाग्यवश जो मैत्री करली थी, मैं आज अपने प्राण देकर उससे बरी हो रहा हूं । अब-साधुजन तथा आप जिसे उचित समझते हैं-प्राणोंकी विदाईके क्षणोंमें—वह भी यथाशक्ति कर लेता हूँ ॥ ५८ ॥

(रामः सविनयलज्जाशोकस्तिष्ठति ।)

सुग्रीवविभीषणौ—(जनान्तिकम्) आर्ये श्रमणे ! कथममृतह्रदादिवास्माकं रामदेवादेष दैवविपाकः ।

श्रमणा—माल्यवता किलैवम् । (इत्युभयोः कर्णे कथयति)

वाली—वत्स सुग्रीव !

(सुग्रीवो बाष्पस्तम्भं नाटयति ।)

वाली—ननु सुग्रीव ! आः प्रातिकूलिकः संवृत्तः ।

सुग्रीवः—(सकरुणम्) आर्य आर्य ! प्रसीद । आज्ञापय ।

वाली—वत्स ! कथय कस्तवास्मि ?

सुग्रीवः—गुरुः स्वामी च ।

वाली—त्वं तु मम कः ?

सुग्रीवः—शिष्यः प्रेष्यश्च ।

वाली—वत्स ! कथय क आवयोरन्योन्यधर्मः ?

अमृतह्रदाद् = सुधासरसः । एष दैवविपाकः = वालिनिपातरूपो दशाविपर्ययः । प्रातिकूलिकः = विरुद्धाचारी, मदुक्तिनिरादर इत्याशयः ।

(राम विनयलज्जा तथा शोकसे बैठे रहते हैं)

सुग्रीव-विभीषण—(सबसे) रामको हम सुधासरोवर समझते थे, उन्होंने ऐसा क्यों किया ?

श्रमणा—माल्यवान्‌ने इस प्रकार (दोनोंके कानमें कुछ कहती है)

वाली—वत्स सुग्रीव !

(रोती-सी स्वरूप बनाकर)

वाली—सुग्रीव ! आः ! क्या तुम बदल गये ?

सुग्रीव—आर्य ! आप प्रसन्न हों, आज्ञा करें ।

वाली—भाई ! बताओ, तुम्हारा मैं कौन हूँ ?

सुग्रीव—श्रेष्ठ तथा स्वामी ।

वाली—तुम हमारे कौन हो ?

सुग्रीव—शिष्य तथा नौकर ।

वाली—भाई ! यह भी बताओ कि तुम्हारा हमारे साथ क्या धर्म है ?

सुग्रीवः—वशित्वं वो वश्यता च मम ।

वाली—(तं हस्ते गृहीत्वा) तर्हि दत्तोऽसि रामाय । रामभद्र ! नन्वेष गृह्यताम् ।

रामसुग्रीवौ—को हि पूज्यस्य गुरोर्वचनं न बहु मन्यते ?

विभीषणः—अहो विस्तरस्थानेऽपि धर्मोपपत्तिविशुद्धः संक्षेपः ।

वाली—वत्स सुग्रीव ! अथ ब्रह्मपुत्रादार्याज्जाम्बवताऽधीतधर्मपरायणवचनेन कीदृशस्त्वया मैत्रधर्म आगमितः ।

सुग्रीवः—

प्राणैरपि हिता वृत्तिरद्रोहो व्याजवर्जनम् ।
आत्मनीव प्रियाधानमेतन्मैत्रीमहाव्रतम् ॥ ५९ ॥

वाली—रामभद्र ! तवापि भगवतः सहस्रकिरणान्वयपुरोहिताद्वसिष्ठादेष एव हि सम्प्रदायः ।

वशित्वम् = आज्ञापकत्वम् । वश्यता = आज्ञाप्यता ।

विस्तरस्थाने = यत्र विस्तारेणोच्यते तत्र । धर्मोपपत्तिविशुद्धः = धर्मेण युक्त्या च पवित्रः ।

अधीतधर्मपारायणवचनेन=अधीतधर्मव्यवहारोपयुक्तस्मृतिवाक्येन । आगमितः= शिक्षितः ।

प्राणैरिति० प्राणैः अपि हिता हितसाधनीवृत्तिः व्यवहारः अद्रोहो द्वेषत्यागः, व्याजवर्जनम् छद्मत्यागः, आत्मनीव यथा स्वार्थं तथा प्रियाधानम् अभीष्टकरणम्, एतच्चतुष्टयम् मैत्रीमहाव्रतम् सख्यं नाम कष्टसाध्यमनुष्ठानम् ॥ ५९ ॥

सहस्रकिरणान्वयपुरोहितात् = सहस्रकिरणः सूर्यस्तस्यान्ववायो वंशस्तत्पुरोहितात् । संप्रदायः = पारम्पर्यागतं ज्ञानम् ।

सुग्रीव—आप वशमें रक्खें और मैं आपके वशमें रहूं ।

वाली—(सुग्रीवका हाथ पकड़ कर) तो हमने तुम्हें रामको दिया । रामभद्र ! आप इसे ग्रहण करें ।

राम-सुग्रीव—कौन पूज्य तथा श्रेष्ठकी बातका आदर नहीं करता ?

विभीषण—आश्चर्य ! विस्तारके स्थानमें भी धर्म तथा युक्तिसे पूर्ण संक्षेप ।

वाली—सुग्रीव ! ब्रह्माके पुत्र आचार्य जाम्बवान्‌से तुमने कैसा मैत्रीधर्म अधिगत किया है ?

सुग्रीव—प्राण देकर भलाई करें, द्रोह तथा छलका कभी नाम न लें, अपनी तरह प्रिय करें यही मैत्रीधर्म है ॥ ५९ ॥

वाली—रामभद्र ! सूर्यवंशके पुरोहित वसिष्ठ से अपने भी तो यही मैत्रीधर्म ज्ञात किया होगा ?

रामः—आर्य ! अथ किम् ?

वाली—तदनेन मैत्रीधर्मेण भवद्भ्यामन्योन्यस्य वर्तितव्यम् । मदनुरोधात्क्रियतामुपनिबन्धोऽग्निसाक्षिकश्च । समयो नातिवर्तते । संनिहित एवायं मतङ्गयज्ञाग्निः ।

रामसुग्रीवौ—(अन्योन्यहस्तग्राहम्)

पुण्ये मतङ्गयज्ञाग्नौ सख्यं निर्वृत्तमावयोः ।
ममैव हृदयं तेऽस्तु तवैव हृदयं च मे ॥ ६० ॥

वाली—रामभद्र ! अयं तु वत्सो विभीषणस्त्वया प्रतिश्रुतलङ्काधिराज्य एव पुरतः श्रमणायाः ।

विभीषणः—(सलज्जाशङ्कम्) कथं ज्ञातोऽस्मि ।

श्रमणालक्ष्मणौ—अहो चारचक्षुष्मत्ता ।

रामः—अथ किम् ?

विभीषणः—तर्हि प्रसन्नं देवेन । (इति प्रणमति ।)

अन्योन्यस्य वर्त्तितव्यम् = परस्परं व्यवहर्त्तव्यम् । उपनिबन्धः = मैत्रीस्थिरता । समयो नातिवर्त्तते = सुबहुः कालो नास्ति ।

पुण्ये इति० **पुण्ये पवित्रे, निर्वृत्तम् जातम् ॥ ६० ॥**

प्रतिश्रुतलङ्काधिराज्यः = लङ्काराजपदे निषेक्तुं दत्तवरः ।

चारचक्षुष्मत्ता = चारद्वारा सकलदर्शित्वम् ।

राम—आर्य और क्या ?

वाली—अब आप दोनों इसी मैत्री धर्मसे बरतें । मेरे अनुरोधसे यह मैत्री बन्धन अग्निसाक्षिक कर लें, समय भी है, अग्नि भी वर्त्तमान ही है मतङ्गयज्ञशालामें ।

राम-सुग्रीव—(परस्पर हाथ पकड़ कर) इस पवित्र मतङ्गयज्ञाग्निमें हमने मैत्री स्वीकार की है हमारा तुम्हारा हृदय एक सदृश हो ॥ ६० ॥

वाली—रामभद्र ! विभीषणके लिये तो आपने लङ्काराज्यकी बात मान ही ली है, श्रमणा ही इसकी साक्षी है ।

विभीषण—(लज्जा तथा भयसे) क्यों जान लिया गया हूँ ।

श्रमणा और लक्ष्मण—अहो ! अश्चर्यजनक है, दूतों की चतुरता ?

राम—और क्यों ?

विभीषण—यह आपने कृपा की । (प्रणाम करता है)

सुग्रीवः—मयाप्यविदितः श्रमणावृत्तान्तः फलितस्त्विति तर्कितार्थोऽस्मि।
रामः—हे प्रियसुहृदौ महाराजसुग्रीवविभीषणौ, एष वामिदानीं सौमित्रिः।
लक्ष्मणः—आर्यौ ! लक्ष्मणोऽभिवादयते ।
उभौ—एह्येहि वत्स ! (इत्यालिङ्गतः)
श्रमणा—अतिगम्भीरः सरसः स्वीकारः ।

वाली—वत्स विभीषण ! तवाप्यलमिदानीं स्वार्थशालीनतया। एवं परिणाममेवैतद्वस्तु । रावणो हि नास्त्येवेति मद्वृत्तान्तेनैव व्याख्यातम् । अपत्यस्नेहसाम्येऽपि पिण्डोपजीविनो विशेषतो रावणहितोपस्थानं धर्मः । स्वयं कथयितुं सम्यग्विभीषणस्य प्रेयसा योग इति मातामहस्य युक्तम् । महान्त एव हि तादृशानामगाधसत्त्वानामविनयपरिस्यन्दितं जानन्ति । प्रचलन्ति हि मे प्राणाः । तदवसानप्रपातस्थलमुपनयन्तु मां भवन्तः ।

तर्कितार्थः = चेष्टादिनो हितार्थः ।
सरसः = प्रेममयत्वाद्रूक्षः ।
स्वार्थशालीनतया = स्वार्थे लज्जायुक्ततया । मया स्वार्थमन्यायः कृत इति त्रपां मा कार्षीरित्यर्थः । एवं परिणामम् = एतदन्तम् । मद्वृत्तान्तेन = मम समाचारेण मरणरूपेण । मम हन्ता रावणमपि हन्यादेवेति प्रमापितं मम मरणेनेति तात्पर्यम् । अपत्यस्नेहसाम्येऽपि = पुत्रत्वादिसम्बन्धकृतस्नेहतुल्यभावेऽपि । पिण्डोपजीविनः = वेतनाद्युपभोगिनः । प्रेयसा = प्रियतमेन रामेण । तादृशानाम् = माल्यवत्तुल्यानाम् ।

सुग्रीव—श्रमणावृत्तान्त मैं नहीं जानता था, समझता हूँ वह सफल रहा।
राम—हे प्यारे मित्र ! सुग्रीव विभीषण ! ये लक्ष्मण अब आपके हुए।
लक्ष्मण—आर्यगण ! लक्ष्मण प्रणाम करता है।
दोनों—आओ भाई ! (गले लगाते हैं)
श्रमणा—अतिगम्भीर तथा सरस स्वीकार प्रकार यह है।

वाली—भाई विभीषण ! तुमको भी अपनी स्वार्थपरायणताके लज्जा नहीं करना चाहिये, इसका यही परिणाम होनेवाला था। हमारे ही वृत्तान्तसे जान लो रावण अब नहीं है। यद्यपि सभी अपत्य समान प्रिय होते हैं तथापि जिसका अन्न खाते हैं उसका राग अलापेंगे ही इसलिये रावणकी ओर हैं। फिर भी माल्यवान्ने ठीक ही कहा है कि अन्तमें विभीषण का भला होगा। उस तरहके लोगोंके अविनय व्यवहारको वैसे ही बड़े आदमी जान पाते हैं। मेरे प्राण अब निकल रहे हैं। इसलिये अन्तकाल प्रपातस्थलमें ले चलो।

नीलप्रभृतयः—
हा वीर हा मघवनन्दन मन्दराद्रिनिष्कम्पसार जगदप्रतिमल्लवीर !।
उद्दर्पदुन्दुभिनिशुम्भपटुप्रचण्डदोर्दण्डमण्डल गतोऽसि हहा हताः स्मः॥
(इति रुदद्भिस्तैर्धार्यमाणः परिक्रम्य)

वाली—भो महात्मानः प्लवङ्गमपुंगवाः !
सुग्रीवाङ्गदयोः प्रभुत्वमिह यत्सौजन्यमेतद्धि वो
मत्प्रीत्यैव तु नावधीर्यमनयोर्यद्वो महिम्नः क्षमम्।
प्राप्तः सम्प्रति रामरावणरणः स्नेहस्य निर्व्यञ्जक-
स्तस्मिन्नञ्जलिरेष शान्तमथवा वीर्येषु वः के वयम्॥ ६२ ॥

अविनयपरिस्पन्दितम् = दुश्चेष्टितम्। प्रपातस्थलम् = गिरिनदीप्रपातस्थानम्। उपनयन्तु = प्रापयन्तु॥

हा वीरेति० हा वीर! हा मघवनन्दन इन्द्रसूनो! मन्दराद्रिनिष्कम्पसार मन्दराद्रिवदचालनीयदृढभाव, जगदप्रतिमल्लवीर त्रिभुवनाद्वितीयशूर, उद्दर्पस्य गर्विणः दुन्दुभेस्तदाख्यदैत्यनिशुम्भे मथने पटु दक्षम् प्रचण्डम् घोरम् मृदोर्मण्डलम् भुजद्वयं यस्य तादृश, वालिन्, गतोऽसि कालवशमुपेतोऽसि। हा! खेदे! हताः स्मः, त्वयि मृतेऽशरणाः सम्पद्यामहे इति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ६१॥

प्लवङ्गमपुङ्गवाः = वानरोत्तमाः।

सुग्रीवाङ्गदयोरिति० इह जगति सुग्रीवाङ्गदयोः यत् प्रभुत्वम् स्वामित्वं वः युष्माकं सौजन्यम् दाक्षिण्यम् हि एतत्, भवतां सौजन्येनैव ते प्रभवोऽन्यथा ते स्वयं न तथा भावाधिकारिण इति तात्पर्यम्। मत्प्रीत्यैव मां प्रतिस्नेहेनैव वः युष्माकम् महिम्नः प्रभावस्य यत् क्षमम् शक्यं तदनयोः सुग्रीवाङ्गदयोः नावधीर्यम् नावज्ञातव्यम्। मदनुरोधात्तयोरानुकूल्यं कर्त्तव्यमिति यावत्। सम्प्रति स्नेहस्य निर्व्यञ्जकः समग्रभावेन प्रकाशकः रामरावणरणः प्राप्तः समुपस्थितः, तस्मिन् रामरावणरणविषये एषः अञ्जलिः करबन्धः, प्रार्थनेत्यर्थः। कृताञ्जलिरहं रामसाहाय्ये यतन्तां भवन्त इति प्रार्थय इत्याशयः। अथवा शान्तम् न वक्तव्यमेतत्, यतः वः युष्माकं

नीलप्रभृति—हाय वीर ! हाय इन्द्रपुत्र ! हा मन्दराचल समान अचल ! हा अद्वितीय शूर ! हा दुन्दुभिको मारनेवाले बाहुदण्डसे युक्त ! हाय ! अब तुम चले ही॥ ६१ ॥

(रोकर वे लोग उठाते हैं)

वाली—वानरो! सुग्रीव और अङ्गद का प्रभुत्व आपके सौजन्यपर निर्भर है, मेरे स्नेहके कारण अपने पराक्रमके अनुकूल इनकी मदद करते रहना। स्नेहकी परीक्षाका अवसर राम-रावण युद्ध आया है उसमें-अथवा आपके पराक्रमके विषयमें मैं कौन होता हूँ॥ ६२ ॥

किञ्च—

कर्णावर्जितदिङ्मतङ्गजयुगद्वन्द्वोपमर्दाश्च ते
पुच्छास्फोटदलत्समुद्रविवरैः पातालझम्पाश्च ताः।
कापेयस्य च पौरुषस्य च तथा प्रेम्णो गरिम्णश्च य-
द्दोष्णामुन्मथितद्विषां सुसदृशं तन्मा स्म वो विस्मरत् ॥६३॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महावीरचरित आरण्यकं नाम पञ्चमोऽङ्कः।

वीर्येषु वयं के ? न केऽपीत्यर्थः। भवन्तः स्वस्ववीर्यानुरूपमवश्यमाचरिष्यन्ति तत्र मद्वचनं वृथेति भावार्थः॥ ६२॥

कर्णेति०ते कर्णेषु कर्णावच्छेदेन आवर्जितानाम् आनमितानाम् दिङ्मतङ्गजानाम् दिग्गजानाम् युगद्वन्द्वम् युगलद्वयी तेन उपमर्दाः युद्धानि—कर्णस्वानस्य दिग्गजचतुष्टयानां यद्योधनमित्यर्थः। ताः पुच्छास्फोटेन लाङ्गूलास्फालनेन दलतः दीर्यतः समुद्रस्य विवरैः छिद्रैः पातालझम्पाः पातालकूर्दनानि। कापेयस्य वानरसम्बन्धिनः पौरुषस्य पराक्रमस्य प्रेम्णः मद्विषयकानुरागस्य उन्मथितद्विषाम् विनाशितरिपूणाम् दोष्णाम् स्वभुजानाम् गरिम्णः गौरवस्य च यत् सुसदृशम् अनुरूपम् तत् वः युष्मान् मा स्म विस्मरत् न विस्मरतु। रामरावणयुद्धे भवद्भिः स्वपराक्रमानुरूपं विचरणीयमित्याशयः शार्दूलविक्रिडितं वृत्तम्॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते महावीरचरित-
'प्रकाशे' पञ्चमाङ्क-'प्रकाशः'।

और—कान पकड़ कर आकृष्ट दिग्गजके जोड़ों को लड़ाना, पूंछोंके आघातसे समुद्रके जल को चीर कर पातालमें कूदना और वानरोचित प्रेम तथा मैत्री, शत्रुसंहारी भुजायें इनके योग्य जो कार्य हो वह यह सब आपको न भूले॥ ६३॥

(सबका प्रस्थान)

पञ्चम अङ्क समाप्त



षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विषण्णो माल्यवान्)

माल्यवान्—(सचिन्तम्) अहह, रक्षःपतेर्दुर्विनयविटपिकोरकाः परितः प्रकीर्णा इव ।

बीजं यस्य विदेहराजतनयायाञ्चाङ्कुरोऽपि स्वसु-
र्यात्रा तौ परिवञ्चितुं किसलयं मारीचमायाविधिः ।
शाखाजालमयोनिजापहरणं तस्य स्फुटं कोरकाः
कोशाधीशवधोऽनुजस्य गमनं सख्यं तयोस्तेन च ॥ १ ॥

अयमचिरादेव फलोन्मुखोऽपि भवितेति मन्ये । यतो वृद्धबुद्धिरनागतं पश्यति । (निःश्वस्य) अहो वामता भागधेयानाम् !

अहहेति मानसव्यथाद्योतनाय । रक्षःपतेः = रावणस्य । दुर्विनयविटपिकोरकाः= अविनयरूपवृक्षकलिकाः । प्रकीर्णाः = व्याप्ताः ।

बीजमिति० यस्य रावणाविनयतरोः बीजम् आदिकारणम् विदेहराजतनयायाञ्चा सीताप्रार्थना, अङ्कुरः स्वसुः शूर्पणखायाः तौ रामलक्ष्मणौ परिवञ्चतुम् छलयितुम् यात्रा प्रस्थानम् , मारीचमायाविधिः मारीचकृतश्छलप्रयोगः किसलयम् पल्लवः, अयोनिजापहरणम् सीताहरणम् शाखाजालम् शाखासमुदयः, तस्य रावणदुर्विनय-वृक्षस्य–कोशाधीशवधः बालिवधः, अनुजस्य विभीषणस्य गमनम् तत्समीपगमनम् तयोः सुग्रीवविभीषणयोः तेन रामेण सख्यं मैत्री च स्फुटम् प्रकटम् कोरकाः कलिकाः सन्तीति शेषः । रावणेन सीताप्रार्थनारूपबीजमुप्त्वा योऽविनयतरुरोपितस्तस्याङ्कु-रत्वं रामलक्ष्मणवञ्चनायशूर्पणखायात्रया कृतम् , मरीचमाया च किसलयकृत्यमकृत, सीताहरणं शाखात्वमभजत, तस्यैवामी कोरका यद्बालीहतो विभीषणः शत्रुणा सम-भवत्, सुग्रीवविभीषणाभ्यां रामस्य सख्यञ्चाजातेत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१॥

अयम् = रावणाविनयवृक्षः, अचिरात् = शीघ्रम् । फलोन्मुखः = फलदानतत्परः । अनागतम् = भविष्यत् । वामता = कौटिल्यम् ।

(चिन्तातुर अवस्थामें माल्यवान्का प्रवेश)

माल्यवान्—(सचिन्त) हाय ! रावणके अविनयतरुका कोरक चारो ओर फैल-सा रहा है । सीताकी प्रार्थना ही इस वृक्षका बीज है, शूर्पणखाका रामलक्ष्मणकी वञ्चनाके लिये जाना अङ्कुर, मारीचकृत माया नये पत्ते, सीतापहरण शाखा, अक्षकुमारका वध और विभीषणका जाकर उनसे मैत्री स्थापन करना कोरक हैं ॥ १ ॥

इस वृक्षमें शीघ्र ही फल भी लगेंगे, ऐसा मालूम पड़ रहा है । वृद्धको भविष्य भी दीखता है । (निःश्वास छोड़कर) भाग्यकी कुटिलता आश्चर्यजनक है !

व्यसनेऽस्मिन् मन्त्रशक्त्या यद्यत्प्रतिकृतं मया ।
अलसस्य यथा कार्यं तत्तत्प्रच्युतमात्मना ॥ २ ॥

(सानुतापम्) साचिव्यं नाम महते संतापाय ।

यत्किंचिद्दुर्मदाः स्वैरमाद्रियन्ते निरर्गलम् ।
तत्र तत्र प्रतीकारश्चिन्त्यो वक्रे विधावपि ॥ ३ ॥

अहो दुरात्मनः क्षत्रियबटोः सर्वातिशाय चरितम् । यत्तथाविधशौर्योष्माणं कपिचक्रवर्तिनं शरैः संयमयता किं नाम न विहितम् । (स्मरणं नाटयित्वा) उक्तं च किष्किन्धातः प्रतिनिवृत्तेन चारकेण । यत्सीतामन्वेष्टुमनुदिशमभिदुद्रुवुः कपिपुंगवा इति ।

व्यसनेऽस्मिन्निति० अस्मिन् वर्त्तमाने व्यसने महादुःखे मया माल्यवता मन्त्रिणा मन्त्रशक्त्या मन्त्रणाद्युपायेन यद्यत् प्रतिकृतम् प्रतिकारः कृतः, यथा अलसस्य आलस्ययुक्तस्य जनस्य कार्यं (तथा) तत्तत् मम प्रतिकृतम् आत्मना स्वयं प्रच्युतम् असफलं जातम् । अस्मिन् दुःखोपनिपाते विचार्य ये ये प्रतिकारा मयाऽक्रियन्त सर्वे तेऽलसजनारब्धकार्यवदसफला जाता इत्यर्थः ॥ २ ॥

साचिव्यम् = मन्त्रित्वम् । सन्तापाय = दुःखाय ।

यत्किञ्चिदिति० दुर्मदाः मदमत्ताः प्रभवः स्वैरम् स्वेच्छया निरर्गलम् निर्बाधम् यथा तथा यत्किञ्चित् आद्रियन्ते सादरमाचरन्ति, वक्रे प्रतिकूले अपि विधौ भाग्ये तत्र तत्र प्रतिकारः प्रतिविधानम् चिन्त्यः विभावनीयः । राजानो मदोन्मत्ता यत्किञ्चित् कुर्युस्तत्र सर्वत्रोपायापायचिन्तया चित्तमायासनीयं भवतीति मन्त्रिकार्यमतिकठिनमित्यर्थः ॥ ३ ॥

दुरात्मनः = दुष्टस्य । क्षत्रियवटोः=क्षत्रियकुमारस्य । सर्वातिशायि=सर्वविलक्षणम् । तथाविधशौर्योष्माणम्=तादृशवीरभावम् । कपिचक्रवर्त्तिनम् = वानरराजं वालि-

---

इस आपत्तिमें मन्त्रणाके द्वारा हम जो रक्षा किये थे, वह सब उलट पुलट गया, जैसे आलस्यशील जनका कार्य उलट जाता है ॥ २ ॥

(पश्चात्तापके साथ) मन्त्रित्व अत्यन्त कष्टदायी है ।

मदान्ध राजागण यथेच्छ आचरण करते फिरें और भाग्यके विपरीत रहने पर भी उनका प्रतिकार सोचा करो ॥ ३ ॥

अहो ! इस दुरात्मा क्षत्रिय कुमारका चरित तो अद्भुत है । ऐसे महान् वीर वानरराजको बाणोंसे वेधकर उसने क्या नहीं कर दिया ? (स्मरण करके) किष्किन्धासे लौटे चारोंने कहा है कि सीताको ढूंढनेके लिये वानरगण सभी दिशाओंमें चक्कर काट रहे हैं ।

(नेपथ्ये)

भ्रान्तीः सप्ताधिकानां प्रविदधदरुणैरर्चिषां चक्रवालै-
द्रंग्वीराणामलक्ष्यप्रसृतिरतिसमुत्तप्तरौक्ममालयेषु ।
अर्धप्लुष्टापसर्पद्रजनिचरभटोद्गाढकल्पान्तशङ्कं
लङ्कां प्रौढो हुताशः सह परिदलितोऽब्धेस्त्रिकूटेन लीढे ॥४॥

(प्रविश्य पटाक्षेपेण संभ्रान्ता)

त्रिजटा—परित्रायतां परित्रायतां कनिष्ठमातामहः । (परित्ताअदु परित्ताअदु कणिट्ठमादामहो) (इति सोरस्ताडं पतति)

नम् । संयमयता = निगृह्णता । अनुदिशम् = सर्वासु दिक्षु । अभिदुद्रुवुः = चलिताः । कपिपुङ्गवाः = वानरश्रेष्ठाः ।

भ्रान्तीरिति० अरुणैः रक्तवर्णैः चक्रवालैः प्रभामण्डलैः सप्ताधिकानां सप्तसंख्यातोऽधिकसंख्यानां सामान्यतोऽधिकानामित्यर्थः अर्चिषाम् ज्वालानाम् भ्रान्तीः भूयोभूयो जातत्वेन प्रचुरान् भ्रमान् प्रविदधत् , अतिसमुत्तप्तरौक्ममालयेषु समधिकोष्णस्वर्णसदनेषु वीराणाम् अलक्ष्यप्रसृतिः अविभाव्यमाननिर्गमः, त्रिकूटेन तदाख्यपर्वतेन सह अब्धेः समुद्रात् परिदलितः सर्वतो विमर्दिनः प्रौढो विकटः हुताशः वह्निः अर्धप्लुष्टाः भागशो दग्धाः रजनिचरभटाः राक्षसवीराः तेषां तद्गता उद्गाढा बद्धमूला कल्पान्तशङ्का प्रलयभीतिः यत्र कर्मणि तथा लङ्कां लीढे आस्वादयति दहतीत्यर्थः । अग्निर्लङ्कां दहति, यस्यारुणं मण्डलं न सप्तैवार्चिषः किन्त्वधिका अपि कथमन्यथेदृशी ज्वालाऽस्य वह्नेः स्यादिति भ्रमं करोति । यत्र च दीप्यमाने सुवर्णभवनानि तप्तानि येभ्यो वीरा राक्षसाः पलायमाना अपि न विभाव्यन्ते । चित्रकूटाचलमब्धिं च यावत् तदीयः प्रसारो, येनार्धदग्धरजनिचरभटाः समधिकां प्रलयाशङ्कां बिभ्रतीति भावः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ४ ॥

(नेपथ्यमें)

आगमें लाल लाल ज्वालासे सप्ताधिक होनेका भ्रम हो रहा है, वीरगण छिप छिपकर इधर उधर भाग रहे हैं, सोनेके घर जल रहे हैं, अधजले राक्षसगण प्रलयकी शङ्का करते हैं, इस तरह भयानक आग त्रिकूटके साथ लङ्काको भी चूम रहा है ॥ ४ ॥

(सम्भ्रान्त दशामें कपड़े झाड़ती हुई)

त्रिजटा—छोटे मातामह ! रक्षा करो रक्षा करो । (छाती पीटकर गिरती है)

माल्यवान्—वत्से ! अलं कातरतया । किमिदमुच्चैरत्याहितम् ।

त्रिजटा—(उत्थाय) कनिष्ठमातामह ! किं कथयामि मन्दभागिनी । एष खलु कोऽपि दुष्टवानरः सकलं विदह्य नगरं क्षणमात्रेण प्रस्तरद्रुमक्षेपविक्षिप्तविविधराक्षसलोकोऽक्षेण खलु कुमारकेणानुबध्यमानस्तस्मिन् कृतान्तलीलां कृत्वा झटिति निष्क्रान्तः। (कणिट्ठमादामह ! किं कहेमि मन्दभाइणी। एसो क्खु कोवि दुट्ठवाणरो सअलं विडज्झिअ णअरं खणमेत्तएण पत्थरद्दुमक्खेवक्खित्तविविहरक्खसलोओ अक्खेण क्खु कुमालएण अणुवन्धिज्जमाणो तस्सिं कदन्तलीलं कदुआ झत्ति णिक्कन्तो)

माल्यवान्—(सखेदम्) किं नाम दग्धं नगरम् । हतोऽक्षः कुमारः । अपि को नामायं कपिः स्यात् । (सस्मरणम्) उक्तं च चारकेण हनूमानवाचीं दिशमिति । अहह !

तूलदाहं पुरं लङ्कां दहतैव हनूमता ।
अपि लङ्कापतेस्तीव्रः प्रतापो निरवाप्यत ॥ ५ ॥

कातरतया = अधैर्येण । किमिदमुच्चैरत्याहितम् = नेयं महाभीतिः । त्वरितमुपशक्यतेऽयमग्निस्तन्मागमः कातरत्वमित्यर्थः ।

मन्दभागिनी = हतभाग्या । प्रस्तरद्रुमक्षेपविक्षिप्तविविधराक्षसलोकः = शिलाखण्डस्य द्रुमस्य च प्रहारेण सकलं राक्षसलोकं पीडयित्वा । अक्षेण = तदाख्येन । कुमारकेण = राजपुत्रेण । अनुबध्यमानः = पश्चात्क्रियमाणः, युद्ध्यमान इति तात्पर्यम् । तस्मिन् = अक्षे, कृतान्तलीलाम् = यमव्यापारम् , मृत्युप्रदं प्रहारमित्यर्थः ।
अवाचीम् = दक्षिणाम् ।

तूलदाहमिति० तूलमिव दग्ध्वा तूलदाहम् लङ्कां पुरीम् नगरीम् दहता ज्वलयता हनूमता एव लङ्कापतेः रावणस्य तीव्रः प्रखरः अपि प्रतापः तेजः निरवाप्यत समा-

---

माल्यवान्—बेटी ! अधीर मत हो, भयभीत मत हो, यह क्या विपत्ति आ गई ?

त्रिजटा—(उठकर) छोटे मातामह ! मैं अभागी क्या बताऊं ? यह दुष्ट वानर थोड़ी ही देरमें समस्त लङ्कानगरीको जलाकर पत्थल और पेड़की मारसे राक्षसोंकी भगाकर, अक्षकुमारके लड़ने जानेपर उसे भी समाप्तकर चला गया ।

माल्यवान्—(खेदके साथ) क्या लङ्का जल गई ? अक्षकुमार मारा गया ? यह कौन वानर हो सकता है ? (स्मरण करके) चारने कहा था—हनूमान् दक्षिणकी ओर । हाय !

तूलराशिकी भांति लङ्काको जलानेवाले हनूमान्ने रावणके उग्रप्रतापको भी बुता दिया ॥

वत्से ! अपि तेन सीताप्रवृत्तिरुपलब्धा।

त्रिजटा—कनिष्ठमातामह ! पुरत एव कोऽपि मर्कटपरमाणुस्तया समं मन्त्रयमाणो दृष्टः । तयाप्युन्मुच्य केशाभरणमभिज्ञानमिति तस्य हस्ते समर्पितम् । एतावज्जानामि । (कणिट्ठमादामह ! पुरदो जेव कोवि मक्कडपरमाणू तीए समं मन्तअन्तो दिट्ठो । तीए वि उम्मोचिअ केसाहरणं अहिण्णाणं त्ति तस्स हत्थे समप्पिदम् । एत्तिअं जाणामि)

माल्यवान्—किं न पर्याप्तम् । (साशङ्कम्) एतेनैव कपिपरमाणुना तावदेवमनुष्ठितम् । एवं पर:शता: कोट्य: श्रूयन्ते सम्प्रति सुग्रीवभुजबल-परिपालिते कपिसर्गे ।

त्रिजटा—(सवितर्कम्) कथं तादृशी सुकुमारदर्शनापि सुस्निग्धव्या-हारापि मानुष्यपि सीतास्माकं राक्षसानामतिराक्षसी जाता । (कहं तारिसी सुउमारदंसणा वि सुसिणिद्धव्वाहारा वि माणुसी विसीदा अह्माणं रक्खसाणं वि रक्खसी जादा)

प्यत । लङ्कादाहो रावणप्रतापावसानसूचक इति भावः । 'दहता निरवाप्यत' इति विरोधालङ्कारः ॥ ५ ॥

सीताप्रवृत्तिः = सीतावृत्तान्तः । उपलब्धा = प्राप्ता ज्ञाता वा ।

पुरतः = लङ्कादाहाक्षमरणादितः प्रागेव । मर्कटपरमाणुः = स्वल्पाकारो वानरः । मन्त्रयमाणः = मन्त्रणां कुर्वन् । उन्मुच्य = उत्तार्य । केशाभरणम् = केशपरिधेयसी-मन्तभूषा । अभिज्ञानम् = परिचयचिह्नम् ।

एवम् = लङ्कादाहादिरूपम् । अनुष्ठितम् = कृतम् । परःशताः=शतेभ्योऽधिकाः । सुग्रीवभुजबलपरिपालिते = सुग्रीवबाहुरक्षिते । कपिसर्गे=वानरसैन्ये इत्यर्थः । सुकु-मारदर्शना = दर्शने सुकुमाराङ्गी । सुस्निग्धव्याहारा=मधुरभाषिणी । मानुषी=मनुष्य-जन्मा । अतिराक्षसी = भीषणा ।

बेटी ! क्या उसे सीताका पता चल गया ?

त्रिजटा—छोटे मातामह ! पहले ही एक छोटा-सा वानर सीताके साथ बातें करते देखा गया था । उसने भी अपना चूडामणि उतारकर अभिज्ञानके लिये उसे दिया था । इतना ही मैं जानती हूं ।

माल्यवान्—क्या इतना पर्याप्त नहीं है ? (डरकर) एक ही छोटे वानरने तो इतना कर दिया, इस तरह के करोड़ों वानर सुग्रीवके पास सुने जाते हैं ।

त्रिजटा—कैसे वैसी सुन्दरी और मधुरभाषिणी सीता मानुषी होकर भी हमलोगोंके लिये अतिराक्षसी हो पड़ी है ?

मान्यवान्—वत्से ! युज्यतेऽपि ।

पतिव्रतामयं ज्योतिः शान्तं दीप्तं च घुष्यते ।

(विमृश्य) अथवा । किं नाम सा वराकी ।

दुष्कर्मणां परीपाकः स्वयमेवैष दीप्यते ॥ ६ ॥

त्रिजटा—कनिष्ठमातामह ! प्रथमं खलु दण्डकारण्यपर्यन्तपरिस्थितविविधमहीधरप्रदेशेषु निवास एवास्माकं राक्षसानाम् । विहारः खलु निखिले जम्बुद्वीपे । साम्प्रतं खल्विह नगरेऽप्यक्षमो निवासः । का गतिः ? कः प्रतीकारः ? (कणिट्ठमादामह ! पढमं क्खु दण्डकारण्णपरेन्तपरिपरिट्ठिदविविहमहीहरप्पदेसेसु णिवासो ज्जेव अह्माणं रक्खसाणम् । विहारा क्खु णिखिलम्मि जम्बुद्दीवे । सम्पदं क्खु इह णअरे वि अक्खमो णिवासो । का गइ ? को पडिआरो ?)

माल्यवान्—वत्से ! किमेवमतिकातरासि ? पश्य—

दुर्गोऽयं चित्रकूटस्तदुपरि नगरं सप्तधातुप्रकार-

प्राकारं दुस्तरैषा निरवधिपरिखाप्यब्धिरभ्रंकषोर्मिः ।

युज्यतेऽपि = युक्तमेवैतत् ।

पतिव्रतामयमिति० पतिव्रता साध्वी तन्मयं तत्स्वरूपम् ज्योतिः शान्तम् अनुग्रम् दीप्तम् ज्वलनशीलञ्च घुष्यते कथ्यते । पतिव्रताः स्वतः शान्तसौम्या अपिकारणात् कुतश्चिद्बमाने ज्वलन्त्यपीति भावः । दुष्कर्मणाम् अस्मत्कृतदुष्टव्यापाराणाम् परिपाकः परिणामः एव एषा सीता दीप्यते प्रकटीभवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

दण्डकारण्यपर्यन्तपरिस्थितेषु = दण्डकावनपर्यन्तं वर्त्तमानेषु, विविधमहीधरप्रदेशेषु = नानापर्वतप्रदेशेषु । विहाराः=यथेच्छभ्रमणानि । अक्षमः=अयोग्यः ।
अतिकातरा = अत्यधीरा ।

दुर्गोऽयमिति० अयम् पुरोवर्त्ती चित्रकूटः तदाख्यः दुर्गः, (दुःखेन गच्छत्यत्र दुर्गः-

माल्यवान्—बेटी उचित भी है—पतिव्रतारूप तेज शान्त और उग्र माना जाता है, (विचारकर) अथवा—वह बेचारी क्या करती ?

यह तो अपने कुकृत्यों का ही परिणाम हो रहा है ॥ ६ ॥

त्रिजटा—छोटे मातामह ! पहले दण्डकारण्यका प्रान्त और पर्वतप्रदेश हम राक्षसोंके घर थे, समस्त जम्बूद्वीप क्रीडास्थल था, अब तो इस नगरमें भी रहना दुर्लभ हो रहा है । हाय भाग्य ! क्या उपाय होगा ?

माल्यवान्—बेटी ! इतना अधीर क्यों हो रही हो ? देखो—

यह चित्रकूटका किला है, उसपर सप्तधातु प्राकारसे घिरी नगरी है, उसके चारों ओर

(विमृश्य) अथवा किमनेन ।

**दोर्दण्डा एव दृप्यद्रिपुदलनमहासत्रदीक्षाः प्रतीक्ष्या
रक्षोनाथस्य—**

(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयन्, सव्यथम्)

किं नो विधिरिह वचनेऽप्यक्षमो दुर्विपाकः ॥ ७ ॥

वत्से ! वत्सस्य कुम्भकर्णस्य निद्रागमसीम्नः कियदवशिष्टम् ।

त्रिजटा—कनिष्ठमातामह ! अस्मिन्नेव कृष्णचतुर्दशीदिवसे चतुर्थमासः परिसमाप्तः । (कणिट्ठमादामह ! अस्सिं जेव्व कसणचउद्दसीदिअहे चउट्ठमासो परिसमत्तो)

माल्यवान्—कथमद्यापि विप्रकृष्टतमः किल प्रबोधकालः । (सस्मरणम्)

'सुदुरोरधिकरणे' इति गमेर्डः) तदुपरि चित्रकूटो परिष्टाद्भागे सप्तधातुप्रकारप्राकारम् काञ्चनादिसप्तधातुप्रभेदनिर्मितवरणम् नगरम्, अभ्रङ्कषोर्मिः गगनचुम्बितरङ्गः अब्धिः समुद्रः परिखा परितः खाता आवरणमित्यर्थः, एषा समुद्ररूपा परिखा दुस्तरा दुःखेन तरणीया ।

दृप्यद्रिपुदलनमहासत्रदीक्षाः सगर्वशत्रुप्रमाथयज्ञदीक्षिताः रक्षोनाथस्य रावणस्य दोर्दण्डाः भुजदण्डाः एव प्रतीक्ष्याः रक्षकत्वेन मन्तव्याः ।

इह वचने रावणभुजारक्षका इति कथने अपि दुर्विपाकः दुरन्तः नः अस्माकम् विधिः भागधेयम् अक्षमः असहनः किम् ? एतादृशीं मदुक्तिमपि न सहेत किमित्यर्थः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ७ ॥

निद्रागमसीम्नः=निद्रापगमावधेः । कदासावपगतनिद्रो भवितेति प्रश्नाशयः ।

विप्रकृष्टतमः = सुदूरवर्त्ती । प्रबोधकालः = जागरसमयः । विमृश्यमाने = विचारे

आकाशचुम्बी तरङ्गोंसे युक्त अलङ्घ्य परिखा है ।

(विचार कर) अथवा छोड़ो इन्हें,

गर्वी शत्रुदलको दलित करनेमें दीक्षित रावणके बाहुदण्डोंपर भरोसा रक्खो ।

(बाईं आंखके फड़कनेकी सूचनासे, सखेद)

दुष्ट भाग्य क्या हमें यह कहनेका भी अवसर नहीं दे रहा है ॥ ७ ॥

बेटी ! कुम्भकर्णके जगनेमें कितना समय लगेगा ?

त्रिजटा—छोटे मातामह ! इसी कृष्णचतुर्दशीको तो चौथा महीना लगा है ।

माल्यवान्—अभी जगनेमें विलम्ब है । (स्मरण करके) विचारनेपर विभीषण ही

विमृश्यमाने तु दिष्ट्या कनिष्ठवत्स एव दूरदर्शी यस्याविमृश्यकारितापि शुभोदर्का, सुबहुशोऽप्यभिसन्धीयमाने कुलप्रतिष्ठातन्तुं तमेवोत्पश्यामि।

त्रिजटा—(ससम्भ्रमम्।) कनिष्ठमातामह ! हा धिक् हा धिक्। शान्तं पापम्। प्रतिहतममङ्गलम्। (कणिट्ठमादामह ! हद्धी हद्धी। सन्तं पावम्। पडिहदममङ्गलम्)

माल्यवान्—किमिति।

त्रिजटा—कनिष्ठमातामहस्यायं नयवचनोपन्यासोऽन्यस्मिन्नेव कस्मिन्नमङ्गल एव विश्रान्तः। (कणिट्ठमादामहस्स अअं णअवअणोवण्णासो अण्णस्सिं जेव्व कस्सिं अमङ्गले जेव्व विस्सन्तो)

माल्यवान्—वत्से ! नैतदनुसन्धायोक्तम्। एवं किलावसीयते। यतः—

न कुत्राप्यन्यत्र प्रबलभवितव्यादयमहो
विशुद्धैवोत्पत्त्या पतति न च तत्पापधिषणा।

क्रियमाणे। कनिष्ठवत्सः = विभीषणः। अविमृश्यकारिता = अविचारिताचरणम्। शुभोदर्का = मङ्गलमयभविष्यत्काला। सुबहुशः = वारंवारम्। अभिसन्धीयमाने = विचार्यदृश्यमाने। कुलप्रतिष्ठातन्तुम् = कुलानुवृत्तिकारणम्। उत्पश्यामि = संभावयामि। स एव केवलमत्र वंशे जीवितस्तिष्ठेदिति बहुविचार्य निर्धारयामीति तात्पर्यम्।

शान्तम् पापम्=अशुभं शाम्यतु। अमङ्गलम्=अशिवम्, प्रतिहतम् प्रतिहन्यताम्।

नयवचनोपन्यासः = नीतियुक्तवचनम्। अमङ्गले = कुलक्षयरूपे। विश्रान्तः = तात्पर्यवान्। नैतदनुसन्धायोक्तम् = कुलक्षयं मनसि कृत्वा न मया कथितम्। अवसीयते = अवगम्यते।

न कुत्रापीति० यथास्वैरम् यदृच्छया निरवधि सततम् वियति नभसि भ्राम्यन् पर्यटन् अयं भास्वान् सूर्यः सा तदनुगतवस्त्रार्चिः सूर्यानुगता दिनद्युतिः अपि अस्तशिखरं व्युदस्य पश्चिमाचलमपहाय न पतति अस्तशिखरे एव पतति, तथा अयम्

दूरदर्शी सिद्ध होता है जिसकी अविमृश्यकारिता ही परिणाममें सुखद है। बहुत सोचनेपरवही एक वंशधर बच जायगा—ऐसी संभावना करता हूँ।

त्रिजटा—(घबड़ाकर) छोटे मातामह ! हाय ! हाय !! पाप शान्त हो ! अमङ्गलका नाश हो।

माल्यवान्—क्या कहा ?

त्रिजटा—आपका यह नीतिपूर्ण कथन किसी दूसरे अमङ्गलका संकेत कर रहा है।

माल्यवान्—बेटी ! मैंने सोचकर ऐसा नहीं कहा। मालूम ऐसा ही पड़ता है। क्योंकि—उत्पत्तिपरिपूत रावणकी पापबुद्धि प्रबल भवितव्यको छोड़ दूसरी ओर नहीं

यथा स्वैरं भ्राम्यन्निरवधि वियत्यस्तशिखरं
व्युदस्यायं भास्वांस्तदनुगतघस्रार्चिरपि सा ॥ ८ ॥

तदत्र प्रतीकारेषु केवलं मतिसन्धानजृम्भितमवशिष्यते । कृतमनेन । वत्से ! अवैषि किमुपक्रमस्तावद्देवो दशकन्धरः ।

त्रिजटा—कनिष्ठमातामह ! स्वामी खलु साम्प्रतं सर्वतोभद्रं नामाट्टालकमारुह्य तया राक्षसकुलकालरात्र्याधिष्ठितामशोकवनिकामेव विलोकयंस्तिष्ठति । अन्यच्च इतोमुखं प्रवृत्तयैषा प्रवृत्तिः श्रुता । एतन्नगरवृत्तान्तमनुभूय किमपि दुर्मनायमाना स्वामिनी प्रबोधयितुं तत्रैव प्रस्थितेति । (कणिट्ठमादामह ! सामी क्खु सम्पदं सव्वतोभद्दं णाम अट्टालअं आरुहिअ तीए रक्खसकुलकालरत्तीए अधिट्ठिदं असोअवणिअं जेव्व पुलोअन्तो चिट्ठदि । अण्णं अ इहिमुहं पउत्ताए एसा पउत्ती सुदा । एदं णअरवुत्तन्तं अणुहविअ किंवि दुम्मणाअन्ती सामिणी पडिवोहेदुं तहिं जेव्व पत्थिदेत्ति)

रावणः, उत्पत्त्याजन्मदिवसमारभ्य विशुद्धा अन्यथाभावासङ्कीर्णा एव तस्य रावणस्य पापधिषणा पापवृत्तिबुद्धिः प्रबलभवितव्यात् बलवतो दुर्दैवात् कुत्राप्यन्यत्र न पतति । यथा सूर्यस्तदनुगामिनी दिवसश्रीश्चाखिलमाकाशदेशं स्वसञ्चारेण व्याप्नुतः, परं पातस्तयोरन्यत्र कुत्रापि न जायते, तस्मिन्समये तावस्तशिखरमेवाश्रयेते एवमेव रावणस्तत्पापबुद्धिश्च केवलं दुर्दैवकृतं नष्टं भवितव्यमेवाश्रयतः, अतस्तथाऽवसीयत इति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ८ ॥

मतिसन्धानजृम्भितम् = सुबुद्ध्याश्रयणम् । रावणः सुबुद्धिमाश्रयेद्वयमेवैक उपायोऽस्ति रक्षाया नान्यः कोऽपीत्याशयः । किमुपक्रमः=कुत्रकार्ये लग्नः । अट्टालकम् = महाप्रासादम् । राक्षसकुलकालरात्र्या = राक्षसवंशक्षयहेतुभूतया सीतया । अधिष्ठिताम् = आश्रिताम् । इतोमुखं प्रवृत्तया = अत्रागच्छन्त्या । प्रवृत्तिः = वृत्तान्तः ।

जाती है जैसे सूर्य और उसकी किरण समस्त आकाशमें घूमकर भी अस्ताचलपर ही पहुँचती है ॥ ८ ॥

उपायोंमें केवल अतिसन्धान बचा है । छोड़ो इन बातोंको । बेटी ! जानती हो रावण इस समय क्या कर रहे हैं ?

त्रिजटा—छोटे मातामह ! महाराज इस समय सर्वतोभद्र नामक प्रासादपर चढ़कर सीता द्वारा अधिष्ठित अशोक वनिकाकी ओर देख रहे हैं । मैं इधर आरही थी तो यह भी सुननेको मिला कि इस नगरकी दुर्दशा जानकर दुःखिता मन्दोदरी स्वामीको समझाने वहीं गई हैं ।

माल्यवान्—वत्से ! स्त्रीत्वेऽपि वरं सा खलु देवी मन्दोदरी यन्मतिः प्रतिबोधनायोत्ताम्यति । न पुनर्देवो यः प्रतिबोधितोऽद्यापि न बुध्यते । तदेहि तावत् । अभ्यन्तरं प्रविश्य प्रणिधिकार्यं विचारयामः ।

(इति निष्क्रान्तौ)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति सोत्कण्ठो रावणः)

रावणः—(सीतां विभाव्य)

मुखं यदि किमिन्दुना यदि चलाञ्चले लोचने
किमुत्पलकदम्बकैर्यदि तरङ्गभङ्गी भ्रुवौ ।
किमात्मभवधन्वना यदि सुसंयताः कुन्तलाः

देवी = मन्दोदरी । वरम् = मनाक् श्रेष्ठा, 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्-प्रिये' इति यादवः । प्रतिबोधनाय = तत्त्वं बोधयितुम् । उत्ताम्यति = उत्कण्ठते । 'न पुनर्देवः' इत्यस्य वरमिति शेषः । प्रणिधिकार्यम् = चरकर्त्तव्यम् ॥

मुखं यदीति०—यदि सीताया मुखमस्ति तदा इन्दुना चन्द्रेण किम् ? न किमपि चन्द्रेण प्रयोजनं तत्साध्यसन्तापहरणार्थावभासनादेर्मुखेनैव साधनात्, यदि चलाञ्चले चञ्चलापाङ्गे लोचने सीताया नयने स्तस्तदा उत्पलकदम्बकैः नीलकमलसमूहैः किम्, तत्कार्यनयनरञ्जनादेस्ताभ्यामेव सम्पादनात्, यदि तरङ्गभङ्गी तरङ्गवद्वक्रे भ्रुवौ स्तस्तदा आत्मभवधन्वना कामधनुषा किम्, न किमपि प्रयोजनं तत्कर्त्तव्यजगद्वशीकारादेस्ताभ्यामेव करणात्, यदि सुसंयताः सुष्ठुबद्धास्तस्याः कुन्तलाः केशाः सन्ति तदा अम्बुरुहडम्बरैः मेघानां निचयैः किम् तद्धार्यश्यामलिम्नस्तैरेव धारणात्, यदि सीताया

माल्यवान्—बेटी ! स्त्री होनेपर भी मन्दोदरी ही भली है, रावण नहीं । वह तो समझानेसे भी नहीं समझते हैं । चलो, भीतर चलकर गुप्तचरोंके कार्योंका विचार करें ।

(प्रस्थान)

विष्कम्भक समाप्त

(उत्कण्ठित दशामें रावणका प्रवेश)

रावण—(सीताका ध्यानकर) इसके मुंहके रहतेपर चन्द्रमा व्यर्थ है, इसके चञ्चलापाङ्ग नयनोंके रहते नीलकमलकी क्या आवश्यकता, इसके भवोंकी तुलनामें कामबाण क्या

किमम्बुवहडम्बरैर्यदि तनूरियं किं श्रिया ॥ ९ ॥

(सस्मरणोल्लासम्) अहो ! हलमुखविनिर्भिन्नविश्वम्भराविर्भूतयोषिद्रत्नमनुभवतो मम मनोरथेन चिराय फलितम् । (विमृश्य) अनुकूलस्य विधेः किलायं विलासः । (सगर्वम्) अथवा क एष विधिरपि ।

पिष्ट्वा ब्रह्माण्डमस्मादथ भुवनविभागादुदस्यापि किञ्चि-
द्ब्रह्माणं चातिकृत्याप्रतिमरुचितरं स्वं प्रतापं यशश्च ।
सूर्येन्दू संविधाय स्वयमधिकतरं निर्वृतः स्यामहं चे-
न्नस्यादालस्यदोषः सकरुणमथवा कोऽनुकम्प्येषु कोपः ॥ १० ॥

इयम् तनूः काययष्टिः अस्ति तदा श्रिया लक्ष्म्या किम् न किमपि प्रयोजनम्, तदाश्रयशोभाऽतिशयस्यानयैव धृतत्वादित्यर्थः । 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः' इत्यमरः । अत्रोपमानानां निष्फलत्वाभिधानात्प्रतीपालङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे—'प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् । निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते'इति पृथिवीवृत्तम्, तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ९ ॥

हलमुखेन = लाङ्गलेन । विनिर्भिन्ना = विपाटिता । विश्वम्भरा = पृथिवी । योषिद्रत्नम् = सुन्दरीललना, सीतेति तात्पर्यम् । अनुभवतः = हृदये ध्यायतः । चिराय = चिरकालेन । विलासः = कार्यम् । अनुकूलं भाग्यमेव सीतां मद्वशगां कृत्वा मम मनोरथं पूरयितुं प्रवृत्तमस्तीत्याशयः ।

पिष्ट्वेति० चेत् यदि आलस्यदोषः अलसभावेनावस्थानरूपं दूषणं न स्यात्तदा ब्रह्माण्डं समस्तमपि भूगोलं पिष्ट्वा निर्मथ्य अथ ब्रह्माण्डपेषणानन्तरम् भुवनविभागात् भूमण्डलात् किञ्चित् किमपि मनोऽनभिमतं वस्तु व्युदस्य पृथक्कृत्य अपि ब्रह्माणम् विधिम् अतिकृत्य अतिक्रम्य अप्रतिमरुचितरम् अतिशयेनातुलकान्तियुतम् स्वं प्रतापम् यशश्च सूर्येन्दू सूर्याचन्द्रमसौ संविधाय कृत्वा अहम् रावणः अधिकतरम् स्वयम् आत्मना निर्वृतः सुखी स्याम्—अथवा—सकरुणं दयाया अयं विषयो न कोपस्य, अनुकम्प्येषु दयनीयेषु एषु विध्यादिषु कोपः कः कीदृशः, न युक्त इत्यर्थः । ब्रह्माण्डं

चीज है और इसके केशपाशके आगे मेघमाला निष्प्रयोजन तथा इसकी देहके सामने लक्ष्मी क्या चीज है ॥ ९ ॥

(स्मरण करके प्रसन्न होकर) हलमुखसे जोती गई पृथिवीसे निकली स्त्रीरत्नका ध्यान करते बहुत दिन गुजर गये, अब कहीं जाकर मनोरथ सफल होने पर आया है । (विचारकर) भाग्य अनुकूल होनेसे ही ऐसा हो सका है । (गर्वसे) विधाता ही क्या चीज है ?

ब्रह्माण्डको पीसकर नवीन ब्रह्माण्ड बना दूं जिसकी जोड़ न हो, हमारी कीर्त्ति और प्रताप उसमें सूर्य चन्द्रका काम दें, तब हमें आनन्द हो, मैं ऐसा कर देता, परन्तु आलस्य

(ततः प्रविशति मन्दोदरी चेटी च)

चेटी—इतो भर्त्रि । एतच्च राजतसोपानमार्गद्वारकम् । तदारोहतु भर्त्री । (इदो भट्टिणी। एदं अ राअअसोवाणमग्गदुआरअम् । ता आरोअदु भट्टिणी)

मन्दोदरी—(सोपानारोहणं नाटयित्वा । रावणं निरूप्य) कथमेष महाराजदशकन्धर उपस्थितो वर्तते । (निर्वर्ण्य) कथमशोकवनिकासम्मुखमवलोकयति । (सखेदम्) कथमीदृशेऽपि रिपुपक्षाभियोगे संवृत्ते राजकार्यानपेक्षो लक्ष्यते । महाराजदशकन्धर इति । (उपसृत्य) जयतु जयतु महाराजदशकन्धरः । (कहं एसो महाराअदसकन्धरो उवट्ठिदो वट्ठदि। कहं असोअवणिआसम्मुहं पुलोएदि। कहं ईरिसे वि रिउवक्खाहिओए संवुत्ते राअकज्जाणवेक्खो लक्खीअदि महाराअदसकन्धरो त्ति । जेदु जेदु महाराअदसकन्धरो)

रावणः—(आकारसंवरणं नाटयित्वा) कथं मन्दोदरी। (इति पार्श्वे समुपवेशयति)

मन्दोदरी—(तथा कृत्वा) महाराज! किमत्र चिन्तितम् ? (महाराअ ! किं एत्थ चिन्तिदम् ?)

रावणः—कुत्र ?

पिष्टीकृत्य ततः सारहीनं वस्तु पृथक्कृत्य ब्रह्माणं परित्यज्य स्वं पराक्रमं यशश्चाहर्निशभासमानतयाऽतिशयितसूर्यचन्द्रं तयोः स्थाने कृत्वाहं सुखी स्यां परमालस्यान्न तथा करोमि, तथापि विधिर्मद्विषये कुत्र गण्यः, स हि मम दयायाः पात्रं न कोपस्येति भावः । स्रग्धराच्छन्दः ॥ १० ॥

राजतसोपानमार्गद्वारकम् = रजतनिर्मितसोपानवर्त्म ।

रिपुपक्षाभियोगे = शत्रुणा कृते आक्रमणे । संवृत्ते = जाते । राजकार्यानपेक्षः = राजकार्यविमुखः ।

ही मुझमें बड़ा दोष है, फिर दयापात्र ब्रह्मादिको क्यों दोष दिया जाय ॥ १० ॥

(मन्दोदरी और दासीका प्रवेश)

चेटी—महारानी ! इधर चलिये, यह है राजतसोपान मार्ग । आप इसपर चढ़ें ।

मन्दोदरी—(सीढ़ीपर चढ़कर) क्यों, ये ही तो महाराज दशकन्धर हैं । (देखकर) क्यों अशोकवाटिकाकी ओर देखते हैं । (खेदसे) क्यों शत्रुकी चढ़ाई हो जानेपर भी महाराज राजकार्यविमुख ही रहा करते हैं ? (समीप जाकर) जय जय महाराज दशकन्धर ।

रावण—(आकार गोपनपूर्वक) क्यों मन्दोदरी ? (बाईं ओर बैठाता है)

मन्दोदरी—(बैठकर) महाराज ! आपने इस विषयमें क्या सोचा ?

रावण—किस विषयमें ?

मन्दोदरी—रिपुपक्षाभियोगे। (रिउपक्खाहिओए)

रावणः—(सोत्प्रासम्) कथं रिपुस्तत्पक्षस्तदभियोगश्चेत्यश्रुतं श्राव्यते देव्या।

योऽहं द्वाभ्यां भुजाभ्यां मृधभुवि युगपन्मत्तदिग्दन्तिदन्ता-
न्रुद्ध्वा दोर्भिश्चतुर्भिः सरभसमजितान्दिक्पतीनप्यरौत्सम्।
दीप्यद्वज्रादिचण्डप्रहरणपतनक्षुण्णवक्षस्त्वचो मे
तस्यापि प्रातिभाट्याद्रिपुरिति कलितः कोऽप्यपूर्वः प्रमादः॥११॥

भवतु। तथापि श्रोतव्यम्। देवि ! स कः ?

अश्रुतं श्राव्यते = कदापि यन्नाकर्णितं तदुच्यते। प्रथमं तु मम शत्रुरेव न भवति, यदि स्यादपि कश्चित्तदा तस्य पक्ष इत्यलीकमथ भवतु पक्षोऽपि यथाकथञ्चित्तेनाभियोगोऽपि कृत इत्यत्यन्तमिथ्याभूतमतः कथं भवती श्रावयतीति भावः।

योऽहमिति० यः अहम् रावणः मृधभुवि रणभूमौ युगपत् समसमयम् द्वाभ्याम् भुजाभ्याम् मत्तानाम् मदस्राविणाम् दिग्दन्तिनाम् दिग्गजानाम् दन्तान् रुद्ध्वा निवार्य सरभसम् सवेगम् अजितान् केनाप्यन्येन अपराजितपूर्वान् दिक्पतीन् इन्द्रादीन् दिक्पालान् अपि चतुर्भिः दोर्भिः बाहुभिः अरौत्सम् न्यवारयम्। विंशतिभुजस्य मम षड्भिरेव भुजैः सकलदिग्गजदिक्पालेषु जितेष्वपरे चतुर्दश बाहवो निभृतमवस्थिताः, सर्वैस्तु व्याप्रियमाणस्य मम पुरः कोऽवतिष्ठेदित्यर्थः। दीप्यताम् भासुराणाम् वज्रादीनाम् चन्द्रानाम् अतिघोराणाम् प्रहरणानाम् पतनेन क्षुण्णाः किञ्चिद्दलिताः वक्षस्त्वचः चर्माणि यस्य तथाभूतस्य तस्य रावणस्यापि मम प्रातिभट्यात्। समस्पर्द्धिभावात् रिपुरिति कलितः कल्पितः कोऽपि अपूर्वः इतः पूर्वमश्रुतः प्रमादः अनवधानतारूपः। यन्मम रिपुरिति ज्ञानं तव तत्तवानवधानत्वं न तु वस्तुस्थितिस्तथेति भावः॥

मन्दोदरी—शत्रुद्वारा चढ़ाईके विषयमें।

रावण—(दिल्लगीके साथ) क्यों, एक तो हमारे शत्रु, दूसरे उनका पक्ष, फिर उनकी चढ़ाई, सब कुछ तुम नवीन ही सुना रही हो।

जो मैं लड़ाईके क्षेत्रमें दो हाथोंसे मतवाले हाथिओंके दांतोंको थामकर चार हाथोंसे वेगपूर्वक आनेवाले दिक्पतियोंको भी रोक सका था और वज्र आदि भयङ्कर अस्त्रोंकी चोटसे जिसकी छातीका चमड़ा खुरच भर गया था, उसीके शत्रु हो रहे हैं, यह तो नई ही बात सुननेको मिल रही है॥ ११॥

अच्छी बात, यह तो कहो वह कौन हैं ? सुन लिया जाय।

मन्दोदरी—निखिलवलीमुखचक्रानुगतसुग्रीवाग्रेसरः सहकनिष्ठो दाशरथी राम इति श्रूयते। (णिखिलवलमुक्कणुगदसुग्गीवाग्गेसरो सहकणिट्टो दासरही रामो त्ति सुणीअदि)

रावणः—किं सहानुजस्तापसः ? देवि ! किं गतेन तेन तैर्वा सः ?

मन्दोदरी—महाराज ! समुदायः खलु शङ्क्यते। अपरं च सागरवेलासु सेनां विनिवेश्याहूतोऽनेन सागरो न निर्गतो भवनादिति। तदा तु—(महाराअ ! समुदाओ क्खु सङ्कीअदी। अवरं अ साअरवेलासु सेणां विणिवेसिअ आहूदो णेण साअरो ण णिग्गदो भवणादो त्ति। तदा तु)

(संस्कृतमाश्रित्य)

प्रायुङ्क्तास्त्रं स किञ्चिज्जलनिधिकुहरे यन्महिम्ना क्षणार्धा-
दावृत्यावृत्य चक्रभ्रममखिलमभूत्क्वाथतः शोणमम्भः।
उन्मूर्च्छन्नक्रचक्रं झटिति परिदलत्कच्छपौघं प्रमुह्य-

निखिलवलीमुखचक्रानुगतसुग्रीवाग्रेसरः = सकलवानरसङ्घानुयातसुग्रीवानुयातः। सहकनिष्ठः = सहावरजः—सलक्ष्मण इति यावत्।

किंगतेन तेन तैर्वासः = गतेन रामेण गतैर्वा नरैर्वा कीदृशोऽभियोगः, ते गताश्चेदलं चिन्तयेत्याशयः, समुदायः = सेनानिकायः।

शङ्क्यते = भयहेतुतयोत्प्रेक्ष्यते। सागरवेलासु = समुद्रतटेषु सेनां विनिवेश्य = समावेशितकटकेन।

प्रायुङ्क्तेति० सः रामः जलनिधिकुहरे सागरान्तःप्रदेशे किञ्चित् किमपि अस्त्रम् शस्त्रम् प्रायुङ्क्त प्रयुक्तवान्, यन्महिम्ना यस्यास्त्रस्य प्रभावेण चक्रभ्रमम् चक्रस्य भ्रमणमिव आवृत्यावृत्य पुनःपुनर्भ्रान्त्वा अखिलमम्भः समग्रं सामुद्रं जलम् क्वाथतः तदस्त्रकृतोत्तापात् शोणम् रक्तवर्णमभूत्। उन्मूर्च्छन्नक्रचक्रम्=मुह्यद्ग्राहगणम् झटिति

मन्दोदरी—सकल वानरगणसे अनुगत सुग्रीवके आगे छोटे भाईके साथ दशरथपुत्र राम ऐसा ही सुना है।

रावण—छोटे भाईके साथ तपस्वी। देवि ! वह तो चला गया होगा, अब उसकी क्या बात?

मन्दोदरी—समुदायसे डरना होता है। और—समुद्रकी वेलामें सेनाका पड़ाव डालकर रामने सागरको बुलाया, वह नहीं आया, फिर—

(संस्कृतमें)

उसने कुछ अस्त्र प्रयोग किया, जिसके प्रभावसे आधे क्षणमें ही पानी चक्कर मारने लगा और कथित सा रक्तवर्ण हो गया, उसमेंके ग्राह मूर्च्छित होने लगे, कछुओंकी

द्भूयः पाथोमनुष्यं स्फुटदतुलरवं प्रस्फुटच्छङ्खशुक्ति ॥ १२ ॥

रावणः—(सावज्ञम्) किं ततः ?

मन्दोदरी—महाराज ! ततश्च पुङ्खमात्रप्रेक्ष्यमाणतीक्ष्णशरनिकरपक्ष्मलितशरीरेण निष्क्रम्य सलिलात्सपादपतनमभ्यर्थ्य मार्ग उपदिष्टः। साहसिकेन पुनस्तेन साध्यवृत्तिः श्रूयते। (महाराअ ! तदो अ पुङ्खमेत्तपेक्खिज्जमाणतिक्खसरणिअरपह्मलिदसरीरेण णिक्कमिअ सलिलादो सवादवडणं अब्भत्थिअ मग्गो उवदिट्ठो। साहसिएण उण तेण साहिज्जवित्ती सुणीअदि)

रावणः—(सहासम्) अस्तु श्रूयते। देवि ! कीदृशः ?

मन्दोदरी—महाराज ! वलीमुखसहस्रानीतैर्महीधरैः सेतुर्निर्मीयते। (महाराअ ! वलीमुहसहस्साणीदेहिं महीहरेहिं सेदू णिम्मीअदि)

त्वरया परिदलत्कच्छपौघम् शीर्यत्कच्छपकुलम्, प्रमुह्यद्भूयः पाथोधिनाथम्। मोहं व्रजत्समुद्रम् स्फुटदतुलरवम् सभयानकशब्दम् प्रस्फुटच्छङ्खशुक्ति चेमानि क्रियाविशेषणानि अम्भःशोणमभूत्, इत्यत्रत्याया भवनक्रियायाः, एवं च रामप्रयुक्तेनास्त्रेण समुद्रे तापो जनितो येन शङ्खशुक्तयोऽस्फुटन्, अतुलो रवः प्रावर्त्तत, पाथोनाथो भूयोऽमुह्यत, कच्छपौघोऽदल्यत, नक्राणां चक्रममूर्च्छत, पयश्च चक्रभ्रममापद्य क्वथितमिव भूत्वा च रक्तवर्णमभूदिति भावार्थः। स्रग्धरावृत्तम् ॥ १२ ॥

पुङ्खमात्रप्रेक्ष्यमाणाः = पश्चाद् भागमात्रदृश्याः, अग्रभागस्य लक्ष्यगतत्वात्पश्चाद् भागमात्रं दृश्यम्। तीक्ष्णशरनिकरः = निशितबाणावली। पक्ष्मदलितशरीरः = कण्टकितगात्रः। सर्वावयवेषु बाणविद्ध इत्यर्थः। सपादपतनम् = पादप्रणामं कृत्वा। उपदिष्टः = उक्तः। साहसिकेन=उद्योगपरायणेन। तेन=रामेण। साध्यवृत्तिः = कर्त्तुमर्हः।

वलीमुखसहस्रानीतैः = सहस्रसंख्यकवानराहृतैः। महीधरैः = पर्वतैः।

खोपड़ियां फटने लगीं, जलमनुष्य मूर्च्छित होने लगे, महान् शब्दके साथ शङ्ख और शुक्तियाँ फूटने लगीं ॥ १२ ॥

रावण—(तिरस्कारपूर्वक) इससे क्या ?

मन्दोदरी—महाराज ! इसके बाद रामके शरोंसे विद्धगात्र सागर निकलकर पानीसे बाहर आया और रामजीके चरणोंपर गिरकर मार्ग बता दिया। सुनाती हूं कि उस वीरने उसे साध्य भी बना लिया है।

रावण—(हँसकर) अच्छी बात, सुन लूं। देवि ! कैसा वह मार्ग है ?

मन्दोदरी—महाराज ! वानरोंद्वारा लाये गये पर्वतोंसे सेतु बना रहे हैं।

रावणः—देवि ! विप्रलब्धासि केनचित् । अकलितगाम्भीर्यमहिमा किलायं पाथोनाथः ।

जम्बुद्वीपेऽथवान्येषु द्वीपेष्वपि महीधराः ।
यावन्तस्तैः कुक्षिकोणोऽप्यस्य न भ्रियते किल ॥ १३ ॥

अपि च । साहसिकेनेति वदन्त्या देव्या विस्मृतप्रायम् । मत्साहसे तु
उत्पुष्यद्गलधमनिस्फुटप्रसर्पत्प्रत्यग्रक्षतजझरीनिवृत्तपाद्यः ।
हर्षाश्रुप्रचुरमधुस्मितस्फुटश्रीवक्त्राब्जार्चितचरणः शिवः प्रमाणम् ॥१४॥

विप्रलब्धा = प्रतारिता । अकलितगाम्भीर्यमहिमा = अज्ञातगभीरभावः । पाथोनाथः = सागरः ।

जम्बूद्वीप इति० जम्बूद्वीपेऽथवाऽन्येष्वपि द्वीपेषु यावन्तः महीधराः पर्वताः तैः अस्य सागरस्य कुक्षिकोणः अन्तरेकदेशः अपि न भ्रियते पूर्यते । संसारावच्छेदेन वर्त्तमानैः सकलैरपि पर्वतैरस्य सारस्यैककोणोऽपि न पूर्यत इति निश्चये सत्यपि यत्त्वया वानराहृतैः शैलैः सेतुर्निर्मीयते रामेणेति प्रमितं तत्त्वया भ्रान्तमित्यर्थः ॥ १३ ॥

उत्पुष्यदिति० उत्पुष्यन्तीभ्यः विकासं गताभ्यः (छिन्नेषु शिरस्सु निरवरोधाभ्यः) गलधमनिभ्यः कण्ठनलीभ्यः स्फुटम् प्रकटम् प्रसर्पताम् बहिरागच्छताम् प्रत्यग्रक्षतजानाम् अभिनवरक्तानाम् झरीभिः प्रवाहैः निवृत्तपाद्यः सञ्जातपादोदककृत्यः, हर्षाश्रूणि आनन्दबाष्पाणि एव प्रचुराणि मधूनि मकरन्दाः येषां तानि तथोक्तानि तथा स्मितं हसितमेव स्फुटा श्रीःयेषाम् तथाविधानि वक्त्राब्जानि मुखकमलानि तैः अर्चितचरणः शिवः प्रमाणम् साक्षिभूतः । पुरा रावणः स्वं शिरः कृत्वा हरचरणयोर्न्यस्य स्वभक्तेः परिचयमदत्त, तत्र शिरसि च्छिन्ने कण्ठधमनिभ्यो निर्गतेन रक्तेन शिवस्य पाद्यमजायत, भक्त्युद्रेकवशाच्छिन्नमपि शिरः सानन्दाश्रु तथा हसच्च समजनि, तेन तत्कमलमिव समधु विकासि च प्रत्यैयत, तेनार्चितचरणः शिवो मम साहसे साक्षिभूत इति परमार्थः । प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ १४ ॥

रावण—देवि ! तुम किसीसे ठगली गई हो । इस सागरकी थाह नहीं है ।

जम्बूद्वीपमें अथवा और अन्य द्वीपोंमें जितने पर्वत हैं उनसे एकभाग भी इस सागरका नहीं भर सकता है ॥ १३ ॥

उसे वीर साहसिक कहकर तुम भूल कर रही हो, हमारे साहसके विषयमें—

हमारे कटे हुए शिरोंकी धमनियोंसे निर्गत शोणितधारसे अर्चितचरण, जिनके चरणोंपर हर्षाश्रुसे युक्त हँसते हुए हमारे शिर चढ़ चुके हैं, ऐसे शिवजी हमारे साहसके साक्षी हैं ॥ १४ ॥

मन्दोदरी—महाराज ! अवधारय किमप्यन्यादृशी रचना कस्यापि वलीमुखस्य हस्तपुण्यतः उपर्येव तिष्ठन्ति ते महीधरा जल इति । (महाराअ ! ओधारेहि किं वि अण्णारिसी रअणा कस्स वि विलीमुहस्स हत्थपुण्णदो उवरि ज्जेव चिट्ठन्दि ते महीहरा जलम्मि त्ति)

रावणः—(सशिरःकम्पम्) इदं तदप्रतीकार्यं मौग्ध्यमबलानां यद्ग्रावाणोऽपि प्लवन्त इति । देवि ! किं बहुनोक्तेन ?

श्रुतं मे जानाति श्रुतिकविरथाज्ञां सहचरः
स शच्या धैर्यं चाशनिरथ यशोऽदस्त्रिभुवनम् ।
बलं कैलासाद्रिः किमपरमहो साहसमपि
क्षरत्कीलालाम्भःस्नपितचरणः खण्डपरशुः ॥ १५ ॥

(नेपथ्ये महान् कलकलः)

वलीमुखस्य = वानरस्य । अन्यादृशी = लोकविलक्षणा ।

अप्रतीकार्यम् = अनुपायापनेयम् । मौग्ध्यम् = जडता । अबलानाम् = स्त्रीणाम् । ग्रावाणः = प्रस्तराः । प्लवन्ते = तरन्ति ।

श्रुतमिति० मे मम श्रुतम् शास्त्रज्ञानम् श्रुतिकविः वेदरचयिता ब्रह्मा जानाति आज्ञाम् आदेशम् सः शच्याः सहचरः इन्द्रः जानातीति शेषः, एवमेव परतोऽपि सर्वत्र । धैर्यम् च अशनिः वज्रम् । यशः कीर्त्तिम् अदः इदं त्रिभुवनम् लोकत्रयम् । बलम् पराक्रमम् कैलासाद्रिः हराचलः । अपरं किम् अन्यत् किमुच्यताम्, साहसमपि क्षरत्कीलालाम्भःस्नपितचरणः प्रवहमानरक्तजलधौतपादद्वयः खण्डपरशुः शिवः (जानाति) ब्रह्मा मम शास्त्रगुरुः, इन्द्र आज्ञावशंवदः, वज्रेणापि मम धैर्यं न चालितम्, मया त्रिभुवनमिदं यशोभिरपूरि, कैलासमुत्थाप्य मया बलपरीक्षोत्तीर्णा, दशापि शिरांसि छित्त्वा शिवस्तोषितश्चेति विलक्षणं मम साहसं विदन्त्यपि त्वयाऽन्यदीयं साहसं किं हृदये क्रियते, इति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १५ ॥

मन्दोदरी—महाराज ! सोच लीजिये, यह कुछ दूसरे प्रकारकी रचना है, किसी वानरके पूर्व पुण्यसे वह पर्वत पानीपर तैरते ही रह जाते हैं ।

रावण—स्त्रियोंकी इस मूर्खता क्या उत्तर कि पत्थल पानीपर तैरते हैं । देवि ! अधिक क्या ?

हमारे शास्त्रज्ञानको ब्रह्मा, आज्ञाको इन्द्र, धैर्यको वज्र, यशको सारा संसार, बलको कैलासपर्वत और क्या, साहसको शिवजी जानते हैं जिनके चरणोंको अपने शोणितरूप जलसे पखार चुका हूं ॥ १५ ॥

(नेपथ्यमें जोरोंका कलकल)

मन्दोदरी—महाराज ! परित्रायस्व परित्रायस्व । (महाराअ ! परित्ताहि परित्ताहि) (इति सत्रासमुदीक्षते)

रावणः—देवि ! अलं शङ्कया ।

(पुनर्नेपथ्ये)

भो भो लङ्काद्वाररक्षिणो राक्षसगणाः !

दत्त द्वाराणि तूर्णं सरलतरगुरूण्यश्मसारार्गलानि
क्षिप्यन्तां शस्त्रजातं तदुपरि नयत स्वान्वयांश्चावधत्त ।
रुध्यध्वं निर्विषासून्शिशुयुवतिजनान्वीवधांश्चाद्रियध्वं
प्राप्तः सुग्रीवमुख्यप्लवगपरिवृतः सानुजो रामभद्रः ॥ १६ ॥

(नेपथ्यार्धं प्रविष्टा)

प्रतीहारी—भट्ट ! एष प्रतीहारभूमौ तिष्ठति सेनापतिः प्रहस्तो विज्ञापयितुकामः । (भट्ट ! एसो पडीहारभूमीए चिट्ठदि सेणावई प्पहत्थो विण्णविदुकाम)

दत्तेति० तूर्णम् शीघ्रम् द्वाराणि प्रवेशमार्गान् दत्त आवृणुत, सरलतरगुरूणि अत्यृजूनि महान्ति च अश्मसारार्गलानि लौहमयानि अर्गलानि क्षिप्यन्ताम् कपाटेषु निवेश्यन्ताम् । तदुपरि कपाटोर्ध्वदेशे शस्त्रजातम् प्रहरणसमूहं नयत स्थापयत, स्वान्वयान् स्ववंश्यान् अवधत्त सावधानं पर्यवेक्षध्वम्, निर्विषासून् निस्तेजस्कान् शिशुयुवतिजनान् रुध्यध्वम् परिपार्य रक्षत । वीवधान् खाद्यानि आद्रियध्वम् यत्नेन सञ्चिनुत, तत्र कारणमाह–सुग्रीवमुख्यप्लवगपरिवृतः सुग्रीवप्रभृतिवानरयुतः सानुजः सलक्ष्मणः रामभद्रः प्राप्तः आगतः, यतो राम आयातोऽत उक्तप्रकारं वर्त्तध्वमिति भावः, काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १६ ॥

विज्ञापयितुकामः = किमपि निवेदयितुमिच्छुः ।

मन्दोदरी—महाराज ! रक्षा करें, रक्षा करें । (सभय देखती है)

रावण—देवि ! डरना व्यर्थ है ।

(फिर नेपथ्यमें)

अरे ओ ! लङ्काद्वाररक्षक राक्षसगण !

शीघ्र दरवाजे बन्द करके उसमें लोहेकी कीलें बन्द करो, उसके ऊपर अस्त्रोंको ठीक करके रखो, अपने बालबच्चोंपर नजर रक्खो, शान्तस्वभाव बच्चे स्त्रियाँ और बूढ़ोंकी रक्षा करो, खाद्यान्नपर ध्यान दो, सुग्रीव आदि वानरोंके साथ सानुज राम आ गये हैं ॥ १६ ॥

(नेपथ्यमें आधा पैठकर)

प्रतीहारी—महाराज ! सेनापति प्रहस्त कुछ कहने आये हुए हैं, द्वारपर खड़े हैं ।

रावणः—कथं सेनापतिः प्रहस्तः ? प्रवेशय ।

प्रतीहारी—तथा । (तधा) (इति निष्क्रान्ता)

(ततः प्रविशति प्रहस्तः)

प्रहस्तः—अहो ! मनुष्यपोतस्य तावदत्यूर्जस्वलं चरितम् । तथाहि—

भीमं गोष्पदवद्विलङ्घ्य परितः कल्लोलमालाकुलं
पाथोनाथमुपेत्य मन्थरतरं लङ्कानिबद्धेक्षणः ।
स्कन्धावारमसौ निवेश्य विषमे सौवेलमूर्ध्नि स्वयं
कैश्चिद्वानरपुंगवैः परिवृतोऽध्यास्ते पुरः प्राङ्गणम् ॥ १७ ॥

(पुरो निरूप्य) कथमयं लङ्केश्वरः ?

रावणः—भद्र सेनापते ! किंहेतुरयं कलकलः ?

अत्यूर्जस्वलम् = अत्योजस्वि । मनुष्यपोतस्य = नरशिशोः ।

भीममिति०—असौ रामः कैश्चित् कतिपयैः वानरपुङ्गवैः कपिमुख्यैः परिवृतः युक्तः सन् परितः कल्लोलमालाकुलम् समन्ततस्तरङ्गश्रेणीवृतम् भीमम् भयङ्करम् पाथोनाथम् समुद्रम् मन्थरतरम् अतिमन्दपदन्यासम् गोष्पदवत् गोखुरपद्धतिगतजलवत् विलङ्घ्य समुत्तीर्य उपेत्य समीपमागत्य लङ्कानिबद्धेक्षणः लङ्कार्पितदृष्टिः विषमे निम्नोन्नते सौवेलमूर्ध्नि लङ्कोपान्तवर्त्तिपर्वतविशेषशिरसि स्कन्धावारम् सेनाम् निवेश्य स्वयम् आत्मना पुरः लङ्कानगर्याः प्राङ्गणम् चत्वरम् अध्यास्ते अधितिष्ठति । रामः समुद्रमक्लेशमुत्तीर्य सौवेलशिखरे समावेशितकटकः पुरःप्राङ्गणमुपसीदति, तदत्यूर्जस्वलमस्य चरितमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

कलकलस्य = कोलाहलस्य ।

रावण—क्यों सेनापति प्रहस्त ? बुला लाओ ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा (जाती है)

(प्रहस्तका प्रवेश)

प्रहस्त—आश्चर्य ! मानवशिशुका इतना ओजस्वी चरित ! जैसे देखिये—

तरङ्गयुक्त भयानक सागरको गोष्पदकी तरह पार करके समीप आ लङ्कापर नजर बैठाए सौवेलपर सेनाका पड़ाव डाल कुछ वानरोंके साथ नगरके किनारे आकर बैठा हुआ है ॥ १७ ॥

(आगे देखकर)

क्या ये लङ्केश्वर हैं ?

रावण—सेनापतिजी ! यह कलकल कैसा हो रहा है ?

प्रहस्तः—(स्वगतम्) कथमद्याप्यनभिज्ञ एव देवः। भवतु। कार्यमात्रं विज्ञापयामि। (प्रकाशम्)

पुरं निःशेषघटितं कपाटद्वारमावृतम्।
रक्षा चाप्तैर्भक्तिमद्भिः कौणपैः परितः कृता ॥ १८ ॥

रावणः—किमिति ?

प्रहस्तः—(स्वगतम्) कथं सैवावस्था। भवतु। (प्रकाशम्) देव लङ्केश्वरः !

मनुष्यपोतमात्रेण सानुजेन पुरी तव।
रुध्यते स्म यथासार-वीवधाद्यपि दुर्लभम् ॥ १९ ॥

(प्रविश्य)

अनभिज्ञः = रामवृत्तविषयकज्ञानरहितः।

पुरमिति० पुरम् नगरम् निःशेषघटितम् सर्वांशे व्यवस्थापितम्, कपाटद्वारम् आवृतम् पिहितम्, आप्तैः विश्वस्तैः भक्तिमद्भिः भवति श्रद्धां वहद्भिः कौणपैः राक्षसैः परितः समन्तात् रक्षा च कृता तदेवं कार्यं कृतमतः परं भवन्तः प्रभवः प्रमाणमित्याशयः ॥

सैवावस्था = अवृत्तान्तज्ञता, कथमधुनापि सर्ववृत्ते निवेदितेऽपि न ज्ञानोदय इत्याशयः।

मनुष्येति० सानुजेन कनिष्ठसोदरयुक्तेन मनुष्यपोतमात्रेण साधारणमानवबालकेन रामेण तव पुरी रुध्यते अवरुध्यते यथा यतः आसारवीवधादि सुहृद्बलधान्यादिकम् अपि दुर्लभम्। रामस्तव पुरीं तथाऽरुणद्यथा मार्गनिरोधेन सुहृत्कृतं साहाय्यं परतः प्रत्याहार्यं खाद्यादि नितान्तकठिनं जातमतश्चिन्तय प्रतिकारमिति भावः ॥१९॥

प्रहस्त—(स्वगत) क्यों आज तक इन्हें कुछ नहीं ज्ञान है ? अच्छा। कामकी बातभर बता दूं।

(प्रकाशमें)

गाँवके सभी दरवाजे एक-एक करके बन्दकर दिये गये और विश्वसनीय राक्षसोंपर रक्षाका भार सौंप दिया है।

रावण—क्या कहा ?

प्रहस्त—(स्वगत) अभी भी वही हालत ! अच्छा। (प्रकाश) देव लङ्केश्वर !

सानुज मानवशिशुने आपकी नगरीपर घेरा डाल रक्खा है जिससे मित्रबल और खाद्यान्नका आना भी बन्द है ॥ १९ ॥

(प्रवेश करके)

प्रतीहारी—भट्ट ! एष कोऽपि वलीमुखो रामस्य दूत इति भणित्वा प्रतीहारदेशे तिष्ठति । (भट्ट ! एसो को वि वलीमुहो रामस्स दूदो त्ति भणिअ पडीहारदेसे चिट्ठदि)

रावणः—(सावज्ञम्) वलीमुखः ! प्रवेशय ।

प्रतीहारी—तथा । (तथा) (इति निष्क्रम्याङ्गदेन सह प्रविश्य तं प्रति) एष भर्ता । उपसर्प । (एसो भट्टो । उपसप्प)

अङ्गदः—(उपसृत्य) जयति जयति परममाहेश्वरो लङ्केश्वरः ।

रावणः—सुग्रीवानुचरो भवान् ?

अङ्गदः—नहि नहि ।

रावणः—तर्हि कस्य ?

अङ्गदः—लङ्केश्वर ! श्रूयतां योऽहं यदर्थमागतश्च ।

दृप्यद्राक्षसचक्रकाननमहादावानलस्याज्ञया
दूतो दाशरथेस्तदीयवचसा त्वामागतः शासितुम् ।

प्रतीहारदेशे = द्वारदेशे ।

परममाहेश्वरः = प्रकृष्टः शिवभक्तः ।

दृप्यद्राक्षसेति० दृप्यताम् सगर्वाणाम् राक्षसानाम् चक्रम् समूहः एव काननम् वनम् तत्र दावानलः वनवह्निः सर्वसगर्वराक्षसनिचयसंहारकरस्तस्य आज्ञया दूतः सन्देशहरः तस्यैव दाशरथेः रामस्य वचसा आदेशेन त्वाम् शासितुम् उपदेष्टुम् आगतः अत्रायातः । किन्त्वया शासितव्यमित्यपेक्षायामाह—सीतां मुञ्च त्यज, अव-

---

प्रतीहारी—महाराज ! यह कोई वानर अपनेको रामका दूत बताता है और आकर द्वारपर खड़ा है ।

रावण—(तिरस्कारपूर्वक) वानर है, बुलाओ ।

प्रतीहारी—जो अज्ञा । (बाहर जाकर अङ्गदके साथ आती है, अङ्गदसे) ये ही महाराज हैं, आइए ।

अङ्गद—(समीप जाकर) परमशैव लङ्केश्वरकी जय हो ।

रावण—तुम सुग्रीवके अनुचर हो ?

अङ्गद—नहीं नहीं ।

रावण—फिर किसके ?

अङ्गद—लङ्केश्वर ! सुनिये, मैं जो हूँ और जिस कामसे आया हूँ ।

गर्वोद्धत राक्षसमण्डलरूप वनके लिये दावानलस्वरूप रामकी आज्ञासे दूत बनकर

सीतां मुञ्च भजावरोधनसुहृद्दायादपुत्रान्वितः
सौमित्रेश्चरणौ न चेत्तदिषुभिः शासिष्यसे दुर्मदः ॥२०॥

रावणः—(सहासम्) वलीमुखोऽपि वाचाटः। किं वक्तव्यम् ?

अङ्गदः—अहं यत्किंचित्स्याम् । त्वं तु सिद्धान्तमेवावधारय ।

तत्पादाब्जनखं किं वा तत्तीक्ष्णेषुमुखं नताः ।
स्प्रष्टारस्तेऽद्य मूर्धानस्तयोरभिमतं वद ॥ २१ ॥

रावणः—(सक्रोधम्) कः कोऽत्र भोः ? यत्किंचिद्वादिनोऽस्य मुखं संस्कुर्यात् ।

रोधनम् दारवर्गः, सुहृदः मित्राणि, दायादाः ज्ञातयः, पुत्राश्च तैरन्वितः सहितः सौमित्रेः लक्ष्मणस्य चरणौ भज शरणीकुरु, न चेत् त्वं यदि सीतात्यागलक्ष्मणपादाश्रयणरूपं कार्यद्वयं न करोषि तदा दुर्मदः मदान्धस्त्वं तदिषुभिः लक्ष्मणबाणैः शासिष्यसे कर्त्तव्यं बोधयिष्यसे। एवञ्चान्तेऽपि तच्छासनस्यादरणीयत्वे सम्प्रत्येव तदादारो युक्तो हितसाधनत्वादतः सीतां हित्वा लक्ष्मणचरणावाश्रयेति भावः ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

वाचाटः = बहुभाषी।

सिद्धान्तमेवावधारय = निश्चितमेव जानीहि ।

तत्पादाब्जेति० ते तव रावणस्य मूर्धानः शिरांसि अद्य तत्पादाब्जनखम् लक्ष्मणचरणकमलनखरं नताः प्रणताः, किंवा तत्तीक्ष्णेषु मुखम् लक्ष्मणनिशितबाणाग्रभागम् स्प्रष्टारः स्पर्शं कर्त्तारः, तयोः अभिमतं स्वाभीष्टम् वद ब्रूहि। त्वमद्य लक्ष्मणशरणं गन्तुमिच्छसि, अथवा तदीयैर्बाणैरात्मानं विदार्यमाणमभिलष्यसि, अनयोः कतरत्तेऽभीष्टं तन्मे वदेति भावः ॥ २१ ॥

यत्किञ्चिद्वादिनः = निरर्थकवाक्प्रयोक्तुः, मुखं संस्कुर्यात्=उचितदण्डप्रदानेन मुद्रयेत् । किमत्र क्रोधेन = क्रोधोऽत्र व्यर्थः, शास्त्रेषु दूतस्यावध्यतायाः समर्थितत्वात् । तपस्विनः=रामस्य । प्रत्युत्तरीकरणम् = तत्संदेशप्रतिवचनम् ।

आपको समझाने आया हूं। आप सीताको लौटा दें, स्त्री' पुत्र और मित्रोंके साथ लक्ष्मणजीके चरणोंपर पड़िये, अन्यथा आप उनके द्वारा शासित किये जाएँगे ॥ २० ॥

रावण—(हँसकर) वानर होकर भी पूरा वक्ता है। क्या उत्तर दें ?

अङ्गद—चाहे मैं जो कुछ होऊँ, तुम इतना सत्य मान लो—

तुम्हारे शिर नत होकर लक्ष्मणके चरणनखसे जुड़ेंगे, अथवा उनके बाणाग्रसे। तुम्हें इन दोनोंमें जो पसन्द हो स्पष्ट कहो ॥ २१ ॥

रावण—(क्रोधसे) कोई है जी ? यह अण्टसण्ट बक रहा है, इसका मुंह रंग दो।

प्रहस्तः—देव ! दूतः किलायम् । किमत्र क्रोधेन ।

रावणः—एतन्मुखसंस्कार एव तपस्विनः प्रत्युत्तरीकरणम् ।

अङ्गदः—(उद्रोमकूपस्फुरणमभिनीय)

यथासंख्यं तीक्ष्णक्रकचविषमक्रूरनखर-
प्रगल्भव्यापारप्रमथितशिरोबन्धशिथिलैः ।
शिरोभिस्ते दिग्भ्यो बलिमनुपहृत्यैव किमहं
निवर्तेयस्यां चेन्न रघुपतिदौत्येन परवान् ॥ २२ ॥

(इत्याप्लुत्य निष्क्रान्तः)

रावणः—(निरूप्य) अहो ! जातिसुलभं चापलमप्रतीकार्यम् ।

उद्रोमकूपस्फुरणम् = रोमाञ्चोदयम् ।

यथासंख्यमिति० चेत् यदि अहं रघुपतिदौत्येन रामसन्देशहरत्वेन परवान् पराधीनः न स्याम् न भवेयम् तदा यथासंख्यम् एकादिसंख्याक्रमेण तीक्ष्णाः निशिताग्राः क्रकचविषमाः करपत्रवद्भीषणाः क्रूरा भयङ्कराः नखराः नखानि तेषां प्रगल्भेन प्रचण्डेन व्यापारेण प्रहारेण प्रमथिताः त्रोटिताः ये शिरोबन्धाः कन्धराभागाः तैः शिथिलैः शिथिलीभूतसंयोगैः ते शिरोभिः दिग्भ्यः पूर्वादिदशदिशाभ्यः बलिम् उपहारम् अनुपहृत्य अप्रदाय किमहं निवर्त्तेय परावृत्तो भवेयम् , न भवेयमित्यर्थः । अहं तीक्ष्णैर्नखैस्तव कन्धरां विपाट्य शिरांसि शिथिलसंयोगानि गृहीत्वा यथासंख्यं दशभिः शिरोभिः दशानामपि दिशां बलीरकल्पयिष्यं यदि रामदौत्येन परवान्नाभविष्यं, तत्तद्दौत्येनैव मया न हन्यस इति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २२ ॥

जातिसुलभम् = जातिस्वभावलभ्यम् , चापलम् = चञ्चलत्वम् , अप्रतिकार्यम् = अपनेतुमशक्यम् ।

प्रहस्त—महाराज ! यह दूत है इसपर कोप करना व्यर्थ है ।

रावण—इसका मुंह रंगवा दिया जाय, तपस्वियोंका यही सही जवाब होगा ।

अङ्गद—(रोमकूप स्फुरणका अभिनयकर)

क्रमशः अपने आरा सदृश नखोंसे गर्दन नोंचकर शिथिलीकृत तुम्हारे शिरोंकी बलि दिशाओंको अर्पित किये बिना मैं क्या लौटता ? यदि रामकी दूततासे पराधीन नहीं होता ॥२२॥

(कूदकर भागता है)

रावण—जातिकृत चञ्चलताकी कोई औषध नहीं है ।

प्रहस्तः—देव ! निदेशाक्षरमालिकापरिग्रहायोत्कण्ठते हृदयम् ।

रावणः—किमत्रापि प्रष्टव्यो निदेशः ?

त्रोट्यन्तामभितोऽर्गलानि भुवनप्रख्यातसारोद्धतैः
पाट्यन्तां पुरगोपुराणि च परव्याक्षेपिभी राक्षसैः ।
मथ्यन्तां रिपुघस्मरप्रहरणं विक्षोभ्य भङ्ग्या भुजाः
खण्ड्यन्तां च मुहुर्विवल्गनवृथोत्थानोत्कटा मर्कटाः ॥ २३ ॥

प्रहस्तः—यदाज्ञापयति महाराजः । (इति निष्क्रान्तः)

(नेपथ्ये महान् कलकलः)

(सर्वे ससंभ्रममाकर्णयन्ति)

(पुनर्नेपथ्ये)

निदेशाक्षरमालिकापरिग्रहाय=निदेशः=आज्ञा, तदक्षराणि मालेव तत्परिग्रहाय= तद्ग्रहणाय । भवदादेशं ज्ञातुमित्यर्थः । उत्कण्ठते = उत्सुकं भवति ।

त्रोट्यन्तामिति० भुवनप्रख्यातसारोद्धतैः जगद्विदितपराक्रमसगर्वैः परव्याक्षेपिभिः शत्रुमर्द्दकैः राक्षसैः अभितः सर्वतः अर्गलानि द्वारावरोधकीलाः त्रोटयन्ताम् अपक्रियन्ताम् , पुरगोपुराणि लङ्कानगरबहिर्द्वाराणि च पाटयन्ताम् उद्घाटयन्ताम् , भीता हि द्वाराणि पिधाय तिष्ठन्ति, वीराणामस्माकं तथावस्थानं हास्याय स्यादित्याशयेनेत्थमुक्तम् । भङ्ग्याकौशलेन रिपुघस्मरप्रहरणम् शत्रुसम्बन्धिभयानकमस्त्रजातम् विक्षोभ्य विनाश्याकार्यकारि वा कृत्वा भुजाः स्वबाहवः मथ्यन्ताम् आस्फालयन्ताम् । मुहुर्विवल्गनवृथोत्थानोत्कटाः वृथाभाषणव्यर्थप्रयासाभ्यां कटुभावं गताः मर्कटाः वानरा खण्ड्यन्ताम् च । यथेच्छं वर्त्तध्वं यूयं न वो भयं, शत्रवोऽचिरमेव विनष्टाः स्युरिति सारांशः ॥ २३ ॥

प्रहस्त—महाराज ! आज्ञा सुनना चाहता हूं ।

रावण—क्या इसमें भी आज्ञा पूछी जायगी ?

हमारे वीर राक्षस ! जिनका पराक्रम त्रिलोक प्रख्यात है, अर्गलोंको तोड़ दें, नगरके द्वारको पाट दें, शत्रुसंहारक अस्त्रों से तैयार होकर व्यर्थ कूदफान मचानेवाले वानरोंको खण्ड-खण्ड कर दें ॥ २३ ॥

प्रहस्त—महाराजकी जो आज्ञा । (निकलता है)

(नेपथ्यमें महान् कलकल)

(सभी उत्सुकतासे सुनते हैं)

(फिर नेपथ्यमें)

वध्यन्तेऽस्रपपुङ्गवाः प्रतिभयाभोगैः प्लवङ्गाधिपै-
र्बध्यन्ते च वितर्दिकाः प्रतिदिशं कृत्तै रदोमूर्धभिः।
छिद्यन्ते च बहिः प्रपित्सव इमे मध्ये क्रुधान्धाः क्षणा-
द्भिद्यन्ते पुरगोपुराः प्रतिदिशं क्षिप्तैश्च गण्डोपलैः॥ २४॥

रावणः—(ऊर्ध्वमवलोक्य सक्रोधमुत्प्रेक्ष्य च) कथमेते तपस्विपक्षपाता-दनात्मज्ञा वासवपुरःसरा दिवौकसोऽपि मत्सरिणो विक्षुभ्यन्ते। तद्देवि! त्वमभ्यन्तरे प्रविश। अहमपि तावत्—

कैश्चिद्दोर्भिः प्रमत्तान्प्लवगपरिवृढान्दिक्षु विक्षिप्य दक्षै-
रन्यैः पिष्ट्वापि युद्धाभिनयविधिनटौ तौ तपस्विप्ररोहौ।

वध्यन्त इति० प्रतिभयाभोगाः भयङ्करविस्ताराः प्लवङ्गाधिपैः वानरयूथपैः अस्रपपुंगवाः राक्षसमुख्याः बध्यन्ते हन्यन्ते, कृत्तैः छिन्नैः अदोमूर्द्धभिः अमीषां रक्षसाम् शिरोभिः वितर्दिकाः वेदयः प्रतिदिशम् सर्वासु दिक्षु बध्यन्ते निर्मीयन्ते। बहिः प्रपित्सवः रणाङ्गणाद्बहिर्देशं प्राप्तुमिच्छव इमे क्रुधान्धाः कोपकलुषाः राक्षसाः मध्ये मध्ये मार्गं क्षणात् छिद्यन्ते खण्डयन्ते, दिशि क्षिप्तैः प्रक्षिप्तैः गण्डशैलैः क्षुद्रपर्वतैः पुरगोपुराणि नगरबहिर्द्वाराणि भिद्यन्ते त्रोटयन्ते च। 'भयङ्करं प्रतिभयम्' 'क्रव्यादोऽस्रप आंसरः' 'स्याद्वितर्दिस्तु वेदिका' इति सर्वत्रामरः। दीर्घाकारैर्वानरयूथपतिभिः क्रव्यादा हन्यन्ते, तेषां शिरांसि च च्छित्त्वा वेदयो निर्मीयन्ते, युद्धात्पलाय्य जिगमिषवो राक्षसा मध्येमार्गं व्यापाद्यन्ते, दिशि क्षिप्ताभिः शिलाभिश्च पुरगोपुराणि भिद्यन्त इत्येवं संहारलीला प्रवर्त्तत इति भावः॥ २४॥

तपस्विपक्षपातात् = रामविषयकस्नेहातिशयात्। अनात्मज्ञाः = स्वरूपपरिचयहीनाः, रावस्याज्ञावशगा वयमिति न स्मरन्त इत्यर्थः। वासवपुरस्सराः = इन्द्रादयः। दिवौकसः = देवाः। मत्सरिणः = मद्विषये द्वेषधराः। विक्षुभ्यन्ते = भिद्यन्ते, मदीयं पक्षं विहाय रामपक्षे गच्छन्तीत्यर्थः।

कैश्चिदिति० अपगतकरुणः निर्दयः सन् कैश्चित् कतिपयैः दोर्भिः बाहुभिः प्रमत्तान् अनवधानान् गर्वयुक्तान्वा प्लवगपरिवृढान् वानरमुख्यान् सुग्रीवादीन् दिक्षु विक्षिप्य

भयानक वानरोंसे राक्षणगण मारे जा रहे हैं, इनके कटे हुए शिरोंसे हर ओर वेदियाँ बनाई जा रही हैं, बाहर भागतेके समय बीचमें ही ये काटे जा रहे हैं और शिलाघातसे पुरद्वार तोड़ा जा रहा है॥ २४॥

रावण—(क्रोधसे ऊपर ताककर) यह इन्द्र आदि देवता भी तपस्विके पक्षपातसे डाही बन रहे हैं। इसलिये देवि! तुम भीतर जा। हम भी तब तक—

निर्दय बनकर कुछ हाथोंसे वानरोंको दिशाओं पर फेंककर दूसरे हाथोंसे वीरताका

शिष्टैः कृष्ट्वा स्वचेतःप्रतिफलितवृथारन्ध्रमात्रप्रविष्टा-
न्दुष्टांस्त्रैविष्टपानप्यपगतकरुणस्तैर्बिभर्मि स्वकाराम् ॥ २५ ॥

(इति विकटं परिक्रम्य निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति रथेन सपरिवारो वासवः सूतश्च मातलिः)

मातलिः—देव दिवस्पते ! यथा तावदधिलङ्कमेषः—

संवर्तप्रकटविवर्तसप्तपाथोनाथोर्मिव्यतिकरविभ्रमप्रचण्डः ।
निर्घोषः स्फुरति भृशं परःसहस्रव्यावल्गत्प्रबलगतागतास्रपाणाम् ॥

नानादिक्षु क्षिप्त्वा अन्यैः दृप्तैः युद्धक्रियापटुभिः दोर्भिः युद्धाभिनयविधिनटौ वीरचेष्टानुकरणपरायणौ न तु वास्तविकवीरौ तौ तपस्विप्ररोहौ तापसाङ्कुरौ रामलक्ष्मणौ अपि पिष्ट्वा विनाश्य शिष्टैः सुग्रीवादिक्षेपरामलक्ष्मणपेषणक्रिययोरुपयुक्तेभ्योऽन्यैः भुजैः स्वचेतसि प्रतिफलितम् उद्बुद्धम् यद्वृथारन्ध्रम् सामान्यच्छिद्रम् रामेण सह वैररूपम् तन्मात्रप्रविष्टान् तावतैव मदाश्रयत्यागेनाश्रयान्तरान्वेषिणः दुष्टान् विद्रोहप्रवृत्तान् त्रैविष्टपान् देवानपि कृष्ट्वा बलादाकृष्य तैः देवैः स्वकाराम् स्वीयबन्धनागारम् बिभर्मि पूरयामि । देवान् बध्वा कारागारे स्थापयामीत्यर्थः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ २५ ॥

दिवस्पते = देवेन्द्र ! अधिलङ्कम् = लङ्कायाम् , एषः = निर्घोषः ।

संवर्तेति० संवर्ते प्रलयकाले प्रटकविवर्त्ताः प्रादुर्भूतप्लावनकर्माणः ये सप्त पाथोनाथाः समुद्राः तेषामूर्मयस्तरङ्गाः तेषाम् व्यतिकरस्य अन्योन्यसङ्गमस्य विभ्रमः विलासस्तद्वत् प्रचण्डः घोरः परस्सहस्राणाम् सहस्राधिकानाम् व्यावल्गताम् इतस्ततः सञ्चरताम् प्रबलानाम् गतागतानाम् रणभूमिं गच्छतान्ततश्चागच्छताम् अस्रपाणाम् निर्घोषः कोलाहलः भृशं स्फुरति अत्यर्थमुज्जृम्भते । प्रलयकाले वर्धमानानां सप्तानामपि सागराणां जलानि परस्परं मिलन्ति तेषां तरङ्गस्य भ्रमं जनयन्तः परस्सहस्रा राक्षसा रणभूमौ गतागतं कुर्वन्तः समधिकं शब्दायन्त इत्याशयः । प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ २६ ॥

बाना बनानेवाले तपस्वियोंको पीसकर अपने हृदयमें कल्पित छिद्र द्वारा भीतर पैठे देवोंको खींच-खींचकर उनसे अपने कारागारको भर देता हूँ ॥ २५ ॥

(भयानक गतिसे प्रस्थान)

(रथारूढ़ सपरिवार वासव और सूत मातलिका प्रवेश)

मातलि—देव स्वर्गाधिप ! लङ्कामें जो यह—

प्रलयकालिक समृद्ध सप्तसागरकी तरङ्गोंके परस्पर टकरानेके कारण अत्युग्र शब्दके समान यह जो निर्घोष राक्षसों द्वारा किया जाता है ॥ २६ ॥

तथा तर्कये युयुत्सया निर्यियासति नक्तंचरचक्रवर्तीति ।

वासवः—सूत ! पश्य पश्य—

दृढतरमभियोगं वीक्ष्य रक्षोविनेता
सह तनुजसगर्भप्रेष्यरक्षःसहस्रैः ।
सरभसमरराणि द्रागपावृत्य विद्रा-
वितनिखिलवनौका निर्गतोऽयं नगर्याः ॥ २७ ॥

(शब्दश्रवणं नाटयित्वा) आः ! क एष कौबेर्याः ककुभः क्वणत्कनक-किङ्किणीजालमालिना विमानेन सरभसमित एवाभ्येति ।

सूतः—(निर्वर्ण्य) देव ! भवतैव गन्धर्वराज्याधिपत्याभिषेककृतमहाप्रसादश्चित्ररथः ।

तथा = निर्घोषाकर्णनेन, तर्कये = अनुमिनोमि, युयुत्सया = युद्धेच्छया, निर्यियासति निर्यातुमिच्छति, नक्तञ्चरचक्रवर्त्ती = राक्षसराजः ।

दृढतरमिति० अयम् रक्षोविनेता राक्षसराजः अभियोगम् शत्रुकृताक्रमणम् दृढतरम् अतिप्रबलम् वीक्ष्य दृष्ट्वा तनुजाः पुत्राः सगर्भाः सोदरभ्रातरः, प्रेष्याः भृत्याः, रक्षसां सहस्राणि च तैः सह सरभसम् वेगेन अरराणि कवाटद्वाराणि अपावृत्य उद्घाटय द्राक् झटिति विद्रावितनिखिलवनौकाः ताडितसकलवानरवर्गः नगर्याः लङ्कायाः निर्गतः बहिरायातः । अयमाशयः—यथाऽयं कलकलः प्रोज्जिहीते तथानुमिनोमि—सर्वान् सहायकान् पुत्रसोदरभृत्यादीन् सह कृत्वा द्वाराणि उद्घटय रावणो योद्धुं नगर्या बहिरायातीति । मालिनीवृत्तम् ॥ २७ ॥

कौबेर्याः = कुबेरपालितायाः, उत्तरस्या इत्यर्थः, ककुभः=दिशः, क्वणत्कनककिङ्किणीजालमालिना = सशब्दस्वर्णनिर्मितक्षुद्रघण्टासमूहपरिवृतेन, विमानेन = व्योमयानेन, सरभसम् = सवेगम्, इतः = एतद्दिगभिमुखम् , अभ्येति = आगच्छति ।

गन्धर्वराज्याधिपत्याभिषेककृतमहाप्रसादः=गन्धर्वराजपदेऽभिषिच्य कृतानुग्रहः । चित्ररथः = तन्नामकः ।

उससे पता चलता है कि राक्षसराज लड़ने निकल रहे हैं

वासव—सूत ! देखो, देखो—

जोरोंकी चढ़ाई देखकर राक्षसराज पुत्र सोदर नौकरोंके साथ हठात् दरवाजे खोलकर वानरोंको भयातुर करता हुआ नगरीसे निकल रहा है ॥ २७ ॥

(शब्द सुननेका अभिनय करके) आः ! यह कौबेर दिशासे कौन आ रहा है जिसके विमानमें सोनेकी किङ्कणीमाला खनखना रही है ?

सूत—(देखकर) आप ही के द्वारा गन्धर्वराज्यपर अभिषेकसे अनुगृहीत चित्ररथ आ रहे हैं ।

(ततः प्रविशति विमानाधिरूढश्चित्ररथः)

चित्ररथः—जयति जयति देवराजः ।

वासवः—गन्धर्वराज ! समरदिदृक्षानिर्भरं किं चेतः ?

चित्ररथः—तदप्यन्यदपि ।

वासवः—किमन्यत् ?

चित्ररथः—अलकेश्वरनिदेशः ।

वासवः—कीदृशः ?

चित्ररथः—

दुर्बाधो जनिदिवसान्मम प्रवृद्धः कोऽप्याधिः प्रबलतमोऽथवा त्रिलोक्याः।
तस्येदं निधनदिनं विधेर्विलासात्कल्याणी परिणतिरस्तु वान्यथा वा ॥२८॥

तदवगन्तुमहं प्रहितः ।

समरदिदृक्षानिर्भरम् = युद्धदर्शनायोत्कण्ठितम् ।

अलकेश्वरनिदेशः=कुबेरस्याज्ञा ।

दुर्बाध इति० **(यस्य रावणस्य) जन्मदिवसात् उत्पत्तिवासरात् मम अथवा त्रिलोक्याः लोकत्रयस्य कोऽपि असाधारणः प्रबलतमः अतिदारुणः दुर्बाधः अप्रतिविधेयः आधिः मनोव्यथा रावणकृतोत्पीडनजन्या वर्त्तत इति शेषः । विधेर्विलासात् भाग्योदयात् तस्याधेः इदम् निधनदिनम् समाप्तिवासरः, रामेण रावणवधस्य संभावितत्वादेवमुक्तम् । कल्याणी शोभना अन्यथा तद्विपरीता वा परिणतिः परिणामः अस्तु। अथास्माकमाधेः शान्तेर्दिनं तत्र जयः क्षयो वा जायतामिति भावः॥२८॥**

तदवगन्तुम् = युद्धपरिणामं ज्ञातुम् । प्रहितः = प्रेषितः ।

(विमानारूढ़ चित्ररथका प्रवेश)

चित्ररथ—जय हो देवराजकी ।

वासव—गन्धर्वराज ! क्या युद्ध देखनेकी इच्छा है ?

चित्ररथ—वह भी है कुछ और भी ।

वासव—और क्या ?

चित्ररथ—अलकेश्वर की आज्ञा ।

वासव—कैसी आज्ञा ?

चित्ररथ—हमारे जन्मसे लेकर जो आधि हमारे हृदयमें चली आ रही है और जो विश्वकी आधि है, उसकी आज समाप्तिका दिन है, देखें कैसा परिणाम होता है ? ॥२८॥

यही जाननेके लिये मुझे भेजा है ।

वासवः—सकुल्यानामप्येष मनोरथः ?

चित्ररथः—किं चित्रं सहजाः किल ते मिथः शात्रवः । कृत्रिमतापि निधिपुष्पकादिहरणवृत्तेर्दुर्वृत्तस्य सुप्रथिता । अथवा—

यावत्त्रिलोक्यां किल जन्तुजातं तत्सर्वमस्योद्धतदुश्चरित्रैः ।
कदर्थितं श्रीरघुनन्दनस्य प्रीत्या विधत्ते विजयप्रतीक्षाम् ॥ २९ ॥

वासवः—(निरूप्य) गन्धर्वराज ! यदिदमधित्यकातः सुवेलाद्रेरकाण्ड एव प्रबलकिलिकिलाकोलाहलमुखरितहरिन्मुखं वलीमुखचक्रमक्रममेवोच्चलितम्, तथा मन्ये पतितमेव प्रहरणैरिति ।

सकुल्यानाम् = एककुलजातानाम्, रावणवैमात्रेयो हि कुबेरोऽतः सकुल्यस्तस्य सः । एष मनोरथः = वधकामना ।

किं चित्रम् ? = किमाश्चर्यम् ? सहजाः=भ्रातरः, मिथः = परस्परम्, एतत्स्वाभाविकशत्रुत्वपरम्, कृत्रिमशत्रुताऽप्यनयोरस्तीत्याह—'कृत्रिमताऽपि' इति, क्रियया-निर्वृत्तं कृत्रिमम्, तस्य भावस्तथा । निधिः = धनराशिः, पुष्पकम् = विमानभेदः ।

दुर्वृत्तस्य = दुराचारस्य । रावणकुबेरौ वैमात्रेयतया सहजशत्रू, निधिपुष्पकादिहरणेन दुर्वृत्तोऽयं रावणः कृत्रिमशत्रुरपि कुबेरस्य जातस्तदुभयथा शत्रोरस्य वधेच्छा तत्कृते स्वभाविकीति नाश्चर्यं कार्यमित्यर्थः ।

यावदिति० त्रिलोक्याम् त्रिभुवने यावत् जन्तुजातम् प्राणिवर्गः किल तत् सर्वम् अस्य रावणस्य उद्धतदुश्चरित्रैः सगर्वदुराचारैः कदर्थितम् उत्पीडितम् सत् प्रीत्या स्नेहेन श्रीरघुनन्दनस्य विजयप्रतीक्षाम् कुरुते कदा विजयो भविष्यतीत्युत्सुकया चित्तवृत्त्याऽऽशास्त इत्यर्थः ॥ २९ ॥

अधित्यकातः = सुवेलपर्वतोर्ध्वभागात् । 'उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । अकाण्डे = असमये । प्रबलकिलकिलाकोलाहलमुखरितहरिन्मुखम् = उच्चैः किलकिलाशब्देन दिशामन्तरालं सशब्दं कुर्वत् । वलीमुखचक्रम्=वनारमण्डलम् ।

वासव—सगोत्रोंका भी यही मनोरथ है ?

चित्ररथ—इसमें आश्चर्य क्या ? भाइयोंमें वैर स्वाभाविक है, निधि और पुष्पक छीनकर कृत्रिम वैर भी बढ़ा ही लिया गया है इस दुराचारी द्वारा । अथवा—

इस संसारमें जितने प्राणी हैं सभी इस उद्दण्ड दुश्चरितके कुकृत्योंसे तङ्ग आ गये हैं और स्नेहवश रघुनन्दनकी विजयकामना करते हैं ॥ २९ ॥

वासव—(देखकर) गन्धर्वराज ! सुवेलपर्वतकी चोटीसे एकाएक जोरोंका किलकिला शब्द उठ रहा है जिससे दिशायें मुखर हो रही हैं और वानरगण दौड़ लगा रहे हैं इससे मालूम पड़ता है लड़ाई छिड़ गई ।

चित्ररथः—देवराज ! पश्य, पश्य—

अयं रक्षोनाथः क्षितिधरशिरोबन्धुरतरे
रथे तिष्ठन्प्रष्ठः प्रधनरसनिष्णातमनसाम् ।
मुहुर्जीवाघोषैर्बधिरयति दिक्प्रान्तशिखरि-
प्रतिध्वानाध्मातैर्गगनविवराभोगमभितः ॥ ३० ॥

वासवः—गन्धर्वराज ! न तुलाधृतस्तावदनयोर्वीरसमयोचितः परिकरः । (सावेगम्) सूत सूत ! सांग्रामिकं मे रथमुपहर रामभद्राय । अहमपि गन्धर्वराजाधिष्ठितं विमानमेवाधितिष्ठामि । (तथा करोति)

सूतः—यथाज्ञापयति देवराजः । (इति निष्क्रान्तः)

अक्रमम्=सहैव । उच्चलितम् = इतस्ततः प्रधावितम् । प्रहरणैः=शब्दैः । सशब्दमितस्ततो धावन्ति वानरभटास्तन्मन्ये प्रवृत्तं युद्धमिति ।

अयमिति० प्रधनरसनिष्णातमनसाम् युद्धानुरागपूर्णहृदयानाम् वीराणामित्यर्थः प्रष्ठः अग्रगामी अयम् रक्षोनाथः रावणः, क्षितिधरशिरोबन्धुरतरे पर्वतशिखरवदुन्नतानते रथे स्यन्दने तिष्ठन् अभितः समन्ततः दिक्प्रान्तशिखरिप्रतिध्वनाध्मातैः दिगन्तस्थायिपर्वतकृतप्रतिध्वानदीर्घैः जीवाघोषैः मौर्वीरवैः गगनविवराभोगं नभोमध्यभागं मुहुः पुनःपुनः बधिरयति आवृणोति । वीराग्रणीरयं रावणो गिरिशृङ्गायमाणे रथे तिष्ठन् मौर्वीरवं करोति स च मौर्वीरवो दिगन्तस्थायिपर्वतैः प्रतिध्वनितः सन्नधिकायते येन जगद्बधिरी भवतीति भावः । 'बन्धुरन्तून्नतानतम्' इत्यमरः । 'प्रष्ठोऽग्रगामिनि' इति सूत्रेण प्रष्ठशब्दो निपात्यते । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३० ॥

न तुलाधृतः = अपरिमितः । अनयोः = रामरावणयोः । वीरसमयोचितः = वीरसमयः संग्रामस्तदुचितः तदनुकूलः । परिकरः = परिच्छदः । साङ्ग्रामिकम् = युद्धोपयुक्तम् । उपहर = प्रापय । गन्धर्वराजाधिष्ठितम् = चित्ररथाधिरूढम् ।

चित्ररथ—देवराज ! देखिये, देखिये—

वीराग्रणी तथा पर्वतशिखर तुल्य रथपर आरूढ़ राक्षसराज दिगन्तवर्त्ति पर्वतोंद्वारा की गई प्रतिध्वनिसे विशाल मौर्वीरवद्वारा आकाशदेशको बहरा बना रहा है ॥ ३० ॥

वासव—इन दोनोंकी साजसज्जा वीरोचितरूपमें बराबर नहीं है । (उद्वेगसे) सूत ! मेरा जुझारू रथ रामचन्द्रको दो । मैं गन्धर्वराजके रथपर ही बैठ लूंगा ।

(वैसा ही करते हैं)

सूत—देवराजकी जो आज्ञा । (जाता है)

चित्ररथः—देवराज ! कथमतिसन्धेयं तुमुलम् । तथा हि—

रक्षोभिर्विपिनौकसां परिवृढैश्चारादपास्तक्रमं
मुष्टीमुष्टि कचाकचि प्रहरणप्रक्षेपमूढात्मभिः ।
प्रारब्धं रणकर्म दुर्धरमिथोनिष्पेषशीर्यद्वपु-
र्निष्ठ्यूतास्रझरीभिरेव सरणिर्दुःसञ्चराभूद्यथा ॥ ३१ ॥

अपि च—

वीराणां रुण्डतुण्डप्रविघटनपटुस्फारदोर्दण्डखण्ड-
व्यापारक्षिप्यमाणप्रतिभटविकटाटोपवर्ष्मप्ररूढः ।

अतिसन्धेयम् = पर्यवेक्षणीयम् । तुमुलम् = घोरं युद्धमित्याशयः ।

रक्षोभिरिति० रक्षोभिः राक्षसैः विपिनौकसाम् वानराणां परिवृढैः पतिभिश्च प्रहरणप्रक्षेपमूढात्मभिः शस्त्रप्रयोगकुण्ठितचित्तैः सद्भिः आरात् समीपे अपास्तक्रमम् क्रममाहृत्य मुष्टीमुष्टि मुष्टिभिर्मुष्टिभिः प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तमिति मुष्टीमुष्टि, कचाकचि कचेषु कचेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवृत्तमिति कचाकचि तादृशं रणकर्म युद्धक्रिया तथा तेन प्रकारेण प्रारब्धम् उपक्रान्तम् यथा दुर्धरैः सोढुमशक्यैः मिथोनिष्पेषैः परस्परप्रहारैः शीर्यद्भ्यः वपुर्भ्यः भिन्नेभ्यः गात्रेभ्यः निष्ठ्यूताः प्रवहमानाः याः अस्रझर्यः शोणितोद्गाराः ताभिः सरणिः मार्गः दुःसञ्चरा दुर्गमा अभूत् । अयमाशयः—राक्षसा वानराश्च क्रममपहाय प्रहरणप्रक्षेपं च विस्मृत्य मुष्टीमुष्टि कचाकचि युद्धं तथा प्रारभन्त यथा दुःसहप्रहारभिद्यमानेभ्यस्तदङ्गेभ्यः प्रवहन्तीभिः शोणितधाराभिर्युद्धधरा दुःसञ्चरा समजायतेति । 'मुष्टीमुष्टि' 'कचाकचि' इत्यत्र 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इति बहुव्रीहिः । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः ॥ ३१ ॥

वीराणामिति० युद्धाजिरभुवि संग्रामाङ्गणभूमौ वीराणाम् युद्ध्यमानानाम् शूराणाम् रुण्डतुण्डयोः शरीरमुखयोः प्रविघटने अन्यथाकरणे च्छेदनभेदनादिना वैरूप्यसम्पादने इत्याशयः पटवः दक्षाः स्फाराः विशालाः ये दोर्दण्डाः बाहुदण्डाः तेषाम् ये खण्डव्यापाराः छेदनक्रियाः तैः क्षिप्यमाणानि पात्यमानानि यानि प्रतिभटविकटाटोपवर्ष्माणि प्रतिमल्लदीर्घदेहाः तेभ्यः हेतुभ्यः प्ररूढः सञ्जातः जरठः पुराणः

चित्ररथ—देवराज ! युद्ध कैसे देखा जायगा ? क्योंकि—

राक्षस और वानरगण समीपसे इस प्रकार बेतरह कचाकच मुक्कामुक्को और अस्त्र प्रहार कर रहे हैं जिससे एक दूसरेके प्रहार कटकर गिरनेवाली रुण्डोंसे पृथ्वी पट गई है, अतः वहाँ चलना कठिन हो गया है ॥ ३१ ॥

और—वीरोंके रुण्डमुण्ड कटे हुए हाथपैर और योद्धाओंके विशाल शरीरोंके इकट्ठे

कूटः कोऽप्येष युद्धाजिरभुवि जरठश्चित्रकूटानुकारी
लीयन्ते यत्र शत्रुप्रपतनविवशाः कोटिशः शूरकीटाः॥ ३२ ॥
वासवः—गन्धर्वराज ! इत इतः—
प्रासप्रोतप्रवीरोल्बणरुधिरपरामृष्टबुक्काजिघत्सा-
धावद्गृध्राधिराजाप्रतिमतनुरुहच्छायया वारितोष्णाः ।
विश्राम्यन्ति क्षणार्धं प्रधनपरिसरेष्वेव मुक्ताभियोगा
वीराः शस्त्रप्रहारव्रणभररुधिरोद्गारदिग्धाखिलाङ्गाः ॥ ३३ ॥

चित्रकूटानुकारी चित्रकूटपर्वततुल्यः कोऽपि एषः कूटः राशिर्दृश्यते यत्र शत्रुप्रपतनविवशाः शत्रुकृताक्रमणविह्वलाः कोटिशः बहुसंख्यकाः शूरकीटाः क्षुद्रायोद्धारः लीयन्ते आत्मानं गोपयन्ति । अयमर्थः—देहमुखभेदनच्छेदनादिक्रियाप्रवीणविशालभुजदण्डव्यापारैः परस्परशत्रूणां दीर्घाः कायाः कृता राशीभूयस्थितास्तदुत्थः कूटश्चित्रकूट इव प्रतीयते यत्र रुण्डमुण्डकूटे प्राणलोलुपाः क्षुद्रावीराः शत्रुपपातभीना निभृतं निलीय स्वं गोपयन्तीति । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३२ ॥

प्रासेति० वीराः रणप्रवृत्ताः योद्धारः प्रहारव्रणभररुधिरोद्गारदिग्धाखिलाङ्गाः परकृतास्त्रप्रहारव्रणस्रवदसृक्प्रवाहव्याप्तसमग्रदेहाः सन्तः मुक्ताभियोगाः त्यक्तयुद्धव्यापाराः प्रधनपरिसरेषु युद्धाङ्गणेषु प्रासैः कुन्तैः प्रोतानाम् विद्धानाम् प्रवीराणाम् भटानाम् उल्वणेन उत्कटेन रुधिरेण परामृष्टायाः लिप्तायाः बुक्कायाः अग्रमांसस्य जिघत्सया भक्षणेच्छया धावताम् गृध्राधिराजानाम् बृहतां गृध्राणाम् अप्रतिमानि सदृशद्वितीयशून्यानि यानि तनुरुहाणि लोमानि तेषां छायया वारितोष्णाः निवारितातपाः सन्तः क्षणार्धम् अर्धक्षणपर्यन्तम् विश्राम्यन्ति विश्रान्तिसुखमनुभवन्ति । शस्त्रप्रहारस्रवद्रुधिरव्याप्तदेहा वीराः कुन्तविद्धवीरान्तररुधिरसिक्ताग्रमांसभक्षणाय धावतां बृहतां गृध्राणां पक्षैरातपत्रैरिव निवार्यमाणातपाः सन्तः संग्रामभूमावपि क्षणार्धं विश्रान्तिसुखमनुभवन्तीति भावः। 'बुक्का स्त्री मांसमग्रयं स्यात्' इति हारावली । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३३ ॥

हो जानेसे युद्धाङ्गणमें एक पहाड़ खड़ा हो गया है जो चित्रकूट-सा दीखता है, जिसमें शत्रुओंके आक्रमणसे विवश क्षुद्र योद्धा छिप रहे हैं ॥ ३२ ॥

वासव—गन्धर्वराज ! इधर देखिये—

भालेसे विधे शूरवीरोंके शरीरका रुधिरसिक्त नव मांस खानेके लोभमें मँडरानेवाले गृध्रोंकी बड़ी पक्षच्छाया द्वारा जिनकी धूप बचाई जाती है, ऐसे वीरगण शस्त्रप्रहारसे व्याप्त शरीरभागसे शोणितकी धार निकलते रहनेपर भी थोड़ी देरके लिये लड़ाईके मैदानमें ही विश्राम कर लेते हैं ॥ ३३ ॥

इतोऽपि—

प्रतीक्षन्ते वीराः प्रतिमुखमुरोभिः सरभसं
विपक्षाणां हेतीः प्रतिनियतधैर्यानुभवतः ।
विदीर्णत्वग्भारा दलितपिशिताश्छिन्नधमनि-
प्रकाण्डास्थिस्नायुस्फुटतरविलक्ष्यान्त्रनिवहाः ॥ ३४ ॥

चित्ररथः—देवराज ! अपूर्वोऽयं रक्षःपतेः संग्रामावतरणसर्गः । तथा हि—

प्रेष्याः संग्रामसीमन्यनुजशतवृतो मेघनादोऽपि पार्श्वे
वामेऽन्यत्र प्रवीरेष्वतिविषममदोद्बोधितः कुम्भकर्णः ।
कैकस्या बन्धुवर्गोऽप्ययमतिविकटः पृष्ठतस्तिष्ठमानो-
ऽप्यास्ते मध्ये निषण्णो रथशिरसि भृशं रावणो दुर्विगाहः ॥

प्रतीक्षन्त इति० विदीर्णत्वग्भाराः छिन्नत्वचः दलितपिशिताः कृत्तमांसाः छिन्नासु धमनिषु नाडीषु छिन्नेषु प्रकाण्डेषु दीर्घास्थिषु छिन्नेषु स्नायुषु च स्फुटतरविलक्ष्यान्त्रनिवहाः प्रकटदृश्यमानान्त्रसमूहाः वीराः प्रतिनियतधैर्यानुभवतः व्यवस्थितधैर्यप्रभावात् प्रतिमुखम् अभिमुखम् विपक्षाणाम् हेतीः शत्रूणामस्त्राणि उरोभिः वक्षोभिः सरभसम् सवेगम् प्रतीक्षन्ते गृह्णन्ति । येषां वीराणां त्वचश्छिन्नाः मांसानि दलितानि, धमनीनां बृहदस्थ्नां स्नायूनां च छेदो जातो यद्रन्ध्रद्वाराऽन्त्राणि दृश्यन्ते तेऽपि धैर्यप्रभावात् सम्मुखमागच्छन्ति पराक्षाणि सवेगं वक्षोभिः प्रतीच्छन्ति, तदद्भुतमेषां शूरत्वमिति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३४ ॥

रक्षःपतेः = राक्षसराजस्य । संग्रामावतरणसर्गः = रणभूम्यागमनक्रमः ।

प्रेष्या इति० संग्रामसीमनि रणाग्रे प्रेष्याः भृत्याः, अनुजशतवृतः शतसंख्यकभ्रातृयुक्तः मेघनादः इन्द्रजित् पार्श्वे वामे भागे, अन्यत्र दक्षिणे पार्श्वे प्रवीरेषु प्रधानयोद्धृषु अतिविषमदः अत्युत्कटशौर्यगर्वः उद्बोधितः अकाले जागरितश्च कुम्भकर्णः, अयम् अतिविकटः अतिभयानकः कैकस्याः रावणमातुः बन्धुवर्गः भ्रात्रादिः पृष्ठतः तिष्ठमानः, रणशिरसि युद्धभूमिमध्ये भृशं दुर्विगाहः दुर्धर्षः रावणः मध्ये सर्वशूराणां

इधर भी—जिनकी देहका मांस कट गया है, त्वचा साफ है, धमनियाँ, बड़ी-बड़ी हड्डियाँ और स्नायु कट गई हैं, जिनसे आँतें दीख रही हैं, ऐसे वीरगण व्यवस्थित धैर्यकी महिमासे शत्रुओंके अस्त्रोंको सीनेसे ले रहे हैं ॥ ३४ ॥

चित्ररथ—देवराज ! राक्षसराजका रणाङ्गणमें आनेका क्रम तो अपूर्व ही है—

सबसे आगे नौकर हैं, उसके पीछे भाइयोंसे युक्त मेघनाद उसकी बगलमें है, बाईं ओर जगाया गया मतवाला कुम्भकर्ण है, पीछेकी ओर केकसीके बन्धुगण हैं और बीचमें रथपर वह स्वयं विद्यमान है जो दुर्विगाह मालूम पड़ता है ॥ ३५ ॥

वासवः—गन्धर्वराज ! एवमभियोगोद्धुरं द्विषन्तमभिवीक्ष्यापि निष्प्रकम्प एव रामभद्रः । अथवोचितमेवैतत् । यतः—

न कम्पन्ते झंझामरुति किल वाति प्रतिदिशं
समुन्मूर्च्छत्सारा: कुलशिखरिणः किञ्चिदपि ते ।
न मर्यादां तेऽपि प्रतिजहति गाम्भीर्यगरिम-
स्फुरद्वार्ब्रह्माणोऽकलितमहिमानोऽम्बुनिधयः ॥ ३६ ॥

चित्ररथः—देवराज ! पश्य पश्य—

भक्तिप्रह्वं कथमपि यवीयांसमुत्सृज्य चापा-
रोपव्यग्राङ्गुलिकिसलयं मेघनादक्षयाय ।

मध्यभागे अध्यास्ते तिष्ठति । तदेवं सर्वतः कृतरक्षाप्रयासस्यास्य अपूर्वो रणप्रवेशक्रम इति भावः ॥ ३५ ॥

अभियोगोद्धुरम्=आक्रमणोन्मुखम् । द्विषन्तम्=शत्रुं रावणम् । निष्प्रकम्पः=स्थिरः ।

न कम्पन्त इति० प्रतिदिशं दिशि दिशि झञ्झामरुति सवृष्टिके महावाते वाति वहति सति ते प्रसिद्धाः समुन्मूर्च्छत्साराः अतिदृढाः कुलशिखरिणः—'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः, विन्ध्यश्च पारिपात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः' इति परिगणिताः शैलाः न कम्पन्ते चलन्ति, किलेति प्रसिद्धौ । किञ्च गाम्भीर्यगरिम्णा अगाधतागौरवेण स्फुरन् प्रकाशमानः वार्ब्रह्मा जलमयी ब्रह्ममूर्त्तिः येषान्ते तथोक्ताः अकलितमहिमानः अपरिच्छिन्नमहत्त्वातिशयाः ते अम्बुनिधयः समुद्रा अपि मर्यादां सीमान् न प्रतिजहति अतिक्रामन्ति । झञ्झावाते वात्यपि यथा कुलपर्वता अचलाः, समुद्राश्चानतिक्रान्तमर्यादा एव तिष्ठन्ति तथा रामोऽपि रावणे युद्धाय सन्नद्धे बहिर्यात्यपि न चञ्चलो भवति महासत्त्वत्वादिति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

भक्तिप्रह्वमिति० रघुपतिवृषा राघवेन्द्रः मेघनादक्षयाय इन्द्रजिद्वधाय चापारोपव्यग्राङ्गुलिकिसलयम् शरासनसज्जीकरणक्रियाचपलाङ्गुलिपल्लवम् बाणं सन्दधतमि-

वासव—गन्धर्वराज ! इस प्रकार युद्धके लिये सन्नद्ध शत्रुको देखकर भी रामचन्द्र अडिग हैं । अथवा यह तो ठीक ही है, क्योंकि—

पानीयुक्त घोर हवाके बहनेपर भी बड़े-बड़े कुलपर्वत नहीं हिलते और गम्भीर तथा अनन्त जलराशिपूर्ण समुद्रगण कभी भी अपनी मर्यादा नहीं लांघते हैं ॥ ३६ ॥

चित्ररथ—देवराज ! देखिये, देखिये—

मेघनादकी हत्याके लिये धनुष चढ़ानेमें तत्पर श्रद्धानत लक्ष्मणको छोड़कर युद्धवीर

लक्षीकृत्य प्रधनकुशलं सानुजं राक्षसेन्द्रं
जीवां भूयो रघुपतिवृषा स्पर्शतः संस्करोति ॥ ३७ ॥

कथमेतदतिदुष्करमिव मन्ये । तथा हि—

आक्रम्यैकैकमेते रजनिचरभटाः कोटिशः शस्त्रवर्षै-
र्भास्वद्वंशप्ररोहं पिदधति परितः योधने यौगपद्याः ।

अथवा किं नाम दुष्करम् ।

एतावप्युत्प्रभावावकलितमहिमप्राभवौ युद्धभूमा-
विन्धाते शत्रुशस्त्रप्रविदलनफलस्पष्टबाणाभियोगौ ॥ ३८ ॥

(समन्ततोऽवलोक्य) अहो ! कथमेते वनौकसोऽपि महति सपत्नसंगरे स्वाभिधानयोगमेव ख्यापयन्तः पञ्चषाः केवलं रामभद्रपादमूलमासेवन्ते ।

त्यर्थः, भक्तिप्रह्वम् आदरनतम् यवीयांसम् कनिष्ठभ्रातरं लक्ष्मणम् कथमपि उत्सृज्य विहाय—तं तथा कुर्वन्तमेव त्यक्त्वा—प्रधनकुशलं युद्धक्रियापटुम् सानुजम् कुम्भकर्णसमेतम् राक्षसेन्द्रम् रावणं लक्षीकृत्य भूयः पुनः जीवाम् प्रत्यञ्चाम् स्पर्शतः संस्करोति परीक्षते, सज्यतां वैगुण्याभावं च निरीक्षत इत्याशयः ॥ मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥

आक्रम्येति० योधने यौगपद्याः संग्रामे सहभूयकार्यकराः एते रजनिचरभटाः राक्षसवीराः कोटिशः शस्त्रवर्षैः एकैकम् भास्वद्वंशप्ररोहम् प्रत्येकम् सूर्यवंशाङ्कुरम् रामम् लक्ष्मणञ्च आक्रम्य अभियुज्य परितः समन्तात् पिदधति आच्छादयन्ति । एतौ रामलक्ष्मणौ अपि उत्प्रभावौ उद्गतसामर्थ्यौ अकलितमहिमप्राभवौ अपरिच्छेद्यमहत्त्वप्रभुत्वौ शत्रुशस्त्रप्रविदलनं परास्त्रमथनं फलं यस्य तादृशः स्पष्टः स्फुटः बाणाभियोगः ययोस्तादृशौ सन्तौ युद्धभूमौ संग्रामाङ्गणे इन्धाते दीप्येते । यथा राक्षसाः शस्त्रवर्षैं रामलक्ष्मणावाच्छादयन्ति तथा रामलक्ष्मणावपि शत्रुशस्त्राणि दलयन्तौ स्वं पराक्रमं च प्रकाशयन्तौ युद्धभूमौ प्रकाशेते इत्याशयः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३८ ॥

वनौकसः = वानराः, युक्तायुक्तत्वविवेकवञ्चिता इत्यर्थः । सपत्नसङ्गरे = शत्रु-

---

रावणको लक्ष्य करके रामचन्द्र अपने धनुषकी प्रत्यञ्चाको स्पर्शसे ठीक कर रहे हैं ॥ ३७ ॥

यह तो बड़ा कठिन मालूम पड़ रहा है, क्योंकि—

राक्षसगण एक एक सूर्यवंशीको एक साथ हजारों शस्त्रोंकी वर्षासे आवृत कर दे रहे हैं, अथवा इसमें क्या कठिनाई है ?

यह दोनों सूर्यवंशी भी शत्रुओंके संहारमें बाणप्रयोग करके अपनी महिमाको फैलाते हुए रणभूमिमें चमक रहे हैं ॥ ३८ ॥

(चारो ओर देखकर) ये वानर भी लड़ाईमें अपना ही नाम ऊँचा करना चाहते

तथा हि—

सुग्रीवः स्यन्दनस्याग्रे सोऽङ्गदः पृष्ठतः पुनः।
पञ्चषा जाम्बवान्भावी लङ्काधीशोऽपि पार्श्वयोः॥ ३९॥

(विचिन्त्य) हनूमान्पुनः कनीयांसं काकुत्स्थम्। (सविमर्शम्) वरमेत एवोभयथा रामभद्रपादपद्मोपसेविनः। यतस्तावदेतेषाम्।

स्वामिभक्तिश्च धैर्यं च व्याख्याते गात्रमक्षतम्।
रक्षोभियोगस्त्वन्येषां दृश्यते दैन्यमप्यलम्॥ ४०॥

वासवः—गन्धर्वराज! मानुषे लोके वात्सल्यं नाम केवलमखिलेन्द्रियवशीकरणचूर्णमुष्टिः। यतः—

सङ्कटे। स्वाभिधानयोगम् = स्वनाममहत्त्वम्, अहमेव विजयमर्जयेमित्येवंरूपं स्वगौरवमित्यर्थः। ख्यापयन्तः = प्रकटयन्तः। पञ्चषाः = पञ्चसंख्यकाः षट्संख्यका वेत्यर्थः। सर्वेऽपि वानरा युद्धे लग्नाः केवलं पञ्चषा रामभद्रसमीपे वर्त्तन्त इत्याशयः।

सुग्रीव इति० स्यन्दनस्य रथस्य अग्रे सुग्रीवः पृष्ठतः पुनः अङ्गदः, जाम्बवान्, भावीलङ्केशः विभीषणः, अपि पार्श्वयोः वामदक्षिणभागयोः वर्त्तन्ते (हनूमाँश्च लक्ष्मणेन सह) तदेवं पञ्चषाः कपयः स्थिता इति सिद्धम्॥ ३९॥

कनीयांसं काकुत्स्थम् = लक्ष्मणनामावरजं ककुत्स्थवंशदीपम्।

स्वामिभक्तिश्चेति० अक्षतम् परैरनाविद्धम् गात्रम् स्वामिभक्तिम् रामभद्रविषयमनुरागम् धैर्यञ्च व्याख्याते कथयति (एषामत्र रामपार्श्वे स्थितानाम् स्वामिभक्तिरपि सिद्धा धैर्यमपि प्रमापितम्) अन्येषां युध्यमानानान्तु रक्षोऽभियोगः परपक्षकृतमाक्रमणं दैन्यम्पलायनाद्यपि अलं पर्याप्तं दृश्यते॥ ४०॥

वात्सल्यम् = पुत्रादिकनिष्ठजनविषयः स्नेहः। अखिलेन्द्रियवशीकरणचूर्णमुष्टिः= सकलेन्द्रियवशीकरणसाधनम्। चूर्णमुष्टिरक्षिणी क्षिप्यमाणा वशीकरोति जनम्,

हैं, रामके पास तो केवल पांच ही छः हैं।

रथके आगे सुग्रीव पीछे अङ्गद जाम्बवान् और विभीषण दोनों बगल में हैं, ये ही पाँच छः हैं॥ ३९॥

(सोचकर) हनूमान् छोटे सूर्यवंशीके साथ हैं। (सोचकर) इन्हीं वानरोंने सर्वथा रामकी सेवा की। क्योंकि इनकी—

स्वामिभक्ति और धीरताका प्रमाण इनके अक्षत शरीर ही हैं, दूसरे वानरोंको राक्षसोंके आक्रमणसे कभी दैन्यपलायन भी करना पड़ता है॥ ४०॥

वासव—गन्धर्वराज! मर्त्यलोकमें वात्सल्य एक ऐसी चीज है जो सभी इन्द्रियोंको वशमें रखती है—

सौमित्रिः कृतहस्तताप्रभृतिभिर्न्यूनो न कैश्चिद्गुणैः
सारेणापि पुनः प्रसिद्धमहिमा शौर्याग्रणी रावणिः ।
इत्थं तुल्यतरे किल व्यतिकरे रामस्य रक्षःप्रभो-
श्चान्योन्यं शरवृष्टिरेव वलते दृष्टिस्तयोर्वत्सला ॥ ४१ ॥

चित्ररथः—देवराज ! युक्तमेवैतत् । एवं वात्सल्यमनुरुध्यन्ते किल महात्मानः । (साद्भुतौत्सुक्यम्) पश्यतु देवराजः—

सौमित्रेर्बाणवज्रैरधिकतरममी मर्मवेधं प्रविद्धा
धावन्तः क्ष्माधरेन्द्रा इव रजनिचराः शेरते युद्धसीम्नि ।

तदनुरोधेनेत्थमुक्तम्, यस्य हृदये वात्सल्यं स्थिरं तस्य सर्वाण्येवेन्द्रियाणि जितानि, वात्सल्यरक्षार्थमन्येषामनुरोधस्यामन्तव्यत्वादिति भावः ।

सौमित्रिरिति० सौमित्रिः लक्ष्मणः कृतहस्तताप्रभृतिभिः सिद्धहस्तताऽऽदिभिः कैरपि कैश्चिदपि गुणैः न न्यूनः इन्द्रजिदपेक्षया न लघुः, शौर्याग्रणीः वीरभावेऽग्रगण्यः रावणिः मेघनादः अपि पुनः सारेण बलेन प्रसिद्धमहिमा प्रख्यातप्रभावः, इत्थम् एवं प्रकारेण व्यतिकरे लक्ष्मणेन्द्रजितोरन्योन्यसङ्घर्षे तुल्यतरे समाने किल रामस्य रक्षःप्रभोः रावणस्य च शरवृष्टिः बाणविसर्जनम् एव वलते प्रवर्त्तते, तयोः रामरावणयोः दृष्टिः वत्सला लक्ष्मणेन्द्रजितोर्विषये वात्सल्यपूर्णा । अयमाशयः—लक्ष्मणो युद्धक्रियाकोविदो मेघनादोऽपि तथेति तयोः संग्रामः समस्तथापि परस्परं युद्ध्यमानावपि रामरावणौ केवल युद्धनिर्वाहार्थं बाणान्वर्षतः, परन्तयोर्दृष्टौ नोग्रता, किन्तु वात्सल्यम्, मनसो युद्धाद्विरज्य लक्ष्मणेन्द्रजिद्विषयकशुभानुध्यानसचिन्तत्वाद्दृशश्च मनोगतभावावबोधदर्पणरूपत्वादिति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४१ ॥

अनुरुध्यन्ते = रक्षन्ति । वात्सल्यरक्षार्थं स्वीयान् प्राणानपि संशये पातयन्तीत्याशयः ।

सौमित्रिरिति० अमी रजनिचराः राक्षसाः सौमित्रेः लक्ष्मणस्य बाणवज्रैः वज्रसदृशैः शरैः मर्मवेधम् मर्मणि प्राणापहारकप्रहारे स्थाने वेधो यस्मिन् कर्मणि तत्तथा प्रविद्धाः आहताः अधिकतरं धावन्तः समधिकमितस्ततो भ्रमन्तः (धावन्तः)

लक्ष्मण यद्यपि हस्तलाघव आदि किसी गुणमें न्यून नहीं हैं, मेघनाद भी प्रसिद्ध योद्धा है, इस प्रकार यह बराबरका जोड़ है, फिर भी राम और रावणके केवल बाण ही छूट रहे हैं, (दिल दोनोंके दूसरी जगह हैं) आंखे तो दोनोंकी वात्सल्यपूर्ण हैं ॥ ४१ ॥

चित्ररथ—देवराज ! ऐसा तो चाहिये ही, महात्मा लोग वात्सल्यका इसी प्रकार पालन करते हैं । (आश्चर्य-औत्सुक्यके साथ) देखिये देवराज—

लक्ष्मणके बाणोंसे आहत होकर पर्वतोंके समान बहुतसे राक्षस समराङ्गणमें सो रहे हैं,

रक्षोनाथोऽपि पुत्रान् कतिचन पतितान् वीक्ष्य रामाभियोगं
संत्याज्यानिष्टशङ्की निपतति तरसा मेघनादोपकण्ठम् ॥४२॥

तदेतदत्याहितमाशङ्के ।

वासवः—गन्धर्वराज ! किमत्र नामात्याहितम् । अपरिच्छेद्यमहिमानः किलैते ककुत्स्थकुलप्ररोहाः । तथा हि—

परसहस्रं रजनीचरेन्द्रा यथास्य वीरस्य किलैकलक्ष्यम् ।
तथा रणेष्वद्भुतवीरगोष्ठीभूषायमाणो दशकन्धरोऽपि ॥ ४३ ॥

चित्ररथः—देवराज ! बहुभिरेकस्याभियोगेऽपि शुभोदर्कतेत्येतदबहुव्यक्तिनिष्ठम् । (सचमत्कारम्) इतोऽवधत्तां देवराजः ।

क्ष्माधरेन्द्राः पर्वताः इव रणमूर्ध्नि युद्धस्थले शेरते पतन्ति । रक्षोनाथः रावणः अपि कतिचन कतिपयान् पुत्रान् पतितान् रणभूमौ वीरभावंगतान् वीक्ष्य दृष्ट्वा रामाभियोगम् रामसुद्दिश्याक्रमणम् सन्त्यज्य विहाय अनिष्टशङ्की अमङ्गलमाशंसन् तरसा वेगेन मेघनादोपकण्ठम् मेघनादान्तिकम् निपतति गच्छति । स्पष्टमन्यत् ॥४२॥

अपरिच्छेद्यमहिमानः = अप्रमेयगौरवाः । ककुत्स्थकुलप्ररोहाः = इक्ष्वाकुवंश्याः ।

परस्सहस्रा इति० परस्सहस्राः रजनीचरेन्द्राः राक्षसाः अस्य वीरस्य रामस्य एकलक्ष्यम् एकदैव भेत्तुं शक्यम् यथा, यथाऽयं रामः सहस्राधिकान् राक्षसान्सकृदेवैकेन बाणेन वेद्धुं क्षमः, तथा दशकन्धरः अपि अद्भुतवीरगोष्ठीभूषायमाणः आश्चर्यजनकरणकौशलालङ्कारः । यथा रामो बहून् राक्षसानेकेन लक्ष्येण भिनत्ति तथैवायं रावणोऽपि युद्धविद्यायामद्भुतपराक्रम इति भावः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ४३ ॥

अभियोगे = आक्रमणे । शुभोदर्कता = न कापि क्षतिः । अबहुव्यक्तिनिष्ठम् = सर्वजननिष्ठं न भवति—विरला एवैतादृशा महापुरुषा ये बहुभिर्युद्ध्यमाना अपि अक्षतशरीरा एवावतिष्ठन्त इत्याशयः ।

इधर रावण अपने कतिपय पुत्रोंको मरा देखकर रामपर आक्रमण करना छोड़कर किसी अनिष्टकी आशङ्कासे दौड़कर मेघनादके पास जा रहा है ॥ ४२ ॥

यह बड़ा भयावह होगा ऐसी सम्भावना करता हूँ ।

वासव—गन्धर्वराज ! इसमें भयावहता क्या है ? यह सूर्यवंशीके अङ्कुर बड़े महिमाशाली हैं । क्योंकि—

इधर एक साथ हजारों राक्षस इस महावीरके बाणोंके लक्ष्य हो रहे हैं, उधर रावण भी रणकौशलमें अद्वितीय है ॥ ४३ ॥

चित्ररथ—देवराज ! बहुतोंके साथ एक समय लड़ाई हो और कुछ बिगड़े नहीं, यह बात कम लोगोंमें दीखती है । (चमत्कृत होकर) देवराज ! इधर देखिये—

रक्षोनाथे सरभसमितो निर्गते विग्रहेच्छुः
क्षुभ्यत्युच्चै रघुपतिशरैः कीलितः कुम्भकर्णः ।
कुम्भोऽप्येतां पितुरुपनतां वीक्ष्य वस्थां वपुष्मान्
गर्वः किं वा निपतति जवाज्जङ्गमः क्ष्माधरेन्द्रः ॥४४॥

(साद्भुतम्) अहो छिद्रसंचारिता मर्कटजातेः । यतः—

उद्दिश्याराद्दशरथकुलाङ्कुरमाद्यं पतन्तं
सद्यः कुम्भं मृधभुवि कपिः कोऽपि मध्ये रुरोध ।

(सविशेषं निर्वर्ण्य) कथं सुग्रीव एव । (सविचिकित्सम्)

रक्षोनाथ इति ० रक्षोनाथे रावणे सरभसम् सवेगम् इतः स्थानादस्मात् निर्गते मेघनादोपकण्ठं चलिते विग्रहेच्छुः संग्रामाभिलाषी रघुपतिशरैः राममार्गणैः कीलितः विद्यमानसमस्तगात्रः उच्चैः अत्यर्थम् क्षुभ्यति चलितधैर्यो भवति । कुम्भः कुम्भकर्णपुत्रः अपि पितुः स्वजनकस्य कुम्भकर्णस्य एताम् उपनताम् जाताम् अवस्थाम् विध्यमातसर्वगात्रतारूपाम् वीक्ष्य वपुष्मान् देहधारी गर्वः किंवा जङ्गमः सञ्चारी क्ष्माधरेन्द्रः पर्वतराजः निपतति । रक्षोनाथो यदा वात्सल्येन मेघनादोपकण्ठंगतस्तदा कुम्भकर्णो रामेण शरवर्षैः कीलितः, पितुरिमां दशां वीक्ष्य तत्तनयः कुम्भः शरीरीगर्व इव सञ्चारी पर्वतराज इव वा पितुरन्तिकमुपसीदतीत्याशयः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ४४ ॥

छिद्रसञ्चारिता=रन्ध्रप्रवेशशीलत्वम्, यत्र दौर्बल्यं तत्राक्रमणमिति तात्पर्यार्थः ।

उद्दिश्येति० कोऽपि कपिः वानरः आरात् समीपे आद्यम् ज्येष्ठम् दशरथकुलाङ्कुरम् दशरथवंशप्ररोहम् रामम् उद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य पतन्तम् धावन्तम् कुम्भम् तन्नामकं कुम्भकर्णपुत्रम् मध्ये अन्तरा सद्यः सपदि मृधभुवि रणभूमौ रुरोध न्यवारयत् । अथ

रावणके वेगसे इधर चले आनेपर लड़ता हुआ कुम्भकर्ण कुछ घबड़ा–सा रहा है, उसका पुत्र उसकी इस दशा देखकर शरीरधारी गर्व अथवा जङ्गम पर्वतराजके समान उसके समीप आ रहा है ॥ ४४ ॥

(आश्चर्यके साथ) वानरोंमें छिद्रसञ्चारिता आश्चर्यकी होती है । क्योंकि—

रामको लक्ष्य करके कुम्भ आ रहा था । किसी वानरने उसे बीचमें ही उलझा दिया ।

(ठीकसे देखकर) क्यों सुग्रीव ही तो यह है ? (सन्देहसे)

दोःस्तम्भाभ्यां सरभसमथापीड्य विक्षिप्य भूमौ
क्रान्त्वाप्येनं प्रतिघविवशो माषपेषं पिपेष ॥ ४५ ॥

(साशङ्कम्)

एतन्निरीक्ष्य निपपात च कुम्भकर्णः
सुग्रीवमुग्रतरविद्रुतिरग्रहीच्च ।
उन्मोच्य सोऽपि निपुणः स्वमनुष्य नासां
लज्जां स्वसुश्च युगपत्किल निश्चकर्त ॥ ४६ ॥

वासवः—गन्धर्वराज ! इत इतः ।

लघुरघुपतिरेष राक्षसानामधिभुवि किंच कुमारमेघनादे ।
किमपि चरितमद्भुतं व्यतानीत्सपदि यथा प्रतिघान्धतामधत्त ॥४७॥

रोषात्परतः दोःस्तम्भाभ्यां बाहुदण्डाभ्यां सरभसम् वेगेन एनम् कुम्भम् अपीड्य निर्मथ्य भूमौ विक्षिप्य निपात्य प्रतिघविवशः क्रोधविह्वलः सन् क्रान्त्वा दलयित्वा माषपेषम् माषानिव पिष्ट्वा पिपेष चूर्णयामास । अङ्कुरशब्दस्य द्वयीगतिः-घुरच्प्रत्ययान्तो ह्रस्वोकारवानेकः, खर्जूरादित्वादूरच्प्रत्ययान्तो दीर्घोकारविशिष्टो द्वितीयः, तदिदं वाचस्पत्ये ७० तमे पृष्ठे द्रष्टव्यम् । प्रतिहन्यतेऽनेनेति प्रतिघः क्रोध इति सारावली । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ४५ ॥

एतदिति० कुम्भकर्णः एतत् स्वपुत्रप्रमथनम् निरीक्ष्य निपपात अधावत्, उग्रतरविद्रुतिः श्रेष्ठवेगः सुग्रीवम् अग्रहीत् च । सः सुग्रीवः अपि निपुणः सुचतुरः स्वम् आत्मानम् उन्मोच्य कुम्भकर्णात्त्याजयित्वा अमुष्य कुम्भकर्णस्य नासाम् नासिकाम् स्वसुः भगिन्याः शूर्पणखाया लज्जां च युगपत् सहैव चकर्त्त चिच्छेद । कुम्भकर्णनासाच्छेदो हि शूर्पणखालज्जाच्छेदे पर्यवस्यति यतः प्रथमं केवलं सैव छिन्ननासिकात्वेन लज्जामवहत्, सम्प्रति कुम्भकर्णसदृशस्यापि शूरस्य नासाच्छिन्नेति तस्या नासाच्छेदो न लज्जाजनक इति तात्पर्यम् ॥ ४६ ॥

लघुरघुपतिरिति० एषः लघुरघुपतिः कनीयान् राघवः लक्ष्मणः राक्षसानाम् अधिभुवि स्वामिनि रावणे किञ्च कुमारमेघनादे किमपि अद्भुतम् लोकाश्चर्यकरम्

दोनों स्तम्भाकार भुजोंसे दबाकर जमीनपर गिराकर कुचलकर आंटेकी तरह पीस दिया॥

(भयसे)

यह देखकर कुम्भकर्ण दौड़ा और वेगसे सुग्रीवको पकड़ लिया । सुग्रीवने भी अपनेको उन्मुक्तकर उसकी नाक और उसकी बहन शूर्पणखाकी लज्जापर प्रहार किया ॥

वासव—गन्धर्वराज ! इधर, उधर ।

छोटे राघवने रावण तथा मेघनादपर कुछ ऐसा अद्भुत आक्रमण किया कि वह दोनों क्रोधान्ध हो उठे ॥ ४७ ॥

अहह ! इदमतिदुष्करं प्रतिसंविधानमापतितमस्य रघुशिशोः । तथा हि—

यावन्मन्त्रप्रभावादनधिगतगतीन्मेघनादप्रणुन्ना-
न्दुर्भेद्यान्नागपाशान्विहगपरिवृढास्त्रप्रयोगाद्व्यधूनोत् ।
तावद्रक्षोविनेत्रा पुनरतिरभसं मर्मणि क्रोधभूम्ना
गाढं विद्धः शतघ्न्या हनुमति सहसा मोहनिघ्नो न्यपप्तत् ॥

चित्ररथः—देवराज ! अयमत्राद्भुततरो विमर्दः । यदा तु भ्रातुर्मोह-मधिगम्य भाविलङ्केश्वरादक्रममेव करुणवीरानुभावभावितचित्तवृत्तिस्तथा-

---

चरितं व्यतानीत् चकार, (येन चरितेन) तौ रावणमेघनादौ सपदि सद्यः प्रतिघा न्धताम् क्रोधान्धभावम् अधत्ताम् अधारयताम् । प्रतिघशब्दः क्रोधार्थ इति प्रागुक्तम् । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ४७ ॥

प्रतिसंविधानम् = प्रतिकारविधानम् । रघुशिशोः = लक्ष्मणस्य ।

यावदिति० मन्त्राणां प्रभावात् अनधिगता दुर्बोधा गतिः उपस्थितिर्येषाम् तान् अत्यन्तमतर्कितभावेनागतान् अत एव दुर्भेद्यान् भेत्तुमशक्यान् मेघनादप्रणुण्णान् इन्द्रजित्प्रेरितान् नागपाशान् तदाख्यान्यस्त्राणि विहगपरिवृढास्त्रप्रयोगात् गारुडास्त्र प्रयोगात् यावत् व्यधूनोत् निवारयति तावत् रक्षोविनेत्रा राक्षसराजेन रावणेन पुनः क्रोधभूम्ना क्रोधातिशयेन अतिवेगेन शतघ्न्या तन्नामकास्त्रेण मर्मणि पुरःप्रभृतिमर्म स्थले गाढं विद्धः भृशम् आहतः सहसा तत्क्षणात् मोहनिघ्नः मोहंगतः हनुमति हनुमदङ्के न्यपप्तत् निपतितः । मेघनादेन प्रयुक्तं दुरवगमप्रवेशं च नागपाशं यावद्गा रुडास्त्रेण निवारयति लक्ष्मणस्तावदेव राक्षसराजः शतघ्न्या तमाहन् येनाघातेन मूर्च्छामापद्य लक्ष्मणो निकटस्थितस्य हनुमतोऽङ्के पतित इत्यर्थः। स्रग्धरावृत्तम् ॥४८

अद्भुततरः = अत्याश्चर्यकरः, विमर्दः = सम्प्रहारः । भाविलङ्केश्वरात् = विभीष णात् । भ्रातुर्मोहम् = लक्ष्मणस्य मोहावस्थाम् । अक्रममेव = युगपदेव । करुणवीरा नुभावभावितचित्तवृत्तिः = करुणस्यानुभावैः दैवनिन्दादिभिः वीरस्यानुभावैः सहाया

अहा ! यह बड़ी कठिन समस्या लक्ष्मणके सामने आ पड़ी है—

जबतक मन्त्रप्रभावसे अदृश्यगति मेघनादयुक्त नागपाशास्त्रको गारुड़ अस्त्रके प्रयोगसे लक्ष्मण दूर करें तबतक क्रोधान्ध रावणने उनके ऊपर शतघ्नीका प्रहार कर दिया है जिससे मूर्च्छित होकर वह हनुमान्‌की गोदमें गिर गये हैं ॥ ४८ ॥

चित्ररथ—देवराज ! यहाँ यह अति अद्भुत युद्ध हो रहा है, जब रामने सुग्रीवसे लक्ष्मणको मूर्च्छित सुना, तब उनके हृदयमें एक साथ वीर और करुणरसके अनुभवोंसे

विधस्यापि दर्शनोत्सुकः समवारुध्यत परितः कुम्भकर्णप्रमुखया रक्षःपृतनया, तदा पुनरिदमेव प्रत्यकार्षीत्। तथा हि—

पुरां जेता पूर्वं त्रिपुरविजये यामुदवह-
त्स्थितिं तामेवायं रघुपतिवृषाश्रित्य वपुषा।
क्षणाद्रक्षोनाथानुजमिषुभिराच्छिद्य कणशः
श्चमूं भस्मीकृत्याप्यनुजमभियात्युत्सुकतमः॥ ४९॥

(निर्वर्ण्य) अहो वात्सल्यमहिमा रघुपुंगवस्य। येन पुनर्विषयीकृतमात्रामेवानुजस्यावस्थामभिजानाति स्म। (परितो निरूप्य। सहर्षम्) दिष्ट्या स्वस्ति रघुकुलकुमाराभ्यामेताभ्यामुत्पश्यामि। यतस्तावदेतयोरस्मिन् व्यस-

न्वेषणादिभिश्च भाविता युक्ता चित्तवृत्तिः मनोदशा यस्य तथोक्तः, दैवनिन्दादिना सहायान्वेषणादिना च क्षुभ्यमानहृदयः। तथाविधस्य = मूर्च्छितस्य। समवारुध्यत = आवृतः। कुम्भकर्णप्रमुखया = कुम्भकर्णप्रधानया। रक्षःपृतनया = राक्षससेनया। प्रत्यकार्षीत् = प्रतिकारमकार्षीत्।

पुरामिति० पूर्वम् पुराकाले त्रिपुरविजये त्रिपुरासुरनाशकाले पुरां जेता शिवः यां स्थितिम् दशाम् उदवहत् धारयामास अयं रघुपतिवृषा राघवेन्द्रः वपुषा देहेन तामेव स्थितिम् आश्रित्य क्षणात् इषुभिः शरैः रक्षोनाथानुजम् कुम्भकर्णम् कणशः सर्वतोभावेन आच्छाद्य आवृत्य चमूम् सेनाम् अपि भस्मीकृत्य विनाश्य उत्सुकतमः मूर्च्छितभ्रातृदर्शनायात्युत्कण्ठितः सन् अनुजम् लक्ष्मणम् अभियाति अभिगच्छति। त्रिपुरविजयकालिकहरवत् भीषणो भूत्वा कुम्भकर्णं बाणैः परिवार्य समग्रामपि सेनां च विनाश्य लक्ष्मणमुपसीदतीत्यर्थः। शिखरिणीवृत्तम्॥ ४९॥

वात्सल्यमहिमा = स्नेहप्रभावः। विषयीकृतमात्राम् = जातमात्राम्, अचिरोद्भूताम्। अभिजानाति = वेत्ति, स्नेहप्रभावेण तस्य स्थितिमात्मनीव जातमात्रां वेत्तीत्याशयः। स्वस्ति = कल्याणम्। उत्पश्यामि = तर्कयामि। व्यसनमहार्णवे =

उनका हृदय भर आया और वह लक्ष्मणको उसी स्थितिमें देखने चले, मार्गमें उन्हे कुम्भकर्ण प्रभृति राक्षसोंकी सेनाने घेर लिया, फिर उन्होंने यही तो किया—

जैसी त्रिपुरविजयकालमें शिवजीकी स्थिति थी उसी स्थितिको रामजी अपनी देहमें आश्रितकर क्षणभरमें कुम्भकर्णको बाणोंसे आवृत करके सेनाको भस्मसात् कर अपने अनुजको देखने चले जा रहे हैं॥ ४९॥

(देखकर) धन्य है इनका वात्सल्य! इनको लक्ष्मणकी मूर्च्छाका ज्ञान तत्काल ही हो गया। (चारों ओर देखकर-हर्षसे) दोनों रघुकुलकुमारोंका कल्याण ही देखता हूं। रावण

नमहार्णवे यातुधानाधीशेनापि सपरिवारेण कुम्भकर्णवधात्संभ्रान्तम्। (पुनरेतौ निर्वर्ण्य) कथमद्यापि प्रमुग्धावेव। विषमो ध्यानव्यतिकरस्तावदापतितः। यतः—

बहुच्छलानि रक्षांसि रिपवस्त्ववशः स्वयम्।
एषावस्थापि कपयः सहायास्तेऽपि विक्लवाः॥ ५०॥

तत्किमुपक्रमं दैवमत्रेति न जाने।

वासवः—गन्धर्वराज! किमेवमाशङ्कसे। पश्य। जीवत्प्रतिबोधितः किलायमचिन्त्यमहिम्नां प्रथमः प्राभञ्जनिः। संप्रति—

दुःखसागरे। यातुधानाधीशेन = रावणेन। सम्भ्रान्तम् = खेदाच्चलितम्, अन्यथा तस्मिन्सुस्थे किमप्यनर्थान्तरमप्यापतेदिति भावः। प्रमुग्धौ = मूर्च्छितौ। विषमो ध्यानव्यतिकरः = दारुणश्चिन्तायाः सम्बन्धः। आपतितः = उपस्थितः॥

बहुच्छलानीति० बहुच्छलानि नानाविधमायाप्रयोगचतुराणि रक्षांसि राक्षसाः रिपवः शत्रवः, स्वयम् अवशः मूर्च्छांगतः, अवस्था अपि दशाऽपि एषा भीषणा, कपयः वानराः सहायाः, तेऽपि वानराः विक्लवाः रामलक्ष्मणयोर्मूर्च्छां दृष्ट्वा किङ्कर्त्तव्यविमूढा इत्यर्थः। अतश्चिन्तास्थलमिति भावः॥ ५०॥

किमुपक्रमम् = किं विधातुकामम्। दैवम् = भाग्यम्। विषमायामस्यां स्थितौ दैवं किं चिकीर्षतीति न वेद्मीत्याशयः।

एवमाशङ्कसे = इत्थम् सम्भावयसि। जीवत्प्रतिबोधितः = जीवँश्चासौ प्रतिबोधितः। हनूमान् जीवति वृत्तमिदं लक्ष्मणमूर्च्छारूपं प्रतिबोधितः सूचितश्च, तदाऽत्रानिष्टं नाशङ्कनीयं तस्यासाध्यसाधनप्रसिद्धत्वादित्यर्थः। अचिन्त्यमहिम्नाम् = अप्रमेयप्रभावाणाम्, प्रथमः = आद्यः अग्रणीरिति यावत्। प्राभञ्जनिः = प्रभञ्जनस्य वायोरपत्यं प्राभञ्जनिः हनुमान्।

भी इनकी मूर्च्छाके समयमें कुम्भकर्णके मारे जानेसे घबड़ा उठा था। (फिर इन्हें देखकर) क्यों अबतक मूर्च्छित ही हैं? बड़ी चिन्ताकी बात है। क्योंकि—

राक्षस बड़े मायावी हैं, स्वयं मूर्च्छित हैं, यह अवस्था है, सहायक हैं वानर, उनकी दशा अच्छी नहीं वे भी विह्वल ही हैं॥ ५०॥

न जाने भाग्य क्या करनेको है?—

वासव—गन्धर्वराज! आप क्यों इस तरह चिन्तित हैं? देखिये, हनुमान्‌जीको संजीवनौषधि लानेके लिये कहा गया है, अभी—

उत्स्फूर्जद्रोमकूपः प्रलयपरिमिलत्पांशुवर्षानुकारी
किंचिद्भुग्नाग्रपुच्छाप्रतिमविचलनापास्तनक्षत्रचक्रः।
भूम्नौत्सुक्यानुरूपव्यवसितिरधिकं पर्यवप्लुत्य गत्वा
क्वापि प्राज्ञः क्षणार्धात्कमपि गिरिमसावाहरन्नाजगाम ॥५१॥

चित्ररथः—(विभाव्य । सोल्लासम्) देवराज ! पश्य—

यथा चन्द्रालोकं कुमुदनिवहश्चुम्बकमणिं
दृषत्सारस्तत्त्वामृतमपि भवाम्भोनिधिगतः।
तथा संभाव्यैतौ हनुमदुपनीताद्रिमरुतं
झटित्युज्जृम्भेते किमपि गहनो वस्तुमहिमा ॥ ५२ ॥

उत्स्फूर्जदिति० उत्स्फूर्जद्रोमकूपः रोमाञ्चितदेहः प्रलयपरिमिलत्पांशुवर्षानुकारी प्रलये कल्पावसानसमये परिमिलताम् अन्योन्यं संगच्छमानानाम् पांशूवर्षाणाम् धूलिवृष्टीनाम् अनुकारी सदृशः, (आकाशात् पततः पिङ्गवर्णस्य हनूमतो रजोवृष्टि-साम्यम्–आकाशात्पतनेन प्रलयकालोदीर्णानलकृतपिङ्गभावेन च रजसोवृष्टेः) किञ्चि-द्भुग्नम् ईषत्कुटिलम् यदग्रपुच्छम् पुच्छाग्रभागस्तस्य अप्रतिमविचलनात् असाधा-रणसञ्चारात् अपास्तनक्षत्रचक्रः क्षिप्तग्रहगणः, भूम्ना बहुतरम् औत्सुक्यानुरूपव्यव-सितिः उत्कण्ठानुकूलव्यवसायः प्राज्ञः बुद्धिमान् हनूमान् अधिकं पर्यवप्लुत्य उत्प्लुत्य क्वापि गत्वा क्षणार्धात् कमपि गिरिम् पर्वतम् आहरन् नयन् आजगाम आयातः। जाम्बवदादिभिरौषधहरणार्थमुक्तो हनुमान् रात्रौ तत्र पर्वते ओषधिं परिचेतुमपारयन् पर्वतमेवाजहारेति कथात्र स्मर्त्तव्या । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५१ ॥

यथेति० कुमुदनिवहः कुमुदपुष्पचयः चन्द्रालोकम् इन्दुप्रकाशम्, दृषत्सारः लौहधातुः चुम्बकमणिम् अयस्कान्तम्, भवाम्भोनिधिगतः संसारसमुद्रपतितः तत्त्वा-मृतम् तत्त्वज्ञानरूपममृतम् यथा, तथा एतौ रामलक्ष्मणौ हनूमता उपनीतस्य आनीतस्य अद्रेः गन्धमादनस्य द्रोणाद्रेर्वा मरुतम् वायुम् सम्भाव्य निषेव्य उज्जृम्भेते विकासम्–प्रबोधम्–गच्छतः। यथा चन्द्रभासा कुमुदकुलप्रबोधः यथा च चुम्बक-

रोंगटे खड़े हो रहे हैं, प्रलयकालके समान धूलिवृष्टि उससे गिर रही है, टेढ़ी पूँछसे टकरा जानेके कारण नक्षत्रमण्डल झटका गया है, औत्सुक्यानुसार व्यापार करके कूदकर जाकर एक ही क्षणमें पर्वत लिये हनुमान् आ रहे हैं ॥ ५१ ॥

चित्ररथ—(देखकर, प्रसन्नतासे) देवराज ! देखिये—

चन्द्रमा किरणोंसे कुमुदसमूहकी तरह, चुम्बकको पाकर लौहकी तरह अध्यात्मज्ञानको प्राप्तकर संसार भाराकुल जनकी तरह हनुमान् द्वारा लाये गये पर्वतकी हवाको पाकर प्रफुल्लित हो रहे हैं, वस्तुतः किसी किसी पदार्थकी महिमाविचित्र होती है ॥ ५२ ॥

(दक्षिणतो विभाव्य) कथमेष लङ्केश्वरः । कल्पावसाननिर्मर्यादं पाथ इव पाथोनाथस्य राक्षसबलमाकर्षन्पुनरभ्यमित्रमेति । (विमृश्य) संप्रति तु धर्मयुद्धसंभावनाप्रतिहतबहुतरप्रधानव्यक्तिरावणमेघनादशेषमेतद्राक्षस-बलमेताभ्यामवगणितमित्येतावप्युभौ न गणयन्ते परःसहस्रमप्यस्त्रप-कीटाः । (पुनर्लक्ष्मणं निर्वर्ण्य) एवं तु—

शाणोत्कीर्णो मणिरिव घनाम्भोदमुक्तो विवस्वा-
न्निःकोशोऽसिर्झटिति विगलत्कञ्चुकः पन्नगेन्द्रः ।

मणिना लौहस्य धातोराकर्षणरूपः प्रबोधः, यथा वा भवसागरनिमग्नानां तत्त्वज्ञानेन मोक्षरूपः प्रबोधो जायते तद्वद्धनुमदानीतस्य द्रोणाद्रेः रोषधिगन्धसमृद्धं वायुं निषेव्य रामलक्ष्मणौ मूर्च्छां विहाय प्रबुबुधाते इत्याशयः । तत्समर्थनायाह—किमपीति० वस्तुमहिमा पदार्थप्रभावः किमपि गहनः दुर्बोधः । मालोपमाऽर्थान्तरन्यासश्चालङ्कारौ॥

कल्पावसाननिर्मर्यादम् = प्रलयकाल उद्वेलम् । पाथोनाथस्य=समुद्रस्य । पाथः= जलम् । राक्षसबलम् = रक्षःसैन्यम् । आकर्षन् = नयन् । अभ्यमित्रम् = शत्रून्प्रति । एति = गच्छति ।

धर्मयुद्धसम्भावनाप्रतिहतबहुतरव्यक्ति = तुल्येन जनेन तुल्येनास्त्रादिना यद्युद्धं तद्धर्मयुद्धम्, तस्य सम्भावनया निवारितेतरप्रधानलोकम् । एताभ्याम् = रामलक्ष्म-णाभ्याम् । अवगणितम् = ज्ञातम् । एतौ = रामलक्ष्मणौ अस्त्रपकीटाः=क्षुद्रराक्षसाः । यथाऽऽभ्यां केवलं रावणो मेघनादश्चेति द्वावेव युद्धयोग्यौ ज्ञातौ तथा क्षुद्रा राक्षसा अपि रामलक्ष्मणौ स्वयुद्धयोग्यौ न मन्यन्ते किन्तु रावणमेघनादयुद्धयोग्यावेव मन्यन्त इत्याशयः ।

शाणोत्कीर्ण इति० लघुः कनिष्ठो रघुपतिः लक्ष्मणः शाणोत्कीर्णः शाणोल्लीढः मणिः रत्नमिव, घनात् सान्द्रात् अम्भोदात् मेघात् मुक्तः बहिर्भूतः विवस्वान् सूर्यः इव, निष्कोशः कोशान्निर्गतः असिः खड्ग इव, विगलत्कञ्चुकः विश्लिष्यद्गात्रत्वक् पन्नगेन्द्रः

(दक्खिन ओर देखकर) क्या यह रावण है ? यह प्रलयकालिक समुद्रकी जलराशिकी तरह राक्षसी सेनाको लिये इधर हीं अपने शत्रुओंकी ओर आ रहा है। (विचारकर) अब धर्मयुद्धकी अधिक सम्भावना है, इसलिये इन लोगोंने प्रधान-प्रधान राक्षसोंको साथमें भी नहीं लिया है, और इसलिये कुछ राक्षस इनकी चिन्ता भी नहीं कर रहे हैं। (फिर लक्ष्मणको देखकर) ऐसे तो—

सानपर चढ़ाये गये मणिकी तरह मेघयुक्त सूर्यकी तरह म्यानसे निकली तलवारकी

दीव्यत्युच्चैर्लघुरघुपतिः किंनु वा स्यात्किमन्य-
द्दिव्यौषध्या जयति महिमा कोऽप्यचिन्त्यानुभावः ॥ ५३ ॥

(निरूप्य) कथं प्रक्रान्तमेव कपिराक्षसनासीरचरयोर्भटयोः पुनरायोधनम् । तथा हि—

शितैर्बाणैरेके मृधभुवि परे तीक्ष्णनखरैः
क्रियासातत्येनाप्यहमहमिकाक्रान्तमनसः ।
मिथो विध्यन्ति स्म प्रबलतमसंमर्दविदल-
त्क्षितिक्षोदैः पिष्टातकसुरभिवक्षस्तटभृतः ॥ ५४ ॥

सर्पराज इव, उच्चैर्दीव्यति समधिकतरं शोभते । किंनु वा स्यात् ? दिव्यौषधिः किंनु कुर्यात् ? किमन्यत् ? अन्यत् किं वक्तव्यम् ? अचिन्त्यानुभावः अप्रमेयप्रभावः कोऽपि दिव्यौषध्याः महिमा जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । अयं दिव्यौषध्या एव प्रभावो यल्लक्ष्मणः शस्त्रक्षतव्यथां विधूय नवीकृतगात्रश्च भूत्वा शाणोल्लीढो मणिरिव मेघमुक्तो भास्कर इव कोशनिर्गतोऽसिरिव त्वचं त्यक्तवान्पन्नग इव चाधिकं दीप्यत इत्याशयः । अर्थान्तरन्याससहिता मालोपमाऽलङ्कारः । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ५३ ॥

प्रक्रान्तम् = प्रारब्धम् । ···नासीरचयोः= ···अग्रभागस्थितयोः । भटयोः=वीरयोः । आयोधनम् = युद्धम् ।

शितैर्बाणैरिति० क्रियासातत्येन रणरूपव्यापारस्य नैरन्तर्येण अपि अहमहमिकया परस्परस्पर्द्धया आक्रान्तानि भृतानि मनांसि येषाम् ते तथोक्ताः, प्रबलतमेन अतिप्रबलेन सम्मर्देन युद्धार्थास्फालनेन विदलन्ती विदीर्यमाणा या क्षितिः पृथ्वी तस्याः क्षोदः चूर्णम् तदेव पिष्टातकम् चूर्णीकृतगन्धद्रव्यभेदः तेन सुरभीणि सगन्धानि वक्षस्तटानि उरःस्थलानि येषां ते तथोक्ताः एके भटाः वीराः राक्षसाः शितैः तीक्ष्णैः बाणैः परे वानराः तीक्ष्णनखरैः मृधभुवि युद्धक्षेत्रे परस्परं विध्यन्ति स्म । यद्यपि यु सतत-प्रवृत्तं तथापि वीराः प्रथममहं प्रथममहमित्येवं स्पर्द्धन्ते, प्रबलविमर्देन क्षितिं चूर्णयन्ति, तदुत्थं च रजः पिष्टातकमिव तदुरांसि सुगन्धीकरोति ते चान्योन्यं बाणैर्नखरैश्च युध्यन्त इत्याशयः ॥ ५४ ॥

तरह त्वचायुक्त सर्पकी तरह छोटे राघव इस समय चमक रहे हैं, क्यों न हो ? दिव्यौषधिका ऐसा ही अचिन्तनीय प्रभाव है ॥ ५३ ॥

(देखकर) फिर वानर राक्षस दोनों ओरकी आगेवाली सेनाओंका युद्ध छिड़ गया ।

कोई तीक्ष्ण बाणोंसे, कोई तेज नखोंसे, एक साथ बारबार प्रहार कर रहे हैं, दोनों ओर स्पर्द्धा जगी हुई है, घनघोर लड़ाईसे पृथ्वी रौंदी जारही है और उसकी धूल सभी योद्धाओंकी छातीसे लिपटी हुई है ॥ ५४ ॥

(सविशेषं निश्चित्य) तावदन्तरमनयोर्बलयोरधिगम्यमानं प्रातःसंध्यायां यावदन्धतमसारुणालोकयोः । तथा हि—

प्रतिक्षणमियं रक्षःपृतना क्षीयतेतराम् ।
यथा तथा प्लवङ्गानामनन्तगुणतैधते ॥ ५५ ॥

वासवः—गन्धर्वराज ! पुनरितो महत्कदनमुपक्रान्तम् ।

रक्षोनाथो रघूणां त्वरितमधिभुवा रावणिर्लक्ष्मणेन
द्वन्द्वीभूय प्रहृष्यद्भुजबलमहिमाविष्कृतेष्वासशिक्षौ ।
दिव्यास्त्राणां प्रयोगप्रतिकृतिमुचितां चाप्नुवानौ मिथोऽमू
मूर्च्छत्कल्पावसानज्वलनपरिभवं सैन्ययोः पर्यदाताम् ॥५६॥

अन्तरम् = भेदः । अनयोर्बलयोः = राक्षसवानरसैन्ययोः । प्रातःसन्ध्यायाम् = प्रभाते । अन्धतमसारुणालोकयोः=अन्धकारप्रकाशयोः । अत्र यथासङ्ख्यं विवक्षितम्, यथा प्रभाते तमःक्रमशः क्षयोन्मुखं प्रकाशश्च वृद्ध्यभिमुखस्तद्वद्राक्षससैन्यं क्षयाभिमुखं वानरसैन्यं च वृद्ध्यभिमुखम्, इत्याशयः ।

प्रतिक्षणमिति० इयं रक्षःपृतना राक्षससेना यथा प्रतिक्षणम् क्षणे क्षणे क्षीयतेतराम् अत्यन्तम् ह्रस्यति, तथा प्लवङ्गानाम् वानराणाम् अनन्तगुणता अधिकसंख्यता एधते वर्धते, यथा राक्षसाः क्षीयन्ते तथा वानरी सेना वर्द्धत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

कदनम् = अन्योऽन्यसंहारः । उपक्रान्तम् = प्रारब्धम् ।

रक्षोनाथ इति० त्वरितम् शीघ्रम् रक्षोनाथः रावणः रघूणामधिभुवा स्वामिना रामचन्द्रेण, रावणिः मेघनादः च लक्ष्मणेन द्वन्द्वीभूय योद्धुं सङ्गतौ भूत्वा प्रहृष्यतां प्रसन्नतां गच्छतां भुजबलानां बाहुपराक्रमाणां महिम्नाऽऽविष्कृता प्रकाशिता इष्वासशिक्षा धनुर्विद्या याभ्यां तथाभूतौ, उचिताम् अनुरूपाम् दिव्यास्त्राणाम् नागपाशादीनाम् प्रयोगस्य प्रतिकृतम् प्रतिकारम् आप्नुवानौ कुर्वन्तौ च मूर्च्छतः समृद्धस्य कल्पावसानज्वलनस्य प्रलयकालिकवह्नेः परिभवं नाशम् सैन्ययोः पर्यदाताम् समु-

(सावधानीसे देखकर) इन दोनों सेनाओंमें अन्तर वही है जो प्रातःकालिक सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशोंमें ।

राक्षससेना प्रतिक्षण घट रही है और वानरोंकी सेना अनन्त गुण होती जा रही है ॥

वासव—गन्धर्वराज ! फिरसे इधर भयङ्कर संहार जारी हो गया ।

रावण रामसे और मेघनाद लक्ष्मणसे लड़ रहे हैं, दोनों जोड़े अपने बाहुबल अस्त्रविद्याकी पराकाष्ठा प्रकट कर रहे हैं, दोनों दोनों पर दिव्यास्त्रका प्रयोग करते हैं जिससे प्रलयकालिक आगकी ज्वालाका अनुभव सकलसैन्यको हो रहा है ॥ ५६ ॥

चित्ररथः—देवराज ! दुरवरोधोऽयमनयोर्महावीरयोर्मिथो विमर्दः । तथा हि—

क्ष्वेडाभिः ककुभः पृषत्कनिकरैर्व्योम द्विधा खण्डितै-
र्देहैर्विद्विषतां धरातलमपि प्रच्छादयन्तौ चिरम् ।
कुर्वातेऽश्रुजलाविलेक्षणपथान्येतावकाण्डोच्चर-
द्रोमाञ्चानि सवेपथून्यपि मुहुर्वर्ष्माणि नः पश्यताम् ॥ ५७ ॥

(सविशेषं विभाव्य) कथं प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलभ्यमानमेकमेव वस्तु विप्रकृष्टान्तरं संपद्यते । तथा हि—

परस्थापितवन्तौ । रामो रावणेन लक्ष्मणश्चेन्द्रजिता युद्धं प्रारभेताम्, तद्युग्मद्वयमजायत, तदेवं द्वौ गणौ तौ बाहुबलगरिम्णा धनुर्विद्याप्रागल्भ्यं प्रकटय्य परस्परं दिव्यास्त्राण्यपि प्रायुञ्जाताम्, तत्संहारश्चात्मरक्षार्थमकुरुतामेवं वर्द्धमानकालानल इव रणे सैन्ययोर्विनाशं व्यदधातामित्यर्थः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५६ ॥

दुरवरोधः = रोद्धुमशक्यः, अनयोः = रामरावणयोः । मिथोविमर्दः=परस्परयुद्धम् ।

क्ष्वेडाभिरिति० एतौ रामरावणौ लक्ष्मणेन्द्रजितौ च क्ष्वेडाभिः उच्चैर्गर्जनैः दिशः, पृषत्कनिकरैः शरसमूहैः व्योम आकाशम्, विद्विषताम् शत्रूणां खण्डितैः देहैः रुण्डैः धरातलम् पृथिवीम् अपि प्रच्छादयन्तौ आवृण्वन्तौ पश्यताम् दर्शकानाम् नः अस्माकं वर्ष्माणि देहान् अश्रुजलाविलेक्षणानि अश्रुपूर्णनयनानि, अकाण्डोच्चरद्रोमाञ्चानि असमयाविर्भवद्रोमहर्षाणि तथा सवेपथूनि सकम्पान्यपि मुहुर्मुहुः कुर्वाते विधत्तः । अयमाशयः—रामरावणौ लक्ष्मणमेघनादौ च गर्जनैर्दिशः शरैराकाशं शत्रुरुण्डैश्च धरातलं प्रच्छादयन्तौ दर्शकभावेन स्थितानामस्माकं नयने अश्रुभिः देहं च कम्पेन रोमाञ्चेन च योजयतस्तदिदमद्भुतं युद्धमिति । 'कुर्वातेऽश्रु' इत्यत्र प्रकृतिभावाभावश्च्युतसंस्कारता ॥ ५७ ॥

उपलभ्यमानम् = ज्ञायमानम् । विप्रकृष्टान्तरम् = अतिभिन्नम् । रावणेन रामस्य युद्धे यदि रामस्य वीर्यं दशगुणं प्रत्यक्षीकरोमि, तदा राक्षसरुण्डैः शतगुणत्वं तस्यानुमाप्यते, तदेवमेकमेव रामवीर्यं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां द्विधा प्रमापितमित्यर्थः ।

चित्ररथ—देवराज ! इन योद्धाओंकी लड़ाई नहीं रोकी जा सकती है । क्योंकि—

यह लोग गर्जनसे दिशाओंको बाणोंसे व्योमको खण्डित देहोंसे पृथ्वीको भर रहे हैं और हम देखनेवालोंकी आंखोंको आँसूसे तथा देहको रोमाञ्चसे भर रहे हैं ॥ ५७ ॥

(विशेष विचारकर) प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे जानी गई एक ही वस्तु बहुत अन्तर रखने लगती है ।

अस्माद्रावणवृत्ताद्राघववृत्तं तु दशगुणं वीक्षे ।
अनुमन्येऽनन्तगुणं पार्श्वपतत्कौणपेन्द्रविनिपातैः ॥ ५८ ॥

(परितो निरूप्य । सकुतुकाश्चर्यम्)

यावन्तो रजनीचराः प्रहरणोद्घूर्णद्भुजाकेतवो
युध्यन्तेऽभिमुखाः स्फुरद्भुजमदाध्माताः पुरो निर्गताः ।
प्रक्षिप्ताशुगजालपक्षपवनाधूते प्रतापानले
चित्रं दाशरथेः क्षणाच्छलभतां यान्ति स्म सर्वेऽपि ते ॥५९॥

(सविमर्शम्) एवं किलेयं पाञ्चभौतिकी सृष्टिः ।

अस्मादिति० राघववृत्तम् रामचरित्रम् रावणवृत्तात् हेतुभूतात् दशगुणं वीक्षे प्रत्यक्षयामि पार्श्वपतत् कौणपेन्द्रविनिपातैः समीपशयानराक्षसमृत्युभिस्तु अनन्तगुणमनुमन्ये अनुमानेन सम्भावयामि । अत्रानुमन्ये इत्यवाचकम्, अनुपूर्वस्य मन्यतेरनुज्ञानार्थतयाऽनुमानरूपार्थेऽवृत्तेः । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ५८ ॥

यावन्त इति० यावन्तः रजनीचराः राक्षसाः प्रहरणोद्घूर्णद्भुजाकेतवः शस्त्रप्रहाराय सञ्चरद्बाहुध्वजाः स्फुरद्भुजमदाध्माताः वर्द्धमानबाहुबलगर्वपूर्णाः पुरो निर्गताः प्रकाशे समागत्य युध्यन्ते संग्रामं कुर्वते, ते सर्वेऽपि प्रक्षिप्ताशुगजालपक्षपवनाधूते विसृष्टबाणसमुदयपक्षवातवीजिते दाशरथेः रामस्य प्रतापानले पराक्रमवह्नौ क्षणात् शलभतां यान्ति दह्यन्ते आश्चर्यमिदम् । यावन्तो राक्षसा अस्त्रप्रहारं कुर्वन्तो गर्वोद्धताश्च बहिरेत्य युध्यन्ते सर्वेऽपि ते रामपराक्रमाग्नौ बाणपक्षपवनवीजनसमिद्धे क्षणाच्छलभतां यान्तीत्याश्चर्यमित्यर्थः ५९ ॥

पाञ्चभौतिकी = क्षित्यादिपञ्चभूतकृता । एवंकिल = सद्यो नाश्या । अनित्येत्यर्थः ।

रावणकी स्थितिसे रामकी स्थिति देखने में दशगुनी है, किन्तु समीपमें गिरनेवाले राक्षसोंके रुण्डोंसे अनुमान करनेपर वह सौगुनी प्रतीत होती है ॥ ५८ ॥

(चारों ओर देखकर, कौतुक और आश्चर्यसे)

जितने राक्षस हाथोंमें अस्त्रोंको घुमाते हुए गर्वके साथ सामने आकर रामसे लड़ते थे वे सभी रामके प्रतापाग्निमें शलभ बन गये, वह प्रतापाग्नि बाणकी वायुसे फूंकी गई है ॥ ५९ ॥
(विचारकर) यही इस पाञ्चभौतिक सृष्टिका नियम है ।

त्रैलोक्यमप्यपर्याप्तं रक्षसां स्थातुमप्यदः ।
येषां ते केवलं भूमौ विलिल्युः पञ्चतां गताः ॥ ६० ॥

वासवः—गन्धर्वराज ! पश्य विस्मयनीयविप्रलम्भौ किलामू राम-लक्ष्मणौ । यतः—

एताभ्यां राघवाभ्यां सकुतुकमिषुभिश्छिद्यमानेषु मूर्ध-
स्वेकस्यैकोऽप्यनन्तः किमु सरसगुणो वर्णनीयोऽपरस्य ।
एतत्संपश्यतोरप्यतिचिरमनयोः कोऽप्यचिन्त्यः प्रभावो
यत्रोत्साहो न धैर्यं विरमति न शिरश्छेदतः पत्रिणोऽपि ॥ ६१ ॥

(नेपथ्ये)

त्रैलोक्यमिति० **अदः त्रैलोक्यम् त्रिभुवनम् अपि येषां रक्षसाम् स्थातुमपि (न तु शयनासनादौ) अपर्याप्तम् अप्रभूतम्, ते पञ्चतां गताः मृताः केवलम् एकस्यां भूमौ क्षितौ एव विलिल्युः ये जीवन्तो राक्षसाः केवलं दण्डायमानभावेन स्थातुमपि पञ्च-भूतेषु नार्हा आसन् अधुना मृतानां तेषां क्षितावेव केवलायां लय इति भावः ॥६०॥**

विस्मयनीयविप्रलम्भौ = आश्चर्यजनकवञ्च्यमानभावौ । आश्चर्यरूपेण रामलक्ष्म-णावपि वञ्च्येते इत्यर्थः ।

एताभ्यामिति० **एताभ्याम् राघवाभ्याम् रामलक्ष्मणाभ्याम् सकुतुकम् साश्चर्यम् इषुभिः बाणैः मूर्धसु शिरस्सु छाद्यमानेषु आम्रियमाणेषु एकैकोऽपि रावणस्यैकोऽपि मूर्धा अनन्तः भवति, अपरस्य मेघनादस्य सरसगुणः उत्साहातिशयः किं वर्णनीयः वर्णनातीत इत्यर्थः । एतत्–एकस्य मूर्ध्नं अनन्तत्वम्, अपरस्योत्साहातिशयश्च–सम्पश्यतोः वीक्ष-माणयोः अपि अनयो राघवयोः अतिचिरम् चिरस्थायी अचिन्त्यः बुद्ध्यगोचरः कोपि प्रभावः, यत्र प्रभावे सति उत्साहः धैर्यात् पुनः पुनर्बाणप्रयोगरूपात् न विरमति न निवर्तते, पतत्रिणो बाणा अपि शिरश्छेदतो न विरमन्ति । शिरसां छिन्नप्ररोहितया नैराश्यस्थाने उत्साहातिशयेन च रावणमेघनादयोर्यद्यपि धैर्यं च्यवेतेत्येव स्वाभाविकं परन्तु प्रभावातिशयोऽपमनयोर्यत्रोत्साहो न हीयत इति सारांशः ॥ स्रग्धरावृत्तम् ॥**

जिन राक्षसोंके रहनेके लिये त्रिलोक पर्याप्त नहीं था, वे सभी मरकर यहीं लीन हो गये हैं ॥ ६० ॥

वासव—गन्धर्वराज ! देखिये, आश्चर्यजनक रीतिसे राम और लक्ष्मण ठगे जा रहे हैं ।

राम और लक्ष्मण अपने बाणोंसे रावण और मेघनादके शिरोंको आच्छादित कर काटते हैं और फिर वह शिर अनन्त होकर प्रकट हो जाता है । यह देखकर भी अचिन्त्य प्रभावके कारण न इनका धैर्य निवृत होता है और न इनके बाण ही शिरच्छेदन व्यापारसे निवृत्त होते हैं ॥ ६१ ॥

(नेपथ्यमें)

भो भो रामभद्र ! किमद्याप्युपेक्षसे दुर्वृत्तमेनम् । कथं वैकक्रियासाध्यमेतावन्तमर्थम् । अवधत्स्व तावत् ।

भवान्सीतां लोकस्त्रिभुवनगतः प्रीतिमुचितां
कनीयान्पौलस्त्यः पुरममरतां स्वां पुनरयम् ।
किमत्रान्यत्साक्षात्कृतपरमतत्त्वो मुनिगणः
प्रसादप्रोन्मीलन्मुदि मनसि शान्ति च लभताम् ॥ ६२ ॥

चित्ररथः—(निशम्य) कथमेष दिव्यर्षिगणोऽप्येतयोर्वधाय राघवौ त्वरयति । अथवा दुष्टप्रशान्तिः कस्य न मनःप्रीत्यै । (ससंभ्रमाद्भुतौत्सुक्यम्) देवराज ! पश्य—

आभ्यां ब्रह्माच्युतास्त्रस्मरणसुरभिभिर्मार्गणै राघवाभ्यां
मूर्धानौ चिच्छिदाते रजनिचरपते रावणेश्च क्रमेण ।

उपेक्षसे = प्राणितुमवसरं ददासि । दुर्वृत्तमेनम् = दुराचारं रावणम् । एकक्रियासाध्यम् = एकव्यापारसम्पाद्यम् । एतावन्तमर्थम् = रावणवधरूपम् । उपेक्षस इति योजनीयम् ।

भवानिति० भवान् सीताम्, त्रिभुवनगतो लोकः उचिताम् आवश्यकीम् प्रीतिं सन्तोषम्, कनीयान् पौलस्त्यः विभीषणः पुरम् लङ्काम्, अयं रावणः पुनः स्वाममरताम् मरणोत्तरभाविदेवभावम्, अत्र अन्यत् किम्, साक्षात्कृतपरमतत्त्वः ज्ञातब्रह्मतत्त्वः मुनिगणः प्रसादप्रोन्मीलन्मुदि प्रमोदानन्दपूर्णे हृदि मानसे शान्तिम् निश्चिन्तताम् च लभताम् । अतः सर्वेषां स्वस्य च हिताय रावणं जहीति भावः ॥ ६२ ॥

एतयोः = रावणमेघनादयोः, त्वरयति = प्रेरणया शीघ्रतां कर्त्तुं प्रार्थयते ।

आभ्यामिति० आभ्याम् राघवाभ्याम् रामलक्ष्मणाभ्याम् ब्रह्माच्युतास्त्रस्मरणसुरभिभिः ब्राह्मास्त्राच्युतास्त्रयोः ध्यानेन तीक्ष्णीभूतैः मार्गणैः बाणैः क्रमेण रजनिचरपतेः रावणस्य रावणेः मेघनादस्य च मूर्धानौ शिरसी चिच्छिदाते खण्डितौ । पश्चात् शिर-

---

रामचन्द्र ! रामचन्द्र ! आप अब भी इस पापीकी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? क्यों इस एक व्यापारसाध्य कार्यकी उपेक्षा कर रहे हैं ? सावधान हों ।

आप सीता, ससारसुख, विभीषण लङ्काका राज्य प्राप्त करें और क्या ब्रह्मज्ञानी मुनिजन प्रसन्नतासे खिले हुए अपने चित्तोंमें शान्ति लाभ करें ॥ ६२ ॥

चित्ररथ—(सुनकर) क्यों दिव्यर्षिगण भी इनके वधके लिये रामको उसका रहे हैं ? अथवा दुष्टका निग्रह किसके हृदयको अच्छा नहीं लगेगा ? (शीघ्रता, आश्चर्य और उत्सुकताके साथ) देवराज ! देखिये—

राम-लक्ष्मणने ब्रह्मास्त्र और अच्युतास्त्रको यादकर बाणों द्वारा रावग और मेघनादके

पश्चाद्रक्षः कबन्धो मृधभुवि विवशः सोऽपि रक्षोऽवरोधः
क्षोण्यां श्रीदाशरथ्योः शिरसि च वियतः पुष्पवर्षं पपात ॥ ६३ ॥

वासवः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य । सोल्लासम्) गन्धर्वराज ! पश्य तावदेते किल त्रिभुवनशत्रोर्दशकन्धरस्य निधनवृत्तान्तश्रवणेन प्रमोदनिर्भराः सहमहर्षयः सुमनसः कमपि महोत्सवमनुबुभूषन्तो मामेव प्रतीक्षन्ते । तद्गच्छाम्येतेषां मनोरथसम्पादनाय । त्वमप्येतद्वृत्तान्तनिवेदनेन प्रियसखमलकेश्वरं प्रीणय ।

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महावीरचरिते षष्ठोऽङ्कः ।

श्छेदात् परतः रक्षःकबन्धो मस्तकशून्यो देहः मृधभुवि रणभूमौ सोऽपि रक्षोऽवरोधः राक्षसान्तःपुरिकावर्गः विवशः शोकपरवशः सन् क्षोण्याम् भूमौ वियतः आकाशात् श्रीदाशरथ्योः रामलक्ष्मणयोः शिरसि पुष्पवृष्टिः च पपात । रामलक्ष्मणौ ब्रह्मास्त्राच्युतास्त्राभ्यां रावणमेघनादयो शिरसी च्छिन्नवन्तौ, तयोः कबन्धो युद्धभूमौ पपात, तच्छोकात्तदवरोधो भूमौ लुलुण्ठ, प्रसन्नैर्देवैः कृता पुष्पवृष्टिश्च रामलक्ष्मणयोः शिरस्यपतदिति भावः ॥ ६३ ॥

निधनवृत्तान्तश्रवणेन = मृत्युवार्त्ताकर्णनेन । प्रमोदनिर्भराः = हृष्टाः । सुमनसः= देवाः । अनुबुभूषन्तः = अनुभवितुं कामयमानाः । प्रीणय = प्रसादय ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते महावीरचरित-'प्रकाशे' षष्ठाङ्क'प्रकाशः' ।

शिर काट डाले, पीछेसे समराङ्गणमें इनका कबन्ध पृथ्वीपर इनके दाराजन और रामलक्ष्मणके ऊपर देवविसृष्ट पुष्प गिर रहे हैं ॥ ६३ ॥

वासव—(नेपथ्यकी ओर देखकर, प्रसन्नतासे) गन्धर्वराज ! देखो, महर्षिओंको साथ लिये यह देवगण त्रिभुवनशत्रु रावणकी मृत्यु सुनकर कुछ आनन्द मनानेकी इच्छासे हमारी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं । इसलिये उनकी मनोरथ पूर्त्तिके लिये जाता हूँ । तुम भी इस समाचारको सुनाकर कुबेरको आनन्दित करो ।

(सबका प्रस्थान)

षष्ठ अङ्क समाप्त

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शोकाकुला लङ्का)

लङ्का—(साक्रोशम्) हा महाराज दशकन्धर ! त्रैलोक्यवीरलक्ष्मीप्रतिग्रहदुर्ललित ! हा सकलराक्षसलोकप्रतिपालनसमर्थभुजदण्ड ! हा पशुपतिपादयुगलार्चनोपयुज्यमानमुग्धमुखपुण्डरीक ! हा केकसीपुत्रतिलक ! हा बन्धुजनवत्सल ! कुत्र मया त्वं प्रेक्षितव्यः । हा कुमार कुम्भकर्ण ! हा वत्स मेघनाद ! कुत्रासि ? देहि मे प्रतिवचनम् । (परितो विलोक्य) कथं कोऽपि न मन्त्रयते ? (ऊर्ध्वमवलोक्य) हा दुष्टदैवदुर्विलसित ! कस्मादेवं परिणतमसि ? अथवा कोऽत्र भवत उपालम्भः ? आत्मन एव दुश्चरितमेतद्विपरिणमति । (इति सानुक्रोशं रोदिति) (हा महाराअ दसकन्धर ! तेल्लोक्कवीरलच्छीपडिग्गहदुल्ललिद ! हा सअलरक्खसलोअपडिबालणतमत्थदुम्मदभुअदण्ड ! हा पसुवइपादजुअलच्चणोपजुज्जन्तमुद्धमुहपुण्डरीअ ! हा केकसीपुत्ततिलअ ! हा बन्धुअणवच्छल ! कहिं मए तुमं पेक्खिदव्वो । हा कुमार कुम्भअण्ण ! हा वच्छ मेहणाह ! कहिं सि ? देहि मे पडिवअणम् । कहं को वि ण मन्तेदि ?

अथ सप्तमाङ्केन निर्वहणसन्धिः प्रस्तूयते—तत्स्वरूपं यथा—'बीजवन्तो मुखद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् । ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' ॥ अत्र वसिष्ठव्यापाररूपस्य कलानिर्वाहात्मकस्य कार्यस्य सीतया सह रामपट्टाभिषेकात्मकफलागमस्य चार्थप्रकृतेर्वर्णनान्निर्वहणसन्धिः ।

त्रैलोक्यवीरलक्ष्मीप्रतिग्रहदुर्ललित = त्रिभुवनजयश्रीग्रहणाग्रहशील, पशुपतिपादयुगलार्चनोपयुज्यमानमुग्धमुखपुण्डरीक = स्वानि सुन्दरमुखकमलानि महादेवचरणाराधने उपयुक्तवन् , केकसीपुत्रतिलक = केकसीरावणमाता तस्याः पुत्रेषु श्रेष्ठ, बन्धुजनवत्सल=स्वजनप्रिय, कुत्र मया त्वं प्रेक्षितव्यः = क्वाहं त्वां द्रष्टुं शक्नोमि । दुष्टदैवदुर्विलसित=दुष्टभाग्यदुष्परिणाम, भवतः=भाग्यस्य । उपालम्भः=तिरस्कारः ।

(शोकाकुल दशामें लङ्काका प्रवेश)

लङ्का—हा महाराज दशकन्धर ! त्रिलोकी जयलक्ष्मीके ग्रहणमें आग्रही ! राक्षसोंकी रक्षामें समर्थ बाहुधारी ! महादेवकी अर्चनामें अपने मुखोंको काटकर भेटनेवाले ! केकसीके पुत्ररत्न ! बान्धवजनप्रिय ! मैं तुमको कहाँ देख पाऊँगी ? हा कुमार कुम्भकर्ण ! हा वत्स मेघनाद ! तुम कहाँ हो ? मेरे वचनोंके उत्तर दो । (चारो ओर देखकर) क्यों कोई नहीं बोलता ? (ऊपर देखकर) हा अभाग्य ! क्यों ऐसी दशामें ले आये ? अथवा अब तुम्हें क्यों कोशूं ? अपने ही दुश्चरितका यह परिणाम है । (चिल्लाकर रोती है)

हा दुट्ठदेव्वदुव्विलसिअ ! कीस एव्वं परिणदं सि ? अहवा को एत्थ भवदो उवालम्भो ? अत्तणो एव्व दुच्चरिदं एदं विपरिणमेदि)

(ततः प्रविशत्यलका)

अलका—अहो ! कथमस्य रक्षःपतेरपूर्वः कोऽप्ययं दशापरिपाकः । यदेतावानपि रक्षःसर्गः क्षणेनैव विभीषणमात्रशेषः संवृत्तः । (शब्दश्रवणं नाटयित्वा । परिक्रम्य) कथं कनीयसी मे भगिनी प्रत्यग्रभर्तृविरहव्यथाविधुरा क्रन्दती लङ्का ? (उपसृत्य) भगिनि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

लङ्का—(विभाव्य) कथं भगिनी मेऽलका ? (कदं बहिणिआ मे अलआ ?)

अलका—भगिनि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । एवं किलेयं लोकयात्रा ।

लङ्का—अयि भगिनि ! कुतो म आश्वासः ? युवतिजनमात्रशेषा संवृत्तास्मि । एकः पुनः कुलतन्तुः कुमारविभीषणः खलु तिष्ठतीति श्रूयते । सोऽपि मन्दभागिन्या अधन्यतया रिपुपक्षमेव सेवते । (अइ बहिणिए ! कुदो मे आस्सासो ? जुवइजणमेत्तसेसा संवुत्तह्मि । एक्को उण कुलतन्तू कुमारविहीसणो क्खु चिट्ठदि त्ति सुणीअदि । सो वि मन्दभाइणीए अधण्णदाए रिउवक्खं जेव्व सेवेदि)

दशापरिपाकः = अवस्थाविपर्ययः । विभीषमात्रशेषः = सर्वेषां निधनेन शिष्टविभीषणः । प्रत्यग्रभर्तृविरहव्यथाविधुरा=सद्यो जातस्वामिवियोगदीना । क्रन्दती=रुदती । लोकयात्रा=संसारस्थितिः, जाता म्रियन्त एवेति संसारक्रमस्तन्माऽव्यथिष्ठा इत्यर्थः । आश्वासः = धैर्यशक्तिः । युवतिजनमात्रशेषा = शिष्यमाणकेवलयुवतिगणा । कुलतन्तुः = वंशक्रमधरः । अधन्यतया = अभाग्येन ।

(अलकाका प्रवेश)

अलका—किस प्रकार राक्षसराजकी ऐसी दशा हुई ? इतने बड़े राक्षसदलमें केवल विभीषण शेष बचा ! (कुछ सुननेका अभिनयकर, आगे बढ़कर) क्या मेरी छोटी बहन लङ्का है ? जो अभी-अभी वैधव्य दुःख प्राप्तकर रो रही है, (समीप जाकर) बहन ! धीरज धरो, धीरज धरो ।

लङ्का—(विचार करके) क्या मेरी बहन अलका है ?

अलका—बहन ! धीरज धर, धीरज धर, यह दुनिया यों ही चलती आई है ।

लङ्का—अरी बहन ! कैसे मुझे धीरज हो ? केवल युवतियाँ ही बच गई हैं । एकमात्र वंशधर कुमार विभीषण बच गये हैं वह भी हमारे अभाग्यसे रिपुपक्षमें हैं ।

अलका—अयि भगिनि ! मा मैवम् । न खल्वस्माकं स रिपुपक्षः ।

लङ्का—कथमिव ? (कहं विअ ?)

अलका—यस्य रिपुः स गतः । तच्च गतम् । संप्रति तु निसर्गसुहृदस्माकं त्रिभुवनप्रसिद्धसंबन्धो दाशरथिः ।

लङ्का—(आश्वस्य) कथमीदृशोऽपि । (कहं ईरिसो वि)

अलका—ईदृश एव ।

लङ्का—कथमस्माकं स्वामिष्वीदृशोऽपि परिणतः ? (कहं अह्म सामिसु ईरिसो वि परिणदो ?)

अलका—अय्यननुसंधाने किमेवं भाषसे ? शृणु—

रघुकुलतिलकेऽस्मिन्भ्रातृमात्रद्वितीये
किमपि पितृनिदेशाद्दण्डकां संप्रविष्टे ।

यस्य = रावणस्य रक्षसो वा । सः=रावणः । तत् = रक्षः । निसर्गसुहृत् = स्वभावमित्रम् । त्रिभुवप्रसिद्धसम्बन्धः = लोकत्रयख्यातसंस्तवः ।

ईदृशः = क्रूरकर्मा, घातक इति यावत् ।

अयि अननुसंधाने = हे पूर्वापरानुस्मरणविकले । यदिदं त्वया खिद्यते तत्तव पूर्वकथाऽस्मरणमूलकमेव, यदि वस्तुवृत्तं स्मरसि तदा नास्ति खेदावसरः, रावणकुलक्षयस्य तत्कृतापराधदण्डरूपत्वेनावश्यभावित्वादिति भावः ।

रघुकुलेति० अस्मिन् रघुकुलतिलके रघुवंशभूषणे रामे भ्रातृमात्रद्वितीये लक्ष्मणमात्रसहाये किमपि कुतोऽपि कारणात् पितृनिदेशात् पितुराज्ञामनुरुध्य दण्डकाम् दण्डकारण्यम् सम्प्रविष्टे आयाते अमुना ते तव राक्षसानाम् विनेत्रा शासकेन

अलका—अरी बहन ! नहीं, ऐसी बात मत कह, वह हमारा रिपुपक्ष नहीं है ।

लङ्का—कैसे ?

अलका—जिसके रिपु थे वह गया, शत्रुता भी उसके साथ गई । अब तो संसारख्यात राम हमारे परम मित्र हैं ।

लङ्का—(आश्वस्त होकर) क्या ऐसी भी बात है ?

अलका—हाँ यही बात है ।

लङ्का—हमारे स्वामीकी ऐसी दशा क्यों हुई ?

अलका—अरी ! पूर्वापरको भुलाकर ऐसा क्यों कहती है ?

रामचन्द्र केवल लक्ष्मणको साथ लेकर पिताकी आज्ञासे दण्डकावनमें आये, उनके साथ

यदुचितममुना ते राक्षसानां विनेत्रा
विहितमयमशेषः कर्मणस्तस्य पाकः ॥ १ ॥

लङ्का—हुम् ! त्वं पुनरीदृशे प्रस्तावे कथमत्रोपस्थितासि ? (हूं ! तुम उण ईरिसे पत्थावे कहं एत्थ उवट्ठिदासि ?)

अलका—अवधत्स्व । अहं किल वैमात्रकेण पौलस्त्येन गन्धवराजाच्चित्ररथादमुं वृत्तान्तमुपलभ्य शिष्टबन्धुप्रतिबोधनाय विभीषणस्य च लङ्काभिषेकसाक्षात्करणाय रावणापहृतविमानराजस्य पुष्पकस्य च रामभद्रोपस्थानोपदेशदानाय संदिष्टा ।

लङ्का—अहो ! कथं भगवतः पशुपतेरपि मित्रं निधानाधिपतिः स्वयमेवमुपचरति रामभद्रम् । (अम्मो ! कहं भअवदो पसुवइणो वि मित्तं णिधाणाहिवई सअं एव्वं उवचरदि रामभद्दम्)

अलका—अयि ! किमत्राश्चर्यम् ?

रावणेन यत् उचितम् योग्यम् विपरीतलक्षणया नितान्तनिन्द्यम् विहितम् कृतम्, तस्य तत्कृतस्य कर्मणः आचरणस्य अयम् अशेषः समस्तः परिपाकः परिणामः । रावणकृतकुकर्मण एवेदमखिलं फलमिति भावः ॥ १ ॥

ईदृशे समस्तलोकक्षयरूपे । प्रस्तावे = प्रकरणे ।

अवधत्स्व = ध्यानं देहि । वैमात्रकेण = अन्यमातृजातेन, पौलस्त्येन = पुलस्त्यपुत्रेण, रावणवैमात्रेयेण कुबेरेणेत्यर्थः । अमुं वृत्तान्तम् = समस्तलोकक्षयम् । उपलभ्य = श्रुत्वा । शिष्टबन्धुप्रतिबोधनाय = मृतशेषबान्धवेभ्यो हितमुपदेष्टुम् । रावणापहृतविमानराजस्य = पुष्पकाख्यस्य, रामभद्रोपस्थानादेशदानाय = रामसमीपं गच्छतु पुष्करमित्यादेशं दातुम् ।

निधानाधिपतिः=निधिपः, कुबेर इत्यर्थः। स्वयमेव=आत्मेच्छया। उपचरति=सेवते।

राक्षसराजने जो अनुचित व्यवहार किया यह पूरा काण्ड उसी कुकृत्यका परिणाम है ॥ १ ॥

लङ्का—ऐसी स्थिति तुम किधर भटक रही है ?

अलका—सावधानीसे सुन लो । मुझे रावणके वैमात्रेय भाई कुबेरने गन्धर्वराज चित्ररथसे सारा समाचार सुनकर बचे खुचे बन्धुओंको समझाने, विभीषणका राज्याभिषेक देखने और रावणद्वारा अपहृत पुष्पकविमानको रामवशवर्त्ती होनेकी आज्ञा देनेके लिये यहाँ भेजा है ।

लङ्का—पशुपतिके मित्र कुबेर भी रामके इतने भक्त हैं ?

अलका—इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ?

इदं हि तत्त्वं परमार्थभाजामयं हि साक्षात्पुरुषः पुराणः।
त्रिधा विभिन्ना प्रकृतिः किलैषा त्रातुं भुवि स्वेन सतोऽवतीर्णा ॥२॥

लङ्का—कथमस्माकं स्वामिना राक्षसनाथेनेदं नावधारितम्? (कहं अम्ह सामिणा रक्खसणाहेण एदं ण ओधारिदम्?)

अलका—अयि सरले! शापमहिम्ना किल मूर्च्छन्मोहः सोऽपि नापराध्यति।

(नेपथ्ये कलकलः)

(उभे ससंभ्रममाकर्णयतः)

(पुनर्नेपथ्ये)

समवधत्त भोस्त्रिजगच्चराणि भूतानि!

इदमिति० इदं रामरूपं वस्तु परमार्थभाजम् यथार्थदर्शिनां तत्त्वज्ञानाम् तत्त्वम् परमं धनम्, अयं रामः साक्षात् पुराणः पुरुषः आदिपुरुषः। त्रिधा विभिन्ना सत्त्वरजस्तमोभेदात्त्रिप्रकारतां गता प्रकृतिः एषा मूलकारणभूता सतः सत्पुरुषान् त्रातुम् दुर्जनेभ्यो (रक्षितुम्) भुवि स्वेन आत्मना अवतीर्णा धृतावतारा। भूभारहरणाय सज्जनत्राणाय चायमवतारः पुराणपुरुषस्य यद्राम इति भावः ॥ २ ॥

अवधारितम् = ज्ञातम्।

शापमहिम्ना = नन्दीश्वरस्य वेदवत्याश्च शापयोः प्रभावेण। मूर्च्छन्मोहः = प्रवर्धमानाज्ञानः। सोऽपि = रावणोऽपि।

समवधत्त = सावधाना भवत। त्रिजगच्चराणि = स्वर्गमर्त्यपातालरूपलोकत्रयस्थितानि। भूतानि = प्राणिनः।

ब्रह्मज्ञानियोंका परमतत्त्व, पुराणपुरुष, सत्त्वरजतमरूप तीन भागोंमें बँटी प्रकृति ही तो रामरूपसे पृथ्वीपर अवतीर्ण हुई है ॥ २ ॥

लङ्का—हमारे स्वामी राक्षसराजने यह बात क्यों न समझी?

अलका—अरी पगली! शापद्वारा उसकी बुद्धि जो मारी गई थी, उसका इसमें क्या दोष?

(नेपथ्यमें कलकल होता है)

(दोनों उत्सुकतापूर्वक सुनती हैं)

(फिर नेपथ्यमें)

त्रिलोकके वासी प्राणिगण! सावधान।

वस्वर्करुद्रसहितः स्वयमेष साक्षा-
द्वृद्धश्रवाः समभिनन्दति साधु साध्वीम्।
अग्निप्रवेशपरिनिर्गमशुद्धभावां
सीतां रघूत्तम भवस्थितिमाद्रियस्व ॥ ३ ॥

अलका—कथमेते दिवौकसोऽपि दशकंधरगृहनिवासव्यसनकौलीन-शङ्कापनुत्यै कृतपावकप्रवेशनिर्गमनां सीतादेवीमभिनन्दन्ति। अहह !

पतिव्रतामयं ज्योतिर्ज्योतिषान्येन शोध्यते।
इदमाश्चर्यमथवा लोकस्थित्यनुवर्तनम् ॥ ४ ॥

वस्वर्केति० वसुभिः अष्टाभिर्वसुभिः अर्कैः द्वादशादित्यैः रुद्रैः एकादशरुद्रैः सहितः युक्तः एषः स्वयम् वृद्धश्रवाः इन्द्रः साक्षात् सर्वजनसमक्षम् अग्निप्रवेशपरिनिर्गम-शुद्धभावाम् अग्नौ प्रवेशेन परिनिर्गमेन अक्षतभावेन बहिरागमेन च शुद्धभावः शुद्धिः यस्याः ताम् साध्वीम् सच्चरिताम् सीताम् साधु समुचितप्रकारेण अभिनन्दति प्रशंसति। हे रघूत्तम राम ! भवस्थितिम् संसारमर्यादाम् पतिव्रताया अपरित्याग-लक्षणाम् अथवा भवस्थितिम् संसाररक्षारूपाम् आद्रियस्व यथोचितपत्नीपदप्रदानेन सत्कुरुष्व। सीतावह्नौ प्रवेशनिर्गमाभ्यां दर्शितशुद्धिस्तेनेमां साक्षादिन्द्रोऽप्यभि-नन्दति, तदस्याः स्वीकारेण संसारे मर्यादां स्थापय त्वं पुरुषोत्तम इति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३ ॥

दिवौकसः = देवाः, दशकन्धरगृहनिवासव्यसनकौलीनशङ्कापनुत्यै = रावणगृहा-वस्थानदुःखावसरसंभविकलङ्कशङ्कापहाराय। कृतपावकप्रवेशनिर्गमाम्=वह्नौ प्रविश्य बहिरायाताम्। अभिनन्दन्ति = स्तुवन्ति।

पतिव्रतेति० पतिव्रतामयं सतीस्वरूपं वस्तु सीतासदृशी पतिव्रतेत्यर्थः, अन्येन ज्योतिषा अग्निलक्षणतेजसा शोध्यते शुद्धिं नीयते, आश्चर्यमिदम्, सर्वज्योतिरपेक्षया

वसु, सूर्य, रुद्रसे युक्त साक्षात् इन्द्र साध्वी सीताका अभिनन्दन कर रहे हैं जो आगमें पैठकर शुद्धताका परिचय दे चुकी है, संसारकी मर्यादामयी सीताका आप ! रघुनन्दन ! आदर करें ॥ ३ ॥

अलका—यह देवगण भी रामके घरमें रहनेके कारण लगनेवाले कलङ्ककी शङ्काको मिटानेके लिये आगमें प्रवेश करके अपनी शुद्धिका परिचय देनेवाली सीताका अभिनन्दन कर रहे हैं। अहा !

पतिव्रतारूप तेजकी शुद्धि अन्य तेजमें की जा रही है, आश्चर्यकी बात है, अथवा यह लोकमर्यादाका पालन किया जा रहा है ॥ ४ ॥

लङ्का—(शब्दश्रवणं नाटयित्वा) कथं मङ्गलतूर्यरवमिश्रा गीतयो निशम्यन्ते ? (कहं मङ्गलतूररवमिस्साओ गीदीओ णिसामीअन्ति ?)

अलका—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कथं सीताविशुद्ध्यनुमोदनार्थमवतीर्णाभिरप्सरोभिर्दिव्यर्षिगणैश्च रामभद्रनिदेशेन निष्पादिताभिषेककल्याणो विभीषणः पुष्पकं पुरस्कृत्य रामभद्रमभ्येति। तदेहि। तथाविधसहजमहिममहनीयचरितमहानुभावावलोकनेन चक्षुः कृतार्थयावः।

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ते)

मिश्रविष्कम्भकः।

(ततः प्रविशति पुष्पकं पुरस्कृत्य विभीषणः)

विभीषणः—अनुष्ठितः किल मया रामभद्रादेशः। तथा हि। सत्कृतं मातलिमनु—

सतीत्वज्योतिषःप्रखरत्वेन प्रखरस्य मन्दतेजसा शोधनमाश्चर्यजनकमित्यर्थः। अथवा—पतिव्रतामयं ज्योतिरन्येन ज्योतिषा यच्छोध्यते तल्लोकस्थित्यनुवर्त्तनम् लौकिकमर्यादानुसरणम्। लोका इत्थमाचरन्ति विश्वसन्ति चेति मर्यादापालनायैवेयं परीक्षा न स्वसंशयापोहायेति परमार्थः ॥ ४ ॥

मङ्गलतूर्यरवमिश्राः = मङ्गलवाद्यध्वनियुताः। गीतयः = गानानि।

सीताविशुद्ध्यनुमोदनार्थम् – सीतायाः शुद्धिं समर्थयितुम्। अवतीर्णाभिः = स्वर्गादागताभिः। अप्सरोभिः = दिव्याङ्गनाभिः। निष्पादिताभिषेककल्याणः = कृतराज्याभिषेकरूपमङ्गलः। सहजमहिममहनीयः = स्वाभाविकमाहात्म्यपूजनीयः। कृतार्थयावः = सफलीकुर्वः।

मिश्रविष्कम्भकः–सङ्कीर्णविष्कम्भकः, मध्यमनीचोभयविधपात्रप्रयोजितत्वान्मिश्रता, तत्रालका मध्यमा लङ्का नीचेति विवेकः॥

लङ्का—मङ्गल वाद्ययुक्त यह गीत कहाँसे सुनी जा रही है ?

अलका—(नेपथ्यकी ओर देखकर) सीताकी शुद्धिके अनुमोदनार्थ आई हुई अप्सराओं और दिव्यर्षिओंने विभीषणका राज्यभिषेक कर दिया, जैसी कि रामकी आज्ञा थी, अब वे सभी रामके पास आ रहे हैं। आओ, तादृश महनीय चरित महानुभावोंके दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ करें।

(दोनों जाती हैं)

मिश्रविष्कम्भक

(पुष्पकके साथ विभीषणका प्रवेश)

विभीषण—मैंने रामकी आज्ञाका पालन कर दिया, मातलिको सत्कारसे युक्तकर—

अजस्रगलदश्रुसंप्लवकिणाङ्कगण्डस्थला:
स्खलत्कनककङ्कणं नियमितैकवेणीभृतः ।
क्षमातलविवर्तनातिमलिनाम्बरा मोचिताः
प्रयान्ति किल सस्मिताः स्म सुरलोकबन्दिस्त्रियः ॥ ५ ॥

(उपसृत्य) जयति जयति रामभद्रः । देव ! एतदवसानः किल निदेशः संपादितः ।

बन्दीभिरेधिताः काराः शृङ्खलाभिरलंकृताः ।
कार्तस्वराभिर्दृश्याभिः पताकाभिश्च सांप्रतम् ॥ ६ ॥

अजस्रेति० अजस्रम् अनवरतम् गलताम् पतताम् अश्रूणाम् सम्प्लवेन प्रवाहेण ये किणाः मालिन्यरेखाः तैरङ्काः चिह्नानि येषु तादृशानि गण्डस्थलानि यासान्ताद्दृश्यः सततप्रवृत्ताश्रुरेखा मालिनीकृतकपोलदेशाः स्खलत्कनककङ्कणम् पतत्स्वर्णकङ्कणम् नियमितैकवेणीभृतः पतिविरहान्नियमितैकवेणीधराः 'प्रवासे एकवेणीधरं शिरः' इति धर्मशास्त्रादियं स्थितिः। क्षमातलविवर्तनेन पृथ्वीतलोल्लुण्ठनेन अतिमलिनाम्बराः अतिमलिनवस्त्राः मोचिताः काराबन्धनात्स्वतन्त्रतां गमिताः सुरलोकबन्दीस्त्रियः देवलोकवासिन्यो वन्दिन्यः सस्मिताः मुक्तिजन्येन हर्षेण सहासवदनाः प्रयान्ति स्वं गृहं गच्छन्ति किल। याः देवाङ्गना रावणेन कारायां निरुद्धास्तत्यः सततरोदनान्मलिनकपोलाः पृथिवीतललुण्ठनेन मलिनवस्त्राः संयमितैकवेणीधारिण्यश्चासन्सम्प्रति कारामुक्तास्ताः सहासं स्वगृहान् गच्छन्ति किलेत्याशयः। पृथिवीवृत्तम् ॥ ५ ॥

एतदवसानः = एतावत्पर्यन्तः । निदेशः = आज्ञा ।

बन्दीभिरिति० बन्दीभिः हठहृताभिः स्त्रीभिः एधिताः समृद्धाः कारा बन्दीगृहाः साम्प्रतम् तन्मुक्तिकाले कार्तस्वराभिः स्वर्णमयीभिः दृश्याभिः रमणीयतया द्रष्टुं योग्याभिः शृङ्खलाभिः पताकाभिः ध्वजत्वेन स्थापिताभिः शृङ्खलाभिः साम्प्रतम् एधिता इति योजनीयम्, यत्र बन्दिस्त्रियस्तत्राधुना तन्मुक्तिसूचनार्थं तासां शृङ्खला एवं पताकाभावेन स्थापिताः सन्तीति तात्पर्यम् ॥ ६ ॥

बराबर रोते रहनेसे अश्रुरेखाङ्कित कपोलवाली, जिनके कङ्कण दौर्बल्यवश गिर-गिर जाती हैं, ऐसी तथा एकवेणीधारा पृथ्वीपर लोटते रहनेके कारण मलिनाम्बरा देवबन्दी ललनायें हँसती हुई जा रही हैं ॥ ५ ॥

(समीप जाकर) जय हो रामचन्द्रजीकी । यहाँ तक आपकी आज्ञाका पालन किया जा सका है ।

जिन कारागृहोंकी शोभा बन्दी स्त्रियाँ बढ़ा रही थीं उन कारागृहोंमें उनकी बेड़ियोंको पताकाकी तरह लटका दिया गया है जो सोनेकी बनी होनेके कारण भली दीखती हैं ॥ ६ ॥

अयं च पुष्पकनामा स विमानराजः ।

असंरुद्धगतेरिष्टप्रवृत्तेर्वशवर्तिनः ।
मनोरथस्यानुगुणं सर्वदा यस्य चेष्टितम् ॥ ७ ॥

रामः—साधु लङ्केश्वर ! साधु संपादितम् । (सुग्रीवं प्रति) सखे वैकर्तने ! किमत्रावशिष्यते ।

सुग्रीवः—

उत्खातस्त्रिभुवनकण्टकोऽतिदृप्यद्दोर्दण्डाञ्चितमहिमाप्ययं निकारः ।
देव्याश्च प्रतिशमितस्तथात्र सन्धा निर्व्यूढा प्रगुणविभीषणाभिषेकात् ॥८॥

संप्रति तु द्रोणाद्रिं प्रत्याहरतो हनूमतः सविशेषं गृहीतप्रवृत्तिर्दुर्मनायते

असंरुद्धगतेरिति० असंरुद्धगतेः अप्रतिहतगमनस्य इष्टप्रवृत्तेः इष्टानुसारिगतेः वशवर्तिनः आदेशस्थायिनो यस्य पुष्पकस्य चेष्टितम् व्यापारः सर्वदा मनोरथस्यानुगुणम् मनोरथानुसारि । यथा मनोरथं सर्वत्र गामिनमाहुर्जनाः 'मनोरथानामगतिर्न विद्यते' इत्यादिना तथाऽयमपि सर्वत्रग इति भावः ॥ ७ ॥

वैकर्तने = विकर्तनः सूर्यस्तस्यापत्यं वैकर्तनिः सुग्रीवस्तत्सम्बुद्धौ ।

उत्खात इति० अतिदृप्यद्दोर्दण्डाञ्चितमहिमा अतिसगर्वबाहुसमृद्धमहत्त्वातिशयः त्रिभुवनकण्टकः लोकत्रयक्लेशदः रावणः उत्खातः उत्पाटितः समूलं नाशित इत्यर्थः, देव्याः सीतायाश्च अयम् रावणापराधजन्मा विकारः अपमानजन्यः खेदः प्रतिशमितः कृतापराधजनदण्डदानविधया समापितः, तथा किञ्च अत्र लङ्काराजपदे प्रगुणविभीषणाभिषेकात् समग्रराजगुणयुक्तविभीषणराज्यप्रदानात् सन्धा स्वप्रतिज्ञा निर्व्यूढा पूरिता । तदित्थं सर्वमत्रत्यं कृत्यं कृतमित्याशयः ॥ ८ ॥

द्रोणाद्रिम्=लक्ष्मणमूर्च्छापहारायापेक्षितौषधसनाथं पर्वतविशेषम् । प्रत्याहरतः=

यह वही पुष्कर विमान है ।

जो अप्रतिहतगति तथा सदा वशवर्त्ती है और जो मनोरथके समान सर्वत्रगामी है ॥७॥

राम—वाह लङ्केश्वर ! ठीक किया है, (सुग्रीवसे) मित्र सुग्रीव! अब यहाँ क्या बाकी है?

सुग्रीव—त्रिभुवन कांटा रावण उखाड़ कर फेंक दिया गया है, जो अपने बहुओंपर बड़ा गर्व रखता था और सीताके अपमानका बदला भी लिया जा चुका है । विभीषणके अभिषेकसे हमारी प्रतिज्ञा भी पूरी हो गई है ॥ ८ ॥

अब—द्रौणाद्रि लानेके समय हमारे समाचार भरतको हनुमान्‌ने कह दिये, जिससे वह बहुत दुःखी हैं, उनके पास सम्वाद लेकर हनुमान्‌को भेजा जाय, हम लोग भी विमानपर बैठें।

किल कुमारभरतः। तं प्रति वार्ताहरः प्रविसृज्यतां प्राभञ्जनिः। स्वयमप्यलंक्रियतां विमानराजः।

रामः—यदभिरुचितं प्रियवयस्याय। (इति तथा करोति)

(सर्वे विमानारोहणं नाटयन्ति)

सीता—(अपवार्य। लक्ष्मणं प्रति) अस्माभिः सांप्रतं क्व प्रस्थीयते? (अम्हेहिं संपदं कहिं पत्थीअदि)

लक्ष्मणः—देवि! रघुकुलराजधानीमयोध्यां प्रति।

सीता—अपि समाप्तः स वनवासस्यावधिः? (अवि समत्तो सो वणवासस्स अवही)

लक्ष्मणः—देवि! अद्यतनमेव दिनं तत्।

(सर्वे विमानगतिं रूपयन्ति)

सीता—(साद्भुतम्) आर्यपुत्र! एते पुनः कतमा? दूरतोऽनिर्धारितदक्षिणोद्देशा अविस्तीर्यमाणश्यामलत्वपरिसरा दृश्यन्ते। (अज्जउत्त! एदे उण कदमा दूरादो अणिद्धारिददक्खिणोद्देसा अवित्थरिज्जन्तसामलत्तणपरिसरा दीसन्ति)

आनयमानात्। हनूमतः=पवनपुत्रात्। गृहीतप्रवृत्तिः=विदितास्मद्वृत्तान्तः। दुर्मनायते=विषादमनुभवति। तम्प्रति=भरतसमीपे। वार्ताहरः=समाचारसूचकः। प्रविसृज्यताम्=प्रेष्यताम्। प्राभञ्जनिः=प्रभञ्जनस्य वायोः पुत्रः हनूमान्।

प्रियवयस्याय=प्रियमित्राय भवते सुग्रीवाय।

दक्षिणोद्देशाः=दिशि दक्षिणस्यां स्थिता भूभागाः। अविस्तीर्यमाणश्यामलत्वपरिसराः=यत्प्रान्ताः क्रमशः श्यामलत्वं न्यूनयन्ति, आकाशे क्रमशो दूरं गच्छतां दृष्टिष्वधःस्थितानि वनानि क्रमशः श्यामतां जहतीव प्रतिभान्ति, तद्दृष्ट्वायं प्रश्नः।

राम—आपकी जैसी रुचि। (विमानपर बैठते हैं)

(सभी विमानपर बैठते हैं)

सीता—(छिपाकर, लक्ष्मणसे) हम कहाँ चल रहे हैं?

लक्ष्मण—रघुकुलकी राजधानी अयोध्या।

सीता—क्या वनवासके दिन पूरे हो गये?

लक्ष्मण—आज ही वह पूरा हो रहा है।

(सभी विमानकी चाल देखते हैं)

सीता—(आश्चर्यपूर्वक) आर्यपुत्र! यह कौन स्थान है? दूरताके कारण इन्हें मैं नहीं पहचान रही हूं, यह बहुत हरे दीखते हैं।

रामः—देवि ! नैते भुवां परिसराः किन्तु—

साक्षात्किलाष्टमूर्तेस्तस्यैषा मूर्तिरम्मयी प्रथमा।
गीतः सागर इति नृभिरपरिच्छेद्यात्मगाम्भीर्यः ॥ ९ ॥

सीता—योऽस्माकं ज्येष्ठश्वशुरैः कृतनिर्माण इति वृद्धपरम्परया श्रूयते। एतस्य मध्येऽपि किमेतद्दूरप्रसारितं धवलांशुकमिवाभिनवतृणाच्छन्नासु भूमिषु दृश्यते ? (जो अम्हाणं जेट्ठससुरेहिं किदणिम्माणो त्ति बुड्ढपरंपराए सुणीअदि। एदस्स मज्झे वि किं एदं दूरप्पसारिदं धवलंसुअं विअ अहिणवतिणच्छण्णासु भूमिसु दीसइ)

लक्ष्मणः—देवि !

सोत्साहं धृतशासनैः सकुतुकैर्वृक्षौकसां नायकैः
दिक्पर्यन्तधराधरेन्द्रशिखराण्यानाय्य निर्मापितः।
कल्पान्तावधिवन्दनीयमहिमा लोकस्य सेतुर्नवः

मम तु 'अतिविस्तीर्यमाण' इति पाठः शोभनः प्रतिभाति। भुवां परिसरा=भूभागाः।

साक्षादिति० अष्टमूर्त्तेः 'पृथ्व्या जलेन वह्निना मरुताऽम्बरेण यजमानेन सूर्येण चन्द्रमसा च' मूर्त्तिभागः शिवस्य साक्षात् अम्मयी जलमयी प्रथमा आद्या मूर्त्तिः एषा। नृभिः मनुजैः अपरिच्छेद्यात्मगाम्भीर्यः अतर्क्यगभीरभावः सागर इति गीतः कथितः, अत्र विधेयप्राधान्यात् पुंस्त्वम् ॥ ९ ॥

ज्येष्ठश्वशुरैः = सगरपुत्रैः। कृतनिर्माणः=निर्मितः खातः। दूरप्रसारि=दूरव्यापि। धवलांशुकम् = श्वेतवस्त्रम्। अभिनवतृणाच्छन्नासु = हरिततृणव्याप्तासु। यथा तृणहरितिम्ना श्यामलायां भुवि प्रसारितं धवलमंशुकं स्यात्तद्वत् किमिदमिति भावः।

सोत्साहमिति० सोत्साहम् सचित्तोल्लासम् धृतशासनैः आज्ञाकारिभिः सकुतुकैः कथमयमपारः सागरो बध्यत इति कुतूहलाक्रान्तैः वृक्षौकसाम् वानराणाम् नायकैः मुख्यैः दिक्पर्यन्तधराधरेन्द्रशिखराणि दिगन्तवर्त्तिपर्वतशृङ्गाणि अपि आनाय्य आहृत्य निर्मापितः कृतः कल्पान्तावधि प्रलयपर्यन्तम् लोकस्य वन्दनीयः संसारस्तुत्यः

राम—देवि ! यह पृथ्वीतल नहीं है—

यह तो महादेवकी अष्टविध तनुमें प्रथम जलमय तनुसागर है, जिसकी अनन्तताकी महिमा मनुष्य गाते हैं ॥ ९ ॥

सीता—जिसे हमारे बड़े श्वशुरोंने बनाया था यह बात परम्परासे सुनती आती हूं। इसकेभीबीचमें हरी घासपर दूर तक फैले उजले वस्त्रके समान यह क्या दीख रहा है ?

लक्ष्मण—यह आर्यके चरितका कीर्त्तिस्तम्भनस्वरूप वह नया सेतु है जिसे वानरोंने

कीर्तिस्तम्भ इवायमार्यचरितस्याम्भोनिधौ लक्ष्यते ॥ १० ॥

रामः—(अङ्गुल्या निर्दिशन्) वत्स !

एता भुवः परिचिनोषि मिलत्तमालच्छायान्धकारिततुषारनिकुञ्जपुञ्जाः ।
उन्मूर्च्छदच्छमलयाचलतुङ्गशृङ्गप्राग्भारनिष्पतितनिर्झरपूरभाजः ॥ ११ ॥

लक्ष्मणः—आर्य ! ता एवैताः । नातिदूर एव तावदासां स जीर्णकन्दरः ।

गर्जाजर्जरितासु दिक्षु बधिरे तत्स्फूर्जथुस्फूर्जितै-
र्व्योम्नि भ्राम्यति दुष्प्रभञ्जनजवादभ्रेऽप्यदभ्रे मुहुः ।
आक्षिप्यान्धयति द्रुमान्धतमसे चक्षुः प्रविश्य क्षपा
यत्रासीत्क्षपिता क्षरज्जलधरे त्वक्सारलक्ष्मीकृते ॥ १२ ॥

महिमा महत्त्वं यस्य तादृशः अम्भोनिधौ नवः कदाप्यभूतपूर्वो मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपः सेतुः आर्यचरितस्य पूज्यरामचरित्रस्य कीर्त्तिस्तम्भ इव लक्ष्यते दृश्यते ॥ १० ॥

एता इति० मिलत्तमालच्छायान्धकारिततुषारनिकुञ्जभाजः = परस्परमिलिततमालतरूणां छायाया अन्धकारिताः तमसावृताः तुषाराः शीतलाश्च निकुञ्जानां पुञ्जा यत्र ते तथा, उन्मूर्च्छताम् वर्धमानानाम्, अच्छमलयाचलतुङ्गशृङ्गाणाम् मलयपर्वतशिखराणाम् प्राग्भारेभ्यः विस्तारेभ्यः निष्पतिताः निर्गलिताः ये निर्झरपूरास्तान् भजन्ते आश्रयन्ति ये ते तथा। वत्स ! केऽमी देशा यत्र तमालवनीतमोवृतातिशीतला निकुञ्जा मलयाद्रिशिखरस्यन्दमाननिर्झरप्रवाहाश्च सन्तीति प्रश्नाशयः ॥ ११ ॥

गर्जाजर्जरितास्विति० गर्जाजर्जरितासु गर्जनाविपाटितासु दिक्षु, तत्स्फूर्जथुस्फूर्जितैः वज्रघोषनिनादैः बधिरे शब्दान्तरग्रहणायोग्ये व्योम्नि आकाशे, दुष्प्रभञ्जनजवात् अतिकठोरवायुवेगात् अदभ्रे बहुले अभ्रे मेघे मुहुः भ्राम्यति इतस्ततो धावति, द्रुमान्धतमसे वृक्षान्तरालस्थायिनि तमसि आक्षिप्य हठपूर्वकम् चक्षुः अन्धयति लोकलोचनवैयर्थ्यं कुर्वाणे त्वक्सारलक्ष्मीकृते वंशचिह्निते क्षरज्जलधरे वर्षद्धाराधरे यत्र

उत्साहपूर्वक आज्ञानुसार दिगन्तवर्ती प्रस्तर खण्डोंको लाकर बाँधा है तथा जिसकी महिमा प्रलयकाल तक रहनेवाली है ॥ १० ॥

राम—(उँगलीसे संकेत करके) इन भूमियोंको पहचानती हो जो एक दूसरे से सटे तमालवृक्षकी छायासे शीतल निकुञ्जोंवाली तथा मलयाचलकी चोटीपरसे गिरनेवाले निर्झरोंके प्रवाहसे युक्त है ॥ ११ ॥

लक्ष्मण—यही वह भूमि है । इसके पास ही वह जीर्ण कन्दर है ।

मेघके शब्दसे जब दिशायें फट रही थीं, बिजलीकी कड़कसे आकाश विदीर्ण हो रहा था, वायुके झोंकोंके साथ बादल इधर-इधर घूम रहे थे, पेड़ोंकी छाया लोगोंकी दृष्टिको अन्धी

सीता—(स्वगतम्) अहो प्रमादः। कथं मम मन्दभागिन्या दुष्टदैवै-रेतेऽपि महानुभावा ईदृशमवस्थान्तरमनुभाविताः। (अहो पमादो। कहं मह मन्दभाइणीए दुट्ठदेव्वेहिं एदे वि महाणुहावा ईरिसं अवत्थन्तरं अनुहाविदा)

विभीषणः—देव रामभद्र! दृश्यन्ते किलैताः कावेरीतीरभूमयः?

यत्पर्यन्तमहीध्रसीम्नि कुहलीमाध्वीकधारोद्गिर-
दुधृष्यत्पूगवनीघनीकृततलैस्तुङ्गैर्जरच्छाखिभिः।
लक्ष्यन्ते विविधाश्रमाः स्थिरतपःस्वाध्यायसाक्षात्कृत-
ब्रह्माणो निवसन्ति यत्र मुनयः कल्पस्थितेः साक्षिणः ॥१३॥

कन्दरे आवाभ्याम् क्षपा रात्रिः क्षपिता व्यतियापिता आसीत्। स एवायं जीर्णकन्दरो यत्रावाभ्यां दिशासु वनगर्जितैर्द्विधाभावमिव गमितासु वज्रनिर्घोषैर्व्योम्नि कम्प्यमाने वायुवेगवशान्मेघे घोरतरं धावति वृक्षाश्रये तमसि लोकलोचनानि व्यर्थयति च क्षरज्जलधरे काले कदाचित् क्षपाऽतिवाहितेत्यर्थः। 'अदभ्रं बहुलं बहु' 'अभ्रं मेघो वारिवाहः' इत्युभयत्राप्यमरः ॥ १२ ॥

यत्पर्यन्तेति० यस्यां पर्यन्तमहीध्रस्य प्रान्तवर्तिनो गिरेः सीम्नि सीमायाम् कुहलीनाम् ताम्बूलीलतानाम् माध्वीकधाराः मकरन्दप्रवाहान् उद्गिरताम् हृष्यताम् सपल्लवानाम् पूगानाम् क्रमुकवृक्षाणाम् वनीभिः श्रेणीभिः घनीकृतानि निबिडतां गमितानि तलानि येषान्तैः तुङ्गैः विशालैः जरच्छाखिभिः विशालकायैः पुराणवृक्षैः (उपलक्षिताः) विविधाश्रमाः बहूनि तपोवनाश्रमपदानि लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते यत्र स्थिरेण अचपलेन तपसा स्वाध्यायेन च साक्षात्कृतम् प्रत्यक्षीकृतम् ब्रह्मरूपम् अध्यात्मतत्त्वं यैस्तादृशाः कल्पस्थितेः साक्षिणः मन्वन्तरपुराणाः मुनयः निवसन्ति। एतास्ताः कावेरीतीरभूमयो यत्प्रान्तवर्तिपर्वतोपत्यकायां ताम्बूलीलतामकरन्दप्रवाहपुष्टक्रमुकवृक्षनिचिततलाः पुराणशाखिनो विद्यन्ते यदन्तिके तैर्वृक्षैः परिचेया मुनीनामाश्रयाः सन्ति येष्वाश्रमेषु तपःस्वाध्यायाभ्यां साक्षात्कृतब्रह्मतत्त्वा मन्वन्तरपुराणा मुनयः प्रतिवसन्तीत्याशयः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १३ ॥

बना रही थी, ऐसे समयमें—वर्षा होते रहनेपर—बांसकी झुरमुटवाली जिस कन्दरामें हमलोगोंने रात बिताई थी ॥ १२ ॥

सीता—हन्त! मुझ अभागीके कारण इन महानुभावोंको भी ऐसी दशा भोगनी पड़ी।

विभीषण—महाराज रामचन्द्र! आप कावेरीतीर भूमिको देख रहे हैं?

इस प्रान्तमें ताम्बूलीलताच्युत मकन्दधारासे सन्तुष्ट सुपारीके पेड़ फैले हुए हैं, पुराने वृक्ष ऋषियोंके आश्रमको लक्षित कर रहे हैं जिनमें तपस्या और स्वाध्यायके बलसे ब्रह्मज्ञानी कल्पस्थितिके साक्षी मुनिगण रहा करते हैं ॥ १३ ॥

यतो नातिदूर एव किलावाच्यां लोपामुद्रापरिष्कृतपरिसरे दीप्यति कौम्भसंभवं ज्योतिः ।

रामः—कथमतिक्रान्तमागस्त्यमाश्रमपदम् ?

अयं वारां राशिः किल मरुरभूद्यद्विलसितै-
रयं विन्ध्यो येनाहृतविहृतिराध्मानमजहात् ।
विलिल्ये यत्कुक्षिस्थितशिखिनि वातापिवपुषा
स कासां वाणीनां मुनिरकलितात्मास्तु विषयः ॥१४॥

तदप्रमेयविभवा विश्वान्तरात्मसाक्षिणस्ते महात्मानः कुतश्च नाभिवन्द्याः ?

(सर्वे तथा कुर्वन्ति)

(आकाशे)

न अतिदूरे = अनतिविप्रकर्षे । अवाच्याम् = दक्षिणदिशि । लोपामुद्रापरिष्कृतपरिसरे = लोपामुद्रा अगस्त्यपत्नी तया परिष्कृतः पावितः परिसरः प्रान्तदेशो यत्र तादृशे । कौम्भसम्भवं ज्योतिः = अगस्त्याभिधानं तेजः ।

अतिक्रान्तम् = अतीतम् ।

अयमिति० यद्विलसितैः यस्यागस्त्यस्य चुलुकीकरणरूपैः विलसितैः व्यापारैः अयं वारां राशिः सागरः मरुः निर्जलदेशः अभूत्, येन अगस्त्येन आहृतविहृतिः शमितोच्छ्रायः विन्ध्यः तदाख्यः पर्वतः आध्मानम् उच्चशिखरतागर्वम् अजहात् त्यक्तवान् । यत्कुक्षौ यस्यागस्त्यस्य उदरे वातापिवपुषा वातापिनामकदानवदेहेन विलिल्ये विलयो लब्धः, अकलितात्मा अनवधारितस्वरूपः स मुनिः अगस्त्यः कासां वाणीनाम् वाचां विषयः गोचरः अस्तु । नकाभिरपि वाग्भिरवगतिवर्त्मबहिर्गतः सोऽगस्त्यमुनिर्वर्णयितुं शक्यो येन समुद्रः शोषितो विन्ध्यो नमितो वातापी चोदरे विलयं गमित इति भावः ॥ १४ ॥

अप्रमेयविभवाः = असाधारणतयाऽज्ञेयसामर्थ्याः । विश्वान्तरालसाक्षिणः = जगदात्मद्रष्टारः ।

यहाँसे पासमें ही लोपामुद्रासे परिष्कृत आश्रममें अगस्त्य मुनि रहते हैं ।

राम—क्या अगस्त्यका आश्रम पीछे छूट गया ?

जिनके किये व्यापारोंसे यह समुद्र मरुदेशमें परिणत हो गया, जिनके द्वारा विन्ध्यका उन्नति गर्व-खर्व किया जा सका, जिनके जठरानलमें वातापीकी देह लीन हो गई, महात्मा अगस्त्य किन वचनोंसे वर्णित किये जा सकेंगे ॥ १४ ॥

अप्रमेय वैभवशाली विश्वात्मसाक्षी वैसे महात्माओंकी वन्दना क्यों न की जाय ।

(सभी वन्दना करते हैं)

(आकाशमें)

सानुजस्त्वं प्रजाः शाधि कल्पान्तस्थायि ते यशः।
नामापि राम गृणताममृतत्वाय कल्पताम् ॥ १५ ॥

रामः—(आकर्ण्य) कथमशरीरिण्या गिरा परमनुगृहीतो महामुनिवन्दारुः।

(इतरे अभिनन्दन्ति)

विभीषणः—देव रामभद्र ! एतास्ताः पम्पापर्यन्तभूमयः, यासु बहोः कालादनुभूयमानान्यप्यभिज्ञानानि बलाच्चक्षुराकर्षन्ति। तथा हि—

बाणेनैकेन विद्धं विलसति पुरतस्तज्जरत्तालखण्डं
सोऽपि क्रीडाकपित्वं क्षणमिषुनिवहैरन्वभूदत्र वाली।
सौमित्रिः पादघातादिह हि सकुतुकं प्राक्षिपत्कूटमस्थ्नां
काबन्धं दृष्टमस्मिन्हनुमति भवतैवोत्तरीयं च देव्याः ॥१६॥

सानुज इति० सानुजः अनुजैः सहितः त्वम् रामः प्रजाः शाधि पालय, ते तव यशः कल्पान्तस्थायि कल्पावसानपर्यन्तं तिष्ठतु, हे राम ! गृणताम् सादरं स्मरताम् जनानाम् ते तव नाम अमृतत्वाय मोक्षाय कल्पताम् जायताम् ॥ १५ ॥

अशरीरिण्या = आकाशसञ्चारिण्या। महामुनिवन्दारुः = अगस्त्यरूपमुनिपुङ्गवप्रणामपरः। पम्पापर्यन्तभूमयः = पम्पासरोवरप्रान्तभूमयः।

अनुभूयमानानि=दृश्यमानानि। अभिज्ञानानि=स्मारकचिह्नानि।

बाणेनैकेनेति० एकेन बाणेन रामशरेण विद्धम् प्रथितम् तत् प्रसिद्धम् जरत्तालखण्डम् पुराणतालीसप्तकम् पुरतः अग्रे विलसति वर्त्तते, सोऽपि वाली क्षणम् क्षणमात्रेण इषुनिवहैः बाणसमूहैः अत्र क्रीडाकपित्वम् क्रीडार्थनिर्मितकपिपुत्तलकरूपत्वम् निर्जीवभावमित्यर्थः। अन्वभूत् प्राप्तवान्। इह पादांगुष्ठेन एकस्मादेव चरणाङ्गुष्ठाघातात् कावन्धं कवन्धस्य अस्थ्नां कूटम् अस्थिपर्वतम् दुन्दुभिदैत्यस्यास्थि-

अनुजोंके साथ आप प्रजापालन करें, आपका यश कल्याणास्थायी हो। जो आपका नाम जपे वह भी अमृतपद प्राप्त करे ॥ १५ ॥

राम—आकाशवाणीने मुनिकी वन्दना करनेवाले हमलोगोंपर कैसे कृपा की।

(और लोग अभिनन्दन करते हैं)

विभीषण—रामभद्र ! यह वही पम्पा सरोवरप्रान्त है, जहाँके अभिज्ञान चिरकालपर देखे जानेपर भी बलपूर्वक आँखोंको अपनी ओर आकृष्ट करते हैं।

यह एक ही बाणसे विद्ध वह पुराण तालवृक्ष हैं, वालीका प्राणान्त यहीं हुआ, दुन्दुभिबन्धके पहाड़रूप अस्थिओंको लक्ष्मणने यहीं पादाघातसे दूर फेंका, यहींपर आपने हनुमान्‌के पास सीताके उत्तरीय वस्त्रको देखा ॥ १६ ॥

सीता—(स्वगतम्) किं नाम ममोत्तरीयमार्यपुत्रेण हनुमतो हस्ते दृष्टम् ? (किं णाम मह उत्तरीअं अज्जउत्तेण हणुमन्तस्स हत्थे दिट्ठम्)

रामः—(सस्मरणम्) हे देवि ! तदा किल वैक्लव्यादपह्रियमाणाया भवत्याः प्रभ्रष्टमनसूयानामाङ्कमुत्तरीयमस्माभिः प्रथममभिज्ञानमासादितम्।

दृशोः शरच्छीतकरप्रकाशः कायेऽपि कर्पूरपरागपूरः ।
स्वान्तेऽपि सान्द्रामृतकुम्भसेकस्तदा यदासीत्किल दृष्टमात्रम् ॥१७॥

(सीता लज्जां नाटयति)

लक्ष्मणः—अयम्—

तातस्य मित्रं किल गृध्रराजस्तं पापमस्मिन्सहसानुबध्नन् ।
गात्रं जराजर्जरितं विहाय यशःशरीरं नवमाललम्बे ॥ १८ ॥

सञ्चयं पर्वतवदवभासमानम् सुकुतकम् कुतूहलपूर्वकम्, प्राक्षिपत् क्षिप्तवान्, इह हनुमति हनुमत्पार्श्वे देव्याः सीताया उत्तरीयं च दृष्टम् ॥ १६ ॥

वैक्लव्यात्=व्याकुलभावात्। अपह्रियमाणायाः=रावणेनापनीयमानायाः। प्रभ्रष्टम्=च्युतम्।

दृशोरिति० दृशोः नयनयोः शरच्छीतकरप्रकाशः शारदशशिकिरणतुल्यस्तद्वदानन्ददः, काये देहे कर्पूरपरागपूरः कर्पूररजःसञ्चयवत्स्पर्शमात्रेण शैत्यकरः, स्वान्ते मनसि अपि सान्द्रामृतकुम्भसेकः अमृतघटकृतसेचनम् सद्यश्चैतन्यप्रदम् यत् उत्तरीयम् तदा तत्र समये दृष्टमात्रमासीत्। यस्योत्तरीयस्य दर्शनेन तदा नयनं चन्द्रकरेणाह्लादितमिव कायः कर्पूरजो दिग्ध इव स्वान्तममृतकुम्भसिक्तमिव सुखमभजत्तदत्र हनुमतः पार्श्वे मया दृष्टमिति भावः ॥ १७ ॥

तातस्येति० तम् पापम् दुराचारिणम् रावणम् सहसाऽनुबन्धन् हठादाक्रामन् सीतोद्धारायानुसरन्नित्यर्थः तातस्य दशरथस्य मित्रं सुहृत् गृध्रराजः जटायुः जराजर्जरितम् वार्धक्यजीर्णम् गात्रम् देहं विहाय त्यक्त्वा नवम् यशश्शरीरम् यशःशेष-

---

सीता—(स्वगत) क्या हमारा उत्तरीय आर्यपुत्रने हनुमान्के पास देखा ?

राम—(याद करके) आपको रावण लिये जा रहा था, उसी समय बेहोशीमें आपका यह अनसूया नामाङ्कित उत्तरीय गिर गया था, जिसे हमने प्रथम अभिज्ञानके रूपमें पाया।

यह उत्तरीय दृष्टमात्र होनेसे आंखोंके लिये चन्द्रमाका प्रकाश, शरीरके लिये कर्पूरधूलि और हृदयके लिये अमृतकुम्भसेक-सा लगा ॥ १७ ॥

(सीता लज्जाका अनुभव करती है)

लक्ष्मण—पिताजीके मित्र गृध्रराजने पापी रावणका पीछा करके यहाँ पुरानी देहको छोड़कर नवीन यशःशरीरको प्राप्त किया ॥ १८ ॥

सीता—(स्वगतम्) कथं मम कारणात्तादृशानामपि महानुभावानामीदृशोऽवस्थाविशेषो निशम्यते ? (कहं मह कारणादो तारिसाणं वि महाणुहावाणं ईरिसो अवत्थाविसेसो णिसामीअदि)

सुग्रीवः—देव ! अतिक्रम्यन्ते किलैता दण्डकासीमानः ।

यत्र तेऽपि स्वसुः कर्णनासौष्ठविचिचीषया ।
सानुप्लवाः क्वापि यातास्त्रिमूर्धखरदूषणाः ॥ १९ ॥

सीता—(वेपमाना) अहो ! कथं पुनरपि राक्षसा एव श्रूयन्ते ? (अम्मो ! कहं पुणो वि रक्खसा जेव्व सुणीअन्ति)

रामः—देवि ! अलं शङ्कया । अभिधानमात्रमवशिष्यते ।

शरासनस्य टङ्कारात्सौमित्रेः केवलं किल ।
रक्षसां प्रलयः सिंहगर्जनाद्दन्तिनां यथा ॥ २० ॥

भावम् आललम्बे गतः । रावणेन मारितः सन् यशःशेषो जात इत्याशयः ॥ १८ ॥

तादृशानाम्=जटायुतुल्यानाम् । अवस्थाविशेषः=मृत्युरूपा दशा । निशम्यते=श्रूयते । अतिक्रम्यन्ते=उत्तीर्यन्ते, दण्डकासीमानः=दण्डकारण्यावधिदेशाः ।

यत्रेति० यत्र दण्डकावनसीमनि स्वसुः शूर्पणखायाः नासौष्ठविचिचीषया लक्ष्मणेन कृत्ताया नासायाः ओष्ठयोस्तेनंवच्छिन्नयोश्चान्वेषणेच्छया सानुप्लवाः ससहचराः त्रिमूर्धखरदूषणाः त्रिशिराः खरः दूषणश्च क्वापि याताः मृता इति तात्पर्यम् । त्रिमूर्धखरदूषणानां मरणं तत्कर्तृकस्वस्वसृनासौष्ठविचिचीषया क्वचिद् गमनमिवाजायतेति भावः । चिचयनमन्वेषणम्-तथा च कालिदासः-'प्रियान् विचेतुं विपिनं गतानाम्' इति ॥ १९ ॥

अभिधानमात्रम्=नाममात्रम्, राक्षसानां तु निरवशेषो नाशो जातः केवलं नाममात्रमधुना व्याह्रियते तस्मा गमः कातरत्वमित्याशयः ।

शरासनस्येति० केवलं सौमित्रेः लक्ष्मणस्य शरासनस्य धनुषः टङ्कारात् सिंहस्य गर्जनात् दन्तिनां हस्तिनां यथा तथा रक्षसां प्रलयः संहारः किल जात इति शेषः ॥

सीता—(स्वगत) कैसे गृध्रराजसदृश महात्माको भी हमारे कारण ऐसी अवस्था भोगनी पड़ी ?

सुग्रीव—दण्डकावनकी सीमा यहाँ समाप्त हो रही है ।

जहाँपर शूर्पणखाकी नाक ओठकी खोजमें त्रिशिरा, खर और दूषण मारे गये ॥ १९ ॥

सीता—अरी माँ ! क्यों फिर भी राक्षस ही सुने जा रहे हैं ?

राम—देवि ! मत घबड़ाओ, अब राक्षसोंके केवल नाम ही बच गये हैं ।

केवल लक्ष्मणके ही धनुष्टङ्कारसे राक्षसोंमें प्रलय-सी मच गई जैसे सिंहगर्जनसे हाथियोंमें ॥

(निरूप्य) किमन्यादृशीव गतिरस्य विमानराजस्य ?

विभीषणः—देव ! अत्युच्चैः किलायं सह्यः सानुमान् । एनमतिक्रम्य गम्यते किलार्यावर्तः । तदतिक्रमणायेदमपि मध्यमलोकसान्निध्यं किंचिदुज्झति ।

लक्ष्मणः—द्रष्टव्यः किलोत्तमपुरुषपदलाञ्छितो मध्यमलोकः ।

(सर्वे उच्चैर्गतिवेगं निरूपयन्ति)

रामः—(निरूप्य । सविस्मयम्)

यः पूर्वेषां नः कुलस्य प्रतिष्ठा देवः साक्षादेष धाम्नां निधानम् ।
त्रय्याः सारः कोऽपि मूर्तो विवस्वान्प्रत्यासन्नः पुष्पकारोहणेन ॥२१॥

अन्यादृशी = पूर्वविलक्षणा ।

अत्युच्चैः = अतिविशालोच्चः, सह्यः = तदाख्यः, सानुमान्=पर्वतः, अतिक्रम्य = उल्लङ्घ्य, तदतिक्रमणाय=सह्यपर्वतोल्लङ्घनाय, मध्यमलोकसान्निध्यम्=भुवर्लोकसामीप्यम् उज्झति = त्यजति, उपरिगच्छतीत्यर्थः ।

उत्तमपुरुषपदलाञ्छितः = विष्णुपदसंज्ञितः—'वियद् विष्णुपदं वापि पुंस्याकाशविहायसी' इत्यमरः, आकाशस्य मध्यमलोकत्वे कालिदासोऽपि साक्षी—'पितुः पदं मध्यममुत्क्रमन्तो' इति विक्रमोर्वशीयम् ।

यः पूर्वेषामिति० यः नः पूर्वेषां पूर्वपुरुषाणाम् मन्वादीनाम् कुलस्य वंशस्य प्रतिष्ठा उद्भवस्थानम्, धाम्नाम् तेजसाम् आश्रयः निधानम्, त्रय्याः वेदत्रयस्य कोऽपि अनिर्वचनीयः मूर्त्तः शरीरधरः सारः उत्कृष्टांशरूपः विवस्वान् सूर्यः सः पुष्पकारोहणेन साक्षात् प्रत्यासन्नः समीपमायातः । पुष्पकमारूढा वयं तस्य सूर्यस्य समीपमायाता यो वेदत्रयस्य मूर्त्तसारः, धाम्नामाश्रयः, अस्मद्वंशप्रवर्त्तकश्चेति भावः । शालिनीवृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' ॥ २१ ॥

(देखकर) क्यों इस विमानकी गति और ही तरहकी है ?

विभीषण—महाराज ! यह सह्य गिरि बहुत ही ऊँचा है, इसको पार करके आर्यावर्त्तमें जाते हैं, इसीलिये थोड़ा ऊपर उटकर चलना पड़ रहा है ।

लक्ष्मण—विष्णुपद शब्दसे भूषित मध्यम लोग देखनेको मिल जायगा ।

(सभी ऊँची गतिपर ध्यान देते हैं)

राम—(देखकर, आश्चर्यपूर्वक) जो हमारे वंशके प्रवर्त्तक तथा तेजोराशि भास्कर भगवा हैं, जिन्हें त्रिवेदीसार माना गया है, पुष्पकपर चढ़नेसे हम उनके समीप आगये हैं ॥ २१ ॥

(सर्वे कपोतकेन प्रणमन्ति)

सीता—(उच्चैर्निरूप्य) अहो ! कथं दिनेऽपि तारकाचक्रमिवैतद्दृश्यते । (अम्मो ! कहं दिणम्मि वि तारआचक्कं विअ एदं दीसदि)

रामः—देवि ! तारकाचक्रमेवैतत् । अतिविप्रकर्षाद्रविकिरणप्रतिहतचक्षुर्भिर्न दृश्यते किल दिवसे । स विमानारोहणादपास्तः ।

सीता—(सकुतुकम्) कथं गगनवाटिकायां फुल्लानि कुसुमानीव दृश्यन्ते । (कहं गअणवाडिआए फुल्लाइं कुसुमाइं व्वदीसन्दि)

रामः—(समन्तादवलोक्य) कथमपरिच्छेद्यदिग्विभागमिव संप्रति जगत् । यतः—

संस्तूयन्ते विप्रकर्षाद्भौमा नोपाधयः स्फुटम् ।
आन्तरीक्षाः पुनरमी सर्वतः सदृशा इव ॥ २२ ॥

कपोतकेन=कपोताकृतिना अञ्जलिपुटेन ।

तारकाचक्रम्=नक्षत्रमण्डलम् । अतिविप्रकर्षात्=दूरत्वात् । रविकिरणप्रतिहतचक्षुभिः=सूर्यतेजोनिवर्त्तितनाक्षैः । सः=विप्रकर्षः, सूर्यतेजःप्रतिघातो वा ।

अपरिच्छेद्यदिग्विभागम्=अज्ञेयपूर्वापरादिदिग्भेदम् ।

संस्तूयन्त इति० विप्रकर्षात् दूरत्वात् भौमाः पार्थिवाः पर्वतादयः उपाधयः स्फुटम् स्पष्टतया न संस्तूयन्ते न परिचीयन्ते, आन्तरीक्षाः पुनरमी उपाधयः सर्वतः सदृशास्तुल्या इव । दिग्विभागोऽधुना न ज्ञायत इत्युक्तं तत्समर्थनायायं श्लोकः—दिशां भेदश्चोपाधिकृतः पूर्वा उदयाचलसंनिहिता, पश्चिमाऽस्ताचलसन्निहितेत्यादिकं हि दिशां लक्षणम् , तत्रोदयाचलास्ताचलादिरुपाधिः, स चोपाधिगणोऽतिदूरवर्त्तिभिः पुष्पकारूढैरामादिभिः स्फुटं न परिचीयतेऽतो दिशां विभागस्तैर्नावसीयते, ननु माभूद्भौम उपाधिः परिचितः, आन्तरीक्षस्तु तारादिरुपाधिः समीपस्थस्तदस्तु तत्सहाय-

---

(सब कबूतर के आकार से नमस्कार करते हैं)

सीता—(ऊपर देखकर) अहा ! यहाँ तो दिनमें भी तारामण्डल दीखता है ।

राम—देवि ! यह तारामण्डल ही है, बहुत दूर होने तथा सूर्यकिरणकी चिलचिलाहटसे दिनमें हम इसे नहीं देख पाते, वह प्रतिबन्धक हमारे ऊपर उठ आनेसे समाप्त हो गया है ।

सीता—(कौतुकसे) आकाशरूप वाटिकामें खिले फूलोंसे यह तारे दीखते हैं ।

राम—(चारो तरफ देखकर) इस समय संसारमें दिशाओंके भेदका ज्ञान ही नहीं हो रहा है ।

बहुत दूर होनेके कारण पृथ्वीतलके भेदकारी चिह्न मालूम नहीं पड़ रहे हैं और आकाशके भेदक उपाधि तो सभीके लिये समान ही है, फिर दिशायें कैसे जानी जायँ ॥२२॥

सुग्रीवः—देव ! भ्रातुः सौहार्देन विधेयीकृतो यदृच्छया दिगन्तेषु विचरन्नभ्युपपन्नवानस्मि । तथा हि—

उदयास्ताचलावेतौ यत्क्रोडे बाल्यवार्धके ।
विस्रम्भाच्चन्द्रसूर्याभ्यामतीयेते विनिर्भयम् ॥ २३ ॥

अवधत्तामितो देवः—

कैलासाञ्जनशैलावेतौ तुल्योन्नतत्वपरिणाहौ ।
चन्दनमृगमदलेपं गमितौ क्षोण्या नु वक्षोजौ ॥ २४ ॥

इतश्चायं काञ्चनाचलः । परतश्चायमभ्रंकषशिरः शिखरी गन्धमादनः । ततः परस्मादगम्या मादृशां भूमयः ।

तथादिग्विभागज्ञानं तदपि नेत्याहान्तरीक्षोपाधिगणस्य सर्वसाधारणत्वादसाधारणस्यैवोपाधेर्व्यावृत्तधीजननोपयोगित्वादिति भावः ॥ २२ ॥

भ्रातुः=वालिनः, सौहार्देन=प्रेम्णा, अभ्युपपन्नवान् = पूर्वदृष्टवान् ।

उदयेति॰ एतौ उदयास्ताचलौ उदयाद्रिः अस्ताद्रिश्च, यत्क्रोडे ययोरुदयाचलास्ताचलयोरुत्सङ्गे विस्रम्भात् विश्वासाद्धेतोः सूर्यचन्द्राभ्याम् बाल्यवार्द्धके विनिर्भयम् अशङ्कम् व्यतीयेते उदयाद्रौ बाल्यमस्ताचलेवार्द्धकं च यथाक्रमं याप्येते इत्यर्थः॥२३॥

कैलासेति॰ एतौ कैलासाञ्चनशैलौ कैलासाद्रिः अञ्जनाचलश्च तुल्योन्नतत्वपरिणाहौ उच्चतायां विशालतायाञ्च समानौ चन्दनमृगमदलेपंगमितौ चन्दनेन धवलेन कस्तूर्या श्यामवर्णया च लिप्तौ क्षोण्याः पृथिव्या वक्षोजौ स्तनौ नु । एकः स्तनश्चन्दनलिप्तः सकैलासः, अपरः कस्तूर्यालिप्तः सोऽञ्जनाद्रिरिति बोध्यम् । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥

अभ्रङ्कषशिराः = गगनचुम्बिशिखरः । शिखरी = पर्वतः । अगम्या मादृशाम् = अस्माभिः गन्तुमयोग्याः । भूमयः = स्वर्गभूमयः ।

सुग्रीव—देव ! भ्रातृप्रेमसे उनका आज्ञावर्त्ती बनकर यथेच्छ इन भागोंका भ्रमण कर चुका हूं ।

यह उदयाचल तथा अस्ताचल है जिनकी गोदोंमें चन्द्रमा तथा सूर्य इतमीनानसे लड़कपन तथा बुढ़ापेका सुख लूटते हैं ॥ २३ ॥

महाराज ! इधर ध्यान दें—

ये हैं कैलास और अञ्जनपर्वत, जो ऊँचाई और विशालतामें समान हैं, जिन्हें देखकर कस्तूरी और चन्दनसे लिप्त पृथिवीके स्तनका भ्रम होता है ॥ २४ ॥

इधर यह काञ्चनाचल है और इस ओर यह गगनचुम्बी शिखरवाला गन्धमादन पर्वत है । उसके बादकी भूमि हमारे लिये अगम्य है ।

रामः—(परितो विलोक्य । ससंभ्रमाद्भुतम्) कथमेकपद एव सर्वमहो चक्षुर्गोचरः ? परिच्छेद्या च सर्गस्थितिः ।

सीता—अहो ! इदं किमप्यदृष्टपूर्वमन्यादृशमेव दृश्यते न मानुषो नापि पशुः । (अम्मो ! एदं किं वि अदिट्ठपुव्वं अण्णारिसं जेव्व दीसइ ण माणुसो णावि पसू)

रामः—देवि ! अश्वमुखं किन्नरमिथुनमेतत् । प्रायेणैतासु भूमिष्वेवंविधानामेव भूयसां प्रचारः ।

विभीषणः—कथं संमुखमेवाभ्येति । प्रायेणालकेश्वरादेशधारिणानेन भवितव्यम् ।

(नेपथ्ये)

देव दिनकरकुलमणे रामभद्र ! भवन्तमेकपिङ्गाचलेश्वरनिदेशादुपश्लोकयितुं साकेतं प्रस्थितयोरावयोर्यात्रासुकृतपरिणामादन्तराल एव चक्षुर्विषयोऽसि । तन्निदेशपारतन्त्र्यमपि भूयसे गुणाय । यत्पुराणस्यैव पुंसोऽभिव्यक्तिपर्यायनिघ्नं महः साक्षात्क्रियते । (इति प्रदक्षिणीकृत्याभिवन्देते)

परिच्छेद्या=ज्ञातुं योग्या । सर्गस्थितिः=सृष्टिव्यवस्था ।

एवंविधानाम्=किन्नराणाम् । भूयसाम्=बहूनाम् ।

दिनकरकुलमणे=सूर्यवंशालङ्कार । एकपिङ्गाचलः=कैलासः, तस्य ईश्वरः स्वामी कुबेरः । उपश्लोकयितुम्=अभिनन्दयितुम् । साकेतम्=अयोध्याम् । यात्रासुकृतपरिपाकात् = प्रयाणजन्यपुण्यप्रवाहात् । अन्तराले=मध्ये । तन्निदेशपारतन्त्र्यम्=तदा-

राम—(चारों ओर देखकर, आश्चर्यके साथ) एकाएक सब कुछ क्यों दीख पड़ने लगा ? संसारको अब देख रहे हैं ।

सीता—अरी माँ ! यह अद्भुत तथा अदृष्टपूर्व क्या देख रही हूँ ? यह तो न मानुष है न पशु ।

राम—देवि ! यह अश्वमुख किन्नरोंकी जोड़ी है । प्रायः करके इधर ऐसे ही लोग अधिक हैं ।

विभीषण—यह तो इधर ही आ रहा है । शायद यह कुबेरका सन्देश ला रहा है ।

(नेपथ्यमें)

देव ! सूर्यवंश तिलक ! रामभद्र ! हमलोग कुबेरकी आज्ञासे आपकी स्तुति करने अयोध्या जा रहे थे, यात्राके पुण्यसे आप मार्गमें ही मिल गये । उनकी आज्ञाका मानना हमारे लिये बड़ा गुणप्रद हुआ, क्योंकि आदि पुरुषस्वरूप तेजके दर्शनोंका सौभाग्य पा रहा हूं ।

(सर्वे निरूपयन्ति)

(पुनर्नेपथ्ये)

किन्नरः—

आपन्नवत्सल जगज्जनतैकबन्धो विद्वन्मरालकमलाकर रामचन्द्र ।
जन्मादिकर्मविधुरैः सुमनश्चकोरैराचम्यतां तव यशः शरदां सहस्रम् ॥

(तत्रैव)

किन्नरी—

यावत्फणीन्द्रशिरसि क्षितिचक्रमेतद्यावत्पुनर्ग्रहगणैः शबलं विहायः ।
वैदेहि तावदमलो भुवनेषु पुण्यः श्लोकः प्रशस्तचरितैरुपगीयतां ते ॥२६॥

ज्ञावर्त्तित्वम् । पुराणस्य पुंसः=आदिपुंसः परमेश्वरस्य । अभिव्यक्तिपर्यायनिष्ठम्=अवतारक्रमवर्त्ति महः=त्वत्स्वरूपं ज्योतिः । अलकेश्वरावर्त्तित्वादेवेश्वरावताररूपं त्वां साक्षात्कर्तुमवसरं लब्धवानस्मीति भावः ।

आपन्नवत्सलेति० आपन्नवत्सल, विपन्नजनप्रियः, जगज्जनतैकबन्धो संसारबान्धव, विद्वन्मरालकमलाकर विद्वद्धंससेवित, रामचन्द्र, जन्मादिकर्मविधुरैः जन्ममृत्युजरारहितैः सुमनश्चकोरैः देवचकोरैः तव यशः कीर्त्तिः शरदां सहस्रम् सहस्रवत्सरपर्यन्तम् आचम्यताम् पीयताम । चकोराश्चन्द्रकरान् पिबन्ति तेन यशसश्चन्द्रधवलता व्यङ्ग्या । परम्परितरूपकमलङ्कारः ॥ २५ ॥

यावदिति० हे वैदेहि सीते, यावत् एतत् क्षितिचक्रम् धरणीमण्डलम् फणीन्द्रशिरसि शेषमस्तके, यावत् पुनः विहायः आकाशदेशः ग्रहगणैः शबलम् ताराभिः खचितम् , तावत् भुवनेषु सप्तस्वपि लोकेषु पुण्यः पवित्रः अमलः निर्दोषः ते तव श्लोकः यशःप्रशस्तिः प्रशस्तचरितैः पवित्राचारैः जनैः गीयताम् । आकल्पावसानं पुण्यकर्माणस्तव यशो गायन्तु इति भावः ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २६ ॥

(सब देखते हैं)

(फिर नेपथ्यमें)

किन्नर—हे विपन्नजन प्रिय ! संसारके बान्धव ! विद्वान् रूपमण्डलोंके आश्रय ! रामचन्द्र ! जन्ममरणरूप कर्म बन्धनोंसे रहित देवताचकोर ! आपके यशको हजारों वर्षों तक चुगते रहेंगे ॥ २५ ॥

(वहीं)

किन्नरी—जब तक शेषनागपर यह पृथ्वी है और जब तक तारे आकाशमें हैं, तब तक त्रिलोकीमें आपका निर्मल यश लोग गाया करेंगे ॥ २६ ॥

(दम्पती मन्दाक्षं नाटयतः)

इतरे—प्रियं नः प्रियम् ।

रामः—लङ्केश्वर ! चिरसंचरणादत्र नानुरोधं तर्कये । तद्वरमितो मध्यमलोकसांनिध्येन गन्तुम् ।

विभीषणः—देव !

एते ते सुरसिन्धुधौतदृषदः कर्पूरखण्डोज्ज्वलाः
पादा जर्जरभूर्जवल्कलभृतो गौरीगुरोः पावनाः ।
तत्त्वालोकनिरस्तमोहतमसामध्यात्मविद्याजुषां
यत्र ब्रह्मविदां निसर्गमधुरं जागर्ति सौम्यं महः ॥ २७ ॥

लक्ष्मणः—आर्य ! कथमेते भुवां परिसराः संस्तुतपूर्वान्यविषयग्राहित्वं न क्षमन्ते चक्षुषोः ।

अनुरोधम्=मनसः कामयमानताम् ।

एते त इति० **सुरसिन्धुधौतदृषदः देवापगाप्रक्षालितशिलाखण्डाः कर्पूरखण्डोज्ज्वलाः कर्पूरक्षोदधवलाः जर्जरभूर्जवल्कभृतः अतिजीर्णभूर्जत्वग्धराः पावनाः पवित्रयितारः एते ते प्रसिद्धाः गौरीगुरोः हिमालयस्य पादाः प्रत्यन्तशैलाः, (दृश्यन्त इति शेषः) यत्र हिमवत्पादेषु तत्त्वालोकनिरस्तमोहतमसाम् परमार्थसाक्षात्कारेण क्षपिताज्ञानानाम् अध्यात्मविद्याजुषाम् वेदान्तविद्यारसिकानाम् ब्रह्मविदाम् निसर्गमधुरम् स्वभावरमणीयम् सौम्यम् अनुग्रं शान्तम् महः तेजः जागर्त्ति । यत्र ब्रह्मनिष्ठास्तपश्चरन्ति, ये तत्त्वज्ञाः, वेदान्तरसिकाश्च सन्ति तादृशा हिमवत्पादा एत इत्यर्थः ॥**

परिसराः = प्रान्तदेशाः । संस्तुतपूर्वान्यविषयग्राहित्वम् = अपरिचितवस्तुदर्श-

---

(दम्पती आनन्दपूर्वक नाचते है)

इतरजन—बड़ी खुशी ।

राम—यहाँ हम बहुत देर तक घूमते रहे । अब कोई रुकावट नहीं रही । अब हम मध्यमलोकके पाससे गुजरें यही अच्छा होगा ।

विभीषण—ये हिमालयके पवित्र शिखर हैं जिनके चरणको गङ्गा धो रही है और जो कर्पूरकी तरह स्वच्छ हैं और जहाँ पुराने भूर्ज वल्कल हैं । अध्यात्मविद्याके प्रेमी तत्व-ज्ञानसे अज्ञानको दूर हटा देनेवाले ब्रह्मज्ञानियोंके स्वभाव सुन्दर तेज जहाँ बिखर रहे हैं ॥ २७ ॥

लक्ष्मण—आर्य ! ये भूखण्ड क्यों लोगोंको इतना आकृष्ट करते हैं कि उन्हें छोड़ किसी नवीन वस्तुको देखनेका मन ही नहीं होता है ।

रामः—(निरूप्य । सस्मरणावेगम्) वत्स ! ता एवैता गुरूणां कौशिकपादानां संचरणेन पवित्रितपर्यन्तास्तपोवनभूमयः। यत्र तु तत्रभवता याज्ञवल्क्यान्तेवासिना द्वितीयेन विदेहाधिपतिना सह तत्संलापामृतप्रमोदमनुभवतां गुरूणां लालनीयाभ्यामावाभ्यां बाल्योचितमुल्ललितम् ।

सीता—(स्वगतम्) कथं कनिष्ठतात इति श्रूयते ? (इति परितः सस्पृहमालोकयते) (कहं कणिट्ठतादो त्ति सुणीअदि)

रामः—लङ्केश्वर ! नोचितमिदानीं गुरुचरणपङ्कजपवित्रितेषु परिसरेषु विमानाधिरोहणम् ।

(नेपथ्ये)

भो भो रामलक्ष्मणौ ! स भगवान्कृशाश्वान्तेवासी वां समाज्ञापयति ।

उभौ—(विमानाधिदेवतामिङ्गितेन स्तम्भाय नियुज्य) अवहितौ स्तः ।

(पुनर्नेपथ्ये)

नम् । एते परिसराः परिचितान्येव वस्तूनि पुनः पुनर्द्रष्टुमुत्सुकयन्ति, नवीनवस्तुदर्शनायावसरमेव न ददतीत्यर्थः ।

कौशिकपादानाम् = विश्वामित्राणाम् । पवित्रितपर्यन्ताः=पूतपरिसराः । विदेहाधिपतिना = कुशध्वजेन । संलापामृतप्रमोदम् = वार्त्तालापसुधास्वादम् । बाल्योचितम्=बाल्यावस्थानुरूपम् । उल्ललितम् = क्रीडितम् । गुरुचरणपङ्कजपवित्रितेषु = गुरुचरणसञ्चारपूतेषु तपोवनेषु ।

कृशाश्वान्तेवासी = विश्वामित्रः ।

राम—(देखकर, स्मरणके आवेग में) वत्स ! यही वह गुरुवर कौशिकके सञ्चरणसे पवित्र प्रान्त तपोवन भूमि है, जहाँपर पूज्य याज्ञवल्क्यके शिष्य द्वितीय विदेहाधिपति कुशध्वजके साथ गुरु महाराज बातें करते थे और हमें दुलारसे खुश भी रखते थे ।

सीता—(स्वगत) छोटे बाबूजीका नाम कैसे सुनाई पड़ा ? (चारों ओर सस्पृह नयनोंसे देखती है)

राम—लङ्केश्वर ! गुरु चरणरजसे पवित्र भूमिमें विमानपर चलना उचित नहीं है ।

(नेपथ्यमें)

हे रामलक्ष्मण ! महाराज विश्वामित्र आपको आज्ञा दे रहे हैं ।

रामलक्ष्मण—(विमानको संकेतसे ठहरनेकी आज्ञा देकर) हम सावधान हैं ।

(फिर नेपथ्यमें)

पुरीं यथा स्थितौ यातं विलम्बेथां च मान्तरा।
अरुन्धतीसहचरं ज्योतिर्वां संप्रतीक्षते ॥ २८ ॥

अहमपि तृतीयकालक्रियानुसंधानपरवान्मुहूर्तद्वयेनागत एव।

उभौ—यथाज्ञापयन्ति गुरवः। (पुनर्विमानं प्रतिष्ठेते)

रामः—अहो! महात्मानोऽपि वात्सल्यपरतन्त्राः। यन्महिम्ना तपःस्वाध्याययोर्लवशो विभक्ते समये तत्राप्यागमनमनुरुध्यन्ते। अथवा युक्तमेवैतत्। यतः करुणापारतन्त्र्येण मृदुस्वभावास्ते तपोवनरुरुषु तरुषु च किं मनुष्येषु। विशेषस्तु

राज्ञां मार्तण्डवंश्यानां गृहे नौ जन्म केवलम्।
शास्त्रास्त्रज्ञानमुख्यस्तु संस्कारोऽस्मान्महात्मनः॥ २९ ॥

पुरीमिति० युवाम् रामलक्ष्मणौ यथास्थितौ विमानस्थौ एव पुरीम् अयोध्याम् यातम् गच्छतम् अन्तरा मा विलम्बेथाम् विलम्बं कुरुतम्। अरुन्धती सहचरम् ज्योतिः वसिष्ठाभिधं महः वाम् युवाम् सम्प्रतीक्षते प्रतीक्षमाणं तिष्ठति। तदलमत्रावरोहणेनेत्याशयः॥ २८॥

तृतीयकालक्रियानुसन्धानपरवान् = तृतीयकालो मध्याह्नं तस्मिन् क्रिया पितृकृत्यम् तदनुसान्धानपरवान् तदनुष्ठानासक्तः।

वात्सल्यपरतन्त्राः = प्रेमवशगाः, यन्महिम्ना = यस्य प्रेम्णः प्रभावेण, तपःस्वाध्याययोर्लवशो विभक्ते समये = तपसि स्वाध्याये च नियुक्ते सकले क्षणे। तत्रापि = अयोध्यायामपि। करुणापारतन्त्र्येण = दयावशगत्वेन। मृदुस्वभावाः = अकठोरप्रकृतयः। रुरुषु = मृगेषु। तरुषु = वृक्षेषु। ये वृक्षेषु मृगेषु च मृदवस्ते यदि मादृशे मनुजे मृदुस्वभावास्तन्नास्वाभाविकमिति भावः।

राज्ञामिति० मार्त्तण्डवंश्यानाम् सूर्यकुलोत्पन्नानां राज्ञां महीभृताम् गृहे नौ आवयोः केवलम् जन्म उत्पत्तिमात्रम्, शास्त्रास्त्रज्ञानमुख्यः वेदधनुर्विद्याज्ञानप्रधान-

---

आपलोग यथास्थित अवस्थामें ही साकेतपुरी जांय, बीचमें मत रुकें, भगवान् वसिष्ठरूप ज्योति आपकी प्रतीक्षामें है॥ २८॥

हम भी मध्याह्निकालिक कृत्य समाप्त करके दो घड़ीमें ही आरहे हैं।

दोनों—गुरुदेवकी जो आज्ञा। (विमान फिर चलता है)

राम—अहा! महात्मा भी प्रेम परतन्त्र होते हैं। यह प्रेमका ही प्रभाव है कि वह अयोध्या आनेको तत्पर है यद्यपि उनका क्षण क्षण तपःस्वाध्यायमें बंटा हुआ है। अथवा—उचित ही है, वह तो करुणाके चलते तपोवनके मृगों और वृक्षोंपर भी दयार्द्रदृष्टि रखते हैं। खासकर—सूर्यवंशियोंके घर तो हमारा केवल जन्म ही हुआ, शास्त्र तथा अस्त्रविद्याकी शिक्षा तो हमें यहीं प्राप्त हुई॥ २९॥

विभीषणः—(विलोक्य) किमिदमकाण्ड एव नीहारजालैरिव क्ष्मारजोभिराच्छाद्यन्ते ककुभः ।

(सर्वे सविस्मयं पश्यन्ति)

रामः—(सवितर्कम्) मन्ये प्राभञ्जनेरस्मत्प्रवृत्तिमुपलभ्य मां प्रत्युद्यातीह ससैन्यो भरतः ।

(प्रविश्य)

हनूमान्—(सपादपङ्कजस्पर्शं प्रणम्य) देव !

स्थितो ध्यायन्नन्तः किमपि चरितं स्वेन भवत-
श्चिरं वार्तामेनामथ मदुपलभ्य प्रचलितः ।
जटी चीरी रामेत्यमृतविभवं नाम रसय-
न्मुहुर्हर्षोद्भ्रान्तप्रकृतिसहितोऽभ्येति भरतः ॥ ३० ॥

स्तु संस्कारः शरीरात्मशुद्धिकरो व्यापारविशेषस्तु अस्मात् विश्वामित्ररूपान्महात्मनः । वयं सूर्यवंशे जाताः केवलं विद्या धनुर्वेदादिशिक्षयोत्कर्षं त्वनेनैव प्रापितास्तद्युज्यतेऽत्रास्माकं बहुमान इत्याशयः ॥ २९ ॥

नीहारजालैः=अवश्यायसञ्चयैः, कुहनाभिरिति यावत् । क्ष्मारजोभिः=भूरेणुभिः । ककुभः = दिशः । प्राभञ्जनेः = हनुमतः । प्रत्युद्याति = स्वागतार्थं प्रत्युद्गच्छति । ससैन्यः=सेनासमेतः ।

स्थित इति० स्वेन आत्मना भवतः किमपि चरितम् अन्तः हृदये ध्यायन् चिन्तयन् चिरं दीर्घकालं यावत् (नन्दिग्रामे) स्थितः, अथ मत् मम सकाशात् एनाम् त्वदागमनरूपाम् वार्त्ताम् वृत्तान्तम् उपलभ्य ज्ञात्वा प्रचलितः कृतप्रस्थानः, जटी

विभीषण—(देखकर) यह क्या असमयमें कुहरेके समान पृथ्वीरजसे दिशायें आवृत हो रही हैं ।

(सभी आश्चर्यसे देखते हैं)

राम—(अन्दाज करके) मालूम पड़ता है कि हनुमान्‌से हमारा समाचार जानकर ससैन्य भरत हमारी अगवानी करने आरहे हैं ।

(प्रवेश करके)

हनूमान्—(चरण वन्दनाकर) देव !

हृदयमें आपके चरितका ध्यान करते हुए हमारे द्वारा आपका समाचार जानकर जटाधारी वल्कल पहने अमृत समान आपका नाम लेते हुए सभी प्रकृतिसे सहर्ष अनुयात भरत चल पड़े हैं ॥ ३० ॥

रामः—(सोल्लासम्) अहो ! चिरायायुष्मत्सौहार्दमुपलभामह इति सर्वानन्दानामुपरि वर्त्तामहे ।

लक्ष्मणः—(सौत्सुक्यम्) सखे मारुते ! कुत्रार्यः ?

हनूमान्—य एते सैन्यस्य पुरतः पञ्चषास्तन्मध्ये पुरःसरः सानुजः स महात्मा भरतः ।

(लक्ष्मणो निर्वर्णयति)

सीता—(निरूप्य) कथमन्यादृशा एव दृश्यते । (कहं अण्णारिसो जेव्व दीसइ)

विभीषणः—हंहो विमानराज ! चिराय बन्धुजनदर्शनालिङ्गनसंभावनादिना मिथोऽङ्गप्रमोदमनुभवन्त्वेते महानुभावाः । तत् क्षणं विरम ।

(सर्वे विमानावतरणं नाटयन्ति)

जटाधरः चारी वल्कलपरिधानः अमृतविभवम् सुधासोदरम् रामेति नाम रसयन् जयन् मुहुः पुनःपुनः हर्षोद्भ्रान्ता आनन्दमत्ताः प्रकृतिः प्रधानामत्यादयस्तया सहितः भरतः अभ्येति भवदन्तिकमायाति । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३० ॥

चिराय = बहोः कालात् परतः । आयुष्मत् सौहार्दम्=भरतस्य प्रेम । सर्वानन्दानामुपरि वर्त्तामहे = सर्वानन्दाधिकमानन्दमनुभवामीत्यर्थः ।

पुरस्सरः = अग्रगः, सानुजः = शत्रुघ्नानुयातः ।

बन्धुजनदर्शनालिङ्गनसम्भावनादिना=दर्शनेन आलिङ्गनेन आदरणेन च । दर्शनेन चक्षुषोः, आलिङ्गनेन हृदयाद्यङ्गस्य, संभावनेन हृदयस्य प्रमोद इति विवेकः । अङ्गप्रमोदम् = अवयवगतमानन्दम् । विरम = तिष्ठ ।

राम—(प्रसन्नतासे) अहो ! बहुत दिनोंपर भरतके प्रेमकी प्राप्ति होगी—यह सभी आनन्दोंसे बढ़कर है ।

लक्ष्मण—(उत्सुकतासे) भाई हनूमान् ! भरत कहाँ हैं ?

हनूमान्—सेनाओंके आगे ये जो पांच छः जन हैं उनके बीचमें सानुज भरत हैं ।

(लक्ष्मण देखते हैं)

सीता—(देखकर) ये कैसे दीख पड़ते हैं ?

विभीषण—विमानराज! थोड़ा ठहर जा, इन चिर बिछुड़े भाइयोंके अङ्ग परस्परालिङ्गन सुखका अनुभव कर लें ।

(सभी विमानसे उतरते हैं)

(ततः प्रविशतः कतिचनप्रधानपुरुषपरिवृतौ भरतशत्रुघ्नौ)

रामः—(सरभसं पादपतितं भरतमुत्थाप्य) एह्येहि वत्स !

अनुभावयति ब्रह्मानन्दसाक्षात्क्रियामिव ।
स्पर्शस्तेऽद्य वराम्भोजप्रस्फुरन्नालकर्कशः ॥ ३१ ॥

(इति निर्भरमालिङ्ग्य विसृजति)

(लक्ष्मणः सपादपतनं भरतमालिङ्गति)

(शत्रुघ्नो रामलक्ष्मणावभिवादयते)

उभौ—कुलस्थितिमनुवर्तस्व ।

(भरतशत्रुघ्नौ दण्डवत्सीतां प्रणमतः)

सीता—कुमारौ ! ज्येष्ठयोर्भ्रात्रोरभिमतौ भवतम् । (कुमारा ! जेट्ठाणं भादुआणं अभिमदा होह)

अनुभावयतीति० अद्य वरम् उत्तमम् अम्भोजम् तस्य प्रस्फुरत् विकसत् यत् नालम् दण्डः तद्वत् कर्कशः कठोरः ते तव स्पर्शः शरीरालिङ्गनम् ब्रह्मानन्दसाक्षात्कियाम् ब्रह्मानन्दमिव अनुभावयति प्रत्यक्षीकारयति । यथा ब्रह्मानन्दस्तथा त्वदालिङ्गनजन्मा प्रमोद इत्यर्थः । भरतशरीरस्यानन्दजरोमाञ्चावृततया सकण्टककमलनालोपमेति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

कुलस्थितिम् = वंशमर्यादाम् ।

अभिमतौ = आज्ञावर्तिनौ ।

(कुछ प्रधान कर्मचारियोंके साथ भरत शत्रुघ्नका प्रवेश)

राम—(दौड़कर पादपतित भरतको उठाकर) आओ भाई आओ ।

श्रेष्ठकमल नालके समान रोमाञ्चसे कण्टकित तुम्हारी देहका आलिङ्गन ब्रह्मास्वाद सुखको दे रहा है ॥ ३१ ॥

(भलीभांति भेंटकर छोड़ देते हैं)

(लक्ष्मण चरणोंपर गिरकर भरतसे भेंट करते हैं)

(शत्रुघ्न राम और लक्ष्मणको प्रणाम करते हैं ।)

दोनों—कुलमर्यादाकी रक्षा करना ।

(भरत और शत्रुघ्न सीताको दण्डवत् करते हैं)

सीता—कुमारो ! बड़े भाइयोंकी आज्ञामें रहो ।

रामः—वत्सौ भरतशत्रुघ्नौ !

अस्माकं व्यसनाम्भोधावयं पोतत्वमागतः ।
कपीन्द्रोऽयं च लङ्केन्द्रो मित्रं धर्महिते रतः ॥ ३२ ॥

तत् परिष्वजतम् । (इति सुग्रीवविभीषणौ दर्शयति)

(भरतशत्रुघ्नौ तौ परिष्वज्य यथोचितमुपचरतः)

भरतः—आर्य ! कुलगुरुर्नो भगवान्मैत्रावरुणिः सिंहासनग्रहे संपादित-सकलाभिषेकसंभारो भवन्तं प्रतीक्षते । यथाज्ञापयत्यार्यः ।

रामः—(स्वगतम्) कौशिकपादाः प्रतीक्षणीयाः स च भगवान्मैत्राव-रुणिरेवमाज्ञापयति । भवतु । समयोचितं प्रतिकरिष्यते । (प्रकाशम्) यथा-ज्ञापयति कुलगुरुः ।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

अस्माकमिति० व्यसनाम्भोधौ दुःखार्णवे पोतत्वम् नौ भावम् आगतः, तारकत्वं गत इत्यर्थः, कपीन्द्रः वानरश्रेष्ठः सुग्रीवः अयम् , धर्महिते धर्मेण युक्ते हिते उपकारे रतः संलग्नः मित्रम् अस्माकं सुहृत् लङ्केन्द्रः विभीषणश्चायम् । अत्रावसरे रघुवंशे कालिदा-सस्त्वेवमाह—'दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष रणमूर्ध्नि पुरः प्रहर्त्ता' ॥३२॥

मैत्रावरुणिः = वसिष्ठः । सिंहासनग्रहे=राज्यसिंहासनं त्वया ग्राहयितुम् । सम्पा-दितसकलाभिषेकसम्भारः = प्रस्तुतसकलराज्याभिषेकापेक्षितसामग्रीसमुदयः । भव-न्तम्प्रतीक्षते = भवदागमनं समुत्सुकः कामयते ।

कौशिकपादाः = विश्वामित्राः, प्रतीक्षणीयाः = अनुमतिग्रहणार्थं प्रतीक्षया ध्या-तव्याः । एवम् = त्वरया राज्यासनग्रहणम् ।

राम—भाइ भरत और शत्रुघ्न ! हमारे दुःखसागरमें नावका काम देनेवाले ये सुग्रीव और धर्मतत्पर विभीषण हैं ॥ ३२ ॥

इनसे मिल लो । (सुग्रीव-विभीषणको दिखलाते हैं)

(भरत शत्रुघ्न उनसे मिलकर यथोचित सत्कार करते हैं)

भरत—हमारे कुलगुरु वसिष्ठ आपके राज्याभिषेककी पूरी तैयारी करके आपकी प्रतीक्षा में हैं । आपकी जैसी आज्ञा हो ।

राम—(स्वगत) विश्वामित्रकी प्रतीक्षा करनी चाहिये, वसिष्ठकी यही आज्ञा है, अच्छा, यथाकाल कार्य कर लूंगा । (प्रकाश) कुलगुरुकी जो आज्ञा ।

(सभी चलते हैं)

(ततः प्रविशति वसिष्ठो दशरथकलत्रैरुपचर्यमाणारुन्धती च)

वसिष्ठः—(स्वगतम्)

क्षमायाः स क्षेत्रं गुणमणिगणानामपि खनिः
प्रपन्नानां मूर्तः सुकृतपरिपाको जनिमताम् ।
कृपारामो रामो बहिरिह दृशोपास्यत इति
प्रमोदाद्वै तस्याप्युपरि परिवर्तामह इमे ॥ ३३ ॥

भवतु । तथापि लोकयात्रानुवर्तनीया । (प्रकाशम्) वध्वौ कौशल्यासुमित्रे ।

उभे—आज्ञापयतु कुलगुरुः । (आणवेदु कुलगुरू)

वसिष्ठः—दिष्ट्याक्षतप्रतिनिवृत्तवत्से स्तः ।

उभे—युष्माकमाशिषां प्रभावः । (तुह्माणं आसिसाणं पहावो)

दशरथकलत्रैः = कौसल्यादिभिर्दशरथभार्याभिः । उपचर्यमाणा = सेव्यमाना ।

क्षमाया इति० **सः रामः क्षमायाः क्षेत्रम् क्षमाशीलः, गुणा एव मणयो रत्नानि तेषां गणाः समुदयास्तेषां खनिः उद्भवस्थानम् अपि सर्वगुणाकरः, प्रपन्नानाम् शरणागतानाम् जनिमताम् शरीरिणाम् मूर्त्तः देहधरः सुकृतपरिपाकः पुण्यपरिणामः, कृपारामः परमदयालुः इह अत्र स्थाने बहिर्दृशा बाह्यदृष्ट्या उपास्यते सेव्यते (अन्तर्दृष्ट्या तु सर्वैः साधकैरयं ध्यायत एवेति ध्वनिः) इति प्रमोदात् आनन्दात् उपरिवर्त्तामहे आत्मानम् उत्कृष्टं प्रतीमः ॥ ३३ ॥**

लोकयात्रा = लोकाचारः, यद्यपि परमार्थेऽयमुपास्योऽहमुपासकः परं साऽन्या कथा सम्प्रति यजमानपुरोहितभावेन वर्त्तनमेवात्र लोकाचार इति बोध्यम्। अनुवर्त्तनीया = अनुसर्त्तव्या । अक्षतप्रतिनिवृत्तवत्से=अनाहतपरागतपुत्रे । इदं स्त्रीलिङ्ग-प्रथमाद्विवचने रूपम्।

(वसिष्ठ और दशरथकी पत्निओंसे सेवित अरुन्धतीका प्रवेश)

वसिष्ठ—(स्वगत)—जो राम क्षमाके निधान और गुणगणोंकी खान हैं, शरणागतोंके पुण्योंके परिणाम है वे ही हमारी आंखोंके समान हैं, इस आनन्दसे सभी तरहके आनन्दोंके ऊपर हो रहा हूं ॥ ३३ ॥

खैर, फिर भी लोकाचारकी रक्षा करना है । (प्रकाश) कौसल्या सुमित्रा ।

दोनों—कुलगुरु आज्ञा दें ।

वसिष्ठ—भाग्यवश तुम्हारे बच्चे बचकर चले आये हैं ।

दोनों—आपके आशीर्वादोंका फल है ।

अरुन्धती—(कैकेयीं विलोक्य) वत्से कैकेयि ! किमेवमतिदुर्मनायसे ?

कैकेयी—अम्ब ! मम मन्दभागिन्या अधन्यतया सकलोऽपि लोक एवं कौलीनं भणति । यद्वत्सयोः प्रवासजननी मध्यमजननी मन्थरामुख आसीत् । तत्कथं वत्सयोर्मया मुखं प्रेक्षितव्यम् ? (अम्ब ! मह मन्दभाइणीए सअलो वि लोओ एव्वं कोलीणं भणदि । जं वच्छाणं प्रवासजणणी मज्झिमजणणी मन्थरा मुहे आसि । ता कहं वच्छाणं मए मुहं पेक्खिदव्वम्)

अरुन्धती—वत्से ! अलं वृथा कौलीनशङ्कया । आर्यमिश्रैरयमर्थस्तदैवान्तरेण चक्षुषा साक्षात्कृतः ।

सर्वाः—कथमिव ? (कहं विअ)

अरुन्धती—मन्थरारूपधारिण्या शूर्पणखया माल्यवद्वचनादेतद्विहितमिति ।

सर्वाः—अहो राक्षसानां दुष्टताभियोगो य इहस्थितमबलाजनमपि बाधते । (अहो रक्खसाणं दुट्ठताभिओओ जो इहट्ठिदं अवलाजणं वि बाधेदि)

कौलीनम् = कलङ्कम्, कौलीनस्य कलङ्कार्थे प्रयोगः कालिदासस्य रघुवंशे यथा—'कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे' इति । प्रवासजननी = वनवासदात्री, मध्यमजननी = कैकेयी । मुखं प्रेक्षितव्यम् = दृष्टिपथेऽवतरणीयम् ।

कौलीनशङ्कया = कलङ्कभयेन । आर्यमिश्रैः=पूज्यैर्वसिष्ठपादैः । तदैव=तस्मिन्नेव काले । आन्तरेण चक्षुषा=ध्यानदृशा । साक्षात्कृतः=दृष्टः ज्ञातः ।

दुष्टताभियोगः=दुष्टभावनाप्रयोगः । अबलाजनम्=स्त्रियम् । बाधते=कलङ्कदानेन पीडयति । यत्किञ्चिद्दुःखैः=येन केनाप्यनुतापादिना खेदेन ।

अरुन्धती—(कैकेयीको देखकर) बहन कैकेयी ! इस तरह उदास क्यों हो ?

कैकेयी—मां हमारे अभाग्यसे सभी इस तरहका कलङ्क लगाते हैं । वे कहते हैं कि रामलक्ष्मणके वनवासका कारण मंझली मां ही है । फिर उनके सामने मैं कैसे हो सकती हूँ ?

अरुन्धती—बहन ! कलङ्ककी शङ्का व्यर्थ है, पूज्य वसिष्ठने अध्यात्म दृष्टिसे यह बात पहले ही जान ली थी ।

सभी स्त्रियाँ—कैसे ?

अरुन्धती—माल्यवान्के कहनेसे मन्थराका रूप धारणकर शूर्पणखाने ऐसा किया था ।

सभी स्त्रियाँ—अहो ! राक्षसोंकी दुष्टता आश्चर्यजनक है, उन्होंने यहाँकी स्त्रियोंको भी पण्डित किया ।

वसिष्ठः—हुं मङ्गलसमयेऽलमल यत्किंचिद्दुःखैः का पुनरद्यापि राक्षसाभियोगवार्ता ।

रामः—(वसिष्ठं विलोक्य । सोल्लासम्) स एष भगवान्मैत्रावरुणिः ।

यद्दर्शनात्किमप्येवं द्रवीभवति मे मनः ।
राकासुधाकरलोकादिन्दुकान्तोपलो यथा ॥ ३४ ॥

(लक्ष्मणं प्रति) वत्स ! इत इतः ।

उभौ—(उपसृत्य) भगवन् कुलगुरो ! रामलक्ष्मणावभिवादयेते ।

वसिष्ठः—

चक्षुषां स्वस्वसमये संस्कारित्वं समाप्नुताम् ।
वत्सौ नयेन धर्मेण ज्ञानेन च पुरस्कृतम् ॥ ३५ ॥

(उभावरुन्धतीमभिवन्देते)

अरुन्धती—इष्टैर्युज्येथाम् ।

यद्दर्शनादिति० **मे मम रामचन्द्रस्य मनः राकासुधाकरस्य पार्वणशशिनः आलोकात् दर्शनात् इन्दुकान्तोपलः चन्द्रकान्तमणिः यथा किमप्येवं यद्दर्शनाद् द्रवीभवति गलति आनन्दसान्द्रं भवतीत्याशयः ॥ ३४ ॥**

चक्षुषामिति० **हे वत्सौ, नयेन नीत्या धर्मेण ज्ञानेन च पुरस्कृतं विभूषितम् चक्षुषां संस्कारित्वम् विशुद्धत्वम् स्वस्वसमये यथोचितकाले समाप्नुताम् लभेताम् । नीतिप्रयोगसमये धर्मव्यवहारकाले ज्ञानानुशीलनवेलायाञ्च भवतोश्चक्षूंषि संस्कारित्वम् विशुद्धभावमनावृतत्वं दोषापिहितत्वं वा लभन्ताम् इत्याशयः ॥ ३५ ॥**

वसिष्ठ—हुं, इस मंगल के समय में किसी प्रकार का दुःख नहीं करना चाहिये । राक्षसोंकी अब बात ही क्या है ।

राम—(वसिष्ठको देखकर, प्रसन्नतासे) ये ही तो वसिष्ठ महाराज हैं । उनके दर्शनोंसे हमारा हृदय आर्द्र हो रहा है जैसे चन्द्रमाके दर्शनोंसे चन्द्रकान्तमणि द्रुत होता है ॥ ३४ ॥

(लक्ष्मणसे) भाई ! इधर आना ।

दोनों—(समीप जाकर) भगवन् कुलगुरु ! राम और लक्ष्मण आपको प्रणाम करते हैं ।

वसिष्ठ—बच्चो ! तुम्हारी आंखें नीतिधर्म और ज्ञानके प्रयोगकालमें परिशुद्ध रहा करें जिससे तुम इनमें सद्विचारसे कार्य कर सको ॥ ३५ ॥

(दोनों अरुन्धतीको प्रणाम करते हैं)

अरुन्धती—तुम्हारी इष्ट सिद्धि हो ।

(उभौ क्रमेण सर्वा मातृरभिवन्देते)

सर्वाः—(तौ निर्भरं परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय) यद्वयं चिन्तयामस्तद्युष्माकं भवतु। (जं अम्हे चिन्तेमो तं तुह्माणं होदु)

(सीतोपसृत्य वसिष्ठं प्रणमति)

वसिष्ठः—वत्से ! वीरप्रसविनी भव।

(सीतारुन्धतीं प्रणमति)

अरुन्धती—(सीतां निर्भरमालिङ्ग्य)

लोपामुद्रानसूयाहमिति तिस्रस्त्वया सह।
पतिव्रताश्चतस्रोऽत्र सन्तु जानकि सांप्रतम् ॥ ३६ ॥

(सीता श्वश्रूरभिवन्दते)

सर्वाः—जाते ! कुलप्रतिष्ठापकदारकप्रसविनी भव। (जादे ! कुलपडिट्ठावअदारअप्पसविणी होहि।

(नेपथ्ये)

वीरप्रसविनी=वीराणां जननी।

लोपामुद्रेति० लोपामुद्राऽगस्त्यपत्नी, अनसूया प्रसिद्धा, अहमरुन्धती चेति तिस्रः पतिव्रताः सम्प्रति चतुर्थी त्वया चतस्रः सन्तु, त्वमप्यमूभिः सदृशी पतिव्रता जातेति

कुलप्रतिष्ठापकदारकप्रसविनी=कुलमर्यादावर्द्धकसुतजननी।

(दोनों क्रमशः सभी माताओंको प्रणाम करते हैं)

सभी मातायें—(उनका आलिङ्गन करके और माथा सूंघकर) तुम्हें वह प्राप्त हो जो हम चाहती हैं।

(सीता समीप जाकर वसिष्ठको प्रणाम करती है)

वसिष्ठ—बेटी ! वीरप्रसवा बनो।

(सीता अरुन्धती को प्रणाम करती हैं)

अरुन्धती—(सीताको गले लगाकर)

लोपामुद्रा, अनसूया और मैं तीन पतिव्रतायें प्रसिद्ध थीं, अब तुम्हें लेकर चार पतिव्रतायें गिनी जाया करेंगी ॥ ३६ ॥

(सीता सासों को प्रणाम करती हैं)

सभी—बेटी ! वंशधर पुत्रसे युक्त होओ।

(नेपथ्यमें)

प्रवर्तन्तां पौराः प्रतिसदनमद्योत्सवविधौ
चिरं स्वे स्वे कर्मण्यथ समवधत्ताप्यधिकृताः ।
यथोक्तं संभारं पुनरिह विधत्त द्विजवराः
कृशाश्वान्तेवासी कुशिकपतिराज्ञापयति वः ॥ ३७ ॥

वसिष्ठः—(आकर्ण्य) अहो ! अयं भाग्यमहिमा वत्सस्य । यद्भगवान् कौशिकः स्वयं सिंहासने समभिषेक्तुं संप्राप्तः ।

इतरे—प्रियं नः प्रियम् ।

(ततः प्रविशति सशिष्यो विश्वामित्रः)

विश्वामित्रः—

सत्रप्रत्यूहशान्त्यै दशरथकरतः कर्षतैनं मया य-
द्यत्स्वान्ते संविमृष्टं तदनुगुणविधौ यच्च वैयग्र्यमासीत् ।

प्रवर्त्तन्तामिति० कृशाश्वान्तेवासी कृशाश्वमुनिशिष्यः कुशिकपतिः कौशिकः विश्वामित्रः वः युष्मान् आज्ञापयति आदिशति—हे पौराः पुरजनाः अद्य भवन्तः प्रतिसदनम् गृहे गृहे उत्सवविधौ आनन्दानुष्ठाने प्रवर्त्तन्ताम् प्रवृत्ता भवन्तु, हे अधिकृताः कुत्रचन कार्ये नियुक्ताः सेवकाः स्वे स्वे कर्मणि नियोगे समवधत्त सावधाना भवत अपि। हे द्विजवराः! इह अत्र यथोक्तं शास्त्रोक्तं संभारम् अभिषेकसामग्रीम् पुनः भूयः विधत्त सम्पादयत, इति ॥ ३७ ॥

भाग्यमहिमा=महाभागता । समभिषेक्तुम्=अभिषेकं कर्त्तुम् ।

सत्रप्रत्यूहेति० सत्रप्रत्यूहशान्त्यै मखविघ्नविनाशाय दशरथकरतः दशरथस्य हस्तात् (अधिकारात्) एनम् रामम् कर्षता स्वेन सह नमता मया स्वान्ते मनसि यद्यत् संविमृष्टम् साधु चिन्तितम् तदनुगुणविधौ तदनुकूलविधाने यच्च वैयग्र्यम् व्याकुल-

---

घर घरमें सकल पौरजन उत्सव मनावें, अधिकारीजन अपने २ कार्यमें सावधान रहें। ब्राह्मण लोग राज्याभिषेककी तैयारी करें । कृशाश्वशिष्य विश्वामित्र यह आज्ञा प्रचारित कर रहे हैं ॥ ३७ ॥

वसिष्ठ—(सुनकर) अहो ! यह रामकी भाग्यवत्ता है कि भगवान् विश्वामित्र इनको अभिषिक्त करने स्वयं पधार रहे हैं ।

इतरजन—बड़ी खुशी ।

(सशिष्य विश्वामित्रका प्रवेश)

विश्वामित्र—यज्ञविघ्नशान्त्यर्थ दशरथसे जब इनकी मंगनी हमने की थी उस समय जो

तद्दैवस्यानुगुण्यात्प्रयतनविभवैश्चाद्य राज्येऽभिषिच्य
श्रीरामं निर्वृतानां फलितमिति मुहुः संप्रमोदामहे नः ॥ ३८ ॥

(इति परिक्रामति)

वसिष्ठः—स एष कौशिकः

क्षात्रं प्राकृतिकं तेजो ब्राह्मं यस्य विशिष्यते ।
लोकोत्तरचमत्कारनिधेस्तस्याद्भुतं न किम् ॥ ३९ ॥

(वसिष्ठविश्वामित्रावुपसृत्यान्योन्यमुपचरतः)

विश्वामित्रः—भगवन् मैत्रावरुणे ! किमद्यापि प्रतीक्ष्यते ?

त्वम् आसीत्, दैवस्य भाग्यस्य आनुकूल्यात् सहायत्वात् प्रयतनविभवैश्च यत्नप्रभावैश्च निर्वृतानाम् शान्ततपस्विनाम् अस्माकम् तत् चिन्तितपूर्वम् फलितम् सफलमजनि, इति अद्य श्रीराम राज्येऽभिषिच्य मुहुः पुनःपुनः सम्प्रमोदामहे आनन्दमनुभवामः । यज्ञविघ्नान् राक्षसान् विनाशयितुं दशरथसकाशात् रामं नयता मया यथा चिन्तितम्, स्वाचिन्तितार्थसिद्धये च यादृगौत्सुक्यमवर्त्तत, भाग्यबलाद्रामस्य पुरुषकारातिशयैश्चाद्य रामं राज्येऽभिषिच्य तत्सर्वं सकलं पश्यतामस्माकं तपस्विनां हृदयमानन्दातिरेकपूर्णमजनीति भावः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३८ ॥

क्षात्रमिति० क्षात्रम् क्षत्रियसम्बन्धितेजः यस्य प्राकृतिकम् स्वाभाविकं जन्मजातम्, ब्राह्मं तपोबललभ्यं ब्राह्मण्यं यस्य विशिष्यते अधिकायते, लोकोत्तरचमत्कारनिधेः अलौकिकाश्चर्यनिधानस्य तस्य विश्वामित्रस्य किन्न आश्चर्यम् सर्वमेव विस्मयावहमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

उपचरतः=यथायोग्यं नमस्कारादिना सम्भावयतः ।

जो बातें थीं, उन्हें सफल बनानेके लिये हमने जो व्यग्रता की थी, भाग्यवश आज रामको राज्यमें अभिषिक्त देखकर सब सफल हो गया, इससे हम अतिप्रसन्न हैं ॥ ३८ ॥

(बढ़ते हैं)

वसिष्ठ—ये ही तो विश्वामित्र हैं,

जिनका छात्रतेज स्वाभाविक है और ब्राह्मतेज अधिकमें है, उन विश्वामित्र महाराजके सभी चमत्कार लोकोत्तर ही हैं ॥ ३९ ॥

(वसिष्ठ और विश्वामित्र एक दूसरेका सत्कार करते हैं)

विश्वामित्र—महाराज ! अब भी क्या प्रतीक्षा कर रहे हैं ?

वसिष्ठः—यथोचितमाह्रियताम् ।

विश्वामित्रः—(दिव्यर्षिगणमुद्दिश्य) निर्वर्त्यतां रामभद्रस्याभिषेकः ।

(मुनयो यथोचितमाचरन्ति)

(नेपथ्ये दुन्दुभिध्वनिः)

(सर्वे सविस्मयं पुष्पवृष्टिं रूपयन्ति)

वसिष्ठः—कथं सलोकपालो भगवान् पाकशासनो रामभद्रस्याभिषेकमनुमोदते ।

(कृताभिषेकमङ्गलः)

रामः—(वसिष्ठविश्वामित्रावुपसृत्य) गुरू ! अभिवादये ।

उभौ—

रामभद्र गुणाराम भ्रातृभिस्त्वं पुरस्कृतः ।
इक्ष्वाकुमुख्यैर्भूपालैश्चिरमूढां धुरं वह ॥ ४० ॥

आह्रियताम् = विधीयताम् ।

सलोकपालः=लोकपालैः सहितः । पाकशासनः=इन्द्रः । अनुमोदते=समर्थयति ।

रामभद्रेति० हे गुणाराम गुणनिधे रामभद्र ! भ्रातृभिः भरतलक्ष्मणशत्रुघ्नैः पुरस्कृतः सेवितः त्वम् इक्ष्वाकुमुख्यैः इक्ष्वाकुप्रधानैः स्ववंशजैः भूपालैः राजभिः ऊढाम् धारितपूर्वाम् धुरम् धरित्रीपालनभारम् चिरम् बहुदिनपर्यन्तं वह धारय ॥

वसिष्ठ—यथोचित किया जाय ।

विश्वामित्र—(दिव्यर्षियोंसे) आप रामभद्रका राज्याभिषेक करें ।

(मुनिगण यथोचित करते हैं)

(नेपथ्यमे दुन्दुभिशब्द)

(सभी आश्चर्यसे पुष्पवृष्टि देखते हैं)

वसिष्ठ—लोकपालसहित इन्द्र रामचन्द्रके अभिषेकका समर्थन कर रहे हैं ।

(अभिषेकके बाद)

राम—(वसिष्ठ विश्वामित्रसे) गुरुदेव ! प्रणाम ।

दोनों—हे गुणाराम रामभद्र ! अपने भाइयोंके साथ इक्ष्वाकु वंशियों द्वारा चिरकालसे ढोए गये इस राज्यभारका वहन करो ॥ ४० ॥

इतरे—तथास्तु । (इत्यनुमोदन्ते)

विश्वामित्रः—वत्स रामभद्र !

रामः—आज्ञापयन्तु गुरवः ।

विश्वामित्रः—विसृज्येतामेतावनुभूतोत्सवप्रमोदौ सुग्रीवविभीषणौ । पुष्पकं च संकल्पसमयसुलभं राजराजमेवाश्रयताम् ।

(रामस्तथा करोति)

विश्वामित्रः—वत्स रामभद्र !

निर्व्यूढं गुरुशासनं गुरुतरं धर्मोऽपि संरक्षितो
रक्षःसंहरणाच्चिकित्सितमनोरोगा त्रिलोकी कृता ।
सिद्धार्थाश्च सुराः सहानुजसुहृद्दारेण राज्यं पुन-
र्लब्धं किं करणीयमेतदधिकं श्रेयस्तदप्युच्यताम् ॥ ४१ ॥

विसृज्येताम् = स्वगृहान् गन्तुमनुमन्येताम् । अनुभूतोत्सवप्रमोदौ = लब्धोत्सवानन्दौ । संकल्पसमयसुलभम् = यथाऽऽवश्यकत्वं सङ्कल्पेन लभ्यम्, यदा मनसि कामयिष्यते तदोपस्थास्यतीति नियमितम् । राजराजम् = कुबेरम् ।

अत्र कार्यार्थोपसंहृतिरूप उपसंहारो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् ।

निर्व्यूढमिति० गुरुतरम् अतिदुःसाध्यम् गुरुशासनम् पित्राज्ञा निर्व्यूढम् प्रतिपालितम्, धर्मः वेदोदितः क्रियाकलापः अपि संरक्षितः राक्षसकृतादुपद्रवात् त्रातः, रक्षःसंहरणात् राक्षसविनाशात् त्रिलोकी चिकित्सितमनोरोगा अपगताधिः स्वस्था कृता विहिता । सुराः देवाश्च सिद्धार्थाः रावणवधेन पूर्णकामाः (सञ्जाताः) सहानु-

---

और लोग—तथास्तु । (अनुमोदन करते हैं)

विश्वामित्र—वत्स राम !

राम—गुरुदेव ! आदेश करें ।

विश्वामित्र—उत्सवका आनन्द उठा लिया, अब सुग्रीव और विभीषणको विदा करो । यथासमय उपस्थित होनेवाला यह पुष्पक भी कुबेरके पास जाय ।

(राम वैसा ही करते हैं)

विश्वामित्र—वत्स राम !

तुमने भारी पिताका आदेश पाला, धर्मकी रक्षा की, राक्षसोंका नाशकर त्रिलोकीको स्वस्थ बनाया, देवोंके मनोरथपूर्ण किये, भाई और स्त्रीके साथ लौटकर राज्य पाया और भी कुछ चाहते हो तो कहो ॥ ४१ ॥

रामः—इतोऽधिकमपि श्रेयोऽस्ति ? तथापीदमस्तु भगवत्पादप्रसा-
दात् ।

क्ष्मापालाः क्षीणतन्द्राः क्षितिवलयमिदं पान्तु ते कालवर्षा
वार्वाहाः सन्तु राष्ट्रं पुनरखिलमपास्तेति संपन्नसस्यम् ।
लोके नित्यप्रमोदं विदधतु कवयः श्लोकमाप्तप्रसादं
संख्यावन्तोऽपि भूम्ना परकृतिषु मुदं संप्रधार्य प्रयान्तु ॥४२॥

जसुहृद्वारेण अनुजैः मित्रैः कलत्रैश्च सहितेन त्वया पुनः राज्यं लब्धम् प्राप्तम्, एतदधिकम् किं श्रेयः शुभं करणीयं तदपि उच्यताम् नामग्राहं निर्दिश्यताम् । शार्दूलविक्रिडितं वृत्तम् ॥ ४१ ॥

इतोऽधिकमपि श्रेयोऽस्ति ? = श्रेयसां पराकाष्ठेयमित्यर्थः । भगवत्पादप्रसादात्= त्वच्चरणानुग्रहात् ।

क्ष्मापाला इति० क्ष्मापालाः भूपाः क्षीणतन्त्राः आलस्यरहिताः सन्त इदं क्षितिवलयं भूमण्डलम् पान्तु रक्षन्तु । ते वर्वाहाः मेघाः कालवर्षाः समयवर्षिणः सन्तु । अखिलम् समग्रम् राष्ट्रम् अपास्तेति अपास्ता ईतयः—अतिवृष्ट्यादयो यस्य तादृशम् अत एव च सम्पन्नसस्यम् पूर्णधान्यम् अस्तु । कवयः काव्यनिर्माणरसिकाः आप्तप्रसादम् प्रसादगुणोपेतम् नित्यप्रमोदम् सततानन्दजनकम् श्लोकम् विदधतु निर्मान्तु, सङ्ख्यावन्तः पण्डिताः अपि भूम्ना प्रायशः बाहुल्येन परकृतिषु अन्यरचनासु सम्प्रधार्य अभिनिविष्टबुध्याऽऽलोच्य मुदं प्रीतिम् लभन्ताम् । ईतयो यथा—अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः'। इति । प्रसादलक्षणं यथा—'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः। स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च' ॥ स्रग्धरावृत्तम् ॥ ४२ ॥

अत्र शुभशंसनरूपप्रशस्तिर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् ।

यो जातो धरणीसुरान्वयसरोहंसात्प्रसर्पद्यशो-
ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखान्मधुरिपुध्यानैकबद्धाशयात् ॥
मिश्राख्यान्मधुसूदनाज्जयमणौ सीमन्तिनीनां मणौ
तस्य श्रीयुतरामचन्द्रसुधियो व्याख्या प्रसिद्ध्यादियम् ॥ १ ॥

राम—इससे बढ़कर क्या भला होगा ? फिर भी आपके प्रसादसे ऐसा हो—

राजालोग आलस्य छोड़कर पृथ्वीकी रक्षा करें, मेघ समयपर बरसे, राष्ट्रमें सस्य सम्पन्नरूपमें हो, प्रसाद गुणयुक्त कविताकी ओर कवियोंकी रुचि हो, विद्वज्जन दूसरोंकी कृतियोंका मननकर प्रमोद प्राप्त करें ॥ ४२ ॥

विश्वामित्रः—एवमस्तु ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति सप्तमोऽङ्कः ।



चन्द्रक्षोणिखबाहुसम्मितशरद्याशातिथौ श्रावणे
चन्द्रे पुष्यति वासरे सितरुचेः श्रीशारदानुग्रहात् ॥
सम्राड्धर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालये पूर्णता-
मानीतेयमुमामहेश्वरपदाम्भोजेषु विश्राम्यतु ॥ २ ॥
'विद्वांसो वसुधातले परवचः श्लाघासु वाचय्यँमाः'
उक्त्वैतद्विमुखोभवामि न मनागालोचनावर्त्मनः ॥
ते हि स्वर्णपरीक्षणैकनिकषा निष्पक्षपातां दृशं
निक्षिप्यात्मगुणोचितादरभुवं कुर्युर्ममेमां कृतिम् ॥ ३ ॥
छिद्रान्वेषणमात्रसज्जधिषणानप्यत्र दोषान् बहून्
ग्रन्थे दर्शयतो न मत्सरितया निन्दामि किन्त्वर्थये ॥
निर्दोषेण पथा प्रशस्तरचनां निर्माय काञ्चित् कृतिं
लोकेभ्यः समुपाहरन्तु भविता भूयो यशोऽनेन वः ॥ ४ ॥
मान्यान् यानहमाद्रिये नतशिरास्ते ते सखायश्च मे
येषामाग्रहतो विदन्नपि निजां शक्तिं प्रवृत्तोऽभवम् ॥
व्याख्यानेऽत्र न तैरियं मम कृतिः कार्याऽन्यथा दृक्पदं
सर्वानिन्दितकीर्त्तिलाभसुभगं भाग्यं कुतोऽस्मादृशम् ॥ ५ ॥

इति मुजफ्फरपुरमण्डलान्तःपाति'पकड़ी'ग्रामवासिना रांचीस्थराजकीयसंस्कृतमहा-विद्यालये वेदान्तदर्शनाध्यापकेन व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्याद्युपाधिप्रसा-धिना मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मणा विरचितायां महावीर-चरितनाटकस्य प्रकाशाभिधायां व्याख्यायां सप्तमाङ्कप्रकाशः ।

विश्वामित्र—ऐसा ही हो ।

(सब जाते हैं)

सप्तम अङ्क समाप्त



समाप्तमिदं महावीरचरितं नाम नाटकम् ।



परिशिष्टम्

नोट्स (Notes)

१ महावीरचरित (पृ० १)

यहाँ महावीर शब्द राम परक है। रामकी वीरता परक कार्योंका विशेष उल्लेख होनेसे ही इसका नाम महावीरचरित रखा गया। सामान्यतः यद्यपि महावीर हनुमान्‌जीका नाम माना जाता है परन्तु वहाँ भी यह विशेषण ही है, विशेष्यतया प्रयुक्त होने पर यह शब्द राम का वाचक मान लिया गया है। **'महावीरस्य रामस्य चरितम् यत्र'** इस प्रकार बहुव्रीहि करके या **'महावीरस्य चरितं महावीरचरितम् तदधिकृत्य कृतं रूपकम्'** इस प्रकार तद्धितवृत्ति करके साधुत्व होगा।

२ तैत्तिरीयाः (पृ० ५)

यजुर्वेद की दो शाखायें हैं, कृष्ण और शुक्ल। उनमें कृष्णयजुर्वेद शाखा तित्तिरिशाखा कहलाती है, उसके पढ़नेवाले तैत्तिरीय होते हैं। पुराने जमाने की बात है कि याज्ञवल्क्यने महर्षि वैशम्पायनसे यजुर्वेद पढ़ा। किसी कारणसे अप्रसन्न होकर गुरुदेवने याज्ञवल्क्यसे कहा कि हमसे पढ़ा यजुर्वेद लौटा दो। आज्ञानुसार शिष्यने वह वेदभाग उगिल दिया। उस उद्गीर्ण वेदभाग को वहाँ घूमते हुए तित्तिर नामक पक्षियोंने खालिया। अनन्तर उनके द्वारा उच्चरित होनेसे उस शाखाका नाम तित्तिरिशाखा हुआ। यह कथा भागवत बारहवाँ स्कन्ध षष्ठ अध्यायमें वर्णित है।

३ पङ्क्तिपावनाः (पृ० ५)

अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः।
तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान् पङ्क्तिपावनान्॥
अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः॥
त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित्।
ब्राह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च॥
वेदार्थवित् प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः॥

४ विश्वामित्र (पृ० ८)

ये विख्यात महर्षि हैं। इनका जन्म राजकुलमें हुआ था। इनके पिता का नाम गाधि था। राजवंशमें जन्म लेकर भी विश्वामित्र बड़ी कठोर तपस्या करके महर्षि बन गये थे।

५ शौनःशेपम् (पृ० १०)

'शुनःशेप' सम्बन्धी। शुनःशेप महर्षि ऋचीक का मध्यम पुत्र था। वह महाराज अम्बरीषके यज्ञमें बलिके लिये लाया गया था। महर्षि विश्वामित्रके आश्रममें वह पहले उपस्थित हुआ। विश्वामित्रको उसकी इस वध्यतादशा पर ;दया हो आई। उन्होंने इसे अग्निकी स्तुति बतला दी इसकी स्तुतिसे अग्निदेव प्रसन्न हुए और यह अक्षत शरीर अग्निसे बाहर निकल आया। तदनन्तर महर्षि विश्वामित्रने इसे पोष्यपुत्र की तरह रखा।

६ त्रैशङ्कवम् (पृ० १०)

त्रिशङ्कु सम्बन्धी। त्रिशङ्कु सूर्यवंशी राजा थे। सशरीर स्वर्ग जाने की इच्छासे इन्होंने वसिष्ठको यज्ञ करानेके लिये कहा। वसिष्ठने अस्वीकार कर दिया। प्रार्थना करने पर उनके पुत्रोंने भी अस्वीकार किया। अनन्तर त्रिशङ्कु विश्वामित्र की शरण गये। उन्होंने यज्ञ करवाना स्वीकार किया परन्तु उस यज्ञमें देवता नहीं आये, इस पर क्रुद्ध हो विश्वामित्रने दूसरे स्वर्ग की रचना करना चाहा। देवोंने विश्वामित्रसे अन्तमें सन्धि करली। तदनुसार आज तक अधोमस्तक त्रिशङ्कु अन्तरिक्षमें लटक रहे हैं।

७ आत्मना तृतीयः (पृ० १३)

'आत्मना तृतीयः' इसमें **'आत्मनश्च पूरणे'** इस सूत्रसे तृतीया का अलुक् होता है। मुरारिने भी इस तरहका प्रयोग किया है। **'तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनाऽसौ तृतीयः'**।

८ निमिजनकसंभवाः (पृ० १५)

निमि सीताके पिता जनकके पूर्व पुरुष थे। निमिके पुत्र मिथि हुए, इन्होंने ही मिथिला बसाई, इनका नाम जनक भी था, इसीलिये इनके वंशज उपाधि की तरह जनक कहलाते आये।

९ ऋष्यश्रृङ्गोपचारैः (पृ० २१)

ऋष्यश्रृङ्ग तपःप्रभावसम्पन्न एक ऋषि थे। महाराज दशरथ की कन्या शान्ता इनसे ब्याही गई थी। इन्होंने महाराज दशरथको पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया जिसके प्रभावसे दशरथके राम आदि चार पुत्र प्राप्त हुए। ऋष्यश्रृङ्ग विभाण्डकके पुत्र थे, विभाण्डक एक अप्सरा पर आकृष्ट हुए उनका रेत जलमें गिरा, आश्रमस्थ मृगीने वह जल पीलिया, उसीके गर्भसे इनका जन्म हुआ। इसीलिये इनके सींगें थीं। अत एव उनका नाम ऋष्यश्रृङ्ग पड़ा।

१० अहल्या (पृ० २४)

अहल्या महर्षि गौतमकी स्त्री थी, इनके पिताका नाम वृद्धाश्व था। यह अतिसुन्दरी थी। देवराज इन्द्रने गौतमका रूप बनाकर इनका धर्म बिगाड़ना चाहा था। गौतमने इन्द्रको शाप देकर सहस्र भग या 'सहस्राक्ष बना दिया। उन्होंने अहल्या को भी शाप दिया। गौतम के शापसे अहल्या केवल वायुके आधार पर रहने लगी। पुनः पुनः अहल्याके प्रार्थना

करने पर प्रसन्न होकर गौतम बोले—'हमारा शाप व्यर्थ नहीं हो सकता है किन्तु रामचन्द्र जब इस आश्रममें आवेंगे तब तुम उनके चरण वन्दन कर मुक्त हो सकोगी'।

११ 'लीलानिर्जितषण्मुखाद्भगवतः श्रीजामदग्न्यात्' (पृ० ३२)

जामदग्न्य विष्णुपुराण तथा मत्स्यपुराणके अनुसार विष्णुके अवतार माने गये हैं। ये जमदग्नि ऋषिके पुत्र थे। इनका नाम राम था और शिवसे परशु प्राप्त करनेके कारण इन्हें परशुराम भी कहते हैं। ये महादेवके शिष्य थे, अस्त्रविद्या की प्रतियोगितामें इन्होंने स्कन्दको परास्त किया था, इसीसे इन्हें षण्मुख (स्कन्द) विजयी कहते हैं।

१२ अभ्युपगमाः प्रमाणम् (पृ० ३६)

इह प्रमाणशब्दस्याजहल्लिङ्गतया नपुंसकत्वम् एकवचनं तु वेदाः प्रमाणमित्यत्रेव। ननु नीलो घट इत्यादेः साधुत्ववारणाय विशेष्यविशेषणवाचकपदयोरसतिविशेषानुशासने समानवचनकत्वनियमेन वेदाः प्रमाणमित्यादयः प्रयोगाः कथम्? इति चेन्न यत्र विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसंख्याविरुद्धसंख्याया अविवक्षितत्वं तत्रैव विशेष्यविशेषणपदयोः समानवचनकत्वनियमाङ्गीकारात्। वेदाः प्रमाणमित्यत्र च विशेषणपदोत्तरविभक्त्या बहुत्वे विरुद्धमेकत्वं विवक्षितं तच्च प्रमितिकरणत्वेऽन्वेति शाब्दप्रमाकरणत्वं च शाब्दत्वावच्छिन्नं यावच्छब्दनिष्ठमेकमेवेति व्युत्पत्तिवादेऽभिहितं, तदेवात्राभ्युपगमाः प्रमाणमित्यत्रापि बोध्यम्।

१३ 'ओंकारः सकलराक्षससंहारनिगमाध्ययनस्य' (पृ० ३९)

वेदाध्ययनसे राक्षससंहारको रूपित किया गया है और उसके प्रारम्भको ओंकार कहा है। वेदारम्भमें ओंकार होना आवश्यक होता है:—

'ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा। स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यति'॥

इस मनुवचनके आधार पर यह रूपक है।

१४ कार्तवीर्यः (पृ० ७१)

कार्त्तवीर्य नर्मदा नदी तीरवर्त्ती हैहयराज्यका अधिपति था। इसे हैहय तथा अर्जुन भी कहा जाता है। माहिष्मती नगरीमें इसकी राजधानी थी। एक समय लङ्केश्वर रावण स्वर्णमय शिवलिङ्ग की पूजा कर रहा था। वहांसे आध योजनकी दूरी पर सहस्रबाहु कार्तवीर्य स्त्रियों के साथ जलक्रीडा कर रहा था। कार्तवीर्यने अपने हजार हाथों द्वारा नर्मदा की धारा को रोक दिया। नर्मदा उलटी बहने लगी। इससे रावण की पूजा सामग्री भी बह गई, इसका कारण ढूढने के लिये अपने मन्त्रियों को भेजा। उनके द्वारा खबर पाकर कार्तवीर्य को दण्ड देनेके लिये रावण स्वयं वहाँ उपस्थित हुआ। युद्धमें त्रिलोकविजयी कार्तवीर्यसे परास्त होकर रावण उसका वन्दी हो गया। रावणके पितामह पुलस्त्यने अपने पौत्रके पराभव की बातें सुनीं। पुलस्त्यके कहनेसे कार्तवीर्यने रावण को छोड़ दिया।

एक समय सेना सहित कार्तवीर्य जमदग्निके आश्रममें आये। जमदग्निने अपनी कपिलाके प्रभावसे ससैन्य कार्त्तवीर्यका यथोचित स्वागत सत्कार किया। उस गौके गुणोंसे

आकृष्ट हो कार्तवीर्यने ऋषिसे गौ मांगी। जमदग्निने अस्वीकार कर दिया। इस पर बहुत सी सेना लेकर कार्तवीर्यने आश्रम पर चढ़ाई करदी। जमदग्निने यथाशक्ति प्रतिरोध किया परन्तु अन्तमें वे मारे गये। जमदग्नि की मृत्युके समय उनके पुत्र परशुराम आश्रममें नहीं थे। आश्रममें आनेपर उनकी माता रेणुकाने जमदग्नि की मृत्युका समाचार कहा, इस पर परशुरामने प्रतिज्ञा की कि—कार्तवीर्यके साथ इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रिय शून्य कर दूंगा। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

१५ शस्त्रन्यस्तसमुद्रदत्तविषयम् (पृ० ७५)

अपने पिताकी मृत्युसे क्रुद्ध परशुरामने इक्कीस बार धराधामसे क्षत्रियोंको मार कर भगा दिया, उनके रक्तकी धारामें पितृतर्पण किया। अन्तमें उन्होंने अश्वमेध यज्ञकरके समूची पृथ्वी काश्यप मुनिको दक्षिणामें दे दी। दी गई पृथ्वीपर अपना सत्त्व नहीं रह गया फिर स्वयं कहाँ रहें? उन्होंने बाणके प्रयोगसे समुद्रको सुखाकर अपने रहने का स्थान बनाया। इसी को 'समुद्रदत्त विषय' कहा है।

१६ संज्ञप्यते वत्सतरी (पृ० १०७)

बछिया मारी जाती है, इस उक्तिमें यद्यपि अब अनौचित्य प्रतीत होता है परन्तु पुराने जमानेमें गोमांसकी भक्ष्यता प्रचलित थी, मधुपर्क प्रकरणमें 'नामांसो मधुपर्कः स्यात्' ऐसा लिखा है। ब्राह्मण ग्रन्थोंके देखनेसे भी गोमांसकी भक्षणीयता प्रतीत होती है, लिखा है—**'पीवा चेत्तर्हि अश्नाम्येवेति याज्ञवल्क्यः'**। यह क्रम अनुचित था यह कहा जासकता है परन्तु था अवश्य। अधिक विवेचना ग्रन्थान्तरमें देखें।

१७ मातुरेव शिरश्छेदः (पृ० ११८)

महर्षि ऋचीकके पुत्र जमदग्नि वैदिक ऋषि थे। राजा प्रसेनजित् की कन्या रेणुका उनकी स्त्री थी। रेणुकाके गर्भसे जमदग्निके पांच पुत्र हुए—'रुमावान्, सुषेण, बहु, विश्वाबहु और राम। एक दिन रेणुका गङ्गास्नान करने गई। वहाँ उसने चित्ररथको अपनी स्त्रियोंके साथ जलक्रीडा करते देखा। इससे रेणुकाको भी काम उत्पन्न हुआ और वह चित्ररथके साथ व्यभिचारमें प्रवृत्त हुई। घर आने पर जमदग्निने उस पर सन्देह प्रकट किया और अपने पुत्रों को एक एक करके रेणुकाका शिर काटने की आज्ञा दी। किसीने उनकी आज्ञा नहीं मानी। अत एव जमदग्निके शापसे वे जड़ हो गये। अन्तमें जमदग्निने परशुरामसे कहा। उन्होंने तत्काल पिता की आज्ञाका पालन किया। जमदग्नि प्रसन्न होकर वर देने को उद्यत हुए तब रामने उनसे अपनी माताका प्राणदान मांगा। जमदग्निके वरसे उनकी माता जी उठीं।

१८ 'प्राक्प्रतिश्रुतवरद्वया राज्ञी भरतमाता कैकेयी' (पृ० १४३)

कैकेयी महाराज दशरथ की महिषी और भरत की माता थी। यह केकय देशकी राजकन्या थी। केकय राज्य विपाशा और शतद्रूके मध्यमें वाल्हीक नामक जनपदके दक्षिण की ओर है। कैकेयी युवती और सुन्दरी थी अत एव महाराज दशरथ उसके सर्वथा अनुगत

हो गये थे। एक समय राजाको प्रसन्न करके कैकेयीने उनसे दो वर देनेकी प्रतिज्ञा कराली थी। महाराजने वृद्धावस्थामें अपने ज्येष्ठ पुत्रको राज्य देना चाहा। इसी समय कैकेयीने अपने दोनों वर मांगे। एक वरसे रामको चौदह बरस बनवास और दूसरे वरसे भरतको राज्य। शेष कथा प्रसिद्ध है।

१६ ऋष्यमूके (पृ० १५३)

मदरास प्रान्तके अनाकुंड़ी स्थानसे आठ मीलकी दूरीपर तुङ्गभद्राके किनारे जो पहाड़ है वहां ऋष्यमूक है। इसी तुङ्गभद्राके उत्तरी तटपर बालिसुग्रीवकी राजधानी किष्किन्धा है।

२० जटायुः (पृ० १६४)

यह सूर्यसारथि अरुणका पुत्र था। दशरथसे इसकी मित्रता थी। सीताहरणके समय जटायुने रावणको रोका था। रावण और जटायुमें घोर युद्ध हुआ। उसमें रावणके अस्त्र-प्रहारसे जटायुकी मृत्यु हुई। सीताको ढूंढ़ते हुए रामलक्ष्मणने जटायुको देखा था। जटायुने सीताका समाचार रामसे कहकर प्राण छोड़े। रामने पिताके मित्रकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी।

'दशरथदुरवापं प्राप नैवापमग्र्यम्'।

२१ अत्रभवतो जातमात्रस्य (पृ० २१६)

जन्म लेते ही हनुमान् सूर्यको पका फल समझकर लेनेको उड़े। इसपर देवोंको आश्चर्य हुआ और वे इन्द्रसे जाकर कहने लगे—महाराज! यह कौन है जो जगत्‌को आफतमें डालने जा रहा है। इन्द्रने वज्र चला दिया। वज्रसे आहत होकर हनुमान् जन्मक्षेत्र पर्वतपर गिरे और मर गये। इसपर उनकी माता वायुपर बिगड़ी कि तुम्हारे बलात्कार दोषसे ही हमारा पुत्र मरा है। इसपर वायुने सञ्चरण करना छोड़ दिया। वायुके रुक जानेसे सभी देवता घबड़ाये और उसके पुत्रको जिला दिया। वज्रप्रहारसे दाढ़ी टूट गई इसीसे हनुमान् नाम पड़ा। (वाल्मीकि उत्तरकाण्ड ३५ वां सर्ग)

२२ दनुर्नाम श्रियः पुत्रः (पृ० २१६)

रामायणमें लिखा है:—

'श्रियो मां मध्यमं पुत्रं दनुं नाम्ना च दानवम्। इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तवन्तमवेहि च॥
अहं हि तपसोग्रेण पितामहमतोषयम्। दीर्घमायुः स मे प्रादात्ततोऽहं पूर्णमानसः॥
..................रणे शक्रमधर्षयम्। तस्य बाहुप्रमुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा।
सक्थिनी मे शिरश्चैव शरीरे सन्निवेशितम्'॥

२३ मतङ्गाश्रमः (पृ० २२३)

ऋष्यमूक पर्वतपर मतङ्ग नामक एक ऋषि रहते थे, वहीं उनका आश्रम था। वानरराज वालिने दुन्दुभि नामक राक्षसको मारकर उसका शव उनके आश्रमके पास फेंक दिया, इससे उसके शरीरका एक रक्तबिन्दु मतङ्ग मुनिके शरीरपर जाकर गिरा। इस अपराधसे क्रुद्ध होकर मुनिने बालिको शाप दिया कि इस स्थानपर आनेसे तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। तभीसे बालि ऋष्यमूक पर्वतपर नहीं जाता था। इसी कारण सुग्रीव जब

किष्किन्धासे निकाल दिये गये तब बालिके लिये अगम्य ऋष्यमूकपर ही रहते थे।

२४ किष्किन्धा (पृ० २२८)

यह बालि और सुग्रीवकी राजधानी थी। मदरास प्रान्तके बिलारी जिलेमें हम्पी ग्रामके समीप तुङ्गभद्राके उत्तरी तटपर यह स्थान बताया जाता है।

२५ आवृत्यावृत्य चक्रभ्रमम् (पृ० २५७)

रामायणमें लिखा है—

'ते ज्वलन्तो महाबाणास्तेजसा पावकोपमाः। विविशुः सागरस्याशु सलिलं त्रस्तपन्नगम्॥ ततो वेगः समुद्रस्य सनक्रमकरो महान्। सम्बभूव महाघोरः समारुतरवस्तथा॥ महोर्मिजालचलितः शङ्खजालसमावृतः। सधूमः परिवृत्तोर्मिः सहसाऽऽसीन्महोदधिः॥ आघूर्णिततरङ्गौघः सम्भ्रान्तोरगराक्षसः। उद्वर्त्तितमहाग्राहः सघोषो वरुणालयः'॥

२६ चित्ररथः (पृ० २७१)

चित्ररथ गन्धर्व थे, इनका असली नाम अङ्गारपर्ण था। इनके पास एक चित्रित रथ था इसी कारण इनको चित्ररथ भी कहते हैं। इनकी स्त्रीका नाम कुम्भीनसी था। पाण्डवोंके वनवास कालमें अर्जुनने अङ्गारपर्णको परास्तकर दिया था। इसी कारणसे अङ्गारपर्णने अपना रथ जला दिया। रथके जल जानेसे इसका नाम दग्धरथ भी हो गया।

२७ कैकस्या बन्धुवर्गः (२७६)

कैकसी सुमाली और केतुमालीकी कन्या थी। सुमाली चिरकालसे अपने कुटुम्बके साथ पातालमें रहा करता था। कुबेरके ऐश्वर्यसे ईर्ष्या करके सुमालीने अपनी कन्या कैकसीको महर्षि विश्रवाके पास इसलिये भेजा कि कुबेरके समान पराक्रमी पुत्र इसके गर्भ से उत्पन्न हो। कैकसीने विश्रवासे अतिपराक्रमी रावण आदि घोरकर्मा राक्षसोंको जन्म दिया।

२८ ककुत्स्थकुलप्ररोहाः (२८१)

पुराने समयमें पुरञ्जय नामक सूर्यवंशी राजाने वृषरूपी महेन्द्रके ककुद् (टील) पर बैठकर असुरोंको मारा, इसीसे उसका ककुत्स्थ नाम पड़ गया। उस वंशके लोग काकुत्स्थ कहलाते आये।

२९ त्रिपुरविजये (पृ० २८५)

तारकासुरके तीन पुत्र थे तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली। इन लोगोंने कठोर तपस्या करके यह वर प्राप्त किया था कि ये तीनों भाई स्वतन्त्र तीन नगरोंमें वास करेंगे। हजार वर्षके बाद यह तीनों नगर मिलेंगे और उस समय यदि कोई बाण मारकर उसका विनाश कर सकेगा तो वही इनका मारनेवाला होगा। इसीके अनुसार उन लोगोंने मयसे तीन नगर बनवाये। स्वर्गमें सुवर्णमय, अन्तरिक्षमें रजतमय और पृथिवीमें लौहमय नगर बने। तपस्याके प्रभावसे उन्हें एक ऐसा सरोवर भी प्राप्त था जिसमें नहानेसे मुर्दे जी उठते थे। पुरत्रयके मिलनेके समय ही महादेवने बाण मारकर उनका नाश किया। पुरवासी अर्त्तनाद करने लगे। महादेवने असुरोंको जलाकर पश्चिम समुद्रमें फेंक दिया।

३० अलका (पृ० २६७)

मेघदूतके अनुसार हिमालयपर अवस्थित अलका एक प्रसिद्ध तथा सम्पन्न नगरी है। वहांके वासी नरनारी बहुत सुन्दर होते हैं।

३१ शापमहिम्ना किल मूर्च्छन्मोहः (पृ० ३००)

वेदवती राजा कुशध्वजकी कन्या थी। राजाने सोचा था कि अपनी कन्याको विष्णुसे व्याहूँगा। उनका यह मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ, दैत्यपति शुम्भने राजाको मार दिया, रानी सती हुई। मातृपितृहीन वेदवती दुःखमें पड़ गई, परन्तु उसने अपने पिताकी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके लिये घोर तपस्या करना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार बहुत दिन बीत गये, एक दिन लङ्केश्वर रावण वहाँ आया और उसकी सुन्दरतापर मुग्ध होकर उसे पत्नी बनानेकी इच्छा प्रकट की। उसका प्रस्ताव वेदवतीको नहीं जँचा। रावणने बलपूर्वक वेदवतीको पकड़ना चाहा, वेदवती इसपर चितारूढ़ हो गई और रावणको शाप दिया—'दूसरे जन्ममें मैं तुम्हारे वंशके नाशका कारण बनूँगी।' यही वेदवती सीताके रूपमें अवतीर्ण हुई। यहाँ शापसे यही शाप अभिप्रेत है।

३२ पुरीं यथा स्थितौ यातम् (पृ० ३२०)

इस श्लोकमें **'विलम्बेथाम्'** पद आया है जो व्याकरणसे अशुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि विधि लिङ् मध्यमपुरुष द्विवचनमें **'विलम्बेयाथाम्'** रूप होना चाहिये। यदि इसकी जगह लोट् लकार प्रथमपुरुष द्विवचनका **'विलम्बेताम्'** रूप रखा जाय तब **'यातम्'** मध्यमपुरुष द्विवचन अच्छा नहीं लगता है, एक जगह मध्यम एक जगह प्रथम पुरुष, यह ठीक नहीं है इस स्थितिमें हमारे विचारसे दोनों जगह प्रथमपुरुष द्विवचन लोट्का प्रयोग करना चाहिये, **'पुरीं यथास्थितौ यातां विलम्बेतां च'** यही पाठ ठीक होगा टीकामें हमने पाठ भेद नहीं किया है।

३३ अरुन्धती (पृ० ३२७)

ये महर्षि वसिष्ठकी स्त्री और प्रजापति कर्दम मुनिकी कन्या थीं, वसिष्ठके साथ इनको भी सप्तऋषियोंमें स्थान मिला है। ये उत्कृष्ट कोटिकी पतिव्रता तथा समाजपूज्य महिला थीं।

३४ अनसूया (पृ० ३२८)

अत्रिमुनिकी पत्नी और दक्षप्रजापतिकी कन्या थीं। दक्षप्रजापतिसे प्रसूतिके गर्भमें इनका जन्म हुआ था।

३५ लोपामुद्रा (पृ० ३२८)

ये अगस्त्यकी पत्नी थीं। इनकी सृष्टि भी अगस्त्यने ही की थी। अगस्त्यकी आज्ञासे इन्हें विदर्भराजने पालापोसा था। विदर्भराजने ही इनका नाम लोपामुद्रा रखा था। लोपामुद्राके वयस्क होनेपर अगस्त्यने विदर्भराजसे प्रार्थना की और विदर्भराजने अगस्त्यके साथ लोपामुद्राका व्याह कर दिया।



नाटकीया विषयाः

स्वगतम्— (आत्मगतम्)
'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्' ॥

प्रकाशम्— 'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्' ।

अपवार्य— ...तद्भवेदपवारितम् ।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ।
त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥

जनान्तिकम्—'अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्' ।

नेपथ्यम्— 'नटानां वेषपरिग्रहस्थानम्'

नाटकम्— वीरश्रृङ्गारयोरेकः प्रधानं यत्र वर्ण्यते ।
प्रख्यातनायकोपेतं नाटकं तदुदाहृतम् ॥

अङ्कः— 'प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥
नानेकदिननिर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः ।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ॥
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्त्तितः ॥

नान्दी— 'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंशिनी ।
पदैर्युक्ताद्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत' ॥

सूत्रधारः— 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयते यस्तु सूत्रधारः स उच्यते' ॥

प्रस्तावना— 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा' ॥

विष्कम्भकः—वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः' ॥

प्रवेशकः— 'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा' ॥

नायकः— 'त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता' ।

विदूषकः— 'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः' ॥

प्रस्तावनाभेदाः—उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्त्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ।

अत्र प्रयोगातिशयाख्यातल्लक्षणं यथा—
यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा' ॥

पताकास्थानं— 'यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्' ॥

बीजम्— 'अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजमित्यभिधीयते' ।

बिन्दुः— 'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्' ।

कार्यम्— 'अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ।
समापनं तु यत्सिद्ध्यैतत्कार्यमिति सम्मतम्' ॥

सन्धिः— अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।

पञ्चसन्धयः— 'मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ।
इति पञ्चास्य भेदाः स्युः···········' ।

मुखम्— 'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम् ॥

प्रतिमुखम्— 'फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशितः ।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखञ्च तत्' ॥

गर्भः— 'फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान् मुहुः ।

विमर्शः— 'यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः' ।

निर्वहणम्— 'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' ॥

एषां यान्यङ्गान्यत्र प्रकाशे समागतानि तानि लक्षणनिर्देशपुरस्सरमुपक्रम्यन्ते—

उपक्षेपः— 'बीजन्यास उपक्षेपः' ।

परिकरः— 'बीजस्य बहूपकरणं परिकरः' ।

विलोभनम्— 'बीजगुणवर्णनम्' ।

युक्तिः— 'बीजानुगुणप्रयोजनविभावना' ।

आरम्भः— 'औत्सुक्यमात्ररम्भः फललाभाय भूयसे' ।

परिसर्पः— 'दृष्टनष्टपादार्थानुसरणम् ।

द्युतिः—अनुरागोद्घाटनार्थप्रीतिः'। पुष्पम्—'अनुराग प्रकाशकं वचनम्'।
तोटकम्—'संभ्रमवचनम्'। क्रमः—'सञ्चितार्थप्राप्तिः'।
अभूताहरणम्—'प्रस्तुतोपयोगिच्छद्माचरणम्। उदाहृतिः—'प्रस्तुतोत्कर्षाभिधानम्'।
आक्षेपः—'इष्टार्थोपायानुसरणमाक्षेपः'। अतिबलम्—'इष्टजनातिसन्धानम्'।
आदानम्—'कार्यसङ्ग्रहणम्'। विरोधः—'कार्यमार्गणम्'।
निर्णयः—'बीजानुगुणकार्यस्य प्रख्यापनम्'। आनन्दः—'वाञ्छितप्राप्तिः'।
आभाषणम्—'प्राप्तकार्यानुमोदनम्'। पूर्वभावः—'इष्टकार्यदर्शनम्'।
समयः—'दुःखप्रशमनम्'। प्रशस्तिः—'शुभाशंसनम्'।



महावीरचरितगतानि छन्दांसि

१. अनुष्टुप्—'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः'॥

२. आर्या—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।

३. इन्द्रवज्रा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'

४. उपेन्द्रवज्रा—'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ'

५. उपजातिः—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः'॥

६. पुष्पिताग्रा—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा'।

७. पृथ्वी—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः'।

८. मन्दाक्रान्ता—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्'

९. मालिनी—'न न म म य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः'

१०. वसन्ततिलका—'उक्तं वसन्ततिलका तभजा जगौ गः'।

११. शार्दूलविक्रीडितं—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्'॥

१२. शिखरिणी—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी'।

१३. हरिणी—'नसमरसलाः गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता'

१४. स्रग्धरा—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।'



श्लोकानुक्रमणिका



प्राप्तिस्थानम्—

चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय,

बनारस—१